भवभूति और उनकी नाट्य-कला

(पटना विश्वविद्यालय की डी० लिट० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)
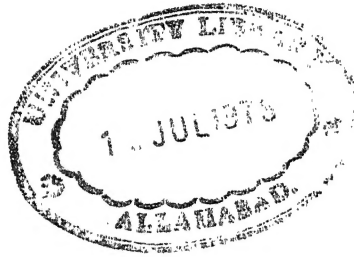
डा० अयोध्या प्रसाद सिंह, एम० ए० (पट०), डी० लिट० (पट०)

संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय

पटना

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली : वाराणसी : पटना

प्रकाशक
मोतीलाल बनारसीदास
चौक, वाराणसी

प्रथम संस्करण
१९६९
मूल्य २०.००

मुद्रक
ओम्प्रकाश कपूर,
ज्ञानमण्डल लिमिटेड,
वाराणसी ६/१७-२६

BHAVABHŪTI AUR UNAKĪ NĀṬYAKALĀ

(Thesis approved for D. Litt. degree of the Patna University)

Dr. Ayodhya Prasad Singh, M. A., (Pat.). D. Litt. (Pat.)
Lecturer, Department of Sanskrit
Patna University
Patna

MOTILAL BANARSIDASS
DELHI : VARANASI : PATNA

"ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥"
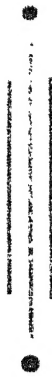
ये नाम केचिदिह ते प्रथयन्त्यभिज्ञां
तेष्वेव प्रीतिपरमेषु कवे ! जनोऽयम् ।
प्रस्तौति त्वद्गुणपरां निपुणं समीक्षां
भक्तोऽपि नेषदपि ते हि समानधर्मा ॥

परम मानववादी

कर्मयोगी

कीर्तिशेष

पितृकल्प

श्रद्धेय श्री प्रभुनाथ सिंह

भूतपूर्व उपाध्यक्ष, बिहार विधान सभा

की पावन स्मृति को

सादर, सभक्ति

जिन्होंने

अपने अमृत-स्नेह से

अपनी इस नन्हीं बेल को

आजीवन सींचा-सँवारा

'तामेव...

शान्तमथवा किमिहोच्चरेण !'

—'वसन्त कुमार'

विषय-सूची

PREFACE

In the realm of Sanskrit Literature Bhavabhūti is only next to Kālidāsa. Inspired by Vālmīki and Kālidāsa the works of Bhavabhūti opened up new vistas in which unrivalled scholarship and poetic talent have coalesced. But Bhavabhūti was as original as he was indebted to his predecessors. His experiments in a new literary technique viz. fusion of Drama and Poetry, and his incursions into fresh fields and ideas bear testimony to this issue.

It is a pleasure that Dr. Ayodhya Prasad Singh has brought his wealth of critical analysis and lucid exposition to bear upon Bhavabhūti and his works. His book is intended to cater to the needs of both the scholars and the intelligent modern readers unintroduced to the niceties of Sanskrit Language.

Dr. S. Bhattacharya
Professor & Head of the Sanskrit
Department,
Banaras Hindu University,
Varanasi.

आमुख

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरे **'भवभूति की नाट्य-कला : प्रयोग और उपलब्धियाँ'** नामक शोध-प्रबन्ध का किंचित् परिवर्धित एवं परिष्कृत रूप है। यह प्रबन्ध अपने मूल रूप में पटना विश्वविद्यालय की डी० लिट० उपाधि के लिए प्रस्तुत एवं स्वीकृत किया गया था। मेरे कई वर्षों के अध्ययन एवं अध्यवसाय का यह प्रतीक है। प्रकाशन से पूर्व इसमें **'महावीरचरित की पाठ-समस्या'** तथा **'भवभूति के राम : चरित्र-विश्लेषण'** जैसे कुछ नये अध्याय जोड़ दिये गये हैं और पुराने अध्यायों में भी यत्र-तत्र कई आवश्यक परिवर्तन कर दिये गये हैं।

महाकवि भवभूति संस्कृत साहित्य के नाटककारों की प्रथम श्रेणी में पांक्तेय हैं। यही नहीं, विद्वानों एवं पण्डितों की दृष्टि में महाकवि कालिदास के समकक्ष यदि कोई नाटककार हैं, तो वे भवभूति ही हैं—कुछ तो इन्हें कालिदास से भी महत्तर प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। हमारे सौभाग्य से कालिदास के ऐसे कई काव्य एवं नाट्यग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनसे उनकी विशाल काव्य-प्रतिभा एवं गहन जीवन-दर्शन की यथेष्ट परिचिति हो जाती है। इधर भवभूति की उज्ज्वल काव्यकीर्ति के आधार-स्तम्भ के रूप में केवल उनकी तीन नाट्यकृतियाँ प्राप्त होती हैं। इतनी महान् प्रतिभा का धनी कवि केवल तीन नाटकों का प्रणयन करे, यह साहित्यिक आश्चर्य का विषय अवश्य है; किन्तु इससे इतना तो प्रकट होता ही है कि सम्भवतः भवभूति ने अपनी काव्यानुभूतियों की सारी गहराई, अपनी कारयित्री प्रतिभा की समग्र ऊर्जस्विता तीन नाटकों के परिमित आकार-प्रकार में ही व्यक्त की और उन्हें संस्कृत वाङ्मय की अमूल्य एवं अक्षय निधि का रूप दे दिया। सूक्ति-संग्रहों में प्राप्त भवभूति के कुछ फुटकर श्लोकों के आधार पर यह अनुमान करना कठिन नहीं है कि उन्होंने अपने तीन नाटकों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य कृतियों का निर्माण किया होगा; किन्तु या तो अपनी नाट्येतर कृतियों को स्वयं भवभूति ने ही अधिक महत्त्व नहीं दिया, या संस्कृत साहित्य की तत्त्वग्राहिणी परम्परा के निकष पर वे खरी नहीं उतर पाईं और कालान्तर में, स्वभावतः ही, काल-कवलित हो गईं। जहाँ तक भवभूति के तीनों नाटकों का प्रश्न है, वे सम्भवतः उनके जीवन भर की कठिन काव्यसाधना के प्रतीक हैं; इसलिए क्या वस्तु, क्या भाव और क्या शिल्प, तीनों ही दृष्टियों से वे संस्कृत नाट्यसृष्टि की अप्रतिम विभूतियाँ हैं। यों प्रत्येक वरिष्ठ कवि या नाटककार, अपनी अपनी सीमाओं में, कतिपय नई स्थापनाओं अथवा नवीन काव्यमूल्यों को रूपायित करने में सचेष्ट दीखता है; किन्तु उनमें शूद्रक, कालिदास या भवभूति की तरह ऐसे बहुत कम होते हैं जो काव्य-सृष्टि में अपनी मौलिक प्रतिभा की शाश्वत ज्योति भर पाते हैं। उनकी प्रतिभा की ऐसी अमर ज्योति परवर्ती साहित्यकारों का मार्गदर्शन तो कराती ही है, यदि कहीं नये साहित्यकार नवीन

मार्गों के अन्वेषी होते हैं, तो वहाँ भी उन्हें इसी ज्योति का सहारा लेना पड़ जाता है।

संस्कृत साहित्य की शास्त्रीय आलोचना की पद्धति ही कुछ ऐसी रही है कि उसमें भवभूति जैसे सरस्वती-पुत्रों का अत्यन्त अपर्याप्त मूल्यांकन हो पाया। साहित्यालोचन की इस विधि में सिद्धान्तों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्वेषणा एवं गवेषणा पर ही अधिक बल दिया गया; उनकी व्यावहारिक भित्तियों की स्फीति बहुत कम हो पाई। प्रायः नाट्य या काव्य के सामान्य लक्षणों की परिभाषा करते हुए हमारे आचार्य भवभूति आदि कवियों की रचनाओं से यत्र-तत्र दो-चार उद्धरण दे देना ही अपने आचार्य-धर्म की इयत्ता मान लेते हैं। हमें उनके इस धर्म पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगाना है; निश्चय ही साहित्य-समीक्षा की शास्त्रीय परिधि में उनकी असाधारण उपलब्धियाँ सम्पूर्ण विश्व-वाङ्मय में ही अप्रतिम हैं। किन्तु इतना सिद्ध है कि उनकी समीक्षा-पद्धति से सामान्य पाठकों या काव्यरसिकों की जिज्ञासाएँ अतृप्त रह जाती हैं—रस आदि के सैद्धान्तिक मर्म तक पहुँचकर भी वे किसी विशिष्ट कवि के व्यावहारिक मूल्यांकन का रस लेने से वंचित रह जाते हैं। इस दिशा में आलोचना की इस कमी को पूरा करने का कुछ प्रयत्न संस्कृत-कवियों के सुधी टीकाकारों ने अवश्य किया। किन्तु उनका ध्यान भी अधिकांशतः संस्कृत-काव्यों के अर्थ-तत्त्व में ही उलझा रह गया; अर्थ-व्यक्ति के ही संदर्भ में वे अलंकार, रस, व्याकरण, कोश आदि के किंचित् निर्देश भी देते रहे। इससे कवियों या स्वयं टीकाकारों के वैदग्ध्य आदि गुणों का चाहे जितना परिचय प्राप्त होता हो, काव्य के सामान्य उत्कर्ष या अपकर्ष के व्यावहारिक एवं तुलनात्मक पक्ष अछूते ही रह जाते हैं। हाँ, आधुनिक समीक्षा-शास्त्र की व्यावहारिक मान्यताओं के लिए भी आचार्यों या टीकाकारों की सैद्धान्तिक अथवा अर्थगत स्थापनाओं के बड़े मूल्य हैं, यह दूसरी बात है। कुछ ऐसे भी सहृदय विदग्ध हुए हैं जो किसी कवि विशेष की काव्यकृतियों के रसास्वादन से मुग्ध होकर उनकी प्रशंसा में अपने पीछे दो-चार प्रशस्ति-वाक्य छोड़ गये हैं। **'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते'** जैसी शंसात्मक उक्तियाँ ऐसे ही काव्य-रसिकों की हैं। निस्सन्देह इनमें से कई प्रशस्तियाँ ऐसी हैं जो, नपे-तुले शब्दों में, किसी कवि के काव्यगत वैशिष्ट्यों या उसके पाठकों किंवा प्रेक्षकों के बौद्धिक स्तरों को सूचित करती हैं। किन्तु इनमें भी अधिकांश ऐसी हैं जिनमें किसी कवि अथवा उसके काव्य-विशेष के प्रति किसी पण्डित के वैयक्तिक आग्रह एवं पक्षपात का स्वर ही अधिक तीव्र है। उनकी दो-चार पंक्तियों की माला जपने मात्र से काव्यालोचन के आंशिक सत्य की उपलब्धि भी असम्भव है। संक्षेप में, संस्कृत-साहित्य के व्यावहारिक मूल्यों के परिज्ञान के लिए ऐसे सारे प्रयत्न एकांगी अथवा अपर्याप्त हैं।

आधुनिक युग में भी संस्कृत के विश्वविश्रुत कवियों की रचनाओं का यथेष्ट मूल्यांकन नहीं हो पाया है। संस्कृत-साहित्य की मूल्यवत्ता को परखने की चेष्टाएँ प्रायः साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों तक ही सीमित रही हैं। स्वभावतः ही इतिहास-लेखक अपनी विषय-वस्तु की व्यापकता के कारण किसी एक ग्रन्थकार पर अपने दृष्टिकोण को

पूरी तन्मयता या विवृति नहीं दे पाये हैं तथा उनकी सीमित विवेचनात्मक दृष्टियों पर भी प्रायः साहित्य के ऐतिहासिक स्वरूप का आग्रह सर्वोपरि हो गया है। संस्कृत में कदाचित् एक ही ऐसे कवि—कालिदास—दीखते हैं जिनके काव्य के विविध पक्षों को लेकर स्वतन्त्र रूप से भी कुछ अच्छे प्रयास हुए हैं, पाश्चात्त्य साहित्य-जगत् में भी भारतीय कवियों एवं नाटककारों में शायद कालिदास पर ही सर्वाधिक ध्यान दिया गया है। इधर भारतीय अनुसन्धित्सुओं का ध्यान अपने प्राचीन साहित्य की अमूल्य निधियों की ओर अधिकाधिक जाने लगा है और उनमें से कई ने अश्वघोष, शूद्रक, माघ, श्रीहर्ष आदि की गवेषणात्मक विवृतियाँ प्रस्तुत भी कर दी हैं। यह शुभ लक्षण है और हम उस दिन की प्रतीक्षा में है जब ऐसे एक-एक कवि को कई दृष्टि-बिन्दुओं से परखते हुए अनेक विद्वानों के सत्कार्य उपलब्ध होंगे।

भवभूति जैसे वरेण्य कवि एवं नाटककार, जिनकी कला-दृष्टि कुछ मानी में कालिदास की व्यापक कला-बुद्धि से भी आगे बढ़ गई है, प्रायः अबतक साहित्य-समीक्षकों एवं अनुसन्धित्सुओं की उपेक्षा के ही पात्र बने हुए हैं। संस्कृत नाटकों के विशाल साहित्य पर जिन इने-गिने नाटककारों के अमिट चरण-चिह्न विद्यमान हैं, उनमें भवभूति अग्रगण्य हैं। विशेषतः राम-नाटकों के तो वे प्राण ही हैं, उन्हें अलग करके सोचिये तो रामनाटकों की सुदीर्घ परम्परा निर्जीव-सी दीखने लगेगी। ऐसे महान् नाटककार एवं कवि पर भी विद्वानों का अपेक्षित ध्यान नहीं जा पाया है। प्रायः प्रत्येक भारतीय विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में भवभूति की किसी न किसी नाट्यकृति का स्थान निर्धारित है। किन्तु छात्रों या अध्यापकों को अपनी भवभूतिविषयक जिज्ञासा की तृप्ति के लिए प्रायः टीका-ग्रन्थों या इतिहास-ग्रन्थों पर ही अवलम्बित होना पड़ता है। डा० भाण्डारकर, श्री टोडरमल, डा० काणे, डा० **बेल्वल्कर** जैसे भारतीय साहित्य के कुछ मनीषी अध्येताओं एवं विद्वानों ने भवभूति पर कुछ आलोचनात्मक प्रकाश डालने की अवश्य चेष्टा की है। किन्तु इनकी गवेषणा का प्रधान क्षेत्र प्रायः **भवभूति का काल-निर्धारण** रहा है—भवभूति की नाटकीय प्रवृत्तियों पर दो-चार बातें कहकर ही वे चुप लगा जाते हैं। हाँ, इन सबमें डा० बेल्वल्कर का प्रयास अपेक्षाकृत अधिक व्यापक, विचारोत्तेजक एवं विश्लेषणात्मक है। किन्तु उनके अध्ययन का प्रधान विषय भवभूति का केवल एक नाटक—उत्तररामचरित—ही रहा है; अतः, अपनी इस सीमा में बँधे होने के कारण, स्वभावतः ही वे अपना ध्यान उत्तररामचरित, विशेषतः उसके पाठगत आलोचन पर ही केन्द्रित कर पाये हैं। इस प्रकार उनसे भी भवभूति के नाटकीय प्रयोगों एवं वैशिष्ट्यों का यथोचित समीक्षण या तो अपूर्ण रह गया है, या ठीक से हुआ ही नहीं है। ऐसे सभी छोटे-बड़े प्रयासों में एक सामान्य कमी प्रायः भारतीय दृष्टि का अभाव है। अर्थात् भवभूति हों, या कालिदास, अथवा कोई अन्य कवि, उनके अध्येता प्रायः यह सत्य भूल जाते हैं कि वे किसी 'भारतीय' कवि की मीमांसा करने चले हैं जिसकी काव्यात्मक प्रवृत्तियों एवं मान्यताओं की सुदृढ़ जड़ें भारतीय जीवन-दर्शन एवं साहित्य-दर्शन में दूर-दूर तक फैली हुई हैं। भारतीय काव्यों

के अध्येता भरत, अभिनवगुप्त आदि की अपेक्षा अरस्तू, रिचर्ड्स, इलियट आदि को ही अधिक श्रेय देते हैं और इन पाश्चात्य साहित्यशास्त्रियों के सैद्धान्तिक निकष पर ही भारतीय कवियों को परखने की चेष्टा करते हैं। इसका अनिवार्य फल यह होता है कि उनकी उधार ली गई कसौटी पर या तो इन कवियों का स्वरूप ठीक से उभर नहीं पाता, या विकृत होकर प्रकट होता है। प्रत्येक देश के साहित्य की कुछ निजी परम्पराएँ होती हैं, कुछ अपने वैशिष्ट्य होते हैं। उनकी पद्धतियों की प्रतिच्छवि, प्रत्येक अवस्था में, दूसरे देशों में नहीं खोजी जा सकती। भवभूति के रूपक नाटक कम और काव्य अधिक हैं, उनमें सामान्य रूप से कार्यव्यापार (ऐक्शन) का अभाव है— ऐसी धारणाएँ प्रायः भवभूति को विदेशी चश्मे से ही देखने के सहज परिणाम हैं।

भवभूति मेरे प्रिय नाटककार रहे हैं। एक सहृदय अध्येता के रूप में उनके नाटकों को पिछले कई वर्षों से पढ़ता और पढ़ाता रहा हूँ। स्नातकोत्तर कक्षाओं में, उनके नाटकों के अध्यापन के प्रक्रम में, जब तब कई विचार मेरे मस्तिष्क से टकराते रहे हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध अपने उन्हीं विचारों को मूर्त रूप देने का एक 'रूपक' मात्र है। मूलतः मैंने अपने कथ्य को तीन विशिष्ट खण्डों में आकार देने की योजना बनाई थी। इच्छा थी कि नाट्यशास्त्र की सैद्धान्तिक उद्भावनाओं—विशेषतः वस्तु, नेता एवं रस नामक मूलभूत तत्त्वों—के पूर्ण प्रकाश में भवभूति के नाट्यशिल्प का विधिवत् परीक्षण करूँगा तथा भारतीय संस्कृति के जिन जीवन्त स्वरों की मधुर वंशी वे अपनी कला में मुखरित कर गये हैं, उनका भी यथाशक्य मर्मोद्घाटन करूँगा। किन्तु पीछे चाहकर भी अपने प्रबन्ध को वह आयाम नहीं दे पाया जिसकी कल्पना थी। मेरी इन व्यक्त सीमाओं के लिए उत्तरदायी कुछ तो शोध-कार्यों की अपनी प्रक्रियाएँ हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, और कुछ मेरी वैयक्तिक कमियाँ हैं। फिर भी, इन सीमाओं के भीतर रहकर भी, मैंने कुछ वैसे मार्गों की खोज करनी चाही है जिन पर साहित्यसमीक्षकों का ध्यान ठीक से जा नहीं पाया है। वस्तु, नेता एवं रस के विस्तार में न जाकर उनके मूल तात्त्विक मूल्यों को ही ग्रहण किया है और, उनके आधार पर, भवभूति को परखने की चेष्टा की है। भवभूति के अध्येताओं को यदि इससे थोड़ा भी नया प्रकाश मिल सका, तो मैं अपने को कृतकार्य मानूँगा।

भवभूति के अध्ययन में मैंने संस्कृत की पूरी नाट्य-परम्परा को ध्यान में रखा है, किन्तु इस प्रक्रम में मैंने स्वभावतः ही अधिक बल संस्कृत नाट्य प्रतिभा की अप्रतिम उपलब्धि कालिदास के नाट्यदर्शन पर देना चाहा है। वस्तुतः कालिदास को समझे बिना भवभूति को समझना, उनके वैयक्तिक एवं प्रयोगवादी स्वर का विश्लेषण करना कठिन है। इसलिए मैंने अपनी समीक्षा के कई विशिष्ट स्थलों पर भवभूति को यथाशक्य कालिदास के प्रकाश में परखने की चेष्टा की है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के पीछे श्रद्धेय डा० सत्कारी मुखर्जी, भूतपूर्व निदेशक, नव नालन्दा महाविहार, का आशीर्वाद प्रधान हेतु रहा है। डा० मुखर्जी, डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं

स्वर्गीय पं० मोहनवल्लभ पन्त, आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सरदार पटेल विश्वविद्यालय, गुजरात ने प्रस्तुत प्रबन्ध की पाण्डुलिपि को पढ़कर इस पर जो अपनी अमूल्य सम्मतियाँ एवं सुझाव दिये, एतदर्थ मैं उनका सदा आभारी रहूँगा। मेरा यह लघु प्रयत्न चाहे जैसा भी है, इसका रूप खड़ा नहीं हो पाता यदि मुझे अपने पूज्य गुरुवर आचार्य डा० बेचन झा, संस्कृत विभागाध्यक्ष, पटना विश्वविद्यालय की सहृदय प्रेरणा एवं कृपा प्राप्त नहीं होती। पटना विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा जी का स्नेह मैं नहीं भूल सकता जिन्होंने समय समय पर मुझे अपने अमूल्य सुझावों से कृतार्थ किया। अपने प्रारम्भिक स्कूल जीवन में जिन्होंने मुझे अत्यन्त स्नेहपूर्वक साहित्य का क-ख-ग सिखाया, अपने उन परम श्रद्धेय प्रातः स्मरणीय गुरुवर पं० रामेश्वर पाण्डेय जी, काव्यतीर्थ, की दिव्य प्रेरणाएँ ही आज इस रूप में फलित हुई हैं। मेरे इस प्रबन्ध के पीछे मेरे मित्र डा० परमेश्वरी लाल गुप्त, अध्यक्ष, पटना संग्रहालय, श्री शशांक शेखर मिश्र, आइ० पी० एस०, डा० लक्ष्मीकान्त सिन्हा (हिन्दी विभाग, जैन कालेज, आरा), डा० ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार (संस्कृत विभाग, लंगट सिंह कालेज, मुजफ्फरपुर) तथा डा० काशीनाथ मिश्र (संस्कृत विभाग, पटना कालेज, पटना) की सत्प्रेरणा बराबर बनी रही; मैं इन सबके प्रति विशेष रूप से आभारी हूँ। अपने सहृदय बन्धु, बी० एन० कालेज के हिन्दी विभाग के वरिष्ठ सदस्य एवं रीडर, श्री रामबुझावन सिंह जी तथा आदरणीय श्री यमुना प्रसाद सिंह, प्राचार्य, उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, प्रेमनगर (शाहाबाद) का सादर स्मरण कर लेना भी आवश्यक समझता हूँ जिनका अमृत-स्नेह मेरी शक्ति बनकर फूटता रहा है। अपने इस प्रबन्ध की अनुक्रमणी को तैयार कराने में मेरे आत्मज-द्वय चि० अरुण कुमार वसन्त एवं प्रभात कुमार वसन्त ने काफी परिश्रम किया है; मेरा आशीर्वाद सर्वदा उनके साथ है। अन्त में मैं श्री मोतीलाल बनारसीदास, विशेषतः श्री जैनेन्द्र प्रकाश जैन तथा ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी के बन्धुओं का आभार स्वीकार करता हूँ जिन्होंने इस कृति के प्रकाशन एवं मुद्रण में अपेक्षित सहयोग प्रदान किया।

—अयोध्या प्रसाद सिंह

संस्कृत विभाग,
पटना विश्वविद्यालय,
पटना
२० सितम्बर, १९६९

संकेत-सूची

अ० न०	: अरस्तू का काव्यशास्त्र : डा० नगेन्द्र
अ० रा०	: अनर्घराघव
अ० श०	: अभिज्ञानशकुन्तल
अभि० ना०	: नाट्यशास्त्र (अभिनवभारती सहित) : गायकवाड ओरियण्टल सीरीज
अष्टा०	: अष्टाध्यायी
इ० ए०	: इण्डियन एण्टीक्वेरी
उ० च०	: उत्तररामचरित
ए० ज्यो०	: एन्शेण्ट ज्यॉगरफी ऑव इण्डिया : जनरल कनिंघम
ए० बु०	: एरिस्टोटिल्स थिअरी ऑव पोएट्री एण्ड फाइन आर्ट्स : एस० एच० बुचर
एनल्स भा०	: एनल्स ऑव द भाण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट
कथा०	: कथासरित्सागर : निर्णयसागर प्रेस
का० उ० च०	: उत्तररामचरित : पी० वी० काणे
का० प्र०	: काव्यप्रकाश
का० मा० मा०	: मालतीमाधव : एम० आर० काले
का० मी०	: काव्यमीमांसा
काव्या०	: काव्यादर्श
का० सू०	: काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति
कृ० हि० लि०	: हिस्टरी ऑव क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर : एम० कृष्णमाचारियर
क्ला० ड्रा०	: द क्लासिकल ड्रामा ऑव इण्डिया : हेनरी डब्ल्यू० वेल्स
क्षीर० अ० को०	: अमरकोश : क्षीरस्वामी
जे-ए-ओ-एस	: जॉर्नल ऑव द अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी
जे-जी-आर-आई	: जॉर्नल ऑव द गङ्गानाथ झा रिसर्च इन्स्टीच्यूट
टो० म०	: महावीरचरित : टोडरमल
तुल०	: तुलना कीजिए
द० रू०	: दशरूपक
द० हि० लि०	: ए हिस्टरी ऑव संस्कृत लिटरेचर (क्लासिकल पीरियड), खण्ड १ : एस० एन० दासगुप्त और एस० के० दे
दे०	: देखिये

ध्व०	: ध्वन्यालोक : रामसागर त्रिपाठी
ना० द०	: नाट्यदर्पण
ना० शा०	: नाट्यशास्त्र
नि० उ० च०	: उत्तररामचरित : निर्णयसागर प्रेस
पद्म०	: पद्मपुराण
पृ०	: पृष्ठ
बे० उ० च०	: उत्तररामचरित : एस० के० बेल्वल्कर
बृ० म०	: बृहत्कथामञ्जरी : निर्णयसागर प्रेस
बृहद्धर्म०	: बृहद्धर्मपुराण
ब्र० सू०	: ब्रह्मसूत्र
भव०	: भवभूति : आर० डी० कर्माकर
भा० ना० सा०	: भारतीय नाट्य साहित्य (सेठ गोविन्द दास अभिनन्दन ग्रन्थ) : डा० नगेन्द्र
भा० प्र०	: भावप्रकाशन
भा० मा० मा०	: मालतीमाधव : आर० जी० भाण्डारकर
भास०	: भासनाटकचक्र : सी० आर० देवधर
भोज० प्र०	: भोजा'ज श्रृङ्गारप्रकाश : वी० राघवन
मनु०	: मनुस्मृति
महा०	: महाभारत
मा० ड्रा०	: मास्टर्स ऑव यूरोपियन ड्रामा : जॉन एलेन
मु० रा०	: मुद्राराक्षस
मृच्छ०	: मृच्छकटिक : आर० डी० कर्माकर
मेघ०	: मेघदूत
याज्ञ०	: याज्ञवल्क्यस्मृति
रघु०	: रघुवंश
रस० स्व०	: रससिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण : आनन्द प्रकाश दीक्षित
र० सु०	: रसार्णवसुधाकर
रामा०	: रामायण
व० जी०	: वक्रोक्तिजीवित
वि० अ० भा०	: अभिनवभारती : आचार्य विश्वेश्वर
विनय०	: विनयपिटक
वि० हि० लि०	: हिस्टरी ऑव इण्डियन लिटरेचर : एम० विण्टरनित्ज
वी० उ० च०	: उत्तररामचरित : वीरराघव
शा० उ० च०	: उत्तररामचरित : शारदारञ्जनराय

शा० सं० की० : संस्कृत साहित्य का इतिहास : ए० बी० कीथ (अनु० मङ्गलदेव शास्त्री)
सं० ड्रा० : द संस्कृत ड्रामा : इन इट्स ऑरिजिन, डेवेलपमेण्ट, थिअरी एण्ड प्रैक्टिस : ए० बी० कीथ
सं० डि० : ए संस्कृत इङ्गलिश डिक्शनरी : सर मॉनीयर विलियम्स
सा० द० : साहित्यदर्पण
सू० मु० : सूक्तिमुक्तावली
स्व० शा० : स्वतन्त्रकलाशास्त्र : कान्तिचन्द्र पाण्डेय
हरि० : हरिवंश
हि० क्वा० : इण्डियन हिस्टरिकल क्वार्टली
हि० पो० : हिस्टरी ऑव संस्कृत पोएटिक्स : पी० वी० काणे
हि० सा० को० : हिन्दी साहित्यकोश

पृष्ठ-संकेत के लिए भवभूति की कृतियों के निम्नलिखित संस्करणों का उपयोग हुआ है—

महावीरचरित : निर्णयसागर प्रेस, शक सं० १८२३
मालतीमाधव : निर्णयसागर प्रेस, शक सं० १८५८
उत्तररामचरित : पी० वी० काणे, सन् १९६२

प्रथम प्रकरण

१. भवभूति का जीवन और समय

२. भवभूति के नाटकों का पौर्वापर्य-सम्बन्ध

अध्याय १

भवभूति का जीवन और समय

बाणभट्ट के पश्चात् सम्भवतः भवभूति ऐसे दूसरे कवि हैं जिन्होंने अपनी कृतियों में अपने सम्बन्ध में कुछ अधिक प्रकाश डालने की चेष्टा की है। सामान्यतः संस्कृत के पुराने कवि अपने सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं देते। कालिदास जैसे महाकवि की भी अपने वंश, समय, स्थान आदि के प्रति उदासीनता का ही परिणाम है कि उनके काल-निर्धारण के क्रम में कभी-कभी कई शताब्दियों का परस्पर विरोधी अन्तर दिखा दिया जाता है। हमारे सौभाग्य से भवभूति के जीवन एवं समय के सम्बन्ध में स्वदेशी एवं विदेशी विद्वान् बहुत कुछ एकमत हैं और इस सन्दर्भ में वे एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। यह निष्कर्ष, जैसा कि हम आगे देखेंगे, तत्कालीन साहित्य, इतिहास आदि ग्रन्थों की गवेषणा पर आधृत है और किसी दूसरे शोधकर्ता के लिए उससे असहमत होने की शायद ही कोई गुंजाइश है।

भवभूति ने अपनी तीनों नाट्यकृतियों के आमुखों में अपने वंश आदि के सम्बन्ध में किंचित् विवरण प्रस्तुत किया है। इनमें सबसे अधिक विवरण महावीरचरित में, उससे कुछ कम मालतीमाधव में तथा सबसे कम उत्तररामचरित में प्राप्त होता है। इसके आधार पर भवभूति के जीवनवृत्त का जितना अंश प्रकाशित होता है, वह कुछ इस प्रकार है। इनके पूर्वज दक्षिणापथ में विदर्भ[1] (आधुनिक बरार) के अन्तर्गत पद्मपुर नामक नगर के रहनेवाले थे। उनका गोत्र **काश्यप** था तथा वे कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा को मानते थे। वे **पञ्चाग्नियों** का आधान करनेवाले, **चरणगुरु**[2] (अपनी शाखा के अध्येताओं के गुरु), **पंक्तिपावन**[3] (वैदिक आचार एवं प्रवचन

---

१. मा० मा० की अधिकांश पाण्डुलिपियों में **पद्मपुर** की अवस्थिति **विदर्भ** में बतायी गयी है—**अस्ति दक्षिणापथे विदर्भेषु पद्मपुरं नाम नगरम्।**

२. **स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति। उपनीय ददद्वेदमाचार्यः स उदाहृतः॥**—याज्ञ० : १ : ३४। **चरण** पद वेद की विशिष्ट शाखाओं के अध्येताओं के अर्थ में प्रयुक्त है (तुल० '**अनुवादे चरणानाम्**'—अष्टा० : २ : ४ : ३), जैसे **कठ, कालाप, कौथुम** आदि। इस प्रकार **चरणगुरु** का पारिभाषिक अर्थ हुआ 'वेद की विशिष्ट शाखाओं में दीक्षित आचार्य जो श्रौत सूत्रों में विहित क्रियाओं को सम्पादित करता हुआ अपनी शाखा विशेष का प्राध्यापक एवं प्रवक्ता है।'

३. (क) **पङ्क्तिपावनाः पङ्क्तौ भोजनादिगोष्ठ्यां पावना अग्रभोजिनः पवित्रा वेत्यर्थः। यद्वा 'यजुषां पारगो यस्तु साम्नां यश्चापि पारगः। अथर्वशिरसोऽध्येता ब्राह्मणः पङ्क्तिपावनः॥'**

—जगद्धर।

आदि करनेवालों में अग्रगण्य), चान्द्रायण आदि धार्मिक नियमों के पालक, सोमपान करनेवाले तथा उदुम्बर नामधारी ब्रह्मवादिन्[१] (ब्रह्मवेत्ता) थे। अपने पूर्वजों के गुण-कीर्तन में भवभूति ने जिन विशेषणों का प्रयोग किया है, उनसे स्पष्ट है कि भवभूति का वंश एवं परिवार वैदिक आचार-विचार, यज्ञ-जाप, ब्रह्मविद्या के अध्ययन-अध्यापन आदि का केन्द्र था। भवभूति की पाँचवीं पीढ़ी पहले महाकवि हुए थे जिन्होंने वाजपेय यज्ञ किया था। भवभूति के पितामह का नाम भट्टगोपाल तथा पिता का नाम नीलकण्ठ था। इनकी माता जतुकर्णी थीं। भवभूति ने जिस क्रम से अपनी पाँच पीढ़ियों के कुलपुरुषों के नाम गिनाये हैं, उसके अनुसार उनका वंशानुक्रम यों प्रकट होता है—

(१) महाकवि
|
(२) —अज्ञात
|
(३) —अज्ञात
|
(४) —भट्टगोपाल
|
(५) —नीलकण्ठ (पत्नी जतुकर्णी)
|
(६) —भवभूति (गुरु ज्ञाननिधि)

(ख) अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च।
श्रोत्रियाऽन्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः॥
त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गविद्।
ब्रह्मदेयात्मसन्तानो ज्येष्ठसामग एव च॥
वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः।
शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावनाः॥
—मनु० : ३ : १८४-१८६।

१. **ब्रह्मवाद** भारतीय दर्शन का एक विशिष्ट सम्प्रदाय है, उसके माननेवाले **ब्रह्मवादिन्** कहे गये हैं। **ब्रह्म** एक सुविदित वैदिक शब्द है. ऋग्वेद आदि में इसका काफी प्रयोग हुआ है। शंकर, रामानुज आदि ब्रह्मवादियों ने **'बृंह वृद्धौ'** धातु से ब्रह्म की व्युत्पत्ति मानी है (बृंह्+मनिन्) —जो सभी तरह से बढ़ा-चढ़ा है, बृहत्तम या महत्तम है, वही ब्रह्म है। बादरायण ने अपने ब्रह्म-सूत्र में कहा है—**जन्माद्यस्य यतः** (ब्र० सू० : १ : २), अर्थात् जिससे समस्त भूतों के जन्म, स्थिति एवं लय होते हैं, वही ब्रह्म है। तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्म को **सत् चित् आनन्दम्** मानती है. उसे 'रस' की संज्ञा भी प्रदान करती है। प्रसिद्ध औपनिषद वाक्य **'तत्त्वमसि'** (तत् = ब्रह्म, त्वम् = आत्मा या जीवात्मा) की व्याख्या के प्रक्रम में ब्रह्मवाद के भी कई शाखान्तर हो गये – अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि। **ब्रह्मवादिन्** का सामान्य अर्थ यहाँ उस आचार्य से है जो न केवल ब्रह्म को जीवन और जगत् की मूल धुरी मानकर चलता है, वरन् उसके स्वरूप की विविध व्याख्याओं में निष्णात है, उनका कुशल उपदेष्टा है।

भवभूति के गुरु कोई ज्ञाननिधि थे जो परमहंसों में श्रेष्ठ माने जाते थे। भवभूति अपने विद्वत्कुल के योग्य ही मेधावी व्यक्ति हुए और इन्होंने पद (व्याकरण), वाक्य (तर्क) तथा प्रमाण (पूर्वमीमांसा) जैसे शास्त्रों में पाण्डित्य प्राप्त किया। वे अपनी नाट्यकृतियों के लिए वेदादिविषयक पाण्डित्य को आवश्यक नहीं मानते[1], फिर भी उनके तीनों ही नाटकों में कथोपकथन के क्रम में अवान्तर रूप से ऐसे कई स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं जो इनका ऐसे कई विषयों का पाण्डित्य प्रकट करते हैं।

भवभूति का वास्तविक नाम क्या था, इसे लेकर विद्वानों में कुछ मतभेद है, इस मतभेद का वास्तविक आधार है स्वयं भवभूति द्वारा अपने नाम के सम्बन्ध में कहा हुआ यह वाक्य-खण्ड **श्रीकण्ठपदलाञ्छनः भवभूतिर्नाम**[2]। भवभूति के टीकाकारों ने **भवभूति** एवं **श्रीकण्ठ** पदों को लेकर अपने जो विचार व्यक्त किये हैं उससे प्रश्न और भी उलझ गया है। वे सभी प्रायः इसी मत के हैं कि भवभूति का पारिवारिक, अतः वास्तविक नाम 'श्रीकण्ठ' ही था, यों भवभूति नाम से वे ख्यापित हुए। इन टीकाकारों में कोई ऐसे नहीं दीखते जिनका जीवन काल भवभूति के समय के सन्निकट रहा हो—भवभूति एवं उनके समय में कई शताब्दियों का अन्तर है। पुनः, भवभूति पद की सार्थकता को सिद्ध करने के लिए वे जो पौराणिक व्याख्यान प्रस्तुत करते हैं, उससे भी उनकी तत्सम्बन्धी अल्पज्ञता का ही आभास मिलता है। अतः अधिक सम्भव यही है कि भवभूति के नाम से सम्बद्ध कोई निश्चित एवं सर्वमान्य परम्परा उनके सामने नहीं थी, उन्होंने अपनी बुद्धि से एक अनिश्चित एवं अवैज्ञानिक परम्परा को 'भवभूति' पद की सार्थकता के साथ जोड़ने का प्रयास किया। भवभूति अपनी तीनों नाट्यकृतियों में **'भवभूतिर्नाम'** का प्रयोग करते हैं, **'श्रीकण्ठो नाम'** कहीं नहीं लिखते।

---

१. मा० मा० : १ : १०।

२. भवभूति के टीकाकारों ने इस सम्बन्ध में अपने मत यों व्यक्त किये हैं—

(क) **"श्रीकण्ठपदं लाञ्छनं यस्य सः। भवभूतिरिति व्यवहारे तस्येदं नामान्तरम्।"**

—त्रिपुरारि।

(ख) **"श्री : सरस्वती कण्ठे यस्य स श्रीकण्ठः। तद्वाचकं पदं लाञ्छनं चिह्नं यस्य सः। नाम्ना श्रीकण्ठः। प्रसिद्ध्या भवभूतिरित्यर्थः।"**

—जगद्धर।

(ग) **"श्रीकण्ठपदं लाञ्छनं नाम यस्य सः। 'लाञ्छनं नामलक्ष्मणोः' इति रत्नमाला। पितृकृतनामेदम्।...'साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्तिः' इति श्लोकरचनासन्तुष्टेन राज्ञा भवभूतिरिति ख्यापितः।"**

—वीरराघव।

(घ) **"श्रीकण्ठ इति पदं नाम लाञ्छनं व्यवहारः यस्य श्रीकण्ठाख्य इत्यर्थः। श्रीकण्ठस्य पदे पादावेव लाञ्छनं बिरुदं यस्येति वार्थः। शिवपादाब्जनिरत इति यावत्।... भवात् शिवात् भूतिः भस्म सम्पत् यस्य ईश्वरेणैव जातु द्विजरूपेण विभूतिर्दत्ता, तदाप्रभृति भवभूतिरिति प्रसिद्धो जात इति च पराशरविदो विदन्ति॥"**

—घनश्याम।

'नाम' का जब इतना स्पष्ट प्रयोग 'भवभूति' के साथ आया है, तो कोई कारण नहीं कि कवि का वास्तविक नाम भवभूति क्यों नहीं माना जाय। संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों में भवभूति का नामोल्लेख हुआ है, किन्तु कहीं भी उन्हें 'श्रीकण्ठ' नहीं कहा गया है। इससे इसी मत की पुष्टि होती है कि कवि का लोक-प्रचलित नाम भवभूति ही था। यों कोई आवश्यक नहीं कि लोक-प्रचलित नाम वास्तविक नाम ही हो। आधुनिक युग में भी कई ऐसे कवि या साहित्यकार हैं जिनके उपनाम उनके नामों की तुलना में अधिक प्रसिद्ध एवं ज्ञात हैं। भवभूति अपने पिता का नाम नीलकण्ठ बताते हैं। चूँकि **नीलकण्ठ** एवं **श्रीकण्ठ** में ध्वनि-साम्य है, दोनों में 'कण्ठ' लगा हुआ है, अतः सम्भव है, इसी आधार पर टीकाकारों ने श्रीकण्ठ को भवभूति का पैतृक नाम समझ लिया हो। **नीलकण्ठ** के पुत्र **श्रीकण्ठ**—यह सुनने में भी सहज एवं स्वाभाविक लगता है। यद्यपि **महाकवि** एवं **भट्टगोपाल** में कहीं भी 'कण्ठ' नहीं आया है, सम्भव है, नीलकण्ठ को एकाएक 'कण्ठ' के लिए आग्रह हो गया हो, उनके आत्मज 'श्रीकण्ठ' हो गये हों। इस अनुमान की पुष्टि में अनेक परम्पराएँ उद्धृत की जा सकती हैं। अतः कवि का वास्तविक नाम श्रीकण्ठ था, अधिक संगत यही लगता है। किन्तु **भवभूतिर्नाम** का प्रयोग इस तर्क को खण्डित कर देने में पूर्णतः समर्थ है। अधिक सम्भावना इसी की है कि आगे चलकर भवभूति की विद्वत्ता के कारण उन्हें श्रीकण्ठ—सरस्वती को अपने कण्ठ में धारण करनेवाला व्यक्ति—कहा जाने लगा हो। अथवा यह भी हो सकता है कि अपने काव्य गौरव को व्यक्त करने के लिए कवि ने स्वयं ही अपने नाम के पीछे 'श्रीकण्ठ' लगा दिया हो। आज के युग में भी भारतीय साहित्यकारों में अपने नाम के पीछे 'दिनकर', 'निराला' आदि जोड़ने की प्रथा प्रचलित है। अतः, इस प्रकाश में, भवभूति का पूरा नाम होगा **भवभूति श्रीकण्ठ**। किन्तु भवभूति अपने कुलपुरुषों के लिए एक दूसरे नाम या उपाधि का भी संकेत करते हैं—**उदुम्बरनामानो ब्रह्मवादिनः प्रतिवसन्ति**। जगद्धर उदुम्बर के बदले **डम्बर** शब्द का प्रयोग करते हैं[1]। भवभूति स्पष्टतः यहाँ 'उदुम्बर' का प्रयोग पारिवारिक नाम अथवा उपाधि के अर्थ में करते हैं। सम्भवतः उनका परिवार उदुम्बर नगर से सम्बद्ध था, अतः उसके सदस्य उदुम्बर नाम से अभिहित होने लगे[2]। इस पारिवारिक नाम अथवा उपाधि को साथ लेने पर हमारे कवि की संज्ञा होगी—**भवभूति श्रीकण्ठ उदुम्बर**। पुनः, दाक्षिणात्य लोग अपने नाम के साथ पिता का नाम भी जोड़ लेते हैं। इस प्रकार, इस अन्तिम कड़ी में, कवि का पूर्णतम नाम होगा—**भवभूति नीलकण्ठ श्रीकण्ठ उदुम्बर**।

---

१. दे० मा० मा० (जगद्धरकृत टीका), पृ० ६।

२. भारत के प्राचीन इतिहास में **उदुम्बर** नाम की एक प्रसिद्ध **गणजाति** का उल्लेख पाया जाता है। यह जाति **औदुम्बर** तथा **ओदुम्बर** नाम से भी अभिहित हुई है। उत्तरी पंजाब के गुरुदासपुर जिले में इस गणजाति की छः मुद्राएँ प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता कनिंघम को प्राप्त हुई

भवभूति ने अपने यशस्वी वंश के कुछ लोगों के नाम तो बताये ही हैं, अपने जन्मस्थान **पद्मपुर** का भी उल्लेख किया है। किन्तु भारत के प्राचीन इतिहास में अबतक कहीं भी भट्टगोपाल आदि का नाम नहीं मिला है; इसी प्रकार पद्मपुर की अवस्थिति भी निश्चित नहीं हो पायी है। भवभूति के टीकाकार जगद्धर और त्रिपुरारि ने **पद्मावती** को ही पद्मपुर माना है जो मालतीमाधव प्रकरण का कार्यक्षेत्र है। जनरल कनिंघम के अनुसार ग्वालियर राज्य में सिन्धु या सिन्ध नदी के किनारे बसा हुआ **नरवार** नामक स्थान ही प्राचीन पद्मावती था।[1] प्रो० वी० वी० मिराशी ने पद्मावती की स्थिति ग्वालियर राज्य में बतायी है और इसे भवभूति-निर्दिष्ट पद्मपुर से सर्वथा भिन्न माना है। उनके अनुसार भण्डारा जिले के आमगाँव से लगभग ढाई मील पर स्थित **पदमपुर** नामक गाँव ही प्राचीन पद्मपुर है जहाँ कुछ पुराने अवशेष प्राप्त हुए हैं।[2] किन्तु विदर्भ में प्रो० मिराशी द्वारा उल्लिखित पदमपुर के अतिरिक्त भी **पद्मपुर, पदमपुर** या **पद्मापुर** नाम से और भी पाँच ग्राम वर्तमान हैं; इनमें भवभूति का पद्मपुर कौन है, इसका निर्धारण शायद तबतक कठिन है, जबतक इन सभी स्थानों की खुदाई न की जाय और वहाँ से प्राप्त सामग्रियों या अवशेषों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया जाय। इसी आधार पर डा० काणे भी प्रो० मिराशी के मत से सहमत नहीं हैं।[3] डा० भाण्डारकर जगद्धर के इस मत के विरुद्ध हैं कि पद्मावती ही पद्मपुर था।

थीं। इसके बाद भी उत्तरी पंजाब के कई बिखरे हुए क्षेत्रों में और भी कई मुद्राएँ मिल चुकी हैं। मुद्राओं के परीक्षण से उदुम्बरों का समय ई० पू० द्वितीय शती से लेकर ईसा की प्रथम शती के बीच निर्धारित किया गया है। यों भारत में उदुम्बरों का अस्तित्व इसके बहुत पहले भी था, इस तथ्य की पुष्टि आचार्य पाणिनि के गणपाठ से होती है (दे० अष्टा० : ४ : २ : ५३)। इस गणपाठ में 'उदुम्बर' लोग **राजन्य** वर्ग के अन्तर्गत गृहीत हुए हैं। विनयपिटक में उदुम्बर एक स्थान विशेष की संज्ञा के **रूप** में प्रयुक्त हुआ है (दे० विनय० : २ : २९९)। यह नाम प्रत्यक्षतः उक्त गणजाति के नाम पर ही रखा गया होगा। इस गणजाति की मुद्राओं में सामने की ओर एक दढ़ियल पुरुषाकृति अंकित है जो मुद्रालेख में **विश्पमित्र** या **विश्वामित्र** कहा गया है। दूसरी ओर एक घेरे में किसी वृक्ष का अंकन हुआ है जिसे कनिंघम **उदुम्बर (गूलर)** बताते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि किन्हीं धार्मिक कारणों से इस गणजाति का **गण-चिह्न** गूलर (उदुम्बर) वृक्ष था और विश्वामित्र इसके **गण-देवता** थे। पूर्ण विवरण के लिए दे० कल्याणकुमार दासगुप्त कृत 'ट्राइबल कॉइन्स ऑव एन्स्येण्ट इण्डिया' (पाण्डुलिपि), कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९६४, पृ० ४९–५६।

भवभूति ने जिस उत्साह एवं गौरव के साथ अपने कुल-पुरुषों की विशिष्ट उपाधि के रूप में 'उदुम्बर' का प्रयोग किया है, उससे यही समीचीन प्रतीत होता है कि वे उसी प्रसिद्ध गण-जाति से सम्बद्ध थे। सम्भव है, उनके पूर्वज पंजाब के सम्बद्ध क्षेत्र को छोड़कर विदर्भ में जा बसे हों।

१. ए० ज्यो०, पृ० ७२६-२७।

२. हि० क्वा०, खण्ड ११, पृ० २८७-२९९।

३. का० उ० च०, प्राक्कथन, पृ० ७-८।

वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भवभूति का जन्मस्थान नागपुर क्षेत्र में चंद्रपुरा या चाँदा के आस-पास कहीं रहा होगा। उनके अनुसार यहाँ अब भी कुछ कृष्णयजुर्वेदी तैत्तिरीय-शाख्याध्यायी मराठी ब्राह्मणों के कुल वर्तमान हैं।[१] हमारी समझ में पद्मपुर के सम्बन्ध में भले ही मत-मतान्तर की गुंजाइश हो, इतना निश्चित है कि भवभूति दक्षिणापथ के ही थे; उनके तीनों नाटकों में दक्षिण के वनों, नदियों तथा स्थानों का कुछ ऐसा वर्णन प्राप्त होता है, जैसे भवभूति का उनसे आत्मीय सम्बन्ध रहा हो। विशेषतः गोदावरी नदी का उल्लेख वे न केवल अपने दोनों रामनाटकों में करते हैं, अपितु मालतीमाधव के नवम अंक में भी सिन्धु नामक नदी के वर्णन के क्रम में बड़ी प्रीति और आत्मीयता के साथ उस नदी तथा उसके तटवर्ती पर्वतों का स्मरण करते हैं।[२] इससे गोदावरी नदी का उनके जन्मस्थान के सन्निकट ही प्रवाहित होना सूचित होता है।

भवभूति के तीनों नाटक कालप्रियनाथ या कालप्रियानाथ की यात्रा के अवसर पर अभिनीत हुए थे। ये कालप्रियनाथ कौन थे, इसे लेकर भी कई परस्पर विरोधी तर्क पेश किये गये हैं। 'काल' शिववाची शब्द है, अतः कालप्रिया का अर्थ पार्वती हुआ। इस प्रकार कालप्रियानाथ का अर्थ हुआ शिव। वीरराघव ने अपनी महावीर-चरित की टीका में इसका बहुत कुछ यही अर्थ किया है; जहाँ ह्रस्वान्त पाठ (काल-प्रियनाथ) का प्रयोग हुआ है, वहाँ भी वे इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं।[३] डा० कीथ कालप्रियनाथ को उज्जयिनी के सुप्रसिद्ध महाकाल से अभिन्न मानते हैं।[४] अधिकांश विद्वान् कालप्रियनाथ को शिव ही मानते हैं, चाहे उनका स्थान उज्जयिनी, पद्मपुर या भवभूतिकालीन कोई अन्य नगर रहा हो। किन्तु प्रो० मिराशी ने इस सम्बन्ध में इधर इन सभी मतों से भिन्न अपना एक अलग सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।[५] उनके इस अध्ययन के दो स्पष्ट निष्कर्ष ये हैं—(१) कालप्रियनाथ से भवभूति का प्रयोजन भगवान् शिव से नहीं, वरन् सूर्यदेव से है और (२) इनका अधिष्ठान उज्जयिनी या कोई अन्य स्थान नहीं, बल्कि कालप्रिय नामक नगर था जो सम्प्रति काल्पी के नाम से प्रसिद्ध है। अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में प्रो० मिराशी ने एक ताम्रपत्र तथा भविष्य, वराह एवं स्कन्द नामक तीन पुराणों से सहायता ली है। वराहपुराण में कृष्ण

---

१. मा० मा० मा०, टिप्पणी-खण्ड, पृ० ३।

२. मा० मा०, पृ० २०४-२०५।

३. "कालप्रियानाथस्य कालप्रियानामिकाम्बिकापतेः। 'कालप्रियनाथस्य' इति ह्रस्वान्त-प्रियशब्दयुक्तः पाठः प्रचुरो दृश्यते। तत्राप्यर्थः पूर्ववत्। क्षेत्रविशेषस्येश्वरमूर्ति-विशेषसंज्ञाभूते कालप्रियानाथशब्दे 'ङ्यापोः संज्ञाच्छन्दसोर्बहुलम्' इति वैकल्पिक-ह्रस्वप्रवृत्तेः।" —मा० च० (टीका), पृ० ६।

४. सं० ड्रा०, पृ० १८६।

५. स्टडीज इन इण्डोलॉजी (१९६०), खण्ड १, पृ० ३५-४२।

के पुत्र साम्ब की कथा आयी है जिसने कालप्रिय अर्थात् सूर्यदेव की स्थापना की थी।[१] भविष्यपुराण में साम्ब ने जिस स्थान पर कालप्रिय का स्थापन किया था, उसका नाम भी कालप्रिय ही दिया हुआ है।[२] यहाँ हम प्रो० मिराशी की इस स्थापना के विवाद में अधिक दूर न जाकर केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि उन्होंने अपने इस नये सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कुछ मौलिक सत्यों की या तो उपेक्षा की है या उन पर ठीक से ध्यान नहीं दिया है। पहली बात जो इस सन्दर्भ में विचारणीय है, यह है कि उनका अध्ययन कालप्रियनाथ के ह्रस्वान्त पाठ पर ही पूर्णतया आधारित है; कालप्रियानाथ के दीर्घान्त पाठ को उन्होंने बिलकुल छोड़ दिया है। यदि यह दीर्घान्त पाठ ही शुद्ध मान लें—इसकी शुद्धता की सम्भावना ह्रस्वान्त पाठ से अधिक नहीं तो कम भी नहीं है—तो प्रो० मिराशी का सिद्धान्त खड़ा नहीं रह पाता। दूसरी बात यह है कि वे अपने सारे तर्कों के बल पर यही सिद्ध कर सकते हैं कि कालप्रिय नामक स्थान पर अधिष्ठापित सूर्यदेव का नाम भी कालप्रिय ही था। किन्तु भवभूति के अभीष्ट तो **कालप्रियनाथ** हैं, **कालप्रिय** नहीं। अतः कालप्रिय के बाद यह 'नाथ' शब्द क्यों लगा है, इसकी व्याख्या करने में प्रो० मिराशी का सिद्धान्त अक्षम है। तीसरी बात, उनके इस सम्पूर्ण सिद्धान्त के मूल में मालतीमाधव का वह श्लोक है जिसमें भगवान् सूर्य की प्रशंसा की गयी है।[३] वस्तुतः इस प्रकरण का यह श्लोक मांगलिक इसलिए नहीं माना जा सकता, चूँकि इसकी स्थिति नान्दी के पश्चात् है और इसका पाठ स्वयं सूत्रधार ने किया है। सूत्रधार ने इस श्लोक के पाठ के ठीक पहले जो बात कही है, उससे उसका प्रयोजन बिलकुल स्पष्ट हो जाता है—**अलमलम्**। (पुरतोऽवलोक्य) **उदितभूयिष्ठ एष भगवानशेषभुवनद्वीपदीपः। तदुपतिष्ठे**। इससे मालतीमाधव का अभिनय पूर्वाह्न में होना सूचित होता है; वस्तुतः सूत्रधार का अभीष्ट यहाँ दर्शकों को अभिनय-काल की सूचना मात्र देना है। यदि प्रस्तुत सूर्य-स्तव मंगलश्लोक के रूप में अवतरित किया गया रहता, तो प्रो० मिराशी का तर्क कुछ अधिक संगत प्रतीत होता।

अतः हमारे विचार से कालप्रियनाथ पर इतना अधिक तूल देना उचित प्रतीत नहीं होता। जो विद्वान् उन्हें **महाकाल** या **महाकालेश्वर** से अभिन्न मानते हैं, वे भी कदाचित् अपने मत की पुष्टि काल्पनिक आधार पर ही कर सकते हैं। यदि भवभूति के इष्ट महाकाल ही होते तो वे उनका नाम कालप्रियनाथ क्यों देते? कालिदास से लेकर बाणभट्ट तक उज्जयिनी के इस स्वनामधन्य महादेव को 'महाकाल' कहकर ही पुकारते हैं। भवभूति का जो समय निर्धारित किया गया है उससे बाणभट्ट का समय लगभग एक शती पूर्व ठहरता है। तो क्या सौ वर्षों में ही महाकाल के नाम में इतना बड़ा परिवर्तन आ गया? हमारी सम्मति में कालप्रियनाथ हैं तो शिव ही, किन्तु वे

---

१. वराहपुराण : १७७ : ५५-५७।

२. भविष्यपुराण : १२९ : १६।

३. मा० मा० : १ : ३।

महाकाल से भिन्न हैं; अधिक सम्भावना है कि वे भवभूति के जन्मस्थान में ही अधिष्ठित किये गये हों। प्रो० मिराशी का यह तर्क कि भवभूति के नाटक यदि उनके जन्मस्थान में ही अभिनीत हुए होते, तो उस सुपरिचित स्थान पर वे अपने वंश आदि का वैसा सविस्तर परिचय न देते,[१] ठीक नहीं जँचता। ऐसा प्रतीत होता है कि कालप्रियनाथ की यात्रा में भाग लेने के लिए दूर-दूर से लोग आया करते थे।[२] अतः स्वभावतः ही वहाँ भवभूति के सामाजिकों में ऐसे बहुत सारे लोग होते होंगे जिनके लिए भवभूति या उनका वंश आदि अपरिचित रहता होगा। इसलिए अपने ऐसे दर्शकों के लिए यदि भवभूति ने अपने पहले दो नाटकों में अपना विस्तृत परिचय दिया, तो यह सर्वथा प्रत्याशित एवं स्वाभाविक ही था। जब दो नाटकों के अभिनय के पश्चात् भवभूति की कीर्ति फैल गयी और लोग उनके नाम आदि से अच्छी तरह परिचित हो गये, तो अपनी तीसरी नाट्यकृति उत्तररामचरित में वही भवभूति अपना अल्प परिचय देकर प्ररोचना का निर्वाह मात्र कर देते हैं।

एक अन्य साहित्यिक विवाद इस प्रश्न पर आधारित है कि **भवभूति** तथा **मीमांसक उम्बेक** एक ही हैं अथवा भिन्न। इस प्रश्न की ओर साहित्यिकों का ध्यान सबसे पहले आकृष्ट करनेवाले स्व० श्री पांडुरंग पण्डित थे। श्री पण्डित ने इन्दौर के श्री एम० वी० लेले से मालतीमाधव की लगभग पाँच सौ वर्ष पुरानी एक पाण्डुलिपि प्राप्त की जिसका उल्लेख उन्होंने **गउडवहो** के अपने संस्करण के प्राक्कथन में किया है। इस पाण्डुलिपि के तृतीय अंक की पुष्पिका में वह प्रकरण **कुमारिल भट्ट** के शिष्य द्वारा प्रणीत बताया गया है, छठे अंक की पुष्पिका यह बताती है कि उसके कर्ता **उम्बेकाचार्य** हैं जिन्होंने अपना वाग्वैभव श्री कुमारिल स्वामी के प्रसाद से प्राप्त किया था तथा दसवें अंक की पुष्पिका में यह उल्लिखित है कि वह **भवभूति** द्वारा विरचित है।[३] उम्बेक और भवभूति के अभिन्न होने का एक और प्रमाण उम्बेक की तात्पर्यटीका के प्रारम्भ में दिया गया मालतीमाधव का यह प्रसिद्ध श्लोक है—

> **ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां**
> **जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।**
> **उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा**
> **कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥**

---

१. स्टडीज इन इण्डोलॉजी, खण्ड १, पृ० ३६।

२. तुल० **संनिपतितश्च भगवतः कालप्रियनाथस्य यात्राप्रसङ्गेन नानादिगन्तवास्तव्यो जनः।** —मा० मा०, पृ० ५।

३. **इति भट्टकुमारिलशिष्यकृते मालतीमाधवे तृतीयोऽङ्कः, इति श्रीकुमारिलस्वामिप्रसादप्राप्तवाग्वैभवश्रीमदुम्बेकाचार्यविरचिते मालतीमाधवे षष्ठोऽङ्कः, इति श्रीमद्भवभूतिविरचिते मालतीमाधवे दशमोऽङ्कः** (इस उद्धरण के लिए मैं डा० काणे का आभारी हूँ)।

इनके अतिरिक्त भी दार्शनिक ग्रन्थों में कई जगह भवभूति और उम्बेक को एक ही समझने की चेष्टा की गयी है। यह भ्रम केवल इन दो की अभिन्नता को लेकर ही रहे, सो भी नहीं। डा० काणे ने कई प्रमाणों के आधार पर दिखाया है कि किस प्रकार कालक्रम से **मण्डन, सुरेश्वर, भवभूति, विश्वरूप** एवं उम्बेक एक ही मान लिये गये हैं।[१] भवभूति एवं उम्बेक एक ही व्यक्ति हैं अथवा दो, इसके सम्बन्ध में कई विद्वानों ने अपने-अपने मत दिये हैं। डा० भाण्डारकर इन दोनों के अभिन्न होने में सन्देह करते हैं, हालाँकि उनकी दृष्टि में भवभूति एवं उम्बेक का समय प्रायः एक ही है। उनका सन्देह इन कारणों पर आधृत है—(१) देश के विविध क्षेत्रों से प्राप्त मालती-माधव की अनेक पाण्डुलिपियों में उन्हें कहीं भी ऐसा निर्देश नहीं मिला, (२) उम्बेक मीमांसा के आचार्य थे, किन्तु भवभूति अपने जिन विषयों के पाण्डित्य की ओर संकेत करते हैं, उनमें मीमांसा का समाहार नहीं होता और (३) भवभूति ने कहीं भी कुमारिल भट्ट को अपना गुरु नहीं कहा है। इतना मानने पर भी वे इसे असंभव सिद्धान्त नहीं कहते और इसकी सत्यता की जाँच का भार भावी अनुसन्धित्सुओं पर छोड़ देते हैं।[२] डा० काणे अपनी उत्तररामचरित की भूमिका में इस प्रश्न का विधिवत् परीक्षण करते हैं और अन्त में इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि भवभूति एवं उम्बेक के अभिन्न होने की काफी सम्भावनाएँ हैं; यद्यपि तत्सम्बन्धी प्रमाण अभी अकाट्य नहीं कहे जा सकते।[३] प्रो० मिराशी ने ऐसे सभी मतों के प्रकाश में इस प्रश्न पर कुछ मौलिक ढंग से विचार किया है।[४] उन्होंने इस प्रश्न के पूर्व एवं उत्तर पक्षों की सारगर्भित मीमांसा की है और अन्त में यही सिद्ध किया है कि भवभूति एवं उम्बेक एक नहीं, दो हैं। प्रो० मिराशी के ऐसे तर्कों के विस्तार में हम नहीं जाना चाहते; हाँ, उनकी स्थापना की मूल भित्तियाँ ये हैं—(१) उम्बेक की साहित्यिक गतिविधि का समय लगभग ७७५ ई० से लेकर ८०० ई० के बीच पड़ता है, जब कि भवभूति इनसे लगभग ५० वर्षों पूर्व अपना साहित्यिक कार्यकाल समाप्त कर चुके थे, (२) काश्मीर से लेकर मैसूर तक बिखरी हुई भवभूति की पाण्डुलिपियों में कहीं भी ऐसा निर्देश नहीं मिलता कि भवभूति और उम्बेक एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं, अतः श्री पण्डित द्वारा प्राप्त मात्र एक पाण्डुलिपि के कथन पर अधिक बल नहीं दिया जा सकता, (३) भवभूति तथा उनके पूर्वजों के नाम विशुद्ध संस्कृत भाषा से लिये गये हैं, जब कि उम्बेक द्रविड़ भाषा का शब्द प्रतीत होता है, (४) उम्बेक ने जान-बूझकर भवभूति के उक्त श्लोक को अपनी तात्पर्यटीका के पहले रखा है, चूँकि वे स्वयं भी अपनी विद्वत्ता के सम्बन्ध में अपने पाठकों से वही कहना चाहते थे जो भवभूति अपने सामाजिकों को बताना चाहते थे

---

१. का० उ० च०, प्राक्कथन, पृ० २३।

२. भा० मा० मा०, प्राक्कथन, पृ० ९।

३. का० उ० च०, प्राक्कथन, पृ० २४-२५।

४. स्टडीजइन इण्डोलॉजी, खण्ड १, पृ० ४३-५३।

और (५) चित्सुखाचार्य की तत्त्वप्रदीपिका नामक दार्शनिक ग्रन्थ की 'नयनप्रसादिनी' टीका में भवभूति एवं उम्बेक को एक मानने का कारण है इस टीका के लेखक प्रत्यग्रूप भगवान् का बहुत पीछे का होना; प्रत्यग्रूप भगवान् के समय संभवतः यह भ्रम फैल चुका था कि भवभूति एवं उम्बेक एक ही व्यक्ति थे।

हमारी सम्मति में प्रो० मिराशी के तर्क अधिक संगत एवं समीचीन प्रतीत होते हैं। भवभूति के गुरु यदि प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट होते, तो निश्चय ही वे उन्हें इसी नाम से पुकारते, उन्हें ज्ञाननिधि नहीं कहते। ज्ञाननिधि शब्द का प्रयोग किसी के विशेषण के रूप में भी किया गया प्रतीत नहीं होता, ज्ञाननिधि वस्तुतः संज्ञापद की तरह प्रयुक्त है और इसका विशेषण है **'श्रेष्ठः परमहंसानाम्।'** भारतीय दर्शन की परम्परा में अबतक कहीं ऐसा निर्देश प्राप्त नहीं हुआ है जिससे पता चले कि कुमारिल भट्ट का दूसरा नाम ज्ञाननिधि भी था। स्पष्टतः ये ज्ञाननिधि कोई दूसरे आचार्य हैं जिनके चरणों में बैठ कर भवभूति ने विविध शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया था। अतः भवभूति एवं उम्बेक को एक मानने का कारण सम्भवतः यही है कि दोनों समसामयिक रहे होंगे तथा दोनों ने ही मीमांसाशास्त्र पर प्रामाणिक टीकाओं या मौलिक ग्रन्थों की रचना की होगी। जहाँ तक उम्बेक का प्रश्न है, अबतक उनकी दो टीकाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं—पहली तात्पर्यटीका के नाम से कुमारिल के श्लोकवार्त्तिक पर तथा दूसरी मण्डन के भावनाविवेक पर। इसके अतिरिक्त भी उम्बेक की चर्चा अन्य कई दार्शनिक ग्रन्थों में आयी है जिससे उनके दार्शनिक पाण्डित्य तथा ख्याति का परिचय प्राप्त होता है। डा० भाण्डारकर तथा डा० कुन्हन राजा जैसे विद्वानों की दृष्टि में भवभूति की कृतियों में कोई ऐसा संकेत नहीं पाया जाता जिससे उनका मीमांसक होना सूचित हो; किन्तु भवभूति स्वयं मानते हैं कि नाट्यकृतियों के लिए उनके वेदादि-विषयक ज्ञान की कोई उपयोगिता नहीं है। अतः यदि हम मीमांसा का कोई सूत्र उनके नाटकों में नहीं पा सकें, तो इसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि भवभूति मीमांसक नहीं थे। प्रो० मिराशी ने ठीक ही दिखाया है कि भवभूति का श्रोत्रिय-वंश वेद-वेदांगों के अध्ययन के लिए प्रसिद्ध था; उनके पूर्वज महाकवि ने वाजपेय यज्ञ तक किया था। ऐसे कुल में उत्पन्न होकर भवभूति मीमांसा से अनभिज्ञ रहे हों, यह संभव नहीं जान पड़ता। वे अपने को **पदवाक्यप्रामाणज्ञ** कहते हैं, यहाँ वाक्य का सम्बन्ध मीमांसा से दिखाया जाता है जो वैदिक वाक्यों के निर्वचन के लिए नियम प्रस्तुत करती है। भवभूति ने अपने प्रसिद्ध श्लोक **'यद्वेदाध्ययनम्'** आदि में वेदाध्ययन को सम्भवतः **मीमांसा** के लिए और उपनिषद्-अध्ययन को **वेदान्त** के लिए प्रयुक्त किया है।[१] अतः बहुत सम्भव है कि भवभूति मीमांसाशास्त्र के क्षेत्र में भी उतरे हों और अपने समसामयिक उम्बेक के समकक्ष मीमांसक सिद्ध हुए हों।[२] आगे चल कर इन दोनों के

---

१. स्टडीज इन इण्डोलॉजी, खण्ड १, पृ० ५०।

२. भवभूति ने अपने तन्त्रशास्त्र के ज्ञान का कुछ संकेत मालतीमाधव के पञ्चम अङ्क में कापालिक-

एक मान लिये जाने में यही हेतु सर्वाधिक सम्भव जान पड़ता है। संक्षेप में, भवभूति न केवल लब्धप्रतिष्ठ कवि एवं नाटककार थे, प्रत्युत उच्च श्रेणी के दार्शनिक भी थे। वेदान्त, मीमांसा, तन्त्र आदि विषयों में उनकी समान गति थी और सम्भवतः इन सब पर उन्होंने साधिकार अपने प्रसिद्ध नाम 'भवभूति' से ही लिखा था। उम्बेक इनसे सर्वथा भिन्न कोई दूसरे दार्शनिक आचार्य थे।

भवभूति के नाम-धाम आदि के सम्बन्ध में जितना विवाद है, उतना उनके समय के सम्बन्ध में नहीं है। यों उन्होंने न तो कहीं अपने किसी आश्रयदाता और न अपने समसामयिक अथवा अपने से पुराने किसी कवि का ही नामोल्लेख किया है जिससे उनके काल-निर्धारण की दिशा में कुछ प्रत्यक्ष प्रकाश मिल सके। किन्तु इस सन्दर्भ में कुछ दूसरे अन्तःसाक्ष्य एवं बाह्य साक्ष्य इतने स्पष्ट एवं पुष्ट मिलते हैं कि उनके समय का निश्चय बहुत आसान हो जाता है। सबसे पहले हम तत्सम्बन्धी अन्तःसाक्ष्यों पर विचार करेंगे; उसके पश्चात् कुछ वैसी बाह्य सामग्रियों या संकेतों की मीमांसा करेंगे जो उनके समय के निर्धारण में परम सहायक सिद्ध हुए हैं।

अन्तःसाक्ष्य में स्वभावतः ही सर्वप्रथम भवभूति की शैली का स्थान आता है। उनकी शैली के परीक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि वह एक ऐसे युग की देन हैं जब वाक्य-रचना में समास का महत्त्व काफी बढ़ गया था, संश्लिष्ट वाक्य प्रायः लम्बे-लम्बे लिखे जाते थे, भाषा की स्वाभाविक गति पर पाण्डित्य का बोझ चढ़ चुका था तथा भाव-संक्षेप के स्थान पर भावविस्तार को महत्त्व दिया जाने लगा था। निश्चित रूप से शैली के इन सारे लक्षणों की परिणति बाणभट्ट की गद्य-शैली में देखने को मिलती है। भवभूति की तीनों नाट्यकृतियों, विशेषतः मालतीमाधव में ऐसे कई गद्य-वाक्य प्राप्त होते हैं जिनपर बाणभट्ट की शैली का स्पष्ट रंग चढ़ा हुआ प्रतीत होता है। शैली के इस रूप का शंसन स्पष्टतः दण्डी के काव्यादर्श में इस प्रकार किया गया है— **'ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्'**[1]। बाण का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है और दण्डी को भी सातवीं शताब्दी के आस पास रखा गया है। अतः भवभूति

प्रसङ्ग में किया है; किन्तु वे तन्त्रशास्त्र के ज्ञाता ही नहीं, लेखक भी थे, इसका कोई संकेत वहाँ उपलब्ध नहीं होता। परन्तु अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक में ऐसे स्पष्ट संकेत मिले हैं जिनसे भवभूति उस शास्त्र के कृती लेखक सिद्ध होते हैं—

> **असदेतदिति प्राहुर्गुरवस्तत्त्वदर्शिनः।**
> **श्रीसोमानन्दकल्याणभवभूतिपुरोगमाः।**
> **तथा हि त्रींशिकाशास्त्रविवृतौ तेऽभ्यधुर्बुधाः॥**

(इस उद्धरण के लिए मैं प्रो० मिराशी का आभारी हूं।)

अतः ऐसा प्रतीत होता है कि भवभूति की दार्शनिक प्रतिभा दर्शन के किसी एक ही क्षेत्र—जैसे, वेदान्त—तक सीमित नहीं थी, अपितु उन्होंने मीमांसा, तन्त्र आदि विषयों पर भी अपनी लेखनी चलायी थी।

१. काव्या: १:८०।

का समय इसके बाद ही ठहरता है। भवभूति ने अपनी कृतियों में भले ही किसी कवि आदि के नाम का उल्लेख नहीं किया है, फिर भी उनके नाटक, विशेषतः उत्तर-रामचरित कालिदास से प्रभावित जान पड़ते हैं। मालतीमाधव में एक जगह भवभूति ने कामन्दकी के मुख से कौशिकी शकुन्तला एवं दुष्यन्त तथा अप्सरा उर्वशी एवं पुरूरवस् के परस्पर प्रणय-भाव को उदाहृत किया है[1]; स्पष्टतः यहाँ कालिदास के अभिज्ञानशकुन्तल एवं विक्रमोर्वशीय नाटकों की ओर ही संकेत किया गया है। इसी प्रकरण के नवम अंक में विरही माधव मेघ के द्वारा अपनी प्रिया मालती के पास सन्देश भेजता हुआ दीखता है। यहाँ न केवल मेघदूत के भावों का स्पष्ट अनुकरण प्राप्त होता है, वरन् उसके प्रसिद्ध छन्द मन्दाक्रान्ता की भी अनुकृति पाई जाती है।[2] अतः भवभूति कालिदास के बाद अवतीर्ण हुए, यह स्पष्ट है। यों कालिदास के समय को लेकर भी काफी मतभेद है, किन्तु अधिकांश विद्वान् उन्हें चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजसभा का कवि घोषित करते हैं; इस प्रकार कालिदास का समय पाँचवीं शती का आरम्भ सिद्ध होता है।[3]

इन कतिपय अन्तः साक्ष्यों की तुलना में बहिः साक्ष्य अधिक प्रबल तथा भवभूति के कालनिर्धारण में अधिक निश्चयात्मक हैं। ऊपर भवभूति की शैली पर बाण की शैली के प्रभाव की बात कही गयी है। बाण ने अपने हर्षचरित के आरम्भ में वासवदत्ता, सेतुबन्ध, भास, कालिदास आदि कई कवियों तथा साहित्यिक कृतियों का उल्लेख किया है, किन्तु वहाँ भवभूति या उनकी किसी कृति का नाम नहीं दिया। भवभूति यदि बाण के पहले या उनके समसामयिक भी हुए होते, तो शायद उनकी जैसी प्रतिभा को बाण अपनी सूची में अवश्य स्थान देते। उनकी लम्बी सूची में भवभूति का स्थान नहीं रहने का एक मात्र कारण यही प्रतीत होता है कि भवभूति अवतीर्ण ही नहीं हुए थे। बाणभट्ट का समय निश्चित है। वे स्थाण्वीश्वर एवं कान्यकुब्ज के विद्वान् सम्राट् **हर्षवर्धन** की राजसभा के महाकवि थे। हर्ष का राज्य-काल ६०६ ई० से ६४८ ई० तक रहा, अतः बाण का समय भी सातवीं शती का पूर्वार्ध माना जा सकता है। यह समय भवभूति के समय की पूर्व सीमा के रूप में रखा जा सकता है। अर्थात् भवभूति सातवीं शती के पूर्वार्ध में निश्चित रूप से विद्यमान नहीं थे। उनके समय की उत्तर सीमा का ज्ञान आचार्य **वामन** की काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में उनके दो श्लोकों (उ० च० : १ : ३८ तथा म० च० : १ : ५४) के उद्धरण से होता है। डा० काणे के अनुसार वामन का समय आठवीं शताब्दी के आस-पास माना जाना चाहिए।[4] अतः इस हिसाब से भवभूति को आठवीं शती के बाद नहीं रखा जा सकता। वामन के बाद राजशेखर

---

१. मा० मा०, पृ० ६४।

२. मा० मा० : ९ : २५, २६।

३. सं० ड्रा०, पृ० १४६-४७।

४. का० उ० च०, प्राक्कथन, पृ० ३०।

ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक काव्यमीमांसा में मालतीमाधव के श्लोकों को उद्धृत किया है तथा अपनी बालरामायण में अपने को **वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ** तथा **भवभूति** का अवतार घोषित किया है।[1] राजशेखर कनौज के राजा **महेन्द्रपाल** के उपाध्याय थे। महेन्द्रपाल के कतिपय अभिलेख ९०३ ई० तथा ९०७ ई० के प्राप्त हुए हैं। इस आधार पर राजशेखर नवीं शती के अन्तिम भाग में हुए होंगे, यह निश्चितप्राय है। राजशेखर के बाद अन्य कई आचार्यों ने अपनी अपनी कृतियों में भवभूति की कृतियों से उद्धरण दिये हैं, किन्तु वे सभी कुछ अधिक परवर्ती होने से प्रस्तुत संदर्भ में उतना महत्त्व नहीं रखते।

यह निर्धारित कर लेने पर कि भवभूति का समय सातवीं शती के पूर्वार्ध के पश्चात् तथा आठवीं शती के अंतभाग से पूर्व कहीं रहा होगा, अब हम कुछ दूसरे प्रमाणों के आधार पर भवभूति के समय की वास्तविक स्थिति का पता लगाना चाहेंगे। काश्मीरी कवि **कल्हण** की राजतरंगिणी (रचना-काल ११५८–'५९ ई०) में कान्यकुब्ज के राजा **यशोवर्मा** का उल्लेख आया है जो कल्हण के अनुसार कवि **वाक्पतिराज** तथा **भवभूति** के आश्रयदाता थे।[2] इस यशोवर्मा को काश्मीर के राजा **ललितादित्य** ने पराजित किया था। भारत के एक बहुत बड़े भाग पर ललितादित्य की विजयपताका फहराने लगी थी। उसे **मुक्तापीड** के नाम से भी पुकारा गया है। श्री शंकर पांडुरंग पण्डित ललितादित्य के राज्याभिषेक का समय ६९५ ई० मानते हैं। डा० भाण्डारकर ने ललितादित्य के तिथिसम्बन्धी भारतीय एवं चीनी आँकड़ों का विधिवत् परीक्षण किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ललितादित्य का राज्यकाल ७२४–७६० ई० अथवा ७३१–७६७ ई० तक था।[3] यह कालनिर्धारण चीनी सूत्रों के आधार है पर हुआ है। इसकी प्रामाणिकता वाक्पतिराज विरचित प्राकृत महाकाव्य **गउडवहो** (गौडवध) में वर्णित एक सूर्यग्रहण के समय से सिद्ध हो जाती है। वाक्पतिराज ने अपने काव्य में सूर्यग्रहण आदि कुछ ऐसी अशुभ घटनाओं की ओर संकेत किया है जिनके चलते यशोवर्मा के राजकीय पद में एक अस्थायी अवरोध उत्पन्न हो गया। प्रो० जैकोबी ने इस अवरोध को ललितादित्य का आक्रमण ही माना है; इस आक्रमण का दुष्परिणाम यशोवर्मा को सचमुच ही कुछ दिनों तक भुगतना पड़ा। ललितादित्य ने पराजित यशोवर्मा के राज्य को हड़पने की चेष्टा नहीं की, वरन् उनसे अपनी अधीनता स्वीकार कराकर उसने पुनः उनके राज्य को वापस कर दिया था।

---

१. **बभूव वल्मीकभवः पुरा कविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।**
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

—बालरामायण : १ : १६।

२. कविवाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिबन्दिताम्॥—राजतरंगिणी (स्टेइन का संस्करण) : ४ : १४४।

३. मा० मा० मा०, प्राक्कथन, पृ० १४।

उस समय कनौज में जो सूर्यग्रहण दीखा था उसकी गणना करके प्रो॰ जैकोबी ने उसकी तिथि १४ अगस्त सन् ७३३ ई॰ निर्धारित की है। अर्थात् ७३३ ई॰ में ही ललितादित्य ने यशोवर्मा पर आक्रमण किया था। प्रो॰ जैकोबी की यह गणना यशोवर्मा के उक्त राज्यकाल से सर्वथा मेल खाती है। चूँकि गउडवहो में ७३३ ई॰ में घटित हुए सूर्यग्रहण का वर्णन आया है, अतः डा॰ काणे गउडवहो का रचना-काल ७४० ई॰ के आस-पास मानते हैं। अपने इस काव्य में वाक्पतिराज ने भवभूति के काव्यगुणों का बड़े आदर के साथ उल्लेख किया है जिससे पता चलता है कि वे भवभूति से व्यक्तिगत रूप से परिचित थे, सम्भवतः उनके शिष्य ही थे।[1] यशोवर्मा के समय तथा उनके आश्रित कवि वाक्पतिराज के रचनाकाल के इस निर्धारण से यह अनुमान सहज ही है कि भवभूति की साहित्यिक गतिविधि का समय आठवीं शती के प्रथम चतुर्थांश अथवा उससे कुछ काल बाद तक रहा होगा। इससे भवभूति से साहित्यिक प्रेरणा ग्रहण करनेवाले वाक्पतिराज के साहित्यिक ऐश्वर्य का काल इसके लगे बाद आठवीं शती का माध्य भाग निश्चित होता है जो गउडवहो के उक्त रचना-काल की सर्वथा संगति में पड़ता है।

भवभूति का समय निश्चित कर लेने के बाद अब हम उनकी कृतियों के प्रकाश में उनके अनुमानित जीवन-चरित की कुछ हल्की-मोटी रेखाएँ खींचना चाहेंगे। प्रायः कोई साहित्यकार या कलाकार जितना ही बड़ा होगा, अपनी कलाकृतियों में वह उतना ही तटस्थ दीखेगा; अपनी कला को वह अपने व्यक्तिगत सुख-दुख की लहरों से उतना ही अस्पृष्ट रखेगा। कालिदास, भवभूति, शेक्सपीयर आदि की कृतियों में उनके वैयक्तिक जीवन के कितने अंश प्रतिम्बिबित हुए हैं, इसका लेखा-जोखा करना अत्यन्त ही कठिन है। साहित्य के इन महारथियों ने अपने को अपनी रचनाओं में इतना घुला दिया है, अपने 'व्यक्ति' को समष्टि के ऐसे उदात्त रूपों में ढाल दिया है कि उनमें कहीं उनका 'अपना' दृष्टिगत नहीं होता। कलारूपों में उनके आत्मभाव विश्वात्मभावों के अंगभूत हो जाते हैं और उनके व्यक्तित्व के वैसे सारे पक्ष, जो उनके व्यक्तिगत जीवन में अशोभन और अप्रीतिकर रहे होंगे, या तो वहाँ कोई स्थान ही नहीं पाते या अपनी असुन्दर सीमाओं का केंचुल की तरह त्याग कर देते हैं और सत्यं शिवं सुन्दरम् के सार्वभौम स्थायित्व में परिणत हो जाते हैं। ऐसे कलाकारों के जीवन-वृत्तान्तों के अनुसंधित्सुओं के सामने निश्चित रूप से ऐसी कई सीमाएँ आ जाती हैं जिनसे उनके अध्ययन की दिशा स्पष्ट नहीं हो पाती। फिर भी, समष्टि के महनीय रूपों में भी व्यष्टि के लघुतर तत्त्वों को बारीकी से परखा जा सकता है। साहित्यकार का लघु व्यक्तित्व उसकी कृतियों के महासागर में भी प्रायः तेल की बूँदों की तरह तिरता हुआ दीख जाता है। आवश्यकता केवल होती है इन बूँदों को पहचानने तथा उन्हें मूल प्रवाह से छाँटकर

---

१. भवभूइजलहिनिग्गयकव्वामयरसकणा इव फुरन्ति।
जस्स विसेसा अज्जवि वियडेसु कहाणिवेसेसु॥

—गउडवहो, श्लोक-सं॰ ७९९।

अलग करने की। यह काम भी सरल हो, ऐसी बात नहीं। प्रायः सामान्य प्रवाह की सतह पर चमकते हुए जल-बिन्दुओं को ही हम ऐसी बूँदें समझने का भ्रम कर बैठते हैं; उनका आधार बनाकर खड़ी की गयी कोई भी कल्पना यदि मिथ्याभास मात्र सिद्ध हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। अतः ऐसे अवसरों पर हमें बहुत सँभलकर अपने निष्कर्ष निकालने होंगे।

सौभाग्य से भवभूति ने अपने सम्बन्ध में कुछ बातें खुलासा कह दी हैं जो उनके व्यक्तित्व के दूसरे प्रतिबिम्बों को पकड़ने में हमारा मार्ग-दर्शन कराती हैं। उन्होंने अपने वंश आदि के सम्बन्ध में जो यत्किंचित् निर्देश दिये हैं, उसका विचार ऊपर किया जा चुका है। पदवाक्यप्रमाणज्ञ भवभूति की भाषा-शैली तथा विचार-प्रक्रिया इस बात की स्पष्ट साक्षी हैं कि वे एक प्रकाण्ड पण्डित, सजग कलाकार एवं सुधी दार्शनिक थे। उनके नाटकों में उनके व्यक्तित्व के इन तीनों रूपों का कलात्मक समन्वय हुआ है।

अपने कुलपुरुषों के पवित्रतम श्रोत्रिय-संस्कार, कर्म-काण्ड एवं ज्ञान-काण्ड में सम्प्राप्त उनकी उपलब्धियों एवं पाण्डित्य आदि की संक्षिप्त चर्चा करते हुए कवि ने जितना कुछ कह दिया है, वह स्वयं उनके निजी व्यक्तित्व को समझने के लिए एक बड़ी दूरी तक सहायक है। इससे पहला निष्कर्ष यही निकलता है कि भवभूति स्वयं भी वैदिक आचार-विचार के पक्के हिमायती थे। यदि ऐसा न होता तो वे इतने उत्साह एवं स्वाभिमान के साथ अपने वंश के सम्बद्ध गुणों का कीर्तन करते ही नहीं। वस्तुतः उनकी कृतियों में सामाजिक मर्यादा, दाम्पत्य औदात्त्य, कर्मवादी एवं आशावादी जीवन-दृष्टि आदि के जो कलात्मक चित्र उपलब्ध होते हैं, उन सब में वैदिक ज्ञान एवं संदर्शन की महिमा है। परिवार के तपःपूत वेदमय वातावरण ने केवल उनके जीवन-दर्शन को आकार दिया हो, इतना ही सत्य नहीं। इस दर्शन को जो उदात्त वाणी मिली है, वह भी उतनी ही पवित्र एवं उतनी ही गंभीर है। वाक् एवं अर्थ का यह सम्पूर्ण साहित्य मानो वैदिक दर्शन, जीवन एवं संगीति का मन्त्रोच्चार है, उनकी विशद भावभूमि का अत्यन्त विश्वस्त प्रत्यंकन है।

भवभूति ने अपनी नाट्य-सृष्टि के लिए अपने वेदादि विषयक ज्ञान का खुले शब्दों में निषेध किया है[१]। यह निषेध इसका प्रबल प्रमाण है कि वे एक जागरूक कलाकार हैं; कला की जो सरणियाँ ग्राह्य हैं, उन्हें केवल उतने से ही मतलब है। जो यहाँ त्याज्य हैं, उनका अन्यत्र चाहे जो और जितना महत्त्व हो, कला के लिए उनके मूल्य छूछे हैं। वस्तुतः भवभूति के नाटककार का यह वह साहित्यिक संयम है जो उनके कला-व्यक्तित्व को एक विशिष्ट निखार एवं अर्थवत्ता प्रदान करता है। किन्तु वैदिक ज्ञान के प्रति भवभूति के कवि का यह निषेधमूलक दृष्टिकोण अन्ततः वैसे वैदिक मूल्यों की सूक्ष्म 'स्वीकृति' बन गया है जो उनके कला-संस्कार में बड़ी बारीकी से भीन गये हैं।

---

१. द्रे० मा० मा० : १ : ७।

उनकी वाक् की भंगिमाओं में वैदिक या दार्शनिक शब्दावली इस प्रकार घुल-मिल गई है, जैसे वह उस वाक् का सजातीय स्वरूप हो, उसमें परकीय कुछ नहीं हो। अपने ज्ञान एवं कला के बीच परम सन्तुलन में खड़े भवभूति बड़े ही स्वाभाविक, सहज एवं उन्नीत दीखते हैं। वस्तुतः यह इसी 'क्लैसिक' सन्तुलन का चमत्कार है जो विरासत के रूप में प्राप्त उनकी इतनी बड़ी एवं इतनी पवित्र ज्ञान-सम्पदा को उनकी नाट्यकला का 'सहज संस्कार' बना देता है, उसका 'बाह्य' नहीं बनाता।

उपनिषदों के गहनतम तत्त्वों का न केवल भवभूति ने अनुशीलन किया था, वरन् उन्हें हृदयंगम भी किया था; अतः **वेदान्त** की ओर उनकी सर्वाधिक रुचि प्रतीत होती है। किन्तु उनका वैचारिक जीवन संकीर्ण नहीं था; वेदान्त की तरह उन्होंने अन्य शास्त्रों का भी पूर्ण मनोयोग के साथ अध्ययन किया था। उनके विचार की उदारता इससे स्पष्ट झलकती है कि एक ओर तो वे चैतन्यज्योति **ब्रह्म**[१] तथा उसकी कला **वाक्**[२] के निराकार रूपों के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं, तो दूसरी ओर शिव एवं **गणेश**[३] के प्रति भी अपनी समान आस्था प्रकट करते हैं; अपने को राम का भक्त भी कहते हैं[४]। यही कारण है कि कुछ विद्वानों को उनके शैव, वैष्णव अथवा ब्रह्मोपासक होने में भ्रम उत्पन्न हो जाता है। उनकी वैचारिक उदारता की यही सीमा हो, सो बात नहीं। इतना तो निश्चित है कि अपने श्रोत्रिय वंश की परम्परा के सर्वथा अनुकूल वे ब्राह्मण-संस्कृति एवं वैदिक आचार-विचारों में अटूट आस्था रखने वाले व्यक्ति थे। किन्तु दूसरे धार्मिक सम्प्रदायों को भी वे आदर की दृष्टि से देखते थे। मालतीमाधव की बौद्ध संन्यासिनी **कामंदकी** के प्रति दूसरे पात्रों के जो सम्मानभाव उन्होंने जगाये हैं, उनमें उनका निजी आदरभाव भी फूटता हुआ प्रतीत होता है। अतः ये सारे तथ्य इस बात के स्पष्ट संकेत देते हैं कि धार्मिक क्षेत्र में उनकी दृष्टि उदार एवं समन्वय-वादी थी।

भवभूति अपनी कला में दृढ़ निष्ठा रखनेवाले व्यक्ति थे। **'ये नाम केचिदिह…'** जैसे श्लोक से स्पष्ट है कि उनकी कृतियों की कटु आलोचना करनेवाले व्यक्तियों की कमी नहीं थी। किन्तु इससे भवभूति का मन चाहे जितना दुखा हो, अपने कलागत मूल्यों के प्रति उनकी आस्था दृढ़तर हो गयी। उक्त श्लोक की पंक्तियों से उनका घमंड फूटा हो, ऐसी बात नहीं; वस्तुतः उनमें भवभूति की साहित्यिक आस्था एवं गरिमा का स्वर मुखर हुआ है। वे निस्सन्देह एक स्वाभिमानी व्यक्ति थे। उनके नाटकों में ऐसा एक भी नाटक नहीं जो साहित्य के न्यूनतम उत्कर्ष से रहित कहा जा सके; उनकी तीनों नाट्यकृतियों में उनकी प्रौढ़ प्रतिभा तथा प्रौढ़ शैली के दर्शन होते हैं। इन

---

१. दे० म० च० : १ : १।
२. उ० च० : १ : १।
३. मा० मा० : १ : १, २।
४. म० च० : १ : ७।

नाटकों की तुलना में संस्कृत के ऐसे दर्जनों नाटक गिनाये जा सकते हैं जिनका स्तर निश्चित रूप से उनसे हीन है। फिर भी, शायद ही इनके नाटककारों को अपने दर्शकों से कोई असन्तोष है अथवा शायद ही उनमें से किसी ने अपने किसी दर्शकवर्ग की प्रतिकूल आलोचना से खीझकर कहीं कुछ कहने का प्रयास किया है। नाटकीय वैशिष्ट्य की किसी भी दृष्टि से विचार करें, राजशेखर के बालरामायण आदि नाटक भवभूति की किसी भी नाट्यकृति की समता नहीं कर सकते। किन्तु भवभूति के ही स्वर में स्वर मिलाकर वे अपने पाण्डित्य का डंका तो पीटते हैं, अपने को वाल्मीकि आदि महाकवियों का अवतार तक मान लेते हैं, किन्तु भवभूति की तरह **केचित्** दर्शकों के प्रति क्षोभ प्रकट नहीं करते। इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाया जा सकता कि राजशेखर आदि कवियों को अपने जीवनकाल में कोई बुरे आलोचक मिले ही नहीं होंगे, सभी एक स्वर से उनकी प्रशस्ति ही करते होंगे। वस्तुतः चाहे भवभूति हों या कालिदास या राजशेखर या कोई और, सबके जीवन में कुछ अच्छे और कुछ बुरे आलोचक मिले होंगे। संसार में महान् से महान् किसी ऐसे व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती जो अपने समसामयिक लोगों के सभी वर्गों के द्वारा प्रशंसित हुआ हो। अतः यह मान लेना कि भवभूति को ही अपने जीवनकाल में बुरे आलोचक मिले, राजशेखर आदि कवियों को नहीं, सत्य से मुख मोड़ना है। यहाँ यथार्थ यही प्रतीत होता है कि भवभूति के स्वाभिमान का भाव इतना तीव्र एवं जागरूक था कि वह अपना तनिक-सा अपमान सहने में भी अक्षम था। भवभूति ने अपने गम्भीर व्यक्तित्व की जो किरणें अपनी कृतियों में यत्र-तत्र बिखेरी हैं, उनके प्रकाश में स्वाभिमान तथा कला के मूल्यों में ऐसी अटूट आस्था के भाव सर्वथा अनुस्यूत एवं स्वाभाविक प्रतीत होते हैं।

भवभूति ने अपने नाटकों में दाम्पत्य उत्कर्ष के जो उदात्त चित्र खींचे हैं, उनका यह निष्कर्ष निकाला गया है कि उनका स्वयं का दाम्पत्य जीवन बहुत सुखी और सन्तुष्ट था। यदि इन चित्रों पर अधिक गम्भीरता से विचार किया जाय तो इसका विपरीत ही सत्य जान पड़ता है। कला या साहित्य के क्षेत्र में यह सामान्य मनोवैज्ञानिक सत्य मिलता है कि कलाकार या साहित्यकार अपने कलारूपों में उन मूल्यों एवं आदर्शों की बड़े संवेग के साथ स्थापना करते हुए पाये जाते हैं जिनका उनके व्यक्तिगत जीवन में प्रायः अभाव होता है। यदि यह अभाव न रहे तो साहित्यकार अपनी प्रतिभा के गहनतम रूपों की प्रतिष्ठा करने से कदाचित् वंचित रह जायँ। कदाचित् इसी अभाव का कलात्मक परिणाम मेघदूत जैसी श्रेष्ठ काव्यकृति है। कवि को उसकी अनुभूति के चरम तक पहुँचाने में ऐसे अभाव महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान करते हैं। कवि कभी-कभी अपनी अभिव्यक्ति की विविध विधाओं में ऐसे महत्तम आदर्शों की स्थापना करता है जो उसके निजी जीवन के तत्सम्बन्धी असन्तोषों के सहज परिणाम होते हैं। मनोविज्ञान की भाषा में इसे **इच्छापूर्ति** (Wish Fulfilment) का सिद्धान्त कहते हैं। भवभूति की कृतियों के अध्ययन से उनके व्यक्तित्व का जो रूप हमारे सामने उभरता

है, वह निस्सन्देह सहज एवं लोकसामान्य नहीं है। भवभूति अपने विरोधियों से चिढ़े रहते थे, आत्मनिष्ठ तथा स्वाभिमानी थे, एकान्तप्रिय एवं असामान्य गम्भीर प्रकृति के थे, अपने भीतर और बाहर कई प्रकार के संघर्षों से निरन्तर जूझते रहने के कारण उनका अन्तरतम कई प्रकार की कुण्ठाओं से ग्रस्त हो गया था जिससे वे स्वयं बहुत कम हँसते तथा दूसरों को भी हँसने का बहुत कम अवसर देते थे। हीन भावना से ग्रस्त होने तथा संघर्षशील बने रहने के कारण उनका स्वभाव कुछ चिड़चिड़ा भी हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। उनके व्यक्तित्व की ये रेखाएँ यही सिद्ध करती हैं कि न तो वे अपने व्यक्तिगत जीवन में सन्तुष्ट थे और न अपने सामाजिक जीवन में। इसीलिए अधिक सम्भावना इसी में दीखती है कि उनका दाम्पत्य जीवन भी प्रसन्न नहीं था। सम्भवतः अपनी पत्नी से इनकी बहुत कम पटती थी। दाम्पत्य प्रणय के इतने प्रसन्न चित्र उनकी अभावात्मक अनुभूति के संवेगों से छनकर निकले हुए प्रतीत होते हैं। यों इस सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ भी कह सकना कठिन है।

भवभूति ने अपने नाटकों में कहीं भी ऐसा संकेत नहीं छोड़ा है जिससे पता चले कि वे किसी राजसभा से सम्बद्ध थे अथवा उन पर किसी राजा की कृपादृष्टि थी। सम्भवतः आर्थिक दृष्टि से भी उनकी अवस्था विपन्न ही थी। यों कल्हण उन्हें यशोवर्मा की राजसभा से सम्बद्ध बताते हैं, किन्तु कल्हण की यह स्थापना सन्देहास्पद प्रतीत होती है। कल्हण और भवभूति के बीच लगभग चार शताब्दियों का अन्तर है, अतः भवभूति के सम्बन्ध में उन्हें निश्चय ही प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिले होंगे। अधिक सम्भव यही जान पड़ता है कि गउडवहो में वाक्पतिराज द्वारा भवभूति का सहृदय उल्लेख देखकर ही कल्हण ने अपनी अटकलबाजी लगायी—वाक्पतिराज चूँकि यशोवर्मा की राजसभा में थे, अतः उनके प्रशस्य भवभूति को भी उन्हीं के साथ उसी राजसभा में विद्यमान होना चाहिये। यदि कल्हण की बात सही भी मान लें, तो सम्भव यही प्रतीत होता है कि भवभूति अपने तीनों नाटकों के लिख चुकने के पश्चात् ही यशोवर्मा के दरबार में गये होंगे; कारण, उनके किसी भी नाटक में किसी भौतिक ऐश्वर्य की गन्ध तो नहीं ही मिलती, उनका अभिनय भी किसी राजसभा में न होकर कालप्रियनाथ की यात्रा से सम्बद्ध सार्वजनिक उत्सव के अवसर पर किया गया था।

सम्भव है, बाणभट्ट की तरह भवभूति का आरम्भिक जीवन भी ज्ञानोपार्जन या किसी दूसरे उद्देश्य से देश के विविध क्षेत्रों के पर्यटन करने में बीता हो। भवभूति ने अपने सहृदय मित्रों में जिन लोगों का स्मरण किया है, वे उनके समसामयिक नट थे।[१] नटों के साथ उनकी इस मित्रता के कई अर्थ निकाले जा सकते हैं—सम्भव है, उनकी मण्डली के ये भी विशिष्ट सदस्य रहे हों, या उनके साथ कुछ दिनों तक नाटकीय प्रदर्शन के उद्देश्य से ये देश के कई भागों में यायावर बने घूमते रहे हों। इसकी भी सम्भावना है कि उन्होंने अपने नटबन्धुओं के आग्रह करने पर ही उनके अभिनय के

१. तुल० '...भवभूतिर्नाम कविर्निसर्गसौहृदेन भरतेषु वर्तमानः...'

—मा० मा०, पृ० ७।

लिए अपने नाटक लिखकर दिये हों। उनके तीनों ही नाटक उनके जीवनकाल में ही अभिनीत हुए थे।

भवभूति के व्यक्तित्व, आचार-विचार आदि के सम्बन्ध में उनकी नाट्यकृतियों में जो कलात्मक संकेत उपलब्ध होते हैं, शायद उन सब में आकर्षक है उनकी खान-पान सम्बन्धी आमिष-रुचि जो उनके दोनों राम-नाटकों में सूचित हुई है। सबसे पहले महावीरचरित में वसिष्ठ एवं विश्वामित्र क्रुद्ध परशुराम को शान्त करने के लिए उनके आतिथ्य में की जानेवाली अन्य तैयारियों में **वत्सतरी के संज्ञपित होने**—बछिया मरवाने—की भी बात करते हैं।[1] दोनों ही ऋषि यहाँ परशुराम को **श्रोत्रिय** कहकर सम्बोधित करते हैं और उन्हें यह स्मरण दिलाना चाहते हैं कि वे अपने समवर्गीय श्रोत्रिय के घर पधारे हुए हैं, अतः उनके क्रोध का कोई औचित्य नहीं ठहरता। यहाँ ध्यान देने की बात है कि भवभूति स्वयं भी **पंक्तिपावन श्रोत्रिय-कुल** के हैं, अपने श्रोत्रिय-वंश के गुणगौरव का वर्णन उन्होंने बड़े ही ओजस्वी शब्दों में किया है।[2] समागत श्रोत्रियों की स्वागत-विधि का एक जगह और उल्लेख आया है जो महावीर-चरित में वर्णित प्रसंग की अपेक्षा कहीं अधिक विशद एवं व्याख्यात्मक है।[3] उत्तर-रामचरित के प्रस्तुत प्रसंग में दाण्डायन एवं सौधातकि के परस्पर संलाप के क्रम में अभ्यागत श्रोत्रिय के लिए की जानेवाली जिस सत्कार-विधि पर विशेष बल दिया गया है, वह है **समांस मधुपर्क** देने की विधि। यहाँ के व्याख्यान से स्पष्ट है कि भवभूति वसिष्ठ जैसे श्रोत्रिय को प्रदान किये जानेवाले समांस मधुपर्क को लेकर किसी पाठक या सामाजिक के मन में किसी प्रकार की कोई शंका नहीं छोड़ना चाहते। वसिष्ठ जैसे

---

१. संज्ञप्यते वत्सतरी सर्पिष्यन्नं च पच्यते।
श्रोत्रिय श्रोत्रियगृहानागतोऽसि जुषस्व नः॥
—म० च० : ३ : २।

२. दे० ते श्रोत्रियास्तत्त्वविनिश्चयाय भूरि श्रुतं शाश्वतमाद्रियन्ते।
इष्टाय पूर्ताय च कर्मणेऽर्थान्दारानपत्याय तपोर्थमायुः॥
—मा० मा० : १ : ५।

३. तुल० सौधातकिः—जेण परावडिदेण जेव्व सा वराई कविला कल्लाणी मडमडाइआ।
दाण्डायनः—समांसो मधुपर्क इत्याम्नायं बहुमन्यमानाः श्रोत्रियायाभ्यगताय वत्सतरीं महोक्षं वा महाजं वा निर्वपन्ति गृहमेधिनः। तं हि धर्मं धर्मसूत्रकाराः समामनन्ति।
सौधातकिः—भो णिगिहीदोसि।
दाण्डायनः—कथमिव।
सौधातकिः—जेण आअदेसु वसिट्ठमिस्सेसु वच्छदरी विससिदा। अज्ज जेव्व पच्चाअदस्स राएसिणो जणअस्स भअवदा वम्मीइणा दहिमहूहिं जेव्व णिव्वत्तिदो महुवक्को। वच्छतरी उण विसज्जिदा।
दाण्डायनः—अनिवृत्तमांसानामेवं कल्पमृषयो मन्यन्ते। निवृत्तमांसस्तु तत्रभवान् जनकः।
—उ० च०, पृ० ८६-७।

ऋषि बछिया, साँढ़ या बकरे का मांस नहीं खा सकते—सम्भव है, किसी के मन में ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न हो जाय और वह भवभूति की बातों को अश्रौत या अधार्मिक कहने लगे। इसीलिए भवभूति ने अपने कथन की पुष्टि में धर्मसूत्रकारों के तत्सम्बन्धी मतों की ओर संकेत किया है,[1] मानो वे डंके की चोट यह सिद्ध करना चाहते हैं कि श्रोत्रिय भी सामिष होते हैं और यह उनके श्रौत आचार की सर्वथा संगति में है। इस प्रसंग से यह निष्कर्ष बड़ी आसानी से निकाला जा सकता है कि भवभूति स्वयं भी आमिषभोजी थे। यदि ऐसा नहीं होता तो वे अपने नाटकों में श्रोत्रियों को दिये जानेवाले समांस मधुपर्क के लिए इतना आग्रह नहीं दिखलाते। वे इसका आसानी से परिहार कर सकते थे और अभ्यागत अतिथिवर्य के सम्मान में प्रयुक्त अन्य श्रौत विधियों का वर्णन करके अपने कवि-धर्म का निर्वाह कर सकते थे। भवभूति के सामिष आहार को, सम्भव है, उनके कुछ समसामयिक मित्र या अन्य लोग प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखते हों। फलतः उत्तररामचरित में प्रकारान्तर से वे स्वयं अपने ही मांसाहार को धर्मसम्मत सिद्ध करते हुए-से प्रतीत होते हैं।

जहां तक भवभूति की कृतियों का सम्बन्ध है, संस्कृत साहित्य की परम्परा सामान्यतः उन्हें तीन नाटकों के यशस्वी नाटककार के रूप में ही स्मरण करती है। किन्तु यत्र-तत्र उनके कुछ ऐसे श्लोक भी प्राप्त होते हैं जो इन तीनों नाटकों में नहीं मिलते; स्पष्टतः वे भवभूति की दूसरी कृतियों से समुद्धृत हुए हैं। भवभूति की उर्वर काव्यप्रतिभा को देखकर यह तनिक भी असम्भव प्रतीत नहीं होता कि उन्होंने इन नाटकों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य काव्यकृतियों—सम्भवतः श्रव्यकाव्यों—का प्रणयन किया होगा। केवल तीन नाटक लिखकर ही उनकी प्रतिभा सन्तुष्ट होनेवाली नहीं दीखती। **शार्ङ्गधरपद्धति**, श्रीधरदास के **सदूक्तिकर्णामृत**, जल्हण की **सूक्तिमुक्तावली**, गदाधर के **रसिकजीवन** जैसे सूक्तिसंग्रहों में भवभूति के कई ऐसे श्लोक दिये गये हैं जो इनके नाटकों में प्राप्त नहीं होते। सम्भवतः उनका भवभूति की दूसरी कृतियों से सम्बन्ध है जो संस्कृत के कई अन्य ग्रन्थों की तरह कालकवलित हो चुकी हैं।

भवभूति के जो तीन नाट्यग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, वे हैं—**महावीरचरित**, **मालती-माधव** एवं **उत्तररामचरित**। महावीरचरित एवं उत्तररामचरित—जिनमें से प्रत्येक सात अंकों का है—में कवि ने रामायण के चरितनायक राम के प्रायः सम्पूर्ण जीवनवृत्त को नाटकीय रूप प्रदान किया है; पहले में उनके जीवनवृत्त का पूर्वांश तथा दूसरे में उत्तरांश प्रस्तुत किया गया है। मालतीमाधव दस अंकों का एक प्रकरण है और इसकी कथावस्तु बहुत कुछ कविकल्पनाप्रसूत है। इन तीनों नाट्यकृतियों में सम्भवतः महावीर-

---

१. तुल० **पितृदेवातिथिपूजायामेव पशुं हिंस्यादिति मानवम् ॥ मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवत्कर्मणि। अत्रैव च पशुं हिंस्यान्नान्यथेत्यब्रवीन्मनुः॥ नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्। न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्माद्यागे वधोऽवधः॥ अथापि ब्राह्मणाय वा राजन्याय वाभ्यागताय महोक्षाणं वा महाजं वा पचेदेवमस्मा आतिथ्यं कुर्वन्तीति।**

—वसिष्ठस्मृति : ४ : ५-८, का० उ० च०, पृ० १२१ (टिप्पणी-खण्ड) में उद्धृत।

चरित भवभूति का पहला तथा उत्तररामचरित उनका अन्तिम नाटक है; मालतीमाधव की सम्भावित स्थिति इन दोनों के बीच आती है। ये तीनों नाट्यकृतियाँ भवभूति की ही हैं, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता। परम्परा तो इन्हें भवभूतिप्रणीत मानती ही आयी है, इन तीनों के आमुख कई प्रकार से इन्हें भवभूति की रचना सिद्ध करते हैं। तीनों में स्पष्टतः भवभूति तथा उनके वंश आदि का उल्लेख है तथा तीनों का प्राथमिक अभिनय कालप्रियनाथ नामक देवताविशेष की यात्रा के अवसर पर किये जाने की घोषणा की गयी है। सबसे बढ़कर तीनों की भाषा-शैली तथा उससे बढ़कर तीनों में एक दूसरे के श्लोकों, श्लोकांशों तथा गद्यखण्डों की कई बार आवृत्ति इस बात की असन्दिग्ध साक्षी हैं कि ये तीनों नाटक एक ही कवि भवभूति द्वारा विरचित हैं। डा० काणे द्वारा तैयार की गयी सूची के अनुसार भवभूति के ऐसे अठारह पूर्ण श्लोक प्राप्त होते हैं जिनकी आवृत्ति उनके नाटकों में की गयी है।[१] श्लोकांशों, पदांशों तथा गद्यखंडों की आवृत्ति तो बहुत बार की गयी है।

---

१. का० उ० च०, प्राक्कथन, पृ० ३७-३८।

अध्याय २

भवभूति के नाटकों का पौर्वापर्य-सम्बन्ध

हमारी सम्मति में डा० कीथ का अनुमान ठीक ही लगता है कि भवभूति की तीनों नाट्यकृतियों में उत्तररामचरित बहुत बाद में लिखा गया प्रतीत होता है; किन्तु महावीरचरित एवं मालतीमाधव में कौन पहले तथा कौन बाद में लिखा गया, इसके सम्बन्ध में कुछ निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता।[१] यह कोई आवश्यक नहीं कि किसी कवि की कोई श्रेष्ठ रचना उसके जीवन के पिछले हिस्से में आकार ग्रहण करे। किसी कवि की कम या अधिक अवस्था के साथ उसकी सामान्य या असामान्य कृतियों का कोई अपरिहार्य सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। इस प्रकार भवभूति के नाटकों में जो सर्वश्रेष्ठ होगा, वह जीवन की अन्तिम अवस्था में; जो साधारण होगा, वह कवि के जीवन के प्रथम चरण में और जिसका स्तर दोनों के बीच का होगा, वह जीवन के मध्यकाल में प्रणीत हुआ होगा, ऐसा सोचना गलत है। भवभूति की तीनों नाट्यकृतियों में कोई ऐसी नहीं, जिसे साधारण या मध्यम कोटि की रचना मानकर टाल दिया जाय। इन तीनों की अपनी-अपनी नाटकीय विलक्षणताएँ एवं उत्कर्ष हैं। इनमें से कोई ऐसी नहीं, जो भवभूति के कच्चे अनुभवों की साक्षी कही जा सके। फलतः, इनमें कौन पहले और कौन बाद में लिखी गयी, इसका निर्धारण स्वभावतः कठिन प्रतीत होता है। कालिदास की नाट्यकृतियों के काल-निर्धारिण में अपेक्षाकृत कम कठिनाई होती है, क्योंकि **मालविकाग्निमित्र** से आरम्भकर **अभिज्ञानशकुन्तल** तक की दूरी में कवि की प्रतिभा के कई स्तर स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होते हैं। हमारे लिये ऐसा कोई संकेत भवभूति के नाटकों में नहीं मिलता; निस्सन्देह उनके तीनों नाटक उनकी प्रौढ काव्य-प्रतिभा की देन हैं। फिर भी, इन कृतियों के अन्तरंग एवं बहिरंग के कुछ विशिष्ट तत्त्वों के सूक्ष्म विश्लेषण के द्वारा हम इनके कालक्रम के कुछ निश्चित तथ्य प्राप्त कर सकते हैं। सौभाग्य से भवभूति अपनी कृतियों में कुछ ऐसे चिह्न छोड़ गये हैं, जो इस प्रसंग में बड़ी दूरी तक हमारा मार्ग-दर्शन कराते हैं।

भवभूति के तीनों रूपकों में आदिरूपक कौन है, इसके सम्बन्ध में विवादों की गुंजाइश हो सकती है; किन्तु इनकी अन्तिम नाट्यकृति उत्तररामचरित ही है, इसके सम्बन्ध में प्रायः सभी पौरस्त्य एवं पाश्चात्य विद्वान् एकमत हैं। ऐसे विद्वानों की कमी नहीं जो कवि की तीनों नाट्यकृतियों में सर्वोच्च पद मालतीमाधव को प्रदान

---

१. सं० ड्रा०, पृ० १८७।

करते हैं[1], फिर भी उत्तररामचरित के पक्ष में कई ऐसे ठोस प्रमाण हैं, जो उसे भवभूति की अन्तिम नाट्यकृति सिद्ध करते हैं।

उत्तररामचरित भवभूति की अन्तिम नाट्यकृति है, इस दिशा में सबसे पक्के प्रमाण प्रस्तुत करनेवाले इस नाटक के आमुख तथा भरतवाक्य माने जा सकते हैं। जहाँ तक आमुख या प्रस्तावना का प्रश्न है, इसकी योजना कवि के अन्य दो रूपकों के आमुखों से सर्वथा भिन्न कोटि की है। अपनी पहली दो कृतियों में कवि ने अपनी वंशप्रशस्ति, आत्म-परिचय आदि को जिस विस्तार के साथ उपन्यस्त किया है, उसकी तुलना में उत्तररामचरित की प्रस्तावना में इन पर बहुत कम प्रकाश डाला गया है। इसका हेतु यही जान पड़ता है कि उत्तररामचरित तक आते आते कवि की कीर्ति काफी फैल चुकी थी, फलतः इसमें उसे ज्यादा कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रह गयी थी।[2] उत्तररामचरित में इस प्रशस्ति के संक्षेप का एक ही हेतु स्वीकार किया जा सकता है—कवि तब तक सुविदित हो चुका था; उसके प्रति 'अवज्ञा' दिखलानेवाले भी सम्भवतः उसके साहित्य की गरिमा से प्रभावित होने लगे थे।

उत्तररामचरित के भरतवाक्य की अन्तिम पंक्ति—**'शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतां प्राज्ञस्य वाणीमिमाम्'**—भी इस सन्दर्भ में महत्त्व रखती है। **'परिणतां प्राज्ञस्य'** के स्थान पर **'परिणतप्रज्ञस्य'** पाठ भी आया है। टीकाकारों ने इन दोनों पाठों के जो अर्थ किए हैं, उनमें परस्पर भेद अवश्य प्रतीत होता है। घनश्याम ने **'परिणताम्'** का अर्थ **'ग्रन्थात्मना परिनिष्ठिताम्,'**[3] लगाया है और वीरराघव के अनुसार इसका अर्थ **'भवभूति-वागात्मना यः परिणामः तद्वतीम्'**[4] है। ये दोनों ही अर्थ 'परिणता' को 'वाणी' के विशेषण के रूप में मानकर किये गये हैं। श्री बेल्वल्कर अपने उत्तररामचरित के प्रसिद्ध संस्करण में कवि की 'प्रज्ञा' के विशेषण के रूप में प्रयुक्त 'परिणत' आदि का अर्थ इसके प्रकार करते हैं—'the composition (वाणी) of a poet

---

१. वि० हि० लि०, खण्ड ३, भाग १, पृ० २६१-२६६।

२. उत्तररामचरित की प्रस्तावना में कवि ने एक छोटे-से वाक्य—**"अस्ति खलु तत्रभवान्काश्यपः श्रीकण्ठपदलाञ्छनः पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जातूकर्णीपुत्रः"**—में अपना तथा अपने वंश का संक्षिप्त परिचय दे दिया है। अपनी यशस्विता एवं विदग्धता के सम्बन्ध में भी **"यं ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्तते"** कह कर संतोष कर लिया है। उसकी तुलना में महावीरचरित में कवि ने तीन छोटे-बड़े वाक्यों तथा पूरे छः श्लोकों में अपनी कृति, वंश आदि का गुणगान किया है (दे० म० च० : १ : २—७)। परिमाण की दृष्टि से यहाँ कवि के वंश आदि का सबसे बड़ा स्तवन प्राप्त होता है। यही गुणगान मालतीमाधव में तीन छोटे-बड़े वाक्यों तथा पाँच श्लोकों में व्यक्त हुआ है (दे० मा० मा० : १ : ६—१०)। स्वभावतः ही प्रशस्ति के आकार-प्रकार की दृष्टि से महावीरचरित के बाद इसे दूसरा स्थान दिया जाना चाहिए। इन दोनों की तुलना में उत्तररामचरित का उक्त परिचय अत्यन्त संक्षिप्त है।

३. का० उ० च०, पृ० १५७।

४. वी० उ० च०, पृ० १८४।

of matured genius."[१] डा० भाण्डारकर श्री बेल्वल्कर के अर्थ की ही पुष्टि करते हैं।[२] श्री शारदारंजनराय जैसे कुछ विद्वानों की आपत्ति यह है कि 'परिणतप्रज्ञ' पाठ शुद्ध भी मानें, तो यह आदिकवि वाल्मीकि का विशेषण है, न कि भवभूति का।[३] हमारी समझ में यहाँ प्रयुक्त विशेषण प्रधान रूप से वाल्मीकि के लिए ही घटित हुए हैं; किन्तु अवान्तर रूप से उन सबका सम्बन्ध भवभूति तथा उनकी प्रज्ञा से भी है। जो कवि अपने को 'ब्रह्म'[४] कह सकता है, वह यदि अपने लिये 'शब्दब्रह्मविद्' का प्रयोग करता है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या। ऊपर घनश्याम तथा वीरराघव ने कवि की 'परिणता वाणी' के जो अर्थ किये हैं, उन पर सांख्यमत का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है—यहाँ 'परिणाम' प्रकृति के अन्यथाभाव या रूपान्तर का पर्याय बनकर आया है। इस भारतवाक्य में जैसी दार्शनिक शब्दावली में एक गंभीर वस्तु को गुम्फित किया गया है, उसके प्रकाश में परिणाम का यही अर्थ उपयुक्त भी लगता है। किन्तु, परिणाम का एक लोक-प्रचलित अर्थ 'परिपाक' भी है। स्वयं भवभूति ने अन्यत्र भी परिणाम का प्रयोग इस अर्थ में किया भी है।[५] तात्पर्य यह कि 'परिणत' का सम्बन्ध चाहे कवि की प्रज्ञा से माना जाय या उसकी वाणी से, इन दोनों ही प्रसगों में उसके उक्त लौकिक अर्थ की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये। हमारी सम्मति में परिणत या परिणाम का दार्शनिक अर्थ वहाँ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, जहाँ वह आदिकवि के विशेषण के रूप में आया है। किन्तु, जब 'परिणतप्रज्ञ' या 'प्राज्ञ' से भवभूति का बोध होता है, तब वहाँ परिणत का लौकिक अर्थ लगाना ही अधिक ठीक लगता है। इस सन्दर्भ में देखने पर डा० भाण्डारकर एवं श्री बेल्वल्कर द्वारा निष्पन्न अर्थ भी अपने स्थान पर बिलकुल उपयुक्त है; वह भवभूति के द्व्यर्थक मन्तव्य के एक पक्ष का सही प्रतिबोध प्रस्तुत करता है। अतः, इस अर्थ में, कवि की 'परिणता वाणी' या 'परिणतप्रज्ञ' जैसी व्याहृति से स्पष्ट हो जाता है कि भवभूति उत्तररामचरित को अपनी 'परिपक्व' प्रतिभा की देन मानते हैं। इस प्रकार, इस नाटक की प्रस्तावना एवं भरतवाक्य दोनों के सूक्ष्म विश्लेषण से जो संकेत उपलब्ध होता है, वह इसे भवभूति की सभी नाट्यकृतियों में उत्तरकालीन सिद्ध करता है।

यदि केवल महावीरचरित एवं उत्तररामचरित के लेखनकाल का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो कई दृष्टियों से इन दोनों में उत्तररामचरित बाद की कृति सिद्ध होता है। इन दोनों नाटकों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि भवभूति ने रामचरित के सम्पूर्णांश को ही नाटकीय रूप प्रदान करना चाहा है। महावीरचरित में लगभग चौदह वर्षों में

१. बे० उ० च०, पृ० १०२।

२. भा० मा० मा०, प्रिफेस, पृ० १०।

३. शा० उ० च०, इंट्रोडक्शन, पृ० ८-१०।

४. उ० च० : १ : २।

५. तुल० "फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज…" उ० च० : २ : २०।

घटित होनेवाली राम के आरम्भिक जीवन की मुख्य घटनाओं को नाट्यबद्ध किया गया है, जब कि उत्तररामचरित में उनके उत्तर जीवन के लगभग बारह वर्षों में घटित होनेवाले वृत्त नाटकीय परिवेश में आये हैं। यहाँ रामकथा के पूर्व एवं उत्तर पक्षों पर विचार करने से स्वाभाविक यही जान पड़ता है कि भवभूति ने इनके क्रम में कोई व्यतिक्रम नहीं किया होगा—पहले राम के जीवन के प्रारम्भिक वृत्तों को नाटकीय रूप दिया होगा, फिर उत्तर वृत्तों की उदात्त नाटकीय कल्पना की होगी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, महावीरचरित में कवि ने अपने वंश की प्रशस्ति सर्वाधिक विस्तार के साथ की है। इसलिए, उत्तररामचरित में कवि को अपने सम्बन्ध में ज्यादा कुछ कहने की आवश्यकता नहीं मालूम पड़ी, किन्तु यह स्थिति सम्भव तभी जान पड़ती है, जब कवि ख्यातनामा हो चुका हो। महावीरचरित में उसे अपने उच्च वंश, उच्च ज्ञान एवं उच्च गुरु आदि के सम्बन्ध में प्रकाश डालना आवश्यक था, ताकि दर्शक उस 'अपरिचित-से' कवि की रचना को कहीं सामान्य समझने की भूल न कर बैठें। तभी तो वह प्रबल आस्थाभाव के साथ कहता है—**'लब्धश्च वाक्यनिस्यन्दनिष्पेषनिकषो जनः'**।[1] दर्शकों के प्रति उसकी ऐसी आस्था इस बात की सूचक है कि अभी वह उनके सामने बिलकुल नया होकर आ रहा है, उनकी 'अवज्ञा' सुनने या जानने का अवसर उसे मिला ही नहीं है। द्रष्टव्य है कि सामाजिकों की किसी प्रकार की कोई भी शंसा न तो मालतीमाधव में आयी है और न उत्तररामचरित में ही। इसके बदले इन दोनों ही नाट्यग्रन्थों में अविदग्ध दर्शकों पर आक्रोश प्रकट किया गया है। आक्रोश का स्वर मालतीमाधव में तो काफी तीखा है, किन्तु उत्तररामचरित में कुछ संयत एवं अप्रत्यक्ष है। इतना ही नहीं, नाटकीय शिल्प, शैली, रस आदि के सम्बन्ध में भी भवभूति ने उत्तररामचरित में जो उदात्त प्रयोग किए हैं, वे महावीरचरित में नहीं मिलते। इस सन्दर्भ में विचार करने पर महावीरचरित परम्परावादी नाटकों की कोटि में ही आ जाता है, जिसके रस, वस्तु आदि की योजना भवभूति से प्राचीन भारतीय नाट्य-परम्परा को ध्यान में रखकर की गयी है। इधर उत्तररामचरित में एक प्रकार से परम्परा से पलायन है; रस, वस्तु आदि की नवीन उद्भावना है; एक अपूर्व साहस एवं विश्वास के साथ कथ्य को नये परिवेशों में पूर्ण सफलता के साथ स्थापित किया गया है। भवभूति की नाट्यकला की यह नयी विधा निश्चित रूप से उनकी 'परिणत प्रज्ञा' की ओर इंगित करती है।

यह निश्चित कर लेने के पश्चात् कि महावीरचरित उत्तररामचरित की अपेक्षा पहले की रचना है, हमारे सामने भवभूति की एक ही अन्य नाट्यकृति मालतीमाधव के काल-क्रम का प्रश्न रह जाता है। यद्यपि महावीरचरित की तरह ही मालतीमाधव में भी कवि ने अपने वंश आदि का शंसन प्रस्तुत किया है, फिर भी इन दोनों नाट्यग्रन्थों के आमुखों में कुछ मौलिक अन्तर भी है। यही अन्तर इनके काल-निर्धारण के सन्दर्भ में हमारा

---

१. म० च० : १ : ४।

प्रमुख सहायक है। ज्ञातव्य है कि कवि ने महावीरचरित तथा उत्तररामचरित दोनों नाटकों में, पदों में थोड़ा-सा हेर-फेर करके, अपने लिए **वश्यवाक्** का प्रयोग किया है।[१] किन्तु मालतीमाधव में अपने लिए उसने ऐसे किसी पद या विशेषण का स्पष्टतः व्यवहार नहीं किया है। हाँ, अपनी तीनों ही नाट्यकृतियों में उसने अपने विशेषण के रूप में **पदवाक्यप्रमाणज्ञ** का समान रूप से प्रयोग किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी पहली कृति महावीरचरित में उक्त दो विशेषणों के अतिरिक्त अपनी विद्वत्ता के सम्बन्ध में अधिक कुछ कहने की वह आवश्यकता नहीं समझता; किन्तु आगे चलकर जब उसकी कृति की अवज्ञा होने लगती है, तब उसका अहंकार जग जाता है—मालतीमाधव के आमुख में वह अपने कृतित्व के मूल्यों की उद्घोषणा प्रबल स्वर में कर बैठता है। यहाँ वह अपने को केवल 'वश्यवाक्' ही नहीं कहता, प्रत्युत अपने वेदादि-सम्बन्धी पाण्डित्य का भी स्पष्ट उल्लेख करता है।[२] इसमें प्रकरण के जिन गुणों का उल्लेख किया गया है[३] वे इस प्रकरण-विशेष के साथ घटित होकर भी सामान्यतः ऐसे नाटकीय गुणों को सूचित करते हैं, जिन्हें **'आर्यमिश्रा भगवन्तो भूमिदेवाः'** सादर उदाहृत किया करते हैं।[४] यहाँ पहले ही सहृदय विद्वानों के द्वारा समादृत नाटकीय गुणों के इस कीर्तन का सम्भवतः इस प्रकरण के रचना-काल से सीधा सम्बन्ध है। महावीरचरित को भवभूति के समसामयिक कुछ विद्वानों ने प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखा होगा। इस उपेक्षा से आहत होकर भवभूति ने अपनी नाट्यकृति में प्रायः वैसे सभी नाट्यगुणों का समावेश करना चाहा होगा जिनका समाकर्षण तत्कालीन विद्वत्समाज पर रहा होगा। अतः अपने प्रकरण के प्रारम्भ में ही ऐसे गुणों के समाख्यान से उसके दो भावों का प्रकटीकरण होता है—(१) मेरा यह प्रकरण असामान्य है और (२) तुम लोगों (कुछ विद्वानों) ने मेरी पहली कृति महावीरचरित की खिल्ली उड़ायी थी; तो लो, नाटक (प्रकरण) के जितने उदात्त वैशिष्ट्य हैं, उन सबका आकलन मैं एकत्र ही अपनी इस अभिनव नाट्यकृति में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

किन्तु इतना होने पर भी यदि कोई पण्डित भवभूति की इस कृति का समादर न करे तो ? ऐसा नहीं कि भवभूति के मन में ऐसी कोई शंका नहीं है। वे पहले से ही अपने समय के कुछ पण्डितंमन्य सामाजिकों की कटु आलोचनाओं से बेतरह झल्लाये हुए हैं और उनके अन्तःकरण में कहीं न कहीं यह विश्वास बद्धमूल-सा हो गया है कि उनकी प्रथम कृति महावीरचरित की तरह ही, सम्भव है, प्रायः सभी नाटकीय गुणों से

---

१. तुल० **'वश्यवाचः कवेर्वाक्यं...'**।

—म० च० : १ : ४।

तथा **'यं ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्तते'**।

—उ० च० : १ : २।

२. मा० मा० : १ : १०।
३. वही : १ : ६।
४. वही, पृ० ६।

समन्वित होने पर भी उनकी इस द्वितीय कृति के प्रति भी कुछ अरसिक विद्वान् उपेक्षा-भाव बरतें। अतः कवि का आत्मगौरव जाग्रत हो जाता है। अपनी कृतियों के शाश्वत मूल्यों में उसकी प्रगाढ़ आस्था एवं विश्वास है; अपने इस विश्वास की उद्घोषणा वह बड़े ही समर्थ, साथ ही तीखे शब्दों के माध्यम से करता है। उसका यह प्रबल आस्था से भरा हुआ स्वर मालतीमाधव की प्रस्तावना में ही मुखरित हुआ है; इसमें ऐसे अरसिकों पर गहरा व्यंग्य कसा गया है, जो कवि की कृतियों का ग्रहण सहृदयतापूर्वक नहीं करते तथा उसके प्रति अवज्ञा दिखाते हैं।[1] ऐसी अवज्ञा कोई एक-दो दिनों की उपज नहीं कही जा सकती; वस्तुतः यह इस बात की स्पष्ट सूचक है कि कवि का कोई-न-कोई नाटक कई बार सामाजिकों के आगे प्रदर्शित हो चुका है और उसी के क्रम में **केचिद्** विद्वानों की कटु आलोचनाएँ भी यदा-कदा भवभूति के कानों तक पहुँचती रही हैं। चूँकि कवि की ओर से ऐसे लोगों की अवज्ञा का यह चित्र मालतीमाधव के आमुख में सन्निविष्ट है, अतः इस प्रकरण के पहले जिस नाटक की सहज स्थिति हमारे मन में प्रकट होती है, वह महावीरचरित ही है।[2]

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उत्तररामचरित में भी कवि ने सरस्वती को अपनी वाग्वश्या के रूप में स्मरण किया है; एक प्रकार से महावीरचरित की तरह ही यहाँ भी प्रकारान्तर से वह अपने को 'वश्यवाक्' ही कह रहा है। यहाँ अन्य विशेषणों में **पदवाक्यप्रमाणज्ञ, ब्रह्मन्** तथा **परिणतप्रज्ञ** विशिष्ट हैं, जिनके माध्यम से कवि सामाजिकों को अपनी ज्ञान-गरिमा का परिचय देता है। 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' को छोड़कर शेष सभी विशेषण ऐसे हैं, जिन्हें कवि ने अपूर्व कलात्मकता के साथ अपने लिए प्रयुक्त किया है। महावीरचरित के **'वश्यवाचः कवेर्वाक्यम्'** की यदि उत्तररामचरित के **'यं ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्तते'** के साथ तुलना की जाय, तो प्रकट होगा कि महावीरचरित में सामान्य ढंग से कही हुई बात को ही कवि ने यहाँ कितने कलात्मक एवं आकर्षक ढंग से कहा है। यहीं **'ब्रह्मन्'** शब्द की व्यंजकता भी दर्शनीय है। अपने सम्बन्ध में इन गिने-चुने कलात्मक विशेषणों का प्रयोग करके तथा अपने वंश आदि का अत्यन्त संक्षिप्त परिचय देकर कवि यहाँ अपने कर्तव्य की सम्पूर्ति मान लेता है। महावीरचरित तथा मालतीमाधव दोनों में ही कवि ने न केवल अपने वंश आदि का

---

१. **ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां**
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥

—मा० मा० : १ : ६।

२. श्री काले मालतीमाधव को ही भवभूति की पहली रचना मानते हैं, किन्तु इसके लिए उनके जो तर्क हैं, वे बहुत असंगत एवं लचर हैं (दे०, का० मा० मा०, प्राक्कथन, पृ० ८-१०)। उनकी कोई भी दलील हमारी पकड़ में नहीं आयी, अतः हम उस पर विचार नहीं कर रहे हैं।

अपेक्षाकृत विस्तृत परिचय दिया है, प्रत्युत अपने नाटकों के विशिष्ट गुणों का भी न्यूनाधिक कीर्तन किया है। इन दो नाट्यकृतियों के इस परिवेश में उत्तररामचरित की विवेचना करने से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ तक आते-आते न केवल कवि के स्वर में अपूर्व कलात्मकता आ गयी थी, अपितु उसकी कवित्व-शक्ति से तत्कालीन जनसमाज प्रभावित हो चुका था। **'यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः।'**[१] कहकर कवि या तो अपने अतीत आलोचकों का स्मरण कर रहा है, या उत्तररामचरित के समय भी छिटफुट वर्तमान अपने निन्दकों की ओर इंगित कर रहा है। अतः, कवि की उक्त तीनों नाट्यरचनाएँ उसके यश एवं ख्याति के तीन क्रमिक कालों एवं सोपानों की सूचक हैं। महावीरचरित चूँकि उसकी प्रारम्भिक कृति है, अतः प्रेक्षकों या पाठकों की तत्सम्बन्धी प्रतिक्रिया जानने का अभी उसे अवसर नहीं मिला है; फलतः इसमें किसी प्रकार की अवज्ञा का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। पुनः मालतीमाधव की रचना के समय तक साहित्य-मर्मज्ञों की सारी तीखी प्रतिक्रियाएँ कवि तक आ पहुँची थीं, अतः उसने बड़ी झल्लाहट एवं खीझ के साथ उनके आक्षेपों की ओर संकेत किया है। यह संकेत बहुत हद तक उसके विकास-क्रम की दूसरी सीढ़ी का द्योतक माना जा सकता है। उसकी नाट्यकला के विकास की तीसरी एवं अन्तिम शृंखला हमें उत्तररामचरित में ही प्राप्त होती है।

उक्त तीनों नाट्यकृतियों के अन्तरंग के कुछ अन्य पहलुओं पर विचार करने से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। इनमें उत्तररामचरित की प्रकृति-चित्रण की विशिष्ट पद्धति भी विचारणीय है। प्रकृति के रूप में यहाँ कवि ने दृश्यात्मक जगत् के विराट् एवं गंभीर सौन्दर्य को जैसी समर्थ वाणी प्रदान की है, वैसा अपनी शेष दो नाट्यकृतियों में वह नहीं कर पाया है। जीवन-प्रवाह के समानान्तर प्रकृति के उदात्त स्वरूप एवं स्वच्छन्द व्यक्तित्व के इस कलात्मक अंकन में वस्तुतः भवभूति का परिणत प्रकृति-दर्शन रूपायित हुआ है। यह सत्य निश्चय ही उनकी काव्य-प्रतिभा के विकास के चरम की ओर इंगित करता है। इसके अतिरिक्त भी रंगमंच की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए हमें उत्तररामचरित की नाटकीय शैली, वस्तुयोजना आदि सर्वाधिक विकसित एवं उपयुक्त प्रतीत होती है। हाँ, यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि रंगमंच की दृष्टि से मालतीमाधव की नाट्यशैली कहीं-कहीं अत्यधिक चिन्त्य हो गयी है। किन्तु महावीर-चरित प्रथम नाट्यकृति होकर भी ऐसे दोषों से इस सीमा तक आक्रान्त नहीं है। सम्भवतः महावीरचरित के आलोचकों से कवि को जो निराशा मिली, उसे जितना उसने अपनी नाट्यकला पर नहीं, उतना अपने वैदुष्य पर प्रश्नचिह्न के रूप में ग्रहण किया। फलतः, अपने **'वश्यवाचः कवेर्वाक्यम्'** को उसने पूरी तत्परता के साथ मालतीमाधव में उतार दिया। अभिनय की दृष्टि से मालतीमाधव ने जो कठिनाइयाँ उत्पन्न की होंगी, उनसे कवि कालान्तर में अवश्य परिचित हुआ होगा। कवि के सभी नाटक उसके

---

१. उ० च० : १ : ५।

जीवनकाल में ही अभिनीत हुए थे और नटों से उसका सौहार्द-सम्बन्ध भी था।[1] अपने इन्हीं अनुभवों के प्रकाश में आगे चलकर उसने उत्तररामचरित में अपनी नाट्य-शैली का अपूर्व परिमार्जन तो किया ही, साथ ही अपनी नाट्यकला को भी एक नयी दिशा दी।

---

१. "...भवभूतिर्नाम कविर्निसर्गसौहृदेन भरतेषु वर्तमानः...।"

—मा० मा०, प्रस्तावना।

द्वितीय प्रकरण

१. संस्कृत नाटकों के कतिपय आधारतत्त्व ।

२. भवभूति से पूर्व संस्कृत नाटकों की उपलब्धियाँ ।

अध्याय १

संस्कृत नाटकों के कतिपय आधार-तत्त्व

नाटककार भवभूति की नाट्य-प्रतिभा को सही-सही समझने तथा उसका समुचित मूल्यांकन करने के लिए उन नाटकीय आधार-तत्त्वों पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना समीचीन होगा जिनकी सत्ता प्राचीन भारतीय नाट्य-सृष्टि की प्रत्येक प्रक्रिया में विद्यमान है। यहाँ हम उन सिद्धान्तों की समीक्षा नहीं करेंगे जो भारतीय नाटकों के रूप-विधान में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायक हैं; ऐसे कुछ सिद्धान्तों का विवेचन तथा उसके प्रकाश में भवभूति का अध्ययन स्वतन्त्र रूप से अलग प्रकरण में किया जायगा। यहाँ तो भारतीय जीवन-प्रणाली को प्रतिबिम्बित करनेवाले ऐसे ही विचारों तथा चिन्तनों का सार-संक्षेप अभीष्ट है जिनके प्रकाश में यहाँ नाट्य-साहित्य के लक्ष्य या लक्षण-पक्ष खड़े किये गये। वस्तुतः हर देश की भौगोलिक स्थिति, लोगों के आचार-विचार, जीवन-दर्शन आदि में कुछ विलक्षणताएँ होती ही हैं—वहाँ के साहित्य या कला के रूपाधान में इन सबका न्यूनाधिक प्रभाव देखा जा सकता है। साहित्य या कला का कोई भी सिद्धान्त आकाश से छनकर नहीं आता; ऊपर-ऊपर तो वह साहित्य एवं कला के विशिष्ट रूपों तथा प्रवृत्तियों के अनुशीलन का परिणाम होता है, किन्तु अन्ततः उसका सम्बन्ध देश विशेष की विचार-शैली तथा जीवन-दर्शन की विशिष्ट पद्धति से होता है। किसी देश की कला एवं साहित्य के रूपों में वहाँ की विचार-शैली तथा जीवन-दर्शन की भाषा ही रूपायित होती है। पुनः, साहित्य एवं कला के ये दोनों प्रेरक तत्त्व किसी देश के लौकिक एवं आत्मिक संघर्षों से छनकर निकलते हैं। भारतवर्ष के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का रूप खड़ा करने के लिए सदियों तक जो प्रयोग चलते रहे—यथार्थतः ऐसे प्रयोग सर्वदा चला करते हैं—तथा इन प्रयोगों के चलते यहाँ के लोगों के वैचारिक जीवन में यदा-कदा जो क्रांतियाँ विकसित हुईं, उन्होंने काल-क्रम से विशिष्ट परम्परा का रूप ग्रहण कर लिया। भारतीय नाट्य-साहित्य के यशस्वी प्रतिनिधि भवभूति की कृतियों की समालोचना इस परम्परा को दृष्टि में रखकर ही करनी होगी, अन्यथा या तो हम उनका सही मूल्यांकन नहीं कर पायेंगे या मूल्यांकन करके भी उनकी कृतियों की आत्मा को हृदयंगम नहीं कर सकेंगे।

आधुनिक आलोचकों, विशेषतः पाश्चात्त्य नाट्य-समीक्षकों ने संस्कृत नाटकों के विशाल एवं दीर्घ साहित्य के रूप तथा आत्मा को प्रायः समझा नहीं है, उसका मिथ्यार्थ प्रकाशित किया है। ऐसे समीक्षक संस्कृत नाटकों की जीवन्त एवं उदात्त कल्पनाओं से दोलायित काव्य-सौन्दर्य की तो दाद देते हैं, किन्तु भारतीय नाटककारों ने उनमें जीवन का जो तथा जैसा स्वरूप उपस्थित किया है, उसकी भर्त्सना करते भी नहीं सकुचाते।

उनकी दृष्टि में भारतीय नाटक जीवन की कठोर वास्तविकताओं से दूर आदर्शपरक भावनाओं के अतिशय आदर्शीकरण हैं। वे इन नाटकों के शिथिल कार्य-व्यापार, गतानुगतिक परम्परा में बँधी हुई तथा कभी भी विच्छिन्न न होनेवाली सुखान्तरूपता तथा प्रायः एक ही प्रकार के उपजीव्य से लिए जानेवाले पौराणिक वृत्तों के प्रति प्रबल मोह या आसक्ति जैसी चीजों को नाटकीय ह्रास के प्रधान लक्षण मानते हैं। उनकी ये शंकाएँ तथा आरोप कहाँ तक उचित हैं तथा इस सम्बन्ध में भारतीय नाटककारों की अपनी दृष्टि का क्या औचित्य है, यहाँ इस पर थोड़ा विचार कर लेना ठीक होगा। हम यह तो नहीं कह सकते कि संस्कृत नाटक की उज्ज्वल उपलब्धियों में कहीं भी कोई धब्बा नहीं, किन्तु इतना तो निर्भ्रान्त शब्दों मे कहा जा सकता है कि नाट्य-तत्त्व के ऐसे पारखियों ने भारतीय दृष्टि को ठीक-ठीक समझने की चेष्टा नहीं की है—यदि समझते तो उनके अधिकांश आरोप खड़े ही नहीं हो सकते।

इस सन्दर्भ में जो पहली बात ध्यान में आती है, वह यह है कि पाश्चात्त्य नाट्य-शास्त्रियों तथा उनके नाट्य-लक्षणों के रंग में डूबे हुए पौरस्त्य साहित्य-समीक्षकों ने भारतीय नाटकों की समीक्षा प्रायः पाश्चात्त्य सिद्धान्तों के प्रकाश में ही की है; उनकी दृष्टि में ग्रीस के सुप्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने अपनी विश्व-विश्रुत कृति **पेरि पोइतिकेस** में जो कुछ भी कहा है, वही नाटकीय लक्षणों की इयत्ता है। ऐसे समीक्षकों के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक है कि वे दृश्य-काव्य की रचना एवं गठन से सम्बद्ध भारतीय दृष्टिकोण से अलग जा पड़ते हैं और अपने उधार लिये गये सिद्धान्त से उसकी परख करके उसके सुघड़ रूप को विकृत कर देते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि भारतीय नाटकों की एक अलग परम्परा रही है जो पाश्चात्त्य नाट्य-परम्परा से अलग एक सर्वथा भिन्न वातावरण की उपज है। यह परम्परा बाह्य जगत् के प्रभावों से बहुत कुछ अछूती रही—बाहरी दुनिया से इसका कुछ सम्पर्क हुआ भी तो तब जब कि इसने परिणत स्वदेशी आकार ग्रहण कर लिया था। अतः इसकी आत्मा तो विशुद्ध भारतीय है ही, इसके रूप एवं संघटन की सारी मूल रेखाएँ भी सर्वथा भारतीय हैं। उन्हें पाश्चात्त्य चश्मे से देखने का सीधा अर्थ है उनके प्रति अन्याय करना और उनकी आत्मा का हनन करना। डा० ए० बी० कीथ जैसे विद्वान् भी, जो संस्कृत-साहित्य के सुधी अध्येता तथा उसकी बहुविध शाखाओं के यशस्वी पारखी हैं, प्रायः संस्कृत नाटकों को यूरोपीय चश्मे से देखने की भूल कर बैठते हैं। फलतः भारतीय नाटकों की उपलब्धियों को भी वे कई जगह अनुपलब्धि मान लेते हैं और वहाँ उन्हें दोष ही दोष नजर आते हैं। भारतीय नाटकों के सहृदय समीक्षक श्री हेनरी डब्ल्यू० वेल्स के शब्दों में "डा० कीथ ने भारतीय नाटक एवं काव्य में विश्लेषणात्मक दृष्टि, किन्तु भावशून्य हृदय के साथ प्रवेश किया है। उनकी कमी कुछ तो ब्रिटिश आचार में बँधे रहने के कारण है, किन्तु इसका अधिकांश हेतु सौन्दर्यशास्त्र के प्रति उनका रूढ़िग्रस्त दृष्टिकोण है जिसके चलते उन्हें ग्रीस की त्रासदियों में गंभीर नाट्य का आदर्श तथा अरस्तू के सिद्धान्तों में

नाट्य-शास्त्र की चरम विज्ञता दिखायी देती है।"[1] उनकी इसी दृष्टि का परिणाम हम उनके मेघदूत के विवेचन में पाते हैं जहाँ वे मेघदूत को शोक-काव्य समझने की भूल कर बैठते हैं और उसके शोक को शिलर के मैरिया स्टुअर्ट के शोक से हीन कोटि का सिद्ध करते देखे जाते हैं।[2] कहाँ मैरिया स्टुअर्ट की करुणा-प्लावित भाव-भूमि और कहाँ मेघदूत का विप्रलम्भ शृंगार। इन दोनों को एक साथ जोड़ने की आवश्यकता ही क्या थी? प्रवासी यक्ष के विरह-संतप्त हृदय से उठे हुए सारे उद्‌गार रति के पोषक हैं, न कि शोक के—भारतीय काव्यशास्त्र का कोई भी अध्येता इस तथ्य को बड़ी आसानी से समझ सकता है। संस्कृत नाटकों के सम्बन्ध में भी डा० कीथ ने जहाँ अपनी तत्त्व-ग्राहिणी विश्लेषण-शक्ति का परिचय दिया है, वहाँ कई स्थलों पर उनकी नाटकीय सम्मति पूर्वाग्रह से आविष्ट है और उससे भारतीय सिद्धान्तों के मौलिक स्वरूप से अपरिचय की गन्ध फूटती है। डा० कीथ की तरह ही कुछ अन्य लोग भी हैं जो भारतीय नाटकों में ग्रीस की त्रासदी या कामदी के लक्षण ढूँढ़ते पाये जाते हैं; कुछ ने इतना कहकर ही सन्तोष कर लिया है कि मृच्छकटिक और उत्तररामचरित जैसी गंभीर नाट्य-कृतियों को त्रासदी का रूप प्रदान करने में कोई अधिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं; इन नाटकों के अन्त-भाग को परिवर्तित कर देने तथा दृश्यों में थोड़ा हेर-फेर कर देने मात्र से ये सही अर्थ में त्रासदी हो जायँगे।[3] ऐसे समीक्षकों से हमारा यही निवेदन होगा कि वे ऐसे नाटकों के मूल में विद्यमान भारतीय जीवन-दर्शन से परिचय प्राप्त करने की कृपा करें। यह ठीक है कि ग्रीस की तरह भारत ने त्रासदियों को उत्पन्न नहीं किया, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भारत के सुखान्त नाटकों का गौरव कुछ कम है या सुखान्त होने मात्र से उनमें नाटकीयता का कोई ह्रास दृष्टिगत होता है। भारत ने यदि ऐस्किनस, यूरिपाइडिस और सोफोक्लीज पैदा नहीं किये तो ग्रीस ने ही भास, शूद्रक, कालिदास, भवभूति और विशाखदत्त कहाँ उत्पन्न किये हैं? भारत में त्रासदी के तत्त्व ढूँढ़ना उतना ही व्यर्थ और निस्सार है जितना ग्रीस में भारतीय सुखान्त नाटकों के प्रतिबिम्ब का अन्वेषण करना। वस्तुतः दोनों के क्षेत्र अलग-अलग हैं, दोनों के कथ्य, रीति, शिल्प एवं ऊँचाइयाँ भिन्न हैं। ग्रीस ने यदि मनोजगत् की तनावपूर्ण भावस्थितियों तथा जीवन की अजेय दुर्बलताओं को अपनी नाट्य-कला का आधार बनाया तो भारत ने संघर्षों की आँधी में अविचल भाव से जलनेवाले तथा अपनी सरल-शान्त मुस्कान की कमनीय कान्ति विकीर्ण करने-

---

१. क्ला० ड्रा०, पृ० २।

२. शा० सं० की०, पृ० २०५।

३. "Many plays could be changed into real tragedies without altering the psychology of characters, in fact changing nothing but the ending and perhaps making a slight readjustment of scenes".

—वरजिनिया स्कैण्डर्स लिखित "सम लिटरेरी आस्पेक्ट्स ऑव द ऐबसेंस ऑव ट्रैजेडी इन द क्लासिकल संस्कृत ड्रामा", जे-ए-ओ-एस, खण्ड ४१, पृ० १५२।

वाले जीवन-दीप को दृश्य-काव्य की उदात्त परिकल्पना में ग्रहण किया। एक की स्वाभाविक रुझान यदि जीवनगत परिताप, उत्पीड़न एवं उद्दाम, किन्तु सारतः दुर्बल शक्ति के पतनोन्मुख परिणामों की ओर है, तो दूसरे की उसी जीवन की हलचलों में प्राप्य अनिन्द्य शान्ति, पुरुषार्थ के विकासोन्मुख चरण तथा संघर्षों के अग्नि-पथ से फूटे हुए गन्तव्य की स्वच्छता, पवित्रता एवं आह्लादपरता में अडिग आस्था है। जीवन को अलग-अलग देखने की इन दोनों दृष्टियों के पीछे देश एवं काल विशेषों के चिन्तन-मनन तथा सामाजिक संस्कारों की अपनी-अपनी परम्पराएँ हैं।

भारत में काव्य को दो भागों में विभक्त किया गया है—दृश्य और श्रव्य। अर्थात् नाटक का काव्य से सर्वथा स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं; वह काव्य का ही उत्कृष्ट प्रकारान्तर है, अथवा उसका चरम रूप नाटक के रूप में ही प्रतिफलित होता है—**'नाटकान्तं कवित्वम्।'** यही कारण है कि काव्य के सामान्य प्रवाह में जो-जो प्रवृत्तियाँ तथा शैलीगत एवं भावगत नवीनताएँ समय-समय पर विकसित और पुनः निर्वापित होती रहीं, उनका प्रतिबिम्बन भारतीय काव्य की इन दोनों विधाओं पर समान रूप से ढूँढ़ा जा सकता है। कालिदास के युग का प्रभाव कह लीजिये अथवा उनकी प्रतिभा का, उनके श्रव्य एवं दृश्य दोनों ही काव्य-रूपों में भावगत एवं शैलीगत सरलता, स्वच्छता एवं प्रसाद के दर्शन होते हैं। आगे के युगों में जब काव्य पर अलंकारों का बोझ बढ़ने लगा और व्याकरण आदि की कठिन पद्धति में जान-बूझकर लिखी जाने के कारण भाषा कृत्रिम से कृत्रिमतर होती गयी, तो नाटकों में भी इन सारी प्रवृत्तियों के चिह्न उभर आये। भवभूति के काव्य का कोई श्रव्यरूप हमारे सामने नहीं, किन्तु उनके सम-सामयिक अन्य कवियों की काव्य-पुस्तकों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत कविता किस प्रकार कालिदासीय पद्धति से हटकर शैलीगत चमत्कार को अपना इष्ट मानने लगी थी। भवभूति की नाट्य शैली बचना चाहकर भी कई स्थलों पर इन युगीन प्रभावों से बच नहीं पायी और यह सर्वथा स्वाभाविक भी था। इस प्रकार प्रारम्भ से लेकर अन्त तक संस्कृत के किसी भी कवि ने नाटकों को संस्कृत की सामान्य काव्य-धारा से विच्छिन्न करके नहीं देखा और न उन्हें सर्वथा स्वतन्त्र अस्तित्व देने की कोई चेष्टा की। भारत की तरह ग्रीस ने भी नाटकों को काव्य का प्रकारान्तर ही माना। अरस्तू के काव्य-शास्त्र ने महाकाव्य एवं नाटक में मूलभूत अन्तर यही माना है कि जहाँ पहले में अनुकरण समाख्यान द्वारा होता है, वहाँ दूसरे में कवि अपने पात्रों को जीते-जागते तथा चलते-फिरते प्रस्तुत करता है[1]। भारत के काव्यशास्त्रियों ने श्रव्य काव्य के क्षेत्र में अनुकरणवाद को ऐसी व्यापक स्वीकृति कभी नहीं दी। हाँ, नाटक के क्षेत्र में अनु-करण को मान्यता अवश्य दी गयी, किन्तु यहाँ भी उसका सम्बन्ध नट-कर्म से ही

१. "For the medium being the same, and objects the same, the poet may imitate by narration…or he may present all his characters as living and moving before us."—ए० बु०, पृ० १३।

अभीष्ट है न कि कवि-कर्म से—कवि की प्रतिभा कारयित्री है, अनुकारयित्री नहीं और उसका काव्य करण होता है, अनुकरण नहीं[1]।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य-सृष्टि की प्रक्रिया को लेकर ग्रीस या भारत के आचार्यों में जो भी वैमत्य रहा हो, किन्तु उनका यह निष्कर्ष उनके मतैक्य की सूचना देता है कि नाट्य एवं श्रव्य काव्य की आत्मा एक ही है, उनके रूपों में चाहे जो भी अन्तर परिलक्षित हो। विश्व-विश्रुत नाटककार शेक्सपीयर के नाट्य-संविज्ञान का उत्कृष्टतम रूप वहाँ मिलता है जहाँ उसके पात्र कार्य-व्यापार के किसी संवेदनशील बिन्दु पर काव्यमयी भाषाओं में अपने अन्तस् को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। कालिदास एवं भवभूति की नाट्य-चेतना ठीक इसी प्रकार की है—उनके नाटकों के प्रकृष्ट अंश उनकी काव्य-प्रतिभा की उद्दीप्ति के सहज रूपान्तर हैं। महाकाव्य, खण्ड-काव्य, गीतिकाव्य या गद्यकाव्य में कविता की रस-पेशलता असन्दिग्ध है, किन्तु यही कविता जब समुचित नाटकीय परिवेश में रंगमंच पर प्रयुक्त होती है, तो इसकी आह्लाद-क्षमता कई गुना अधिक बढ़ जाती है। इसका कारण यह है कि श्रव्य-काव्य में कविता की रस-तरंगें कल्पना मार्ग से हमारे हृदय को आप्यायित करती हैं, किन्तु दृश्य-काव्य में वे रंगमंच पर हमारे चक्षु के विषय बन जाती हैं, नाटकीय कार्य-व्यापार में बँधकर मूर्त रूप से हमारे अन्तःकरण को स्पर्श करती हैं। यही कारण है कि श्रव्य काव्य से दृश्य काव्य श्रेष्ठ माना गया है।[2] काव्य के प्रकारों में नाटकों की श्रेष्ठता के प्रतिपादक न केवल भारतीय आचार्य रहे हैं, प्रत्युत यूनानी आचार्य अरस्तू ने भी महाकाव्य एवं त्रासदी के तत्त्वों की जहाँ तुलनात्मक विवेचना की है, वहाँ इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत किया है।[3] गद्य की अपेक्षा कविता अर्थ-व्यक्ति में तीव्रतर एवं संवेगात्मक प्रभावान्विति में अधिक शक्त होती है, नाटककारों ने प्रायः इसे स्पष्ट रूप से हृदयंगम किया है।[4] भारतीय नाटककारों के लिए तो नाटकों का काव्य-धर्म ही सर्वोच्च कवि-कर्म है—वे इस धर्म की रक्षा तथाकथित नाटकीय काव्य-व्यापार की कीमत पर भी करते हैं। इन नाटकों में, पाश्चात्त्य दृष्टि से देखने पर, विशुद्ध नाटकीय अंश कम मिलेंगे, किन्तु विशुद्ध काव्यांश प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होंगे। हाँ, नाटकों के ऐसे काव्यांश भी रंगमंचीय सीमाओं में बँधे होते हैं और नाटकीय भावावेगों के अभिन्न

---

१. अ० न०, पृ० १९।

२. **सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः।**
तद्धि चित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात्।—का० सू० : १ : ३ : ३०, ३१।
तथा
न तज् ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥—ना० शा० : १ : ११७।

३. "If, then, Tragedy is superior to Epic poetry in all these respects··· it plainly follows that Tragedy is the higher art, as attaining its end more perfectly."—ए० बु०, पृ० १११।

४. मा० ड्रा०, पृ० १८।

अंग होते हैं। यही कारण है कि श्रेष्ठ महाकाव्यों एवं गीतिकाव्यों के प्रणेता कवियों तथा श्रेष्ठ नाटककारों की प्रतिभा में कुछ मौलिक अन्तर होता है। उत्कृष्ट कविता लिखना और बात है तथा उत्कृष्ट नाटक लिखना और—कोई आवश्यक नहीं कि महाकाव्यों के लिखने में सिद्धहस्त कवि दृश्य-काव्य के प्रणयन में भी समान कुशलता प्रदर्शित करे। संक्षेप में, विशुद्ध काव्य की अपेक्षा नाटकीय काव्य सर्जनात्मक प्रतिभा की महत्तर जागृति का परिणाम है। इसमें श्रव्य काव्य की सभी उपलब्धियों के सार-संक्षेप एकत्र मिल जाते हैं; साथ ही, इसमें औदात्त्य की कुछ निजी विशेषताएँ भी होती हैं जो नाटकेतर काव्य के रूपों में नहीं मिलतीं। अतः इन नाटकों के अध्ययन में न तो अपरिहार्य काव्य-तत्त्व की उपेक्षा की जा सकती है, और न इस तत्त्व की समीक्षा किसी अभारतीय नाट्यशास्त्र की पद्धति से ही की जा सकती है। पश्चिम एवं पूर्व के नाटकों के जो मिलन-बिन्दु हैं, वे वस्तुतः उनके अपवाद कहे जा सकते हैं, या वे सर्जन-प्रक्रिया की उस अवस्था विशेष के द्योतक माने जा सकते हैं जहाँ दिक् एवं काल की सीमाओं को लाँघकर प्रत्येक देश के साहित्यकार विश्वजनीन भावों की अभिव्यक्ति समान रूप से करते हैं। किन्तु, उक्त दोनों प्रकार के नाटकों में जो परस्पर भेद के तत्त्व हैं, वे ही उनके मौलिक तत्त्व हैं जो उन-उन देशों की मिट्टी की गन्ध तथा साहित्य-परम्पराओं की विशिष्ट छाया से युक्त हैं। किसी भी स्वस्थ समालोचक के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी एक नाट्य-परम्परा को किसी दूसरी नाट्य परम्परा के चश्मे से न देखे और न ऐसी परम्पराओं के उक्त अपवादों को ही अधिक तूल दे।

आज तक कोई निर्विवाद रूप से यह नहीं बता सका है कि भारत में प्रथमतः नाटकीय सिद्धान्तों का प्रवर्तन कब और कैसे हुआ। आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र आज तक उपलब्ध लक्षणग्रन्थों में भले ही आदिशास्त्र माना जाय, किन्तु उसकी रूप-रेखा, विषयवस्तु एवं विषय-प्रतिपादन की पद्धति से स्पष्ट हो जाता है कि उसके पूर्व भी नाट्य लक्षणों की एक दीर्घ परम्परा विद्यमान थी; भरत ने कुछ तो उन्हीं लक्षणों का सार-संकलन किया और कुछ मौलिक रूप से भी नाट्य-सृष्टि के विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला। नाट्यशास्त्र में जिस ढंग से नाट्यवेद की उत्पत्ति तथा विकास पर भरत ने अपने विचार व्यक्त किये हैं, उससे साफ प्रकट हो जाता है कि भारतीय नाटकों का आदि स्रोत उनके समय भी इतना प्राचीन पड़ चुका था कि वे उसकी वैज्ञानिक व्याख्या नहीं दे सके और उस पर दिव्यता एवं पौराणिकता का आवरण चढ़ा दिया। संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति को लेकर जिस दैवी सिद्धान्त का प्रवर्तन उन्होंने किया, वह ऊपर से भले ही अवैज्ञानिक एवं काल्पनिक लगे, किन्तु अन्ततः उसमें भारतीय नाटकों के किंचित् मूल तत्त्वों का बड़ा ही ठोस एवं गम्भीर संकेत उपलब्ध होता है। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्योत्पत्ति के प्रसंग में जिस पौराणिक कथा की अवतारणा की गयी है, उसमें अन्य बातों के अतिरिक्त विश्व के सर्वप्रथम नाटक के अभिनीत होने का भी उल्लेख किया गया है जिसकी कथावस्तु

इन्द्रविजयोत्सव के क्रम में **दैत्यदानवनाशन** पर आधृत थी। देवासुर संग्राम को मंच पर प्रस्तुत करनेवाले इस पहले नाटक की दिव्य एवं अर्धदिव्य कथावस्तु के साथ ही इसके नटों, प्रेक्षकों, दानवकृत अवरोधों, तत्कालीन परिस्थितियों तथा नाटकीय प्रदर्शन से सम्बद्ध वातावरण आदि का भी बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। विश्व के इस प्रथम अभिनय का सम्पूर्ण रूप पौराणिकता के गहरे रंग में डूबा हुआ है अवश्य, किन्तु, जैसा कि आगे दिखाया जायगा, इसमें भारतीय नाटकों के मूल धर्म की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है। सर्वप्रथम जिस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है, वह है भारतीय नाट्य-सृष्टि की प्रक्रिया में स्वयं स्रष्टा के द्वारा हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के उत्स चारों वेदों से चार नाटकीय तत्त्वों का लिया जाना। नाट्यशास्त्र का यह अवतरण भारतीय नाटकों के आध्यात्मिक स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डालता है—वेदों से नाटकीय तत्त्वों के ग्रहण तथा उनके कलात्मक संश्लेष का तात्पर्य ही है कि भारतीय नाटकों को वेदगत पवित्रता, धार्मिकता एवं मांगलिकता विरासत के रूप में मिली। चार वैदिक तत्त्वों—पाठ्य, गीत, अभिनय एवं रस[१]—के समाहार से बने हुए दृश्य काव्य को **पञ्चमवेद** या **नाट्यवेद** की ही संज्ञा दे दी गयी, चूँकि इन तत्त्वों के रूप में उसमें वेद की ही ऊर्जस्वल कला-शक्तियाँ अभिनव रूप में प्रकट हुईं। इस नाट्यवेद की सृष्टि का प्रयोजन न केवल लोगों का **विनोदजनन** या **हितोपदेशजनन** है, अपितु दुख, श्रम तथा शोक से आविष्ट प्राणियों का **विश्रामजनन** भी है[२]। इस प्रकार नाट्य की **मंगलविधायिनी** शक्तियों की परिकल्पना उसकी उत्पत्ति के साथ ही सन्निविष्ट रही है; यही कारण है कि उसके विकास के सैकड़ों वर्षों में भी उसके आदर्शवादी रूप में किसी भी ऐसे यथार्थ का प्रत्यक्ष समावेश नहीं हुआ जो सत्य होकर भी असुन्दर, अशुभ एवं कुत्सित हो। भारतीय नाटक यथार्थ के केवल उन्हीं अंशों को लेकर चलते हैं जो मानव मन को रस की **सच्चिदानन्द अवस्था** तक पहुँचाते हैं; जिनमें संघर्षों, द्वन्द्वों एवं उलझनों की तो स्पष्ट स्वीकृति है, किन्तु अन्ततः काले बादलों के फट जाने तथा उज्ज्वल आकाश के निकल आने का पुरुषार्थपरक स्वर सर्वोपरि होकर आया है। यहाँ प्रकाश से अन्धकार चाहे कितना भी बलवान् क्यों न दीखे, उसे हारना ही होता है; अन्धकार के अस्तित्व का केवल यही प्रयोजन है कि वह प्रकाश की घाटी को और भी चमका दे तथा मानव मन को अपने विषैले अनुभवों से जाग्रत करके मानव के अमृत प्रयाण का मार्ग उत्तरोत्तर प्रशस्त एवं आलोकित करता चले।

आचार्य भरत ने जिस प्रकार विश्व के प्रथम अभिनीयमान नाटक की रूप-रेखा प्रस्तुत की है, उससे भारतीय नाटकों के 'शिव' का स्वरूप और भी प्रखर होकर

---

१. **जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।**
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

—ना० शा० : २ : १७।

२. वही : १ : ११०–११७।

हमारे सामने आता है। देवासुर-संग्राम को मंच पर नाटकीय रूप में प्रस्तुत करने-वाला यह नाटक सुखान्त रखा गया, अर्थात् इसमें देवताओं को विजयी एवं असुरों को पराभूत दिखाया गया। भारतीय वाङ्मय बहुत प्राचीन काल से ही कई साहित्यिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक प्रतीकों से पूर्ण रहा है। देवासुर-संग्राम, जिसका वर्णन पुराणों तथा महाकाव्यों में कई बार हुआ है, एक ऐसा ही सूक्ष्म प्रतीक बनकर आता है। यह हमारे अन्तर्जगत् अथवा बाह्यजगत् के देव-पक्ष एवं असुर-पक्ष के बीच निरन्तर चल रहे संघर्षों का व्यंजक है। विशेषतः भारतीय नाट्य के उद्भव के प्रसंग में देवासुर-संग्राम का आध्यात्मिक एवं वैचारिक मूल्य और भी बढ़ जाता है। इस संग्राम की व्यंजकता यही है कि जीवन या जगत् के कलुष, जो असुर के प्रतीक में बँधे हैं, सत्यं शिवं सुन्दरम् के प्रतीक देवों के साथ सर्वदा संग्राम-रत हैं। किन्तु मानव मन की विकृतियों या तमस् की चाहे जितनी भी सामर्थ्य हो, उन्हें निरन्तर प्रगतिशील, सशक्त एवं स्फूर्त मानवता के आगे अन्ततः घुटने टेकने पड़ते हैं। प्रथम नाटकीय साँचे में ढाली गयी असुरों पर देवों की यह प्रतीकात्मक विजय आगे लिखे जानेवाले संस्कृत रूपकों के सुखान्त के सभी आवश्यक तत्त्वों से समन्वित है। आगे चलकर भरत एवं दूसरे आचार्यों ने इन्हीं तत्त्वों को अपने नाटकीय सिद्धान्तों का आधार बनाया। इस प्रकार भरत द्वारा निर्दिशित संस्कृत नाटकों के दैवी उद्भव एवं विश्व के प्रथम अभिनीत रूपक की परिकल्पना आधुनिक आलोचकों की दृष्टि में चाहे जितनी अतात्त्विक एवं अयथार्थ लगे, किन्तु भारतीय नाटकों के स्वरूप-विश्लेषण के लिए उनके महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

पाश्चात्त्य साहित्य-समीक्षक प्रायः संस्कृत नाटकों में निबद्ध जीवन-दर्शन से अनभिज्ञ रहे हैं, यही कारण है कि उन्हें इन नाटकों में तथाकथित नाटकीय गम्भीरता की कमी खटकती है। उनकी दृष्टि में नाटकों में खलपात्रों की उपस्थिति, नियति के दुष्ट चक्रों के खेल, संकटापन्न वातावरण, मंच पर प्रायः नायक तथा अन्य पात्रों की मृत्यु से भरे तीव्र दुखान्त के करुण स्वर आदि ही नाटकीय गाम्भीर्य के आवश्यक तत्त्व हैं—जिन नाटकों में ऐसे तत्त्वों का अभाव है, वे सही मानी में गम्भीर नाटक नहीं कहे जा सकते। यदि यही ठीक है, तो भारतीय नाटक निश्चित रूप से ऐसे गाम्भीर्य की अवहेलना करते हैं जिससे पाठकों या प्रेक्षकों के नैतिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़े और उन्हें संसार में दुख का ही मूल स्वर सुनायी दे। भारत में साहित्य शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ ही व्यक्तियों के सामूहिक जीवन के कल्याण का व्यंजक है—नाटक साहित्य का प्रकृष्ट रूप है, अतः स्वाभाविक रूप से यह ऐसी प्रवृत्तियों का घोर विरोधी है जिनसे समाज के किसी अशुभ या अकल्याण को सहारा मिले। किसी उदीयमान जीवन का पतन दिखाकर, चाहे पतन कितना भी स्वाभाविक एवं यथार्थ क्यों न हो, पाठकों या प्रेक्षकों के मानसिक सन्तुलन पर गहरा आघात पहुँचना सर्वथा प्रत्याशित है। भारतीय साहित्य का कोई भी अंग पुरुषार्थवादी है, वह जीवन की निर्बलताओं पर अधिक बल नहीं देता और यदि प्रसंगवश उनका समाख्यान करता भी है, तो

उन्हें जीवन की ऊर्जस्विता पर विजय प्राप्त करते तो कभी नहीं दिखाता। नाटक चूँकि साहित्य का दृश्य पक्ष प्रस्तुत करता है, अतः इसमें निबद्ध चित्रों या भावों को पाठक या दर्शक अधिक संवेग के साथ ग्रहण करते हैं। फलतः दुखान्त जीवन के करुण दृश्यों का दाहक प्रभाव उनके मन को और भी प्रत्यक्ष रूप से छूता है और उनके निराशावाद को उत्तेजित करके उन्हें भीरुता एवं पुरुषार्थहीनता की ओर प्रवृत्त करता है। भारतीय साहित्य की पुरुषार्थवादी परम्परा आरम्भ से ही ऐसी निराशा-वादिता की कट्टर विरोधिनी रही है—ऐसे विरोधों का ज्वलन्त निदर्शन यहाँ के नाटकों में देखा जा सकता है जो सर्वदा सुखान्त रहे हैं तथा अन्धकार पर प्रकाश का विजय-केतु फहराना जिनका प्रधान लक्ष्य रहा है। फलागम या इष्ट की उपलब्धि में अडिग आस्था रखनेवाले इन नाटकों की तथाकथित त्रासद गाम्भीर्य जैसी कोई योग्यता नहीं मानी जा सकती। यथार्थ जीवन में फलागम उतना ही दुष्प्राप्य हो सकता है जितना पाश्चात्त्य त्रासदियों में गुम्फित होनहार जीवन का करुणान्त। किन्तु सामान्यतः साहित्य और विशेषतः दृश्यकाव्य जीवन की विपन्नता एवं निराशावादिता का आधार लेकर नहीं चल सकते। भारतीय दृष्टिकोण से जीवन की पीड़ाओं या कष्टों का कारण हमारा प्रारब्ध हो सकता है, या ऐसे सारे क्लेश हमारे वर्तमान जीवन के किंचित् दुष्कर्मों के ही स्वाभाविक परिणाम माने जा सकते हैं। किन्तु हमारी पीड़ाओं का चाहे जो भी तथा जैसा भी हेतु माना जाय, उनका शमन एवं निराकरण इसी जीवन में किया जा सकता है; अतः वे जीवन की किसी पराजय या पतन के उन्नायक नहीं माने जा सकते। संसार-चक्र का एक निश्चित गन्तव्य है जिसकी ओर वह निरन्तर बढ़ा जा रहा है; यह सत्य है कि इसे यदा-कदा भीषण झंझावातों का सामना करना होता है, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इसे अन्ततोगत्वा सदा के लिए टूट या बिखर जाना है। मनुष्य का पार्थिव जीवन जगत् की इसी विकासोन्मुख एवं सोद्देश्य प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अंग है जो अपने मार्ग के सभी संघर्षों को चीरता हुआ अपने उज्ज्वल क्षितिज की ओर सतत प्रवहमान है। भारतीय साहित्य और विशेषतः नाटक जीवन के इसी परम सत्य एवं उच्च आदर्श को पूर्ण तत्परता एवं निष्ठा के साथ अपनाकर चलता है।

संस्कृत नाटक जीवन के अच्छे या बुरे हर स्तर से अपनी वस्तु का चुनाव नहीं करता। नियमतः इसे ऐसी ही वस्तुओं का चयन करना पड़ता है जो समाज के जडीभूत अंगों में भी प्राण फूँक सकें, उन्हें सन्मार्ग की ओर प्रेरित कर सकें तथा सामाजिकों या पाठकों के आगे एक निश्चित आदर्श रख सकने में समर्थ हों। यही कारण है कि मैक्बेथ या लेडी मैक्बेथ जैसे किसी नायक या नायिका की कल्पना भारतीय मंच के लिए नहीं की जा सकती। पाश्चात्त्य नाटकों में ये तथा इनके जैसे अन्य पात्र निस्सन्देह काफी गम्भीरतापूर्वक उपन्यस्त किये गये हैं; यही नहीं, एक अवश्यम्भावी पतन की ओर खींचकर ले जानेवाली अपनी दुर्बलताओं के रहते हुए भी वे मानवीय स्नेह से भरे-पूरे हैं, जिसके चलते नाटकीय कार्य-व्यापार के एक

निश्चित बिन्दु तक आते-आते उनसे हमारे हृदय में त्रास एवं करुणा के भावों की उद्दीप्ति होती है। मैक्बेथ की तरह कोई त्रासद नायक "मौलिक संवेगों एवं भावनाओं में हमारी ही तरह उदात्त प्रकृति का व्यक्ति होता है; उसका रूप आदर्शीकृत अवश्य होता है, किन्तु हमारी सामान्य मानवता का वह इतना अधिक साझेदार हो जाता है कि उसमें हमारी तीव्र अभिरुचि एवं सहानुभूति जाग्रत हो जाती है। वह अपने उच्च प्रख्याति के पद से पतित हो जाता है; और उसका जीवन जिस दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है, वह उसकी किसी जान-बूझकर की गयी दुष्टता के कारण नहीं, प्रत्युत उसकी किसी महान् त्रुटि या दुर्बलता के कारण जन्म लेता है।"[1] हीगेल ने भी त्रासदी का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए कुछ इसी प्रकार की स्थापना प्रस्तुत की है। उनके मतानुसार त्रासदी का नायक शक्तिशाली एवं चरित्रवान् व्यक्ति अवश्य होता है, किन्तु उसकी पीड़ा एवं दुर्भाग्य स्वरूपतः उसीके कर्मों के सहज परिणाम होते हैं। ऐसा नायक हमारे मन को आकृष्ट तो करता है, किन्तु वह हमारी दृष्टि में दोषी इसलिए बन जाता है कि जिन कर्मों के साथ उसका पूर्ण तादात्म्य होता है, वे नैतिक शक्तियों के विरोधी होते हैं, उन्हें अस्वीकार करनेवाले होते हैं।[2] इन सबका यही तात्पर्य होता है कि ऐसे पात्रों के मानवोचित औदार्य, सहिष्णुता, पौरुष आदि समस्त चारित्रिक ऐश्वर्य उनकी दुर्बलताओं की तुलना में हीन कोटि के सिद्ध होते हैं। जीवन के प्रति ऐसा पराजयवादी दृष्टिकोण भारतीय रूपकों के आधार-तत्त्वों से सर्वथा विपरीत पड़ता है। भारतीय ना क संघर्षशील मानवता के विजय, आशा एवं उल्लास-पूर्ण क्षितिज की ओर स्पष्ट निर्देश करते हैं। हमारे अन्तर्मन में प्रतिष्ठित 'असुर' को, जो समय-समय पर हमारे निश्चय एवं प्रगति के क्षणों में हमें बुरी तरह सम्बाधित करता रहता है, हममें प्रच्छन्न रूप से विराजमान 'देव' की ऊर्जा एवं वर्चस्विता के आगे अवश्यमेव घुटने टेकना है। हमारे इस 'असुर' का महत्त्व इतना ही है कि वह हमारे कर्तव्य कर्म का अवबोध कराता चले तथा जीवन-मार्ग पर हमें सदा जागरूक एवं तत्पर रखे। इसीलिए हमारे जीवन में इस असुर का अभाव न तो सम्भव है और न काम्य ही। तमस् के अस्तित्व के बिना सत्त्व की दीप्ति एवं उद्रेक की कल्पना असम्भव है। इस द्वन्द्वात्मक जगत् की यह रीति एवं प्रकृति ही है कि वह अपने गन्तव्य की दिशा में सर्वदा टेढ़े-मेढ़े रास्तों से ही चलेगा—टेढ़े-मेढ़े रास्तों का होना किसी भी प्रकार उसकी हीनता या पराजय का द्योतक नहीं, अपितु वे उसके पराक्रम एवं सहि-ष्णुता की कसौटी हैं तथा उसके ध्रुव निश्चय का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। उत्तररामचरित में राम और सीता के संघर्षों की अवस्थिति इसीलिए है कि वे पहले से भी अधिक संवेग एवं प्रणय-भाव से मिल सकें, न कि वे सर्वदा के लिए वियुक्त हो जायँ। महाकवि भवभूति ने अपनी इस महान् नाट्यकृति में सीता और राम के वियोगजन्य क्लेशों

---

१. ए० बु०, पृ० ३१७।

२. दे० स्व० शा०, पृ० ४२१।

तथा विपदाओं की अवतारणा इसी दृष्टि से की है और इसमें वे पूर्ण सफल भी रहे हैं। भारतीय नाटककारों—जो प्रकृति के सभी दुष्ट चक्रों तथा तामस शक्तियों पर मानव जीवन को विजय एवं ओज का दिव्य वरदान मानते रहे हैं—के जीवन-दर्शन का यही केन्द्रीय भाव तथा मूल रहस्य है।

इस प्रकार भारतवर्ष के पवित्र धार्मिक वातावरण में पञ्चमवेद के रूप में नाटकों का जो आविर्भाव हुआ उसने उनके वस्तु-संघटन, शिल्प-योजना एवं अन्तस्तत्त्वों पर गहरा प्रभाव डाला। भरत के नाट्यशास्त्र में पूर्वरङ्ग के विधिवत् अनुष्ठान के निमित्त जो इतना विस्तृत प्रकाश डाला गया है उससे भारतीय नाटकों के प्रत्येक अंग में परिव्याप्त धार्मिक भावना का स्पष्ट संकेत मिलता है। यदि हम यह भी मान कर चलें कि पूर्वरङ्ग के इस लम्बे धार्मिक अनुष्ठान का भारतीय मंच से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था, अतः उस पर नाटकीय भाव-संविधान की दृष्टि से विचार नहीं किया जा सकता, तो भी इन नाटकों के आदि एवं अन्त में प्रयुक्त होनेवाले **नान्दी** एवं **भरतवाक्य** जैसे मांगलिक श्लोकों की अपरिहार्य उपस्थिति मात्र से स्पष्ट हो जाता है कि वे शान्ति, उल्लास एवं कल्याण की भावना से किस प्रकार ओत-प्रोत हैं। ये ही क्यों, यूनानी नाटक भी अपने मूल रूप में धार्मिक प्रभावों से अछूते नहीं रहे; उनकी रचना डाय-नीसस जैसे देवताओं को प्रसन्न करने की दृष्टि से ही की जाती थी। किन्तु वहाँ के नागरिक नाट्य समारोहों के अवसर पर इन नाटकों को जिस रीति से अभिनीत किया जाता था, तथा उनमें विषम परिस्थितियों से जूझते हुए नायकों के करुण अन्त का जैसा प्रदर्शन होता था, वह सब भारतीय नाटकों की शान्ति, उल्लास तथा विजय-परक भाव-भूमि के लिए सर्वथा अकल्पित एवं अपरिचित वस्तु है। भारतीय एवं यूनानी नाटकों के ऐसे तीव्र विरोधों के पीछे इन दोनों देशों की विशिष्ट सांस्कृतिक परम्पराओं का हाथ है जो एक दूसरे से भिन्न वातावरण में, दोनों देशों की मिट्टी की स्वाभाविक गन्ध लेकर, विकसित व परिपुष्ट हुईं। एक स्थान पर नाटकों के अभिनेता अपने नाट्य प्रदर्शनों के क्रम में ही नहीं, वरन् यूनानी तानाशाह पेसिस्ट्रेटस जैसे क्रूर शासकों के अत्या-चारों के नीचे कराहते हुए अपने जीवन के उद्वर्तन एवं जीविकानिर्वाह के सिलसिले में भी एक दूसरे के कट्टर प्रतियोगी तथा संघर्षशील थे। किन्तु दूसरी जगह आर्यों के भारत में अच्छी तरह व्यवस्थित हो जाने तथा राष्ट्र के दूसरे निवासियों के विजित होने या उनके आर्य-पक्ष में अन्तर्भावित हो जाने के पश्चात् एक प्राणवन्त सभ्यता का अभ्युदय हुआ जिसकी शान्ति, सद्भावना, धर्म आदि की सुदृढ़ आधारशिला रखी गयी। यह सभ्यता कई सौ वर्षों तक विश्व के अन्य भागों के उत्थान-पतन से बहुत कुछ अस्पृष्ट एवं अप्रभावित-सी विकसित होती रही, मँजती रही। इस धर्मप्राण सभ्यता ने काल-क्रम से आर्य-संस्कृति की चरम सिद्धि के प्रतीक वेदों को जन्म दिया और समाज के प्रत्येक स्तर के लिए वैदिक आदर्शों की महती सृष्टि की। मानव मन की पवित्र आस्थाओं एवं सत्य के कलात्मक तथा कल्याणपरक बिम्बों से परिपूर्ण वैदिक वाङ्मय ही परवर्ती साहित्य, दर्शन, कला आदि की विविध शाखाओं का उज्ज्वल स्रोत बन गया और इन

सबमें वैदिक आदर्शों की निर्भीक स्थापना की जाने लगी। भारतीय रंगमंच, जो भारतीय साहित्य के ही एक परिणत रूप का प्रतिफलन था, राष्ट्रीय जीवन के इन महान् धार्मिक आदर्शों से अलग कैसे रह सकता था ? परिणामतः भारतीय नाटकों में नैतिक विद्रोहों, करुण अन्त की ओर घसीट कर ले जानेवाले जीवन-संघर्षों तथा ऐसे अन्य शोकपरक भावों का अंकन हुआ ही नहीं; कभी-कभी हारी-थकी मानवता की कराह सुनाई भी देती है, तो वह तुरन्त ही विजयोल्लास एवं स्फूर्ति की दिशा में एक पुरुषार्थमयी शक्ति को जन्म देकर स्वयं लुप्त हो जाती है। भारतीय नाटकों ने संघर्षों की अवस्थिति से सुख और शान्ति की दिशा की पुष्टि की है, जब कि पाश्चात्त्य नाटकों ने उससे दुख और अशान्ति के करुण परिणाम निकाले हैं।

हमें ऐसा मानकर कभी नहीं चलना चाहिए कि भारतीय नाटकों ने जीवन के तीखे संघर्षों तथा परिस्थितियों के वैषम्य को ऊपर-ऊपर ही स्पर्श किया है, अतः वे नाटकीय गाम्भीर्य से रहित हैं। **संधि-पञ्चक**, जो **अर्थप्रकृति-पञ्चक** एवं **अवस्था-पञ्चक** के कलात्मक संयोग से जन्म लेता है, यहाँ के रूपकों में अनिवार्य रूप से उठनेवाले द्वन्द्वों, संघर्षों तथा संकट के भीषण व्यूहों का प्रबल समर्थक रहा है। हाँ, भारतीय नाटकों की तुलना में पाश्चात्त्य नाटकों में निरूपित जीवन-संघर्ष तीव्रतर इसलिए लगते हैं कि उनका पर्य्यवसान मर्मभेदी पतन या शोक की अपरिहार्य दारुण स्थिति में होता है, जब कि भारतीय दृश्यकाव्य संघर्षों का उपलब्धि एवं उदय में प्रतिफलन उपस्थित करते हैं। अतः स्वाभाविक है कि पतन या शोक के दाहक परिणामों की ओर ले जानेवाले संघर्षों में अधिक तीखेपन की अनुभूति होगी, जब कि सुख और भोग के स्वरूपों में पर्य्यवसित होनेवाले संघर्षों की पीड़ा की स्मृति मात्र रह जायगी। भारतीय नाटक आरम्भ से ही साहित्य की गम्भीर एवं उदात्त विधा के रूप में स्मरण किये गये हैं, उनके प्रति हल्की दृष्टि कभी नहीं अपनाई गयी। विशिष्ट काव्य-प्रतिभा से समन्वित कवि ही नाट्यसृष्टि के क्षेत्र में सफलता की आशा कर सकता था—काव्य को **दृश्य** के साँचे में ढालने की प्रक्रिया सरल कभी नहीं मानी गयी। भरत के अनुसार नाटक सब प्रकार के ज्ञान, शिल्प, विद्या, योग, कला तथा कार्य-कलाप का कलात्मक समाहार है।[1] विशाखदत्त ने अपनी महान् नाट्यकृति मुद्राराक्षस में अपने पात्र के स्वगत भाषण में नाट्य-रचना की गम्भीरता तथा जटिलता का इन शब्दों में सुन्दर संकेत किया है, '···**कर्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा**।'[2] इस प्रकार के राजनीतिक या नाटकीय 'क्लेश' राजनीतिज्ञ या नाटककार को ही झेलने होते हैं और उनकी निवृत्ति के लिए

---

१. **"न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।**
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥
—ना० शा० : १ : ११३।

२. मु० रा० : ४ : ३।

उन्हें कठिन मार्गों का अवलम्बन करना पड़ता है। नाट्य-लक्षण के ग्रन्थों में संधि-पञ्चक तथा उसके बहुविध प्रकारों का जैसा विशद विवेचन हुआ है, उससे भी नाटकों में अनुकार्य जीवन की अवस्थाओं की जटिलता एवं वक्रता स्पष्ट हो जाती है। उदाहरण के लिए, उत्तररामचरित में राम के द्वारा सीता का त्याग या बारह वर्षों के बाद पुनः उन दोनों का मिलन कोई सरल कार्य नहीं है। सीता के साथ राम के पुनर्मिलन का मार्ग काँटों से भरा हुआ है; सीता स्वयं भी राम से तब तक नहीं मिल सकतीं, जब तक उनके मन के सारे आक्रोश या विद्रोह राम की वेदना की गहनता एवं सचाई से धुलकर मिट न जायँ। अतः राम एवं सीता का मिलन जितना धार्मिक या सामाजिक समस्या नहीं, उतना एक मनोवैज्ञानिक समस्या है और नाटककार भवभूति ने इस तथ्य को अच्छी तरह पहचानकर उसका सर्वथा मनोवैज्ञानिक निदान किया है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने राम एवं सीता की मर्मभेदी वेदनाओं को ऐसे स्वर में बाँधा है कि **'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।'** उत्तररामचरित के सम्पूर्ण तृतीय अङ्क में इन वेदनाओं को ऐसी समर्थ भाषा प्रदान की गयी है कि वह भवभूति की सबसे बड़ी उपलब्धि हो जाती है; भवभूति स्वयं अपनी इस उस उपलब्धि से सज्ञान हैं, तभी तो वे करुण को मूल रस मानकर अन्य सभी रसों को उसी के विवर्त मान लेते हैं। तात्पर्य यह है कि हमारे अभिनेय काव्यों में भी संघर्षों तथा जीवनगत वेदनाओं की कभी उपेक्षा नहीं की गयी; नाटककारों ने अपने सुखान्त जीवन-चित्रों के लिए दुख एवं संघर्षों का ही मार्ग चुना और इस मार्ग को पूरी दूरी तक दिखाया। इस तरह भवभूति ने इस सरल-से लगनेवाले वृत्त को एक समस्या के रूप में ग्रहण किया है और राम तथा सीता के परस्पर वियोग एवं मिलन से सम्बद्ध मानव-मन के जितने सम्भावित द्वन्द्व, संघर्ष तथा वेदनाएँ हो सकती हैं, उन सबका नाटकीय संक्षेप प्रस्तुत किया है। किन्तु यह समस्या इसलिए नहीं उठाई गयी कि वह अन्त तक समस्या ही बनी रहे और अन्त के बाद भी वह हमारे मन पर समस्या-मूलक विषाद की गहन छाप छोड़ती जाय। यदि यही कथानक किसी पाश्चात्त्य नाटककार के द्वारा अपनाया गया होता, तो राम और सीता की परस्पर वियोग की खाइयाँ पटकर भी नहीं पट पातीं, उनका मिलन वियोग की शाश्वत करुणा का प्रतिरूप हो जाता। कह सकते हैं कि भवभूति ने जिस यथार्थ को लिया है, उसे आदर्श की उच्च भूमि तक पहुँचा दिया है। किन्तु किसी ऐसे ही यथार्थ को जब कोई पाश्चात्त्य नाटककार, विशेषतः त्रासदीकार ग्रहण करता है, तो वह उसे अधिक-से-अधिक यथार्थ के दार्शनिक धरातल तक उन्नीत करके छोड़ देता है। एक अर्थ में, जहाँ भारतीय नाटकों में यथार्थ का आदर्शीकरण परिलक्षित होता है, वहाँ पाश्चात्त्य नाटकों में आदर्श का यथार्थीकरण दीख पड़ता है। इन दोनों परम्पराओं की जीवन-दृष्टि में एक मूल भेद यह भी है।

भरत मुनि ने **लोकधर्मी** एवं **नाट्यधर्मी** नामक जिन दो **नाट्यधर्मों** का उल्लेख किया है,[१] उनमें लोकधर्मी प्रत्यक्षतः लोकजीवन का अनुवर्तन करता है। लोकजीवन

१. दे० ना० शा० : १३ : ७०–८६।

का कविकृत अथवा नटकृत रेखांकन लौकिक सुख-दुख, उत्थान-पतन आदि से निरपेक्ष होकर चल ही नहीं सकता। अतः लोकधर्मी की सैद्धान्तिक उद्भावना इस बात की प्रबल साक्षी है कि कवि या नट लौकिक यथार्थ से कतराकर चल ही नहीं सकते, उनके सर्जनात्मक एवं अभिनयात्मक सौन्दर्य-व्यापार की यात्रा लोक-जीवन से ही शुरू होती है। हाँ, यह दूसरी बात है कि वे दोनों अपने नाट्यधर्मी नामक कलात्मक व्यापार के द्वारा लोक-सम्मत कुरूपताओं का या तो अपनयन कर देते हैं, या ऐकान्तिक सौन्दर्य में उनका रूपान्तरण करके उनकी पार्थिव सीमाओं को शाश्वत आनन्द का रूप दे देते हैं।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि भौतिक जीवन के संघर्षों के फलस्वरूप जिन कष्टों या वेदनाओं के ताँते में हम उलझ जाते हैं, उनको हमारे नाटकों ने सम्मानपूर्ण स्थान दिया है। ऐसे दुख एवं शोक न केवल हमारे क्रियाशील जीवन के अविच्छेद्य अङ्ग हैं, प्रत्युत, वे साहित्य में करुण आदि रसों के आधारभूत तत्त्व भी माने गये हैं। किन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, घटनाओं तथा क्लेशों की विविध चपेटों से हमारे जीवन की ऐसी तिमिराच्छन्न घड़ियाँ वस्तुतः किसी मङ्गल-प्रभात की ही पूर्व सूचना बनकर आती हैं। दुख की ज्वाला इसीलिए जलती है कि उससे सुख की चाँदनी छिटक सके, वेदना की टीस का परिणाम आह्लाद का भावुक उन्माद होता है। हाँ, यथार्थ जीवन में इसका विपर्यय मिलना भी कठिन नहीं—प्रायः सुख के क्षण भी दुख-पर्य्यवसायी दीखते हैं। किन्तु जीवन और जगत् की प्रक्रिया के वे आदर्श रूप नहीं कहे जा सकते। साहित्य ऐसे यथार्थ को अपना लक्ष्य नहीं बना सकता जो या तो जीवन के शाश्वत प्रवाह के वैकल्पिक स्वरूप हैं, या हमारे पार्थिव जीवन के भद्दे चित्र हैं। साहित्य जीवन के समग्र विकल्पों के भीतर स्थायी परिणामों का अन्वेषक है, कुरूपताओं से आवृत्त जीवन में परम सौन्दर्य का उपासक है। वह वहाँ नहीं ठहर सकता जहाँ अगति है, कुण्ठाएँ हैं, भद्दापन है। उसका लक्ष्य मानव जीवन के लक्ष्य से भी बहुत आगे है, चूँकि वह मानव-मन को सर्वदा स्फूर्त करनेवाला, उसके प्राणों में दिव्य प्रेरणा भरनेवाला रसात्मक मन्त्र-बल है। उसे सर्वदा आगे-आगे चलना होता है, गति की भी गति बनना होता है। भारतीय साहित्यकारों ने जीवन के इन विकट परिवेशों में नाट्य-साहित्य के ऐसे ही जीवन्त रूपों की सर्जना की है। वे गतिशील जीवन के संधि-पञ्चक के रूप में बहुत सारे ऊहापोहों को तो दिखाते हैं, किन्तु 'निर्वहण' से पहले ही नहीं रुक जाते—जीवन के घटना-चक्र को वहाँ तक चलाते जाते हैं, जहाँ 'कार्य' एवं 'फलागम' का संधि-स्थल है, जहाँ जीवन की बदली फट जाती है और उसके बदले निर्मल आकाश निकल आता है।[१]

---

१. बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्॥

—द० रू० : १ : ४८।

भारतीय नाटककार अपनी नाट्यकृतियों में नायक एवं नायिका के जीवन में संघर्षों तथा विपदाओं को खुलकर खेलने का अवसर इसलिए भी देते हैं, चूँकि इससे उनके चरित्र मँजते और सँवरते हैं, उनकी प्रकृति के वैशिष्ट्यों में एक अपूर्व निखार आ जाता है। दुख का स्वभाव ही है कि वह किसी व्यक्तित्व के रुखड़े अंशों को मल-मलकर चिकना बनाता है और इस प्रक्रिया में वह उसे एक निश्चित केन्द्र की ओर अभिमुख करके सहज सन्तुलन पर लाकर छोड़ देता है। उसका काम किसी बने-बनाए सन्तुलन को न तो हमेशा के लिए बिगाड़ देना है, और न जीवन के सौन्दर्य को उसकी विकृतियों में लाकर खड़ा कर देना है, जैसा कि पाश्चात्त्य त्रासदीकार प्रायः किया करते हैं। कालिदास के दुष्यन्त का एक रूप वह भी है, जबकि वह अपने पद की मर्यादा या आश्रम के अनुशासन की परवा न करके शकुन्तला के हाव-भाव को एक चोर की तरह छिप-छिपकर देखता है, उसके पार्थिव रूप की तृष्णा से अभिभूत होकर डोलता चलता है और कर्तव्य तथा अकर्तव्य में भेद भूल जाता है। फिर, उसी का एक दूसरा रूप सामने आता है जब वह शकुन्तला के मोहक रूप-लावण्य को ठुकरा देता है, उसे पराई स्त्री जानकर अपने पास फटकने तक नहीं देता। लेकिन, यहाँ भी उसके आदर्शोन्मुख चरित्र में अभी वांछित निखार नहीं आ पाया; अभी तो जो कुछ भी है, वह ऋषि के अजाने शाप का परिणाम है, उसकी किसी अपनी पीड़ा या संघर्ष का फल नहीं। किन्तु अँगूठी की प्राप्ति के बाद दुष्यन्त के दुर्दान्त यौवन की वासना की प्यास कर्तव्य एवं धर्म के रूप में परिणत होती जाती है।[1]

वस्तुतः दुष्यन्त का महामणित्व तो तब भी था जब वे शकुन्तला के रूप की प्यास से आकुल एक सामान्य कामी की तरह तपोवन को अपने कदाचार से अपवित्र-सा कर रहे थे। किन्तु उनके उस महामणि का वास्तविक तेज तभी फूटा जब वे दुख की सान पर चढ़ाए गए—इस प्रक्रिया में उनके व्यक्तित्व का सारा मैल छँटता गया; अन्त में क्षीणतर होकर भी जो कुछ बचा, वही उनका यथार्थ मणित्व था, वही उनकी विशिष्ट आभा थी। उधर शकुन्तला का उद्दाम तरुणी-भाव भी ठीक इसी तरह वेदना की सान पर चढ़ता है, और अन्त में उसका विनीत, संयत एवं तापस-रूप उभरकर हमारे सामने आता है।[2]

व्रत का काम ही है शरीर एवं मन का शोधन। दुखों की तीव्र जलन भी सही मानी में एक पुण्य व्रत है जो शकुन्तला या दुष्यन्त जैसे चरित्रों के सारे कलुषों को धो

---

१. कन्चुकी के शब्दों में—

× × ×

चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणैरात्मनः
संस्कारोल्लिखितो महार्मणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते॥ —अ० श० : ६ : ६।

२. वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति॥ —वही : ७ : २१।

देता है, उन्हें विशोधित करके चमका देता है। पहले ये दोनों शारीरिक सौन्दर्य पर रीझते हैं और उस सन्दर्भ में अपनी समग्र दैहिक एवं मानसिक निर्बलताओं को हमारे सामने रखते हैं। किन्तु वे ही जब विरह-व्रत धारण करते हैं, मानसिक संघर्षों की आग में तपाए जाते हैं, तो उनकी पूर्व वासनाएँ दाम्पत्य प्रणय के प्रकृष्ट रूप में रूपायित हो जाती हैं, वे प्रणयी एवं प्रणयिनी से पिता और माता हो जाते हैं तथा उनके जीवन की सारी उच्छृंखलता संयम, धर्म एवं कर्म में फलित हो जाती है। यह सब किसका प्रताप है, किसकी ज्योति है ? मुनि के शाप के रूप में उनके दुर्भाग्य का खेल न चलता, संघर्ष न होते, विरह की चिनगारी न जलती, तो निश्चित रूप से उनके चरित्र का ऐसा उत्कर्ष असम्भव था। उनके चरित्रोत्कर्ष की ही यह महिमा है कि शकुन्तला श्रद्धा के रूप में, उसका पुत्र सर्वदमन वित्त के रूप में एवं दुष्यन्त विधि के रूप में जीवन-यज्ञ को समर्पित हो जाते हैं।[१]

अपेक्षाकृत हीन कोटि के चरित्रों को तो संघर्ष रगड़-रगड़कर प्रदीप्त कर ही देते हैं, किन्तु जो पहले से ही उत्तम कोटि के लोग हैं, वे भी इनके प्रताप से और भी निखर उठते हैं और आग में तपाये गये कांचन की तरह दमक पड़ते हैं। राम और सीता ऐसे ही चरित्रों में हैं। उत्तररामचरित में राम का जो चरित्र निरूपित है, वह उनके चरित्र के सभी पूर्व पक्षों से सर्वथा नवीन एवं अनुपम है। यों उनका चरित्र पहले से ही उदात्त, गम्भीर एवं निर्मल है। सम्राट् के रूप में अभिषिक्त होने के पहले से ही वे **मर्यादा-पुरुषोत्तम** हो गए रहते हैं। दुष्यन्त के चरित्र के किसी भी पहलू से उनकी तुलना नहीं की जा सकती। किन्तु **लोकाराधन**[२] का जो व्रत वे नाटक के आरम्भ में लेते हुए दिखाये जाते हैं, उसके लिए उन्हें पहला होम सीता का ही करना पड़ जाता है—सीता जो उनकी सर्वस्व थीं, उनके प्राणों की एकमात्र माधुरी थीं। राम का यह लोकाराधन-व्रत 'लोक' के लिए चाहे जितना कल्याण-प्रद या आह्लादप्रद हो, स्वयं राम के व्यक्तित्व पर एक प्रश्न-चिह्न बन जाता है—क्या निर्दोष सीता का ऐसा कठोर निर्वासन राम के लिए उचित था, जबकि वे व्यक्तिगत रूप से सीता के चारित्रिक ऐश्वर्य से भली-भाँति परिचित थे ? भवभूति इसी प्रश्न-चिह्न को अपने नाटक का प्रधान विषय बनाते हैं और राम के त्याग, दुख, वेदना एवं मानसिक संतापों की सम्यक् अवतारणा करके अन्ततोगत्वा उसे मिटाने में सफल होते हैं। राम का लोकव्रत एवं सीता का पतिव्रत दोनों अपने-अपने ढंग से विरह एवं दुख की आग में तपाये जाते हैं और अन्त में हम देखते हैं कि जहाँ दोनों के अलग-अलग चलते हुए व्रतों का संगम हो जाता है, वहाँ वे स्वयं भी मिल जाते हैं। इस प्रकार दोनों के व्रतों की मर्यादाएँ डिगती नहीं। वे 'राम' और 'सीता' के परिसीमित एवं वैयक्तिक रूपों से ऊपर उठकर प्रजारंजक 'सम्राट्'

---

१. दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम्॥ —अ० श० : ७ : २९।

२. स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥ —उ० च० : १ : १२।

एवं 'सम्राज्ञी' के व्यापक एवं महनीय रूपों में प्रतिष्ठित हो जाते हैं—राम-राज्य की कठोर साधना सफल हो जाती है। कहना न होगा कि यहाँ भी राम के चरित्र पर उठे हुए प्रश्न-चिह्न को मिटाने तथा निर्वासिता सीता के हृदय से स्वाभाविक क्षोभ, अशान्ति एवं पीड़ाओं को धोने में उन दोनों के वियोगजन्य संघर्षों का ही हाथ है। इन संघर्षों को अलग हटाकर देखने से राम और सीता के चरित्र सर्वथा बदले हुए-से प्रतीत होते।

इन तथा इनके जैसे अन्य कई दृष्टान्तों की परख करने से कतिपय पाश्चात्त्य आलोचकों की यह स्थापना धराशायी हो जाती है कि भारतीय नाटकों में जीवन की आँधियों का अभाव है, या उनके तीव्र रूप की व्यंजना नहीं हुई है। वस्तुतः इन नाटकों में सुख और दुख की कुछ ऐसी मिश्रित नाटकीय व्यंजना हुई है कि कुछ लोग, जो पाश्चात्त्य नाट्य-शास्त्र की शब्दावली में इन नाटकों को बाँधना चाहते हैं, इन्हें 'ट्रॉजी-कॉमिडी' की संज्ञा दे देते हैं।[१] हमारी सम्मति में भारतीय नाटक न तो त्रासदी हैं, न कामदी और न इनके मिश्रित रूप। कठोर नियति के हाथों न तो ये जीवन की करुण पराजय की अभिव्यंजना करते हैं, और न ये जीवन के विद्रूप पक्षों पर हास्य या व्यंग्य के तीखे तीर ही चलाते हैं जो पाश्चात्त्य कामदी के प्रधान तत्त्व माने जाते हैं। वस्तुतः, जैसा कि पहले निवेदित है, इन नाटकों की प्रकृति पाश्चात्त्य नाटकों से सर्वथा भिन्न है। पाश्चात्त्य अर्थ में नाटकों के जो कृत्रिम या अतिरंजित पक्ष होते हैं, प्रायः भारतीय अर्थ में वे ही नाटकों के प्रधान तत्त्व माने गये हैं। जब तक भारतीय जीवन एवं संस्कृति का सम्यक् अवबोध नहीं होगा, यहाँ के नाटकों में जीवन की अत्यन्त कलात्मक अभिव्यक्तियों की परख करना भी कठिन होगा।

श्री एस० एन० दासगुप्त ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास की प्रस्तावना में भारतीय नाटकों पर एक विशिष्ट साँचे में ढाली गयी तथा सँवारी गयी कृत्रिमता का आरोप लगाया है, चूँकि उनकी विषय-वस्तु बहुधा रामायण एवं महाभारत जैसे पौराणिक आख्यानों से ली गयी है जिनमें तत्कालीन समाज या जीवन के स्वाभाविक भावों की अभिव्यक्ति नहीं के बराबर है; धर्मशास्त्रों एवं स्मृतियों के द्वारा लादी गयी जीवन की प्रणालीबद्धता का ही यह सब दुष्परिणाम था जिसके प्रभाव से कालिदास एवं भवभूति जैसे वरेण्य कवि भी अपने को नहीं बचा सके और अपने स्वाभाविक भावोद्गारों को एक बँधी-बँधाई पुरातन विधा में बनावटी ढंग से प्रकट किया।[२] इसमें दो

---

१. क्ला० ड्रा०, पृ० ८।

२. "...Life had begun to be patternised even at the time of Kalidasa. People would swallow any thing that was mythical and that was the only place in which there was some latitude for depicting emotions. The normal life had begun to be undramatic and uneventful. Any thing beyond the normal would have been resented as not contributing to good taste".

—एस० एन० दासगुप्त कृत 'ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर', खण्ड १ (१९११), प्राक्कथन, पृ० ३८।

मत नहीं हो सकते कि वैदिक काल के परवर्ती युगों में भारत का सामाजिक जीवन धर्मशास्त्रों के कठिन एवं दुर्भेद्य नियन्त्रणों में बँधता चला गया; सामाजिक जीवन का शायद ही ऐसा कोई पक्ष हो जिस पर शास्त्रीय प्रतिबन्ध की मुहर न लगने पायी। फलतः जीवन का प्रवाह रुद्ध-सा हो गया; प्रेम, घृणा, द्वेष जैसी स्वाभाविक मनोवृत्तियाँ भी शास्त्र में प्रतिपादित लक्षणों के माध्यम लेकर प्रकट की जाने लगीं। किन्तु इन शास्त्रीय प्रतिबन्धों तथा सामाजिक अवरोधों के होते हुए भी, आर्ष महाकाव्यों तथा दूसरे पौराणिक वृत्तों से भारतीय कला एवं साहित्य ने जो अपने-अपने विषय का चयन किया, उसका कारण स्पष्टतः कुछ दूसरा ही था। पिछले सैकड़ों वर्षों से, भारतीय जनता की दृष्टि में, रामायण एवं महाभारत अद्वितीय महाकाव्य ही नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति में सन्निविष्ट समग्र उच्चादर्शों के जीवन्त विश्वकोष रहे हैं।[१] इन महाकाव्यों के कतिपय चरित्र लगभग दो हजार वर्षों से भारतीय लोगों के लिए प्राणवन्त स्फूर्ति, प्रोत्साहन एवं दिव्य प्रेरणा के स्रोत रहे हैं और आज भी इन लोगों के लिए उनका बहुत कुछ वही माहात्म्य है। भारत के सुदूर गाँवों में रामलीला की हजारों वर्ष पुरानी घिसी-पिटी कहानी आज भी जिस तन्मयता तथा अभिरुचि के साथ अभिशंसित होती है, वह ऐसी कहानियों की अक्षय रस-गरिमा का स्पष्ट संकेत है। दृश्यकाव्य में निबद्ध ऐसी दिव्य या दिव्यादिव्य कथाओं को छोड़कर दूसरे प्रकार के नाटकीय वृत्तों की शायद ही इतनी तन्मयता एवं आत्मीयता के साथ रस-चर्वणा की जाती होगी। प्रधानतः इसी दृष्टि से भारतीय कला एवं साहित्य के अधिकांश रूपों में, प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से, प्रायः इन्हीं महाकाव्यों की पौराणिक गाथाएँ पिरोई गयी हैं। राम और सीता तथा इनके जैसे अन्य चरित्रों पर अपनी विषय-वस्तुओं को आधृत करने में भारतीय कवियों तथा कलाकारों ने गौरव का बोध किया, चूँकि वे स्वयं भी प्रायः इन चरित्रों के परम उपासक या प्रशंसक थे। परिणामतः कई शताब्दियों में एक ही कथा-वस्तु—वाल्मीकिकृत राम-कथा—पर आधृत बहुत से नाटकों एवं दृश्यकाव्यों का जो प्रणयन हुआ[२], उसका कारण उनके कवियों का विषय-दारिद्र्य या शास्त्रीय प्रतिबन्ध कभी नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त, भारतीय नाटककारों की तरह यूनानी त्रासदीकारों ने जो अपने विषय प्राचीन महाकाव्यों की जानी-पहचानी तथा जन-जीवन में प्रचलित कहानियों से ग्रहण किये, इसका एक मनोवैज्ञानिक औचित्य भी है। जब नाटककार को यह विदित हो जाता है कि उसकी कथावस्तु से सामाजिक भली-भाँति परिचित हैं, तो वह 'कहानी कहने' के परिश्रम से बहुत कुछ बच जाता

---

१. तुल० (क) "...अथ स भगवान् प्राचेतसः प्रथमं मनुष्येषु शब्दब्रह्मणस्तादृशं विवर्तमितिहासं रामायणं प्रणिनाय।" —का० उ० च०, पृ० ३६।

(ख) सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः॥ —महा० : १ : ९२।

२. तुल० "अहो सकलकविसार्थसाधारणी खल्वियं वाल्मीकीया सुभाषितनीवी।"
—अ० रा० : प्रस्तावना।

है—इस परिश्रम से अवकाश पाकर वह अपना ध्यान घटनाओं के वैयक्तिक विश्लेषण पर केन्द्रित करता है[1] जिसका नाटकीय कथ्य की दृष्टि से बहुत महत्त्व हो जाता है। किसी नयी कहानी को प्रस्तुत करने में नाटककार को प्रधान चिन्ता यह रहती है कि उसके दर्शक उसके वृत्त की कथा-श्रृंखला में कहीं उलझ न जायँ, उसके प्रधान सूत्रों में संगति बैठाने में कहीं असमर्थ न सिद्ध हों। फलतः वह अपनी कहानी को अधिकाधिक सफाई तथा प्रभावोत्पादकता के साथ प्रस्तुत करने में प्रायः अपने नाटकीय लक्ष्य की इयत्ता समझ लेता है। इससे ज्यादे वह कर भी नहीं सकता, चूँकि नाटकीय वृत्त की सीमित परिधि में ही उसे घूमना होता है और यह घूमना भी बहुत कुछ कालापेक्ष तथा स्थानापेक्ष होता है। अपनी कला के इस विशिष्ट प्रतिबन्ध में रहने के कारण उसे अपने विचारों को अपने अभिनव वृत्त में यथावत् पिरोने का पूर्ण अवकाश नहीं मिल पाता। दूसरी ओर, जब राम-कथा तथा इसकी तरह दूसरे वृत्त मञ्च पर उतारे जाते हैं, तो दर्शकों को कहानी के सूत्र पकड़ने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती; फलतः नाटककार 'कथा कहने' पर न जाकर उसके मर्मस्थल के विकास पर या उसके चरित्रों को एक नये दृष्टिबिन्दु से परखने पर अधिक ध्यान देता है। यदि ऐसा न होता तो उत्तररामचरित जैसे नाटक नहीं लिखे जा सकते थे—इन नाटकों में पुरानी कथा के होते हुए भी चरित्रों तथा घटनाओं की अपूर्व हृदयग्राही अभिव्यञ्जना की गयी है; यही नवीन अभिव्यञ्जना इन नाट्यकृतियों का प्राण तथा इनकी मौलिकता का आधार है। अतः, इस प्रकाश में देखने पर, सामान्य रूप से भारतीय साहित्य के सभी अंगों और विशेष रूप से नाटकों पर श्री० एस० एन० दासगुप्त ने जिस कुण्ठा का आरोप लगाया है, वह एक बड़ी सीमा तक निर्मूल सिद्ध होता है। यह सही है कि प्राचीन नाटककार प्रायः एक ही प्रकार के पौराणिक वृत्तों को अपनी नाटकीय सृष्टि का आधार बनाते रहे, किन्तु इसका कारण उनकी रूढ़ि-ग्रस्तता या विषय-चयन में उनकी प्रतिभा की अनुर्वरता नहीं, वरन् तत्कालीन भारतीय समाज की अभिरुचि विशेष है जिसे संतुष्ट करना उन्होंने अपना परम धर्म माना है।[2] राम-कथा जैसी कहानियाँ अपने असाहित्यिक तथा अनगढ़ रूपों में भी पिछले कई शतकों से भारतीय जन-मानस को आप्यायित करती रही हैं—उनके साहित्यिक रूप की प्रभावोत्पादकता का क्या पूछना।

भारतीय अभिनेय काव्य का एक और ऐसा मौलिक स्वरूप है, जो पाश्चात्त्य नाट्य-लक्षणों के तीव्र विरोध में पड़ता है। अरस्तू, जो पाश्चात्त्य नाट्य-शास्त्र के उन्नायक एवं प्रवर्तक कहे जा सकते हैं, अपने काव्यशास्त्र में कहते हैं—"महाकाव्य,

---

१. मा० ड्रा०, पृ० ३२।

२. तुल० "आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।"

जैसा कि भारतीय आचार्य मानते रहे हैं,[१] तो उसीका प्रकृष्ट रूप नाट्य अनुकरण कैसे हो सकता है ? भरत ने ही इस प्रश्न का स्पष्ट समाधान अपनी कारिका में कर दिया है।[२]

भरत ने असंदिग्ध रूप से नाट्य का सम्बन्ध सुख-दुखात्मक जगत् के अभिनेय रूप से माना है—अर्थात् आंगिक, वाचिक, सात्त्विक एवं आहार्य नामक चतुर्विध अभिनय ही नाट्य का रूप ले लेता है। अब यदि भरत ही अन्यत्र नाट्य को लोकवृत्ता-अनुकरण कहते हैं, तो वस्तुतः यहाँ उनके अनुकरण का सम्बन्ध अभिनय से है, न कि नाट्य-रचना की प्रक्रिया से। अभिनय-कला नाटक के मंचीय रूप से अपरिहार्य रूप से सम्बद्ध है, नाटक के दृश्यत्व को व्यावहारिक रूप वही प्रदान करती है। नट यदि नाटकों में निबद्ध रामादि पात्रों के जीवन की अवस्थाओं की अनुकृति नहीं करेगा, तो उसकी कला सफल हो ही नहीं सकती। दूसरे शब्दों में, अभिनय का मूल मन्त्र अनुकरण है, अनुकरण-रहित अभिनय की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः हमारे यहाँ के आचार्य जब नाट्य को अनुकरण बताते हैं, तो उनका स्पष्ट इंगित चतुर्विध अभिनय की ओर होता है जिसके माध्यम से कवि-निबद्ध लोक-वृत्त की अनुकृति प्रस्तुत की जाती है। डा० नगेन्द्र अपनी 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' की भूमिका में इस तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं, "···यदि नाटक में वास्तविक लोक-स्वभाव का अनुकरण अभीष्ट है, तो उसका अनुकर्ता तो कवि ही हो सकता है, नट नहीं; किन्तु इस तर्क में शक्ति नहीं है, भरत का मत स्पष्ट है। नाटक लोक-स्वभाव का अनुकरण तो करता है; परन्तु लोक-स्वभाव का अर्थ कवि-निबद्ध लोक-स्वभाव ही है। वास्तविक लोक-स्वभाव का सम्बन्ध तो कवि से है, किन्तु कवि उसका निबन्धन करता है–विधान करता है, अनुकरण नहीं।"[३] आगे चलकर अपने इसी अभिमत को उन्होंने और स्पष्टता के साथ प्रकट किया है, "...काव्य में कवि का कर्तृत्व ही स्वीकार किया गया है, अनुकर्तृत्व नहीं—

स्वांग भी अभिनय का एक प्रकार होता है, परन्तु वह अत्यन्त निम्न श्रेणी की वस्तु है। वे केवल किसी का उपहास करने के लिए भरे जाते हैं। स्वांग भरना या नकल करना जहाँ एक ओर किसी अनुकार्य व्यक्ति का अनुकरण कर उसका उपहास बनाकर देखनेवालों में निम्न श्रेणी के हास्य को उत्पन्न करता है, वहाँ जिसका स्वांग भरा जाता है, उसके मन में क्रोध, द्वेष आदि भावों को उत्पन्न करता है। नाट्य में यह बात नहीं होती है। नाट्य न तो किसी का स्वांग भरकर उसका उपहास बनाता है और न उसके अपमान का कारण बनता है ···और न प्रेक्षकों में निम्न श्रेणी के हास्य को ही उत्पन्न करता है। अपितु वह प्रेक्षकों के लिए अलौकिक आनन्द को प्रदान करता है (वही, पृ० १९०)।"

१. तुल० नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती कवेर्भारती जयति॥—का० प्र० : १ : १।

२. योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते॥ —ना० शा० : १ : ११९।

३. अ० न०, पृ० १५, १६।

वह कवि-प्रतिभा कारयित्री है, अनुकारयित्री नहीं—काव्य करण है, अनुकरण नही है—वह नवनिर्माण है, सर्जना है, जिसमें कवि यथारुचि विश्वरूपों में परिवर्तन कर सकता है।"[१]

सामान्य रूप से भारतीय काव्य तथा विशेष रूप से भारतीय नाट्य के अध्ययन के क्रम में भारतीय आचार्यों की काव्य के निबन्धन या सृष्टि से सम्बद्ध उक्त दृष्टि को ध्यान में रखना अत्यावश्यक है; इसके बिना हम यहाँ के काव्य या नाटक के गम्भीर मूल्यों की या तो उपेक्षा कर देंगे, या उन्हें उनके वास्तविक सन्दर्भ में नहीं पहचान सकेंगे। अरस्तू ने यद्यपि अनुकरण या मीमेसिस का प्रयोग किसी वस्तु की यथावत् प्रतिकृति या नकल के अर्थ में न करके उसे भावात्मक एवं कल्पनात्मक 'पुनः सर्जन' के रूप में देखा है, फिर भी भारतीय कवियों एवं नाटककारों ने अपनी कृतियों के माध्यम से पाठकों या दर्शकों के हृदय में आह्लाद के जिस अलौकिक वैश्वरूप—'रस'—के उद्बोध की कल्पना की है, अरस्तू का अनुकरण उसकी व्याख्या करने में असमर्थ है। भारत में कवि-सृष्टि को विधाता की सृष्टि से भी महत्तर पद प्रदान किया गया है—एक की दुख की कल्पना में भी जहाँ सुख एवं आनन्द का सरस अन्तर्भाव रहता है, वहाँ दूसरे का दुख तो दुख ही है, उसका सुख भी बहुधा दुखात्मक ही होता है; यही क्यों, स्रष्टा अपने रचना-कौशल से जहाँ 'षड्रस' की ही निष्पत्ति कराने में समर्थ है, वहाँ कवि अपनी सृष्टि में अलौकिक नव रस की व्यञ्जना करता है।[२] परिणामतः भारतीय आचार्यों के मत में कवि की सृष्टि की ऊँचाई को विधाता की सृष्टि भी नहीं छू सकती। भारतीय काव्यशास्त्रों में दी गयी काव्य की ऐसी परिभाषाओं के प्रकाश में नाटक के मूल्यों तथा मौलिक तत्त्वों की छान-बीन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि नाटक उत्तम श्रेणी का काव्य होता है जिसका मुख्य उद्देश्य पाठकों या दर्शकों के हृदय में रस की निष्पत्ति कराना है। यही कारण है कि यहाँ का नाटक रस-प्रधान होता है, घटना-प्रधान नहीं। यदि कोई पाश्चात्त्य साहित्य-समीक्षक अपने यहाँ के घटना-प्रधान नाटकों को दृष्टि में रखकर भारतीय नाटकों की ओर देखेगा, तो उसे निराशा ही हाथ लगेगी। भारतीय नाट्य-पद्धति की दृष्टि से उत्तररामचरित एक श्रेष्ठ नाटक है, किन्तु उसमें घटना-बहुलता नहीं और न ही नाटकीय कार्य-व्यापार का तथाकथित प्रवाह है; इसीलिए मैकडोनल महोदय इसे नाटक से अधिक नाटकीय काव्य (dramatic poem) मानते हैं।[३] उत्तररामचरित पर यह आक्षेप कहाँ तक उचित है, इसकी मीमांसा अगले प्रकरणों में की जायगी; यहाँ इतना ही कहना अलम् होगा कि भारतीय दृष्टिकोण से उत्तरराम-

१. वही, पृ० १९।

२. का० प्र० : १ : १।

३. ए० ए० मैकडोनल कृत "ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर" (१९१३), पृ० ३६४–६५। मैकडोनल तो पाश्चात्त्य विद्वान् ही ठहरे, कुछ भारतीय विद्वान् भी ऐसे हैं जो उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाकर उत्तररामचरित के 'विशुद्ध' नाटक होने में सन्देह करते हैं। तुल०

चरित ही क्यों, यहाँ की अन्य सभी नाट्यकृतियाँ 'नाटकीय काव्य' ही हैं; हाँ, मैक-डोनल महोदय जिस अर्थ में उसे यह विशेषण प्रदान करते हैं, उस अर्थ में ये निश्चित रूप से काव्य नहीं हैं। काव्य को दृश्य रूप प्रदान करने के लिए हमारे आचार्यों ने कुछ सैद्धान्तिक साँचे तैयार किये हैं—वस्तु, नेता एवं रस के त्रिविध किन्तु एकान्वित तत्त्वों से उपेत होकर ही काव्य के दृश्यत्व की सिद्धि होती है। अब जहाँ वस्तु एवं नेता का नाट्य-विधान पाश्चात्य नाटकों के वस्तु-विन्यास के समानान्तर आ जाता है, वहाँ तो हमारे नाटकों का प्रकर्ष दिखलाया जाता है; किन्तु नाटकीय वृत्त को रस-पेशल बनाने के लिए जब काव्योचित मार्गों का अवलम्बन किया जाता है, तब प्रायः उन पर कार्य-व्यापार के शैथिल्य का आरोप लगा दिया जाता है। कारण स्पष्ट है—भारतीय नाटक वस्तु एवं नेता के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी रस को सर्वाधिक गौरव प्रदान करते हैं, किन्तु पाश्चात्य नाटकों में प्लॉट एवं कार्य-व्यापार को ही सर्वोपरि माना गया है। भारतीय दृष्टिकोण से प्लॉट की वही उपादेयता है जो आत्मा के लिए शरीर की है, किन्तु आत्मा की उपेक्षा करके शरीर का श्री-वर्धन हमारे यहाँ कभी अभीष्ट नहीं रहा। फलतः वस्तु एवं नेता के विधान की सार्थकता भी तभी होती है, जब वे रस की व्यंजना में सहायक होते हैं, जिस प्रकार दैहिक सौन्दर्य का वास्तविक आकर्षण आत्म-तत्त्व की निष्कलुष अभिव्यक्ति है। संक्षेप में, रस-विहीन होकर कोई भी नाट्य-धर्म प्रवर्तित नहीं हो सकता, आचार्य भरत ने इसकी स्पष्ट उद्घोषणा कर दी है—"**न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते।**"[1] अब यदि इसी रस की प्रधानता तथा इसकी नाटकीय व्यंजना पाश्चात्य आलोचकों को खटक जाती है, तो इसमें वस्तुतः उनका दोष नहीं है—दोष है भारतीय एवं प्रतीच्य नाटकों की दो भिन्न परम्पराओं तथा उन परम्पराओं को जन्म देनेवाली दो पृथक् संस्कृतियों का।

भारतीय काव्य या नाटक में जिस रस को सर्वोत्तम काव्य-तत्त्व माना गया, वह वस्तुतः आस्वादनीय मंगलभाव है। तमस् या रजस् के भावाणु से भी अस्पृष्ट, सत्त्वोद्रेक के चरम आह्लाद की रसनीयता कभी अशिव हो ही नहीं सकती। रस के अतिरिक्त नेता एवं वस्तु नाम के जो दो नाट्य-तत्त्व हैं, उनकी परिकल्पना रस से स्वतन्त्र होकर की ही नहीं जा सकती। नेता (नी + तृच्) की **'णीञ् प्रापणे'** धातु की सार्थकता इसी में है कि वह सहृदयों को रस की प्राप्ति कराये, अथवा उन्हें रस की ओर ले जाये। इसी प्रकार वस्तु (वस् + तुन्) में विद्यमान **'वस् निवासे'** धातु की अर्थवत्ता इसीसे सिद्ध है कि वह रस का निवास है, अथवा उसका आधार है। यदि वस्तु के बदले वृत्त (वृत् + क्त) को भी लें तो यहाँ **'वृतु वर्तने'** का अभिप्राय होगा रस में प्रवर्तित करनेवाला अथवा उसकी ओर संप्रेरित करनेवाला। चूँकि रस-भाव

"All this has been described by the poet in a poetic manner and so, the Uttara can be rightly called a dramatic poem, rather than a drama."—भव०, पृ० ६३।

१. ना० शा०, पृ० ७१।

मांगलिक है, अतः नेता एवं वस्तु को भी अन्ततः मांगलिक होना ही पड़ता है। यदि ये दोनों अशिव भावों के पोषक होंगे तो वे रस-चर्वणा नहीं करा सकेंगे; ऐसी स्थिति में उनके नेतृत्व एवं वस्तुत्व की शास्त्रीय मर्यादा स्वतः ही भंग हो जायगी। नेता एवं वस्तु का रसाभिव्यक्ति के प्रति जो आभिमुख्य एवं संगमनीयता है, उसे हम रेखाकृति से यों प्रकट कर सकते हैं—

नेता

>रस = सत्त्वोद्रेक की ब्रह्मास्वादसहोदरता

वस्तु

रस के प्रति सभी प्रकार से सापेक्ष रहनेवाले वस्तु एवं नेता शिवंकर रस की अभिव्यंजना में अनिवार्यतः सहायक होते हैं। भारतीय नाटक दुखान्त नहीं होते, इसका मुख्य कारण इन दोनों का रस के प्रति यह सापेक्ष भाव भी है। यदि वस्तु-प्रकृति के अन्तर्गत 'फलागम' का संयोजन है, तो नेतृ-प्रकृति के अन्तर्गत विनम्रता, मधुरता, त्याग, बुद्धि, उत्साह, स्मृति आदि अजेय गुणों का समाहार है।[१] वस्तु का फलागम तथा नेता के ये सारे महनीय गुण रस-भाव की अविच्छिन्न मांगलिकता के ही विधायक तत्त्व हैं। ऐसी वस्तु जो अपनी फल-प्राप्ति के पहले ही टूट जाय और ऐसा नायक जो अपने असाधारण गुणों का त्याग करके अन्त तक भी अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त नहीं कर सके, स्पष्टतः ही वाञ्छित रस की सिद्धि नहीं करा सकते। त्रासदी के नायकों का चरित्र अपने उत्कर्ष के बीच भी एक ऐसे अप्रतिकार्य दोष से उपेत होता है जिसका अवश्यम्भावी परिणाम भौतिक एवं आत्मिक पतन में दीखता है। भारतीय नाटकों के नायक अपने सत्पथ से स्खलित नहीं होते, ऐसा नहीं कहा जा सकता; किन्तु निश्चय ही उनका अटूट चरित्र-बल उनके लक्ष्य-भ्रंशी चरणों को पुनः संस्थापित कर देता है, उनकी त्रुटियों को काट देता है।

अभिनय-कला के साथ भारतीय नाटक का अभिन्न सम्बन्ध है। नाटक के नाट्यत्व की सिद्धि उसके अभिनेय होने से ही सम्भव होती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनेता के अर्थ में प्रयुक्त पात्र के सन्दर्भ में नट एवं रस की बड़ी सुन्दर शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की है।[२] जिस प्रकार कोई सामान्य पात्र किसी भौतिक रस के आस्वाद का आधार होता है, नाटकीय पात्र, ठीक उसी प्रकार, अलौकिक रसास्वादन का उपकरण होता है। रस को जितने ही सुन्दर पात्र में उपन्यस्त किया जायगा, उसकी रसनीयता उसी मात्रा में बढ़ जायगी। यदि किसी प्रकार पात्र टूट जाय, रस की धारा स्वभावतः ही व्यवच्छिन्न हो जायगी[३]—आधार को खोकर आधेय रह कैसे सकेगा ?

१. द० रू० : २ : १, २।

२. अतएव च नटे न रसः। कुत्र तर्हि। विस्मृतिशीलो न बोध्यते। उक्तं हि देशकाल-प्रमातृभेदानियन्त्रितो रस इति। केयमाशङ्का। नटे तर्हि किम्। आस्वादनोपायः। अत एव च पात्रमित्युच्यते। न हि पात्रे मद्यास्वादः। अपि तु तदुपायकः। तेन प्रमुख-पात्रे नटोपयोग इत्यलम्।—अभि० ना०, पृ० २९१।

३. स्व० शा०, पृ० ४२२।

अर्थात् नाटकों का नायक ही वह प्रधान 'पात्र' है जो रस की अवस्थिति का हेतु होता है। नायक की मृत्यु का अर्थ है उस सुन्दर पात्र का खण्डित हो जाना जिसमें रस की विद्यमानता है। नायक के पात्रत्व की सिद्धि का यह तकाजा है कि वह मृत्यु या उसकी तरह दूसरे किसी भी अमांगलिक या विघ्नकारी उपद्रव से टूटने न पाये। अन्यथा भग्न पात्र के माध्यम से सामाजिक या सहृदय रसानुभव कर ही नहीं पायेंगे। भारतीय नाटकों के सुखान्त होने का एक यह भी कारण है।

भारतीय नाटकों के जो दस प्रधान भेद माने गये हैं, वे भी पाश्चात्त्य नाटकों के मात्र दो भेदों—त्रासदी और कामदी—के तीव्र विरोध में पड़ते हैं। नाटकों के इस विभाग में ऐसे अन्तर के लिए नाटकीय वृत्त के प्रति अपनाये गये दो पृथक् नाट्य-परम्पराओं के दो दृष्टिकोणों का हाथ है। ग्रीस या कला के क्षेत्र में उसके अनुयायी पाश्चात्त्य राष्ट्रों ने अनुकरण को ही सभी कलाओं का उत्स माना; आगे चलकर, इसीके आधार पर, नाटक के उक्त दो विभेद किये गये। अर्थात् **"त्रासदी किसी गम्भीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है"** और **"कामदी में निम्नतर कोटि के पात्रों का अनुकरण रहता है।"** यहाँ अनुकृति की प्रक्रिया तो समान है, किन्तु अनुकार्य के भेद से ही नाट्य की दो विधाएँ स्फुटित होती हुई दिखायी गयी हैं। भारत में नाटकों में परस्पर भेद के रहस्य को एक सर्वथा भिन्न पहलू से देखा और समझा गया है। यहाँ नाटकों के जो तीन आधार-तत्त्व—वस्तु, नेता एवं रस—माने गये हैं, वे ही उनके भेदक-तत्त्व भी हैं, अर्थात् इन त्रिविध तत्त्वों में हेर-फेर होने से ही नाटकों के दस या बारह प्रधान भेद हो जाते हैं। उक्त दोनों नाट्य-परम्पराओं के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि अरस्तू ने नाट्य-वस्तु को ही एक-मात्र भेदक माना है—उदात्त या अनुदात्त चरित्रों का स्रोत वही है। यही कारण है कि नाट्य-तत्त्वों में वे सर्वाधिक श्रेय प्लॉट को ही देते हैं और उसे त्रासदी की आत्मा तक स्वीकार करते हैं।[१] प्रो० बुचर ने अरस्तू के काव्यशास्त्र के अपने प्रसिद्ध भाष्य में अरस्तू के सिद्धान्तों के प्रकाश में प्लॉट और ऐक्शन (कार्य-व्यापार) इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध तथा पार्थक्य की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। उनके अनुसार नाटक का प्लॉट अपने पूर्णतम अर्थ में यथार्थ जीवन के कार्य-व्यापार का ही कलात्मक पर्याय होता है।[२] अर्थात् सामान्य जीवन की घटनाओं को ही जब कोई नाटककार सज-सँवारकर नाटकीय वृत्त के रूप में गुम्फित करता है, तो वही प्लॉट हो जाता है। यहाँ, जैसा कि बुचर महोदय स्पष्ट करते हैं, कार्य-व्यापार में न केवल जीवन की बाह्य घटनाएँ, प्रत्युत, मानव की अन्तः वृत्तियाँ एवं उसके विवेकपूर्ण व्यक्तित्व की सूक्ष्म से सूक्ष्म रेखाएँ भी समाहित मानी गई हैं। इस प्रकार 'प्लॉट' का रूप भी उतना पार्थिव नहीं रह जाता,

---

१. "The Plot, then, is the first principle, and as it were, the soul of a tragedy"—ए० बु०, पृ० २८, २९।

२. वही, पृ० ३३४।

इसमें भी मानव के अन्तर्तम की आशा-आकांक्षा, सुख-दुख, द्वन्द्व, संघर्ष प्रभृति भावों को पूर्ण स्वीकृति मिलती है। लेकिन, इतना होने पर भी, भारतीय नाट्य की आत्मा 'रस' से इसकी किसी भी प्रकार समता नहीं दिखाई जा सकती। रस और प्लॉट में मुख्य भेद यह है कि एक जहाँ नाटक के घटना-प्रवाह की, पाठकों या दर्शकों के मन पर, उनके साधारणीकृत भावों के रूप में, एक दिव्य प्रभावान्विति का व्यंजक है, वहाँ दूसरा मूलतः किसी नाटक के वस्तु-संघटन के वैचित्र्य मात्र को लक्षित करता है। हाँ, विरेचन-सिद्धान्त (कथार्सिस) में अरस्तू ने सामाजिकों के मन पर पड़नेवाले विशिष्ट त्रासद प्रभावों को अवश्य ग्रहण किया है। इसके अनुसार किसी त्रासदी के घटना-क्रम में उत्थापित त्रासद एवं करुणोत्पादक दृश्यों को देखकर सामाजिक के मन में वासना के रूप में स्थित त्रास एवं शोक के भाव उत्तेजित होकर विरेचित या प्रशमित हो जाते हैं। इन दुखपरक भावों के प्रशमन से दर्शकों को मानसिक सन्तुलन की प्राप्ति होती है। अरस्तू की दृष्टि में उक्त दोनों ही भाव कटु या दुखद अनुभूति के प्रकार हैं और उनके विरेचन से सन्तुलित मानस को त्रासदी का वास्तविक आनन्द मिलता है। अतः, जैसी कि डा० नगेन्द्र की स्थापना है, "मानसिक सन्तुलन उसका (विरेचन का) पूर्व भाग मात्र है, उसकी परिणति है कलात्मक परिष्कार जिसके बिना त्रासदी के कलागत आस्वाद का वृत्त पूरा नहीं होता।"[१] कहने का आशय यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित रस के एक अत्यन्त सीमित रूप के साथ ही विरेचन-सिद्धान्त की, कुछ सीमा तक, समता दिखाई जा सकती है। रस का सीमित रूप यहाँ इसलिए कहा गया कि विरेचन में मात्र करुणा एवं त्रास के प्रशमन एवं तज्जनित आह्लाद की बात उठाई जा सकती है और इस आह्लाद की, कुछ हद तक, करुण रस के आस्वाद के साथ संगति बैठाई जा सकती है। किन्तु यहाँ भी, अरस्तू के सिद्धान्त के प्रकाश में जिस कलागत आह्लाद की कल्पना की गई है, उसमें रस-चर्वणा की सात्त्विक एवं अलौकिक स्थिति का निश्चित रूप से समाहार नहीं हो पाता। "भारतीय काव्य-शास्त्र के करुण रस और उपर्युक्त आस्वाद में मौलिक अन्तर यह है कि करुण रस उद्वेग का शमन मात्र न होकर उसका भोग है। भावों का परिष्कार यहाँ भी यथावत् मान्य है : भाव के साधारणीकरण में उसका परिष्कार स्वतः सिद्ध है, तमोगुण तथा रजोगुण के तिरोभाव में उद्वेग का शमन भी निहित है, परन्तु रस इनसे अतिरिक्त है। रस तो भौतिक राग-द्वेष से मुक्त आत्मा द्वारा 'अस्मिता' का भोग है—उसके लिए तमोगुण और रजोगुण का तिरोभाव ही पर्याप्त नहीं है, उसके लिए आनन्द रूप आत्मा से सत्त्व का प्रचुर उद्रेक अनिवार्य है।"[२]

सारांश यह कि विरेचन को यदि कलागत आस्वाद का साधन मान भी लें, तो यह आस्वाद किसी भी प्रकार रस की कोटि का नहीं माना जा सकता। यही नहीं,

---

१. भा० ना० सा०, पृ० १८६।

२. वही, पृ० १८७।

हमारे यहाँ रस के लिए कोई सीमित दृष्टि नहीं अपनाई गई—पहले तो रस नाट्य के प्रधान तत्त्व या आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ, किन्तु पीछे वह सम्पूर्ण काव्य का, चाहे वह दृश्य हो या श्रव्य, मूलभूत सिद्धान्त मान लिया गया। उधर अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त काव्य के अन्य रूपों की बात ही क्या, स्वयं नाटक के भी सभी प्रकारों के लिए उपयुक्त नहीं माना गया। अतः कामदी इसकी परिधि से सर्वथा अलग छूट गई और इसका एकमात्र सम्बन्ध त्रासदी के साथ ही दिखाया गया। भारतीय दृश्य-काव्य का चाहे कोई भी भेद हो, उसमें एक प्रधान रस की सत्ता तो अनिवार्य रूप से मान ली गई; उसी के साथ अन्य गौण रसों की स्थिति भी स्वीकृत हुई। फलतः यहाँ के नाटकीय वृत्त रस से कतराकर चल नहीं सकते—रस उनका सर्वस्व है। वस्तु और नेता स्वतन्त्र नाटकीय तत्त्व होकर भी रस से पृथक् खड़े नहीं हो सकते, उनके उद्गम एवं विकास की प्रत्येक प्रक्रिया किसी न किसी रस की पुष्टि के निमित्त ही कल्पित होती रही है। "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः" लिखकर भरत ने रस की निष्पत्ति के लिए यद्यपि विभाव आदि के रूप में किसी कथानक के बाह्य एवं अन्तः पक्षों के सम्यक् निबन्धन की ओर संकेत किया है, फिर भी रसोद्रेक के लिए घटनाओं के पार्थिव रूप उतना महत्त्व नहीं रखते, जितना कि उनके आन्तरिक या सूक्ष्म रूप। अतः पाश्चात्त्य दृष्टिकोण से जहाँ कार्य-व्यापार का प्रवाह अत्यन्त शिथिल दीख पड़ता है, भारतीय दृष्टिकोण से प्रायः वहाँ रस का पूर्ण परिपाक मिलता है। उत्तररामचरित का तृतीय अंक, पाश्चात्त्य नाट्यशास्त्रियों की दृष्टि में, एक तीव्र शैथिल्य से ग्रस्त है; पूरे अंक में घटना का प्रवाह प्रायः एक-सी ही अवस्था में खड़ा का खड़ा दीख पड़ता है। परन्तु यही अंक भवभूति के अभिनेय काव्य की वैयक्तिक गरिमा से लबालब भरा हुआ है; उनके करुण रस की सर्वातिशायिनी अभिव्यक्ति यहीं हुई है। स्वयं भवभूति भी इस अंक को, रस-परिपाक की दृष्टि से, कदाचित् सर्वोत्तम मानते थे, उनके इस अभिमत की पुष्टि इस अंक के अन्त में आए हुए उन्हीं के एक प्रसिद्ध श्लोक से होती है, जिसमें उन्होंने करुण को एकमात्र रस स्वीकार किया है और अन्य सभी रसों को इसी के विवर्त के रूप में देखा है।[१] वस्तुतः, जैसा कि इस प्रबन्ध के अगले प्रकरणों में स्पष्ट किया जायगा, इस अंक का वृत्त-प्रवाह ऊपर-ऊपर ही अवरुद्ध-सा प्रतीत होता है, अन्ततः राम एवं सीता की करुण उक्तियों में एक ऐसी मानसिक गतिशीलता के दर्शन होते हैं जिससे उत्तररामचरित के कथानक के पार्थिव प्रवाह की क्षति-पूर्ति बड़ी कलात्मकता के साथ हो जाती है। अतः यहाँ कथा या घटनाओं का महत्त्व नहीं, महत्त्व है उन आत्मिक भाव-कोषों का जिनमें बाह्य घटनाओं के बीज

१. एको रसः करुण एव निमित्तभेदा—
भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारा—
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्॥

—उ० च० : ३ : ४७।

वर्तमान होते हैं। हमारे जीवन के समग्र दृश्य कार्य-व्यापार इन्हीं अदृश्य भावाणुओं की शक्ति से संचालित किये जाते हैं। उत्तररामचरित के कई अंक मानव हृदय के ऐसे ही गत्यात्मक भावचित्रों की कमनीय पटी हैं, और इसीलिए रस की व्यंजना करने में भी उन्हें इतनी सफलता मिली है। अतः ऐसे नाटकों का सम्यक् अनुशीलन तभी सम्भव हो सकेगा, यदि हम भारतीय नाट्य की आत्मा रस के परिवेश में उनका मूल्यांकन करें। मुद्राराक्षस के कृती नाटककार विशाखदत्त, भवभूति आदि ने नाट्यशास्त्र में वर्णित रस, वस्तु एवं नेता के क्षेत्र में परम्परावादी नाट्य-लक्षणों की दृष्टि से अनेक नये प्रयोग किये हैं, किन्तु इनमें से किसी ने भी रस-तत्त्व को अपनी अभिनव प्रयोग की प्रक्रिया में तोड़ने या मोड़ने का साहस नहीं किया है—हाँ, भवभूति ने अलबत्ता अपने उत्तररामचरित में शृंगार या वीर की जगह करुण को दे दी है। शास्त्रीय दृष्टि से यहाँ केवल गौण एवं मुख्य का प्रश्न है—गौण रस को प्रधान तथा प्रधान रस को गौण बना दिया गया है—अन्यथा उनमें से किसी को मिटा देना और उसकी जगह किसी नये नाट्य तत्त्व को समाविष्ट करना नाटककार का कभी उद्देश्य नहीं रहा। किन्तु, दूसरी ओर, वस्तु एवं नेता की परम्परावादी मान्यताओं में आमूल परिवर्तन तक कर दिया गया है—मुद्राराक्षस का नायक चन्द्रगुप्त न होकर चाणक्य हो जाता है तथा नायिका हाड़-मांस की कोई नारी न होकर राजनीति जैसी अमूर्त भावना हो जाती है। यहाँ भी, नेता की दृष्टि से इस अभिनव प्रयोग के बावजूद, रस की परम्परावादी स्थिति ही स्वीकार की गई है।

इस प्रकार भारतीय रूपकों में रस वह केन्द्रीय बिन्दु है जिसके चतुर्दिक् नाटकीय वृत्त एवं उनके अधिकारी नेताओं की जीवन-परिधि चक्कर काटती है—यह परिधि चाहे जितनी भी लघु अथवा दीर्घ हो, उसके संकोच या विस्तार इस बिन्दु से निरपेक्ष होकर नहीं चल सकते। पाठकों या दर्शकों के आनन्द-भाव को अलौकिक एवं सार्वभौम रूप प्रदान करनेवाला रस-प्रत्यय सामाजिक मूल्यों के विरोध में कभी नहीं जाता। विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने अपनी रसाभास-विवेचना में स्पष्ट कर दिया है कि सामाजिक चेतना का जो लोक-सम्मत रूप होता है, रस-प्रत्यय को सर्वदा उसका अनुगामी होना चाहिए। जिन-जिन स्थायी भावों के साथ रस सम्बद्ध होता है, वे सभी मानव मन के मूल या चिरन्तन भाव होते हैं, उनमें स्वाभाविक रूप से, यदा कदा समाज-विरुद्ध प्रवृत्तियों के दर्शन भी किये जा सकते हैं—उनमें प्रायः रजस् या तमस् के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु ये ही स्थायी भाव जब विभाव आदि के संयोग से रस-रूप हो जाते हैं, तो उनसे सत्त्व का ऐकान्तिक उद्रेक होने लग जाता है, उनकी प्रकृति के रजोमय या तमोमय स्वरूप का पूर्णतया तिरोभाव हो जाता है। यदि ऐसा न होता तो रस-चर्वणा की प्रक्रिया अलौकिक नहीं कही जाती अथवा उसे **ब्रह्मास्वादसहोदर** की संज्ञा नहीं दी जाती। जो असामाजिक या अनैतिक तत्त्व होते हैं, वे सत्त्व के उद्रेक में बाधक बन जाते हैं, इसीलिए रस-निरूपण में उनके परिहास पर बल दिया गया है। इस सन्दर्भ में अवैध

प्रेम का दृष्टान्त लिया जा सकता है। यदा कदा ऐसा प्रेम समाज में देखने को मिल जाता है, किन्तु यह समाज की स्वस्थ प्रगति के लिए घातक सिद्ध होता है। चाहे यह मानव प्रकृति का कितना भी स्वाभाविक भाव क्यों न हो, भारतीय दृष्टि से मानव कल्याण इसी में निहित है कि ऐसे भावों को पनपने नहीं दिया जाय, उन्हें धर्म एवं नैतिकता के बन्धन में जकड़ दिया जाय। हमारे धर्मशास्त्रों ने सामाजिक कल्याण को दृष्टि में रखकर ही ऐसे भावों की निन्दा की है या उनपर प्रतिबन्ध लगाया है। साहित्य के क्षेत्र में भी, ऐसी रति जिसका उद्बोध अवैध या अनैतिक हो, सत्त्व से रिक्त हो जायगी और परिणामतः उससे विशुद्ध शृंगार की अभिव्यक्ति नहीं हो सकेगी। अधिक से अधिक ऐसी गर्हित रति से **रसाभास** हो सकता है, **रस-व्यक्ति** नहीं। "रस-निष्पत्ति के लिए अपेक्षित पूर्ण औचित्य के आंशिक अभाव में जब सहृदय को रस के स्थान पर रस के आभास की प्रतीति हो अथवा रस-परिपाक न होकर रस केवल आभासित होकर ही रह जाय, उस अवस्था में प्राचीन आचार्यों द्वारा 'रसाभास' की स्थिति मानी गयी है।"[१] रस के इस सामाजिक एवं नैतिक पक्ष का यह अर्थ निकलता है कि किसी विशिष्ट देश के नाटकों की रस-चर्वणा के लिए सहृदय पाठकों या दर्शकों का उस देश के स्वीकृत सामाजिक मूल्यों से पूर्ण रूप से परिचित होना आवश्यक है; बल्कि, परिचय से भी अधिक उन मूल्यों के प्रति श्रद्धालु एवं अभिशंसात्मक दृष्टि वांछनीय हो जाती है जिसके अभाव में रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया अवरुद्ध हो सकती है। राम एवं सीता जैसे चरित्रों की महनीयता प्रायः भारत या उसके कुछ पड़ोसी देशों में ही सहृदयतापूर्वक समझी जा सकती है; अन्य देशों में, जहाँ भारतीय संस्कृति की किरणें नहीं फैल पायीं, ऐसे चरित्रों की उदात्तता भी हास्य, उदासीनता या उपेक्षा का कारण बन सकती है। यही कारण है कि वहाँ के सहृदय निवासी भी, जो भारतीय नारीत्व या पुरुषत्व के मूल्यों को हृदयंगम नहीं कर पाये होंगे, ऐसे चरित्रों द्वारा अभिव्यंजित रस की चर्वणा करने में अक्षम ही सिद्ध होंगे। राम की तरह पति, जो लोकाराधन के लिए अपनी प्राणोपम भार्या तक का त्याग कर दे और सीता-निर्वासन के बारह वर्ष बीत जाने पर भी दूसरा विवाह न करे; और सीता की तरह पत्नी, जो सर्वथा निरपराध होकर भी पति के कठोर निर्वासन-दण्ड को स्वीकार कर ले और अन्त-अन्त तक अपने हृदय को राममय बनाये रखे, वस्तुतः भारत की मिट्टी की ही चारित्रिक विभूतियाँ हैं। यदि पाश्चात्त्य जगत् की भौतिकवादी जीवन-परम्परा ऐसे चरित्रों की आध्यात्मिक गरिमा को ठीक-ठीक समझ नहीं पाये और उनके स्थान पर जीवन के कुरूप एवं जड़ संघर्षों का दिदृक्षु हो, तो इसमें आश्चर्य नहीं मानना चाहिये। हमें तो ऐसा लगता है कि अभिज्ञानशकुन्तल, उत्तररामचरित आदि नाट्यकृतियाँ जो उक्त परम्परा में भी समादृत हुई हैं, उसका मूल कारण कुछ दूसरा है। सम्भवतः इन नाटकों में उपस्थापित उदात्त चरित्रों तथा उनके माध्यम से अभिव्यक्त महनीय जीवन-दर्शन की तुलना में उनका गीतिमय नाटकीय माधुर्य, प्रकृति-चित्रण की विशाल

---

१. हिं० सा० को०, पृ० ६३४।

पटभूमि, संगीतमयी भाषा की जीवन्त व्यंजनाशक्ति आदि ही प्रायः पाश्चात्त्य अध्येताओं के आकर्षण के प्रमुख केन्द्र रहे हैं। अर्थात् भारतीय नाट्य की भावात्मक उपलब्धियों का तो वे प्रायः सही-सही मूल्यांकन नहीं कर सके, किन्तु वे उपलब्धियाँ जिस विधा में व्यक्त की गयी हैं, उस पर उन्होंने काफी ध्यान दिया है। जीवन के जिन उच्चादर्शों की ओर संस्कृत नाटकों के चरित-नायक गतिशील होते हैं तथा उन आदर्शों की प्राप्ति के लिए अपने जीवन-मार्ग पर जिन विघ्नों एवं संघर्षों का जिस प्रकार साहसपूर्वक सामना करते हैं, वे सब कुछ भारतीय आचार के निजी विषय हैं; किन्तु वे भारतीय संस्कृति के मौलिक तत्त्वों से अनभिज्ञ देशों के लिए बहुत कुछ अप्रासंगिक एवं व्यर्थ सिद्ध होते हैं। जहाँ भारतीय आचार के प्रत्येक अवस्थान में धर्म, अध्यात्म, नैतिकता तथा तज्जन्य आशावादिता, विजय-भाव, उल्लास एवं परा शान्ति के प्राणवन्त स्वर सुनाई देते हैं, वहाँ पश्चिमी देशों के भौतिकवादी आचार की भित्ति प्रायः पार्थिव क्रियाशीलता, जीवन के दम तोड़नेवाले दौड़, त्रास, अशान्ति एवं शोक-पर्य्यवसायी परिणामों पर आधृत है। इन दोनों परम्पराओं की जीवन-दृष्टि के ये भेद उनकी कला एवं साहित्य के प्रत्येक अंग में द्रष्टव्य हैं।

वह देश जहाँ भौतिक अस्तित्व के प्रत्येक अणु में धर्म की ज्योति भासित होती हो; जहाँ सांसारिक चिन्ताओं, द्वन्द्वों एवं क्लेशों से आक्रान्त होकर भी जीवन सच्चिदानन्द ब्रह्म का अंश हो, वहाँ की प्रत्येक वस्तु आशापरक, उज्ज्वल एवं आनन्द-प्रद दिखाई देगी ही। इसी जीवन-दर्शन की कलात्मक अभिव्यक्ति भारतीय नाटक हैं जिनका स्पष्ट लक्ष्य त्रिवर्गों—धर्म, अर्थ तथा काम—में से एक या अनेक की प्राप्ति है,[१] अप्राप्ति नहीं; अतः इन नाटकों के अवस्थापञ्चक की अन्तिम कड़ी फलागम के नाम से अभिहित हुई है। यहाँ तक कि बौद्ध दर्शन भी, जो ऐकान्तिक रूप से निराशावादी प्रतीत होता है, 'निर्वाण'-संज्ञक अनन्त एवं अनवरत आनन्द की ओर संकेत करता है। इस निर्वाण की सिद्धि, मानसिक एवं कायिक अनुशासन के द्वारा, हम अपने ऐहिक जीवन के बाद ही नहीं, उसके पहले भी, अपने इसी अस्तित्व में कर सकते हैं। जिन संघर्षों एवं पीड़ाओं को हम झेलते हैं, वे हमारे जीवन के अस्थायी स्वरूप हैं; इसीलिए उनको अधिक तूल नहीं दिया जा सकता; जीवन की परम वास्तविकता के रूप में भी उनकी गणना नहीं की जा सकती। वे वस्तुतः ऐसी मेघाच्छन्न रात्रियों की तरह हैं जो भीम अन्धकार की चादर ओढ़े हुई, प्रारब्ध अथवा वर्तमान जीवन की किंचित् त्रुटियों के फलस्वरूप, हमारे चान्द्र अस्तित्व को निगल जाना चाहती हैं तथा हमारी सांसारिक स्थिति के प्रयोजन को व्यर्थ सिद्ध कर देना चाहती हैं। किन्तु चाहे वे कितनी भी सशक्त हों और चुनौती दे रही हों, उनसे जीवन की यथार्थ कान्ति पर पर्दा नहीं पड़ सकता—एक न एक दिन वे फटेंगी हीं और स्वयं बिखरकर

१. **कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च।**

—द० रू० : १ : १६।

हमारी आस्थाओं की शक्ति बनेंगी ही। जीवन की ऐसी ही कड़वी वास्तविकताओं को पाश्चात्त्य नाटककार चुन लेते हैं और उनसे कलात्मक त्रासद रूपों का निर्माण करके यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि मानव की संकल्प एवं सामर्थ्य की दिशाएँ अन्ततोगत्वा या तो निर्मम नियति के हाथ की कठपुतली बन जाती हैं या मानव की ही क्षीण निर्णय-शक्ति तथा भ्रामक चरण के शिकार हो जाती हैं। भारतीय नाटकों में जीवन के ऐसे सारे दुखपरक लक्षण शोभन एवं अविशंक्य परिणामों को जन्म देते हैं; किन्तु मंच पर उनमें से बहुतों का प्रत्यक्ष प्रदर्शन अशुभ माना जाता है। संस्कृत रूपक अपने सामाजिकों को किसी प्रकार का अशुभ मानसिक आघात नहीं देना चाहते, चूँकि इससे सत्प्रेरणा के मार्ग में स्पष्ट अवरोध उत्पन्न हो जाता है और दर्शकों का नैतिक बल, कुछ समय के लिए ही सही, कुण्ठित हुआ-सा लगता है। भारत में सैकड़ों वर्षों तक, बिना किसी अपवाद के, मंच पर कठिन नाटकीय अनुशासन का पालन किया जाता रहा—किसी भारतीय नाटककार ने इस अनुशासन को तोड़ने का साहस नहीं किया। श्रव्यकाव्य में युद्ध, रक्तपात, मृत्यु आदि विभीषिकाओं का चित्रण किया जा सकता है, किन्तु नाटकीय मंच पर ऐसे तथा कुछ दूसरे शिष्टाचार-विरोधी दृश्यों के प्रत्यक्ष प्रदर्शन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है।[१] इस नियम के मूल में मनोविज्ञान का यही रहस्य है कि मंच पर नटों द्वारा प्रस्तुत नाटकीय वस्तु का सामाजिकों के मन के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो जाता है; अच्छे या बुरे नाट्यात्मक चित्र उनकी दृष्टि के सामने गुजरते हैं, अतः वे उनके हृदय पर अपने सीधे प्रभाव डालते हैं। इसीलिए मंच पर ऐसे सभी दृश्यों की प्रत्यक्ष योजना को भारतीय नाट्यशास्त्र ने निषिद्ध कर दिया है। आचार्य मम्मट ने काव्य के जो छह प्रयोजन माने हैं,[२] उनमें ऐसे दृश्य **शिवेतरक्षति** एवं **सद्यःपरनिर्वृति** के स्पष्ट बाधक हो जाते हैं—ऐसे अशुभ एवं कुत्सित दृश्यों के कारण सामाजिकों का मन तो विकृत हो ही जाता है, उनके किंचित् मर्यादा-विरोधी रूपों के साक्षात्कार से मन में जो कुत्सा उत्पन्न होती है, वह नाटक के आस्वाद में रुकावट डालती है। हाँ, नाटकीय कार्यव्यापार के विकास में यदि इनमें से कुछ दृश्यों को आवश्यक माना जाय, तो प्रवेशक या विष्कंभक की अवतारणा करके मंच पर उपस्थित पात्रों के परस्पर वार्तालाप के प्रक्रम में उनका संकेत मात्र कर दिया जाता है। भारतीय नाटकों में तो इस नियम का पालन आरम्भ से ही किया जाता रहा है, किन्तु पाश्चात्त्य नाटकों

---

१. दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम् ॥
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम् ।
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत् ॥
नाधिकारिवधं क्वापि त्याज्यमावश्यकं न च ।

—द० रू० : ३ : ३४-३६ ।

२. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

—का० प्र० : १ : २ ।

में भी इधर नाटकीय दृश्यों के प्रति ऐसी चेतना जाग्रत होती हुई-सी लगती है।[१]

अन्त में हमें यही कहना है कि हमने अपने प्रस्तुत प्रबन्ध में, भारत के इने-गिने महान् प्रतिभाशाली नाटककारों में से एक, भवभूति की नाट्यकृतियों का अनुशीलन प्रायः भारतीय नाट्य-समीक्षा की पद्धति पर ही किया है; उन्हें किसी विदेशी सिद्धान्त के पहलुओं पर कसना और इस प्रक्रम में उनके स्वदेशी रूप को विकृत करना हमारा कभी उद्देश्य नहीं रहा। हाँ, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में कुछ ऐसे सार्वभौम सिद्धान्त अवश्य होते हैं जिनको किसी भी देश की सांस्कृतिक परम्परा में देखा जा सकता है, साहित्य-शास्त्र भी इसका अपवाद नहीं है। अतः यदा-कदा विश्वनाट्य के कतिपय ऐसे सार्वभौम तत्त्वों के निष्कर्ष पर भी भवभूति को परखने का प्रयत्न किया जायगा। भारतीय साहित्य-संस्कारों में पूर्ण रूप से विकसित एवं रूपायित भवभूति जैसे महाकवियों की कला-चेतना को सम्पूर्णतः किसी अभारतीय नाट्य-तत्त्व के प्रकाश में देखना उनके प्रति अन्याय करना होगा। उनके तीनों नाटक, जिनका आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय है, भारतीय संस्कृति की कतिपय उपलब्धियों तथा ऐश्वर्यों से ओत-प्रोत हैं। अतः इस महाकवि ने किस सीमा तक तथा किस रूप में अपनी नाट्यकला के माध्यम से इस संस्कृति के जीवन्त मूल्यों की स्थापना की है, उनकी नाटकीय दृष्टि कहाँ तक भारतीय नाट्यशास्त्र को अपनाकर चलती है तथा कहाँ-कहाँ उसमें कुछ नवीन सर्जनात्मक उद्भावनाएँ हैं—प्रधान रूप से इसी की मीमांसा यहाँ अपेक्षित है।

---

१. तुल० "If there are actions in the play so violent or distressing that they cannot be represented on the stage, they can be described by characters who are present on the stage and show all the appropriate signs of horror and revulsion."

..."Extreme deformities or injuries and revolting disease cannot be shown on the stage as they would shock the spectators too much."

—मार्जोरी बोल्टन कृत 'द ऑनॉटमी ऑव ड्रामा', पृ० ४-७।

अध्याय २

भवभूति से पूर्व संस्कृत नाटकों
की
उपलब्धियाँ

किसी भी साहित्यकार की कृतियों को सही-सही परखने के लिए उसके आगे और पीछे की साहित्य-परम्पराओं को एक नजर देख लेना आवश्यक होता है। साहित्यकार किसी युग विशेष की विशिष्ट प्रवृत्तियों की देन होता है और ऐसी प्रवृत्तियाँ युग की कभी न बुझनेवाली नवीन आकांक्षाओं एवं आवश्यकताओं के ही सहज परिणाम होती हैं। साहित्य के क्षेत्र में जब पहले से चली आती हुई कोई परम्परा पुरानी पड़ जाती है, अथवा वह युग-जीवन की नवीन प्रवृत्तियों को पूर्णतः अभिव्यक्त करने में अक्षम सिद्ध होती है, तो उसी की नींव पर किसी नयी परम्परा का जन्म उस ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति के रूप में हो जाता है। यही क्रम जब-तब चलता रहता है। फलतः जब भवभूति जैसे किसी वरिष्ठ कवि—जो अपनी युग-चेतना को नवीन स्वर प्रदान करते हैं—के कृतित्व का मूल्यांकन करना होता है, तो उन्हें उनसे पहले चली आती हुई परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न करके नहीं देखा जा सकता। भास, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति आदि कवि संस्कृत काव्य या नाटक के प्रतिनिधि स्वर हैं और इन स्वरों का संस्कृत साहित्य की लम्बी एवं बहुरंगी परम्परा के साथ अविभाज्य सम्बन्ध है। यही कारण है कि भवभूति की नाट्यप्रतिभा के सम्यक् अनुशीलन के लिए उनके पूर्ववर्ती नाटककारों की विशिष्ट उपलब्धियों से परिचित होना आवश्यक है। भवभूति में क्या नवीन तथा क्या परम्परागत है, क्या स्वीकृति तथा क्या विद्रोह है, उन सबकी छानबीन के लिए हमें उनसे पहले के नाटककारों के कृति-वैशिष्ट्य पर विहंगम दृष्टि डालना समीचीन होगा।

ऊपर हम भवभूति के काल-निर्धारण सम्बन्धी तथ्यों के परीक्षण से इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि वे आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के आस-पास अपनी साहित्य-रचना में प्रवृत्त हुए होंगे। यों अधिकांश संस्कृत कवियों के काल-निर्धारण के सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ कहना कठिन है, किन्तु इतना दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि जिस युग में भवभूति अवतीर्ण हुए उसके पहले संस्कृत साहित्य के कई महारथी, क्या श्रव्य और क्या दृश्य, काव्य के दोनों ही क्षेत्रों में अपने उज्ज्वल चरणचिह्न स्थापित कर चुके थे। इन महारथियों में कुछ विशिष्ट नाम ये हैं—**भास, सौमिल्ल, कविपुत्र, अश्वघोष, शूद्रक, कालिदास, भारवि, श्रीहर्ष** और **बाणभट्ट**। इनमें से कुछ तो मात्र दृश्यकाव्य के प्रतिनिधि के रूप में स्मरण किये जाते हैं, जैसे—भास, कविपुत्र, सौमिल्ल, शूद्रक एवं श्रीहर्ष। अश्वघोष तथा कालिदास की तरह कुछ दूसरे ऐसे भी हैं जिनका दृश्य एवं

श्रव्य, संस्कृत काव्य की इन दोनों विधाओं में विशिष्ट योगदान रहा है। तीसरी कोटि में वे आते हैं जिनके नाम श्रव्यकाव्य के क्षेत्र में ही विशिष्ट शैलीकार के रूप में प्रख्यात हैं; ऐसे कवियों में भारवि एवं बाणभट्ट के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भवभूति की नाट्यशैली के विकास में इन सभी कवियों का न्यूनाधिक प्रभाव रहा होगा। हमारे अध्ययन का क्षेत्र यहाँ भवभूति का नाट्यसाहित्य है, अतः हम स्वभावतः ही भवभूति के पूर्ववर्ती कतिपय नाटककारों की नाट्यकृतियों की साहित्यिक विशेषताओं पर बल देना चाहेंगे; हाँ, चूँकि संस्कृत काव्य के सामान्य प्रवाह में श्रव्य एवं दृश्य दोनों प्रकार के काव्यों का अन्तर्भाव है, अतः काव्य की ये दोनों ही विधाएँ एक दूसरे की शैलियों को प्रभावित करती रही हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर भवभूति से पूर्व श्रव्य काव्य के क्षेत्र में भी जिन विशिष्ट शैलियों का आविर्भाव हुआ, संक्षेप में हमें उनका भी विवेचन करना होगा।

कविपुत्र एवं सौमिल्ल की चर्चा स्वयं कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में की है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि इन दोनों नाटककारों की कोई भी नाट्यकृति अब हमारे बीच नहीं है। इतना निश्चित है कि भास की तरह संस्कृत नाटक के क्षेत्र में इनका भी विशिष्ट योगदान रहा होगा, चूँकि स्वयं कालिदास जैसे महाकवि इनके नाटकों पर मुग्ध थे। जिस तीसरे नाटककार की चर्चा उक्त नाटक में आयी है, वे हैं महाकवि भास। कविपुत्र एवं सौमिल्ल की तरह भास भी सन् १९१२ ई० तक नामशेष माने जाते रहे, किन्तु सौभाग्य से उसी वर्ष श्री टी० गणपति शास्त्री के सम्पादकत्व में भास के तेरह नाटकों का प्रकाशन हुआ। यद्यपि इन नाटकों में भास के नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं था, फिर भी कई प्रमाणों के आधार पर विद्वान् सम्पादक ने सिद्ध किया कि वे सभी भास के ही नाटक हैं। इन नाटकों के प्रकाशन के बाद भास अब तक ज्ञात सभी संस्कृत नाटककारों में प्राचीन सिद्ध हुए और अब तक, चाहे उनके समय को लेकर काफी मत-मतान्तर रहे हों, उनके सर्वप्राचीन होने में कदाचित् किसी विद्वान् ने शंका नहीं उठायी है।

भास ने अपने नाटकों की विषयवस्तु महाभारत, रामायण, पुराण तथा तत्कालीन कथा-साहित्य से ग्रहण की है। **चारुदत्त** के उपजीव्य के सम्बन्ध में कुछ निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता, सम्भवतः इसका वृत्त कविकल्पना-प्रसूत था। भास के तेरह नाटकों में **मध्यमव्यायोग** आदि छह नाटक महाभारत पर, **प्रतिमा** एवं **अभिषेक** नामक दो नाटक रामायण पर तथा **बालचरित** आदि शेष पाँच नाटक पुराण, कथा आदि पर आधृत हैं। इससे स्पष्ट होता है कि भास के समय या उनसे बहुत पहले से ही **महाभारत** एवं **रामायण** का भारतीय जनमानस पर बहुत अधिक प्रभाव रहा था। सम्भव है, भास के पूर्ववर्ती नाटककारों ने भी भारत के इन दो राष्ट्रीय महाकाव्यों को अपने नाटकों का उपजीव्य बनाया हो; स्वयं भास भी अपने युग-जीवन की इस सामान्य प्रवृत्ति की उपेक्षा नहीं कर सके और अपने अधिकांश नाटकों को महाभारत

या रामायण की कथाओंपर ही आधृत किया। इन दोनों महाकाव्यों में भी महाभारत के प्रति वे सम्भवतः सर्वाधिक आकृष्ट हुए और इसके अतिशय लम्बे, अतः अनाटकीय इतिवृत्त को कई नाटकीय खण्डों में विभक्त करके उन्हें अपने कई नाटकों का उपजीव्य बनाया। उनके महाभारत-नाटकों तथा राम-नाटकों की परस्पर तुलना करने से यही सिद्ध होता है कि वे अपनी नाटकीय कल्पना का जो चमत्कार अपने पहले प्रकार के दृश्यकाव्यों में दिखा सके, उनके दूसरे प्रकार के नाटक प्रायः उससे रहित हैं। यों ऐतिहासिक या पौराणिक वृत्तों को अपनाकर भी उनमें उन्होंने अपनी प्राणवन्त कल्पना के ऐसे रंग भर दिये हैं कि वे मौलिक की तरह प्रतीत होते हैं; किन्तु उनकी कारयित्री प्रतिभा उनके महाभारत-नाटकों तथा कथा-नाटकों में जितना निखार ला पायी है, उतना अन्यत्र नहीं। प्रतिमा-नाटक तथा अभिषेक-नाटक में कवि ने रामकथा को मौलिक नाटकीय रूप प्रदान करना चाहा है—मूलकथा के अवयवों में कई परिवर्तन-परिवर्धन लाकर उसे अपने जीवन-दर्शन तथा कला-दर्शन के अनुरूप ढालना चाहा है। किन्तु चरितनायक राम के चरित्र-विकास की दृष्टि से तथा राम-वृत्त की उलझी हुई लम्बी कहानी को नाटकीय अन्विति प्रदान करने की दृष्टि से इन परिवर्तनों का अत्यल्प मूल्य है। दशरथ के प्रति मुनि-शाप की चर्चा चलाकर तथा इसी प्रकार कुछ दूसरी युक्तियों का सहारा लेकर कवि ने कैकेयी के चरित्र की रक्षा अवश्य करनी चाही है, किन्तु वाली-वध के कलंक से वह राम को बचा नहीं पाया है।

स्वप्नवासवदत्ता को भास की सर्वोत्तम नाट्यकृति होने का गौरव प्राप्त है। वस्तुतः यह नाटक संस्कृत के इने-गिने नाटकों में पांक्तेय है। भास ने अपने दूसरे नाटकों में जिस शैली, जीवन-दर्शन तथा नाटकीय औदात्त्य की अलग-अलग स्थापना की है, उन सबका यहाँ एकत्र समाहार हो गया है। भरत का नाट्यशास्त्र भास से प्राचीन है अथवा अर्वाचीन, इसका ठीक-ठीक निश्चय करना कठिन है; किन्तु वस्तु, नेता एवं रस के प्रति यहाँ कवि का प्रायः वही दृष्टिकोण परिलक्षित होता है जो परवर्ती नाट्यकृतियों में पाया जाता है।[१] वासवदत्ता के चरित्र में भारतीय नारी के प्रायः सभी महनीय गुण—विशालहृदयता, सदाशयता, सहिष्णुता आदि—प्रतिष्ठित हैं। उदयन का भी एकपत्नीव्रत की ओर रुझान प्रकट होता है, परिस्थितियों से बाध्य होकर ही वे पद्मावती को अपनी दूसरी पत्नी के रूप में अंगीकार करते हैं। ऐसे चरित्रों की सर्जना के पीछे कवि के उदात्त आचार-दर्शन तथा तत्कालीन समाज की आदर्शवादी विचार-धाराओं के स्पष्ट प्रतिबिम्ब प्राप्त होते हैं। कवि न केवल प्राचीन कहानियों को नवीन एवं आकर्षक नाटकीय रूप प्रदान करने में सफल हुआ है, प्रत्युत उनके माध्यम से वह

१. ल्यूडर्स जैसे कुछ पाश्चात्त्य विद्वानों ने भास के 'उरुभङ्ग' नाटक को त्रासदी सिद्ध करने की चेष्टा की है। किन्तु इस नाटक के वस्तु-विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि यह एक सुखान्त नाटक है—इसकी भावभूमि भारतीय नाटकों की पुरुषार्थवादी परम्परा से विच्छिन्न नहीं मानी जा सकती। स्वयं डा० कीथ ने ल्यूडर्स के उक्त मत का खण्डन किया है। (दे० क्ला० ड्रा०, पृ० ३८)।

एक निश्चित आदर्श समाज के सामने रखना चाहता है; पति-पत्नी, सखी, बन्धु, मित्र, माता, पुत्र आदि कई सामाजिक सम्बन्धों को अपने नाटकीय परिवेश में खड़ा करके उनके विशिष्ट कर्तव्यों की चेतना जगाता है। उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति स्वप्नवासवदत्ता की सर्वश्रेष्ठ पात्री वासवदत्ता है जो भारतीय नारीत्व के महनीय उत्कर्षों में भी एक अकृत्रिम एवं यथार्थ चरित्र है। भारतीय साहित्य की अतिशय आदर्शवादी चिन्ताधारा में आदर्श एवं यथार्थ की ऐसी मनोवैज्ञानिक संगति बहुत कम दीखती है।

भास की कृतियों की नाटकीय क्षमता सर्वतोमुखी है। नाटकीय शिल्पविधान के सन्दर्भ में उनके कुछ प्रयोग परवर्ती नाटककारों की अनुकृति के विषय बन जाते हैं।[१] जहाँ तक भाषा एवं शैली का प्रश्न है, नाटकीय कथोपकथन के संवेगों से युक्त इतनी सरल, प्रवाहपूर्ण, अकृत्रिम एवं स्वाभाविक शैली संस्कृत के दूसरे किसी भी नाटककार की नहीं है। कहीं भी न तो पाण्डित्य-प्रदर्शन का कोई आग्रह है, और न जानबूझकर अपने कथ्य में कोई उलझन लाने का प्रयत्न। भास की नाट्य-शैली किसी पहाड़ी झरने की तरह है जो अपने नैसर्गिक प्रवाह में सम-विषम भूमियों को पार करता हुआ बढ़ता जाता है; न तो उसके तटों में कोई साज-सँवार है, और न उसकी गति में; और यही रुखड़ापन उसकी मिठास, सौन्दर्य एवं कोमलता का मूल रहस्य है।

भास संस्कृत के इतने प्राचीन नाटककार होकर भी कुशल शिल्पी की तरह हमारे सामने आते हैं; उनकी कला में कई आधुनिक प्रवृत्तियों के चरणचिह्न स्पष्टतः विद्यमान हैं। किन्तु उनका महत्त्व जितना उनके दक्ष नाटककार होने में नहीं, उतना उनकी नाट्यकला की व्यापक सम्भावनाओं में है। वे मुख्यतः दिशा-निर्देशक हैं, भावी पीढ़ी के विकास के लिए उर्वर मिट्टी तैयार करनेवाले हैं। ऐसे कदाचित् वे पहले नाटककार हैं जिन्होंने महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थों में नाटकीय वस्तु-विधान की विशाल सम्भावनाओं का द्वार खोला तथा उसमें कलात्मक प्रयोगों की एक नयी दिशा का उद्घाटन किया।

यों निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है कि भास एवं अश्वघोष में कौन पहले तथा कौन बाद में हुए, किन्तु भाषा, शैली आदि कई दृष्टियों से विचार करने पर अधिक सम्भव यही प्रतीत होता है कि अश्वघोष भास के बाद ही अवतीर्ण हुए होंगे; भास की अपेक्षा वे अपने विचारों एवं अभिव्यक्तियों में अधिक अर्वाचीन हैं। दुर्भाग्य से अश्वघोष की कोई सम्पूर्ण नाट्यकृति उपलब्ध नहीं हो सकी है—उनकी नाट्यप्रतिभा

---

१. उदाहरण के लिए स्वप्नवासवदत्ता के पंचम अंक का **स्वप्नदृश्य** लिया जा सकता है। नाटकीय शिल्प का यह एक उत्कृष्ट निदर्शन है जहाँ नायक एवं नायिका के अवसन्न मन को तुष्ट करने के लिए ऐसी कलात्मक एवं प्रच्छन्न मनोवैज्ञानिक युक्ति का प्रयोग हुआ है। उत्तररामचरित के तृतीय अंक में इसकी छाया देखी जा सकती है। दोनों ही नाटकों में नायक अपनी नायिकाओं को मरा हुआ समझते हैं, किन्तु नायिकाएँ प्रच्छन्न या अदृश्य वेश में अपने नायकों के अंग-स्पर्श के द्वारा उनके अन्तर्मन में अपनी उपस्थिति एवं सौहार्द की मधुर चेतना उद्बुद्ध कर देती हैं।

का असमर्थ मापक उनका एकमात्र खण्डित नाट्यग्रन्थ **शारिपुत्रप्रकरण है** जिससेकेवल इतना ही ज्ञात होता है कि वे एक समर्थ नाटककार भी रहे होंगे। मध्य एशिया की बालुकाराशि में प्राप्त हुए इस प्रकरण से यह भी स्पष्ट है कि अश्वघोष के काव्यग्रन्थों की तरह उनके नाटकों की ख्याति भी स्वदेश की सीमाओं को पार करके सुदूर देशों में फैली हुई थी। अस्तु, यहाँ इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि बौद्धधर्मोप-देष्टा होकर भी अश्वघोष अपनी भाषा और शैली में भास-स्कूल की ही गंध लिए आते हैं। भाषा और विचारों की जो सफाई भास ने अपने नाटकों में व्यक्त की है, अश्वघोष ने बहुत कुछ उसे ही अपने काव्यों में उतार दिया है। इन दोनों कलाकारों में सबसे बड़ा भेद उनकी वस्तु को लेकर है। भास की जीवन-दृष्टि अश्वघोष की तुलना में काफी व्यापक है; उन्होंने महाभारत, रामायण, पुराण, कथासाहित्य आदि कई क्षेत्रों से अपने विषय का चयन किया है। इधर प्रधान रूप से बौद्ध सिद्धान्तों के कवि-प्रचारक होने के कारण अश्वघोष की काव्य-दृष्टि स्वभावतः ही बुद्ध तथा उनके कतिपय अनुयायियों के इतिवृत्त तक ही सीमित रह गयी है। नाट्यकला के क्षेत्र में भास का धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण जहाँ उनकी प्रतिभा को प्रस्फुटित होने का पर्याप्त अवसर देता है, वहाँ अश्वघोष की काव्य-साधना उनकी ऐकान्तिक धार्मिक निष्ठा से बँध-सी जाती है। हाँ, अपने जटिल कथ्य को भी सरल तथा प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने में अश्वघोष भास की अपेक्षा अधिक शक्त एवं स्फूर्त दीखते हैं। अश्वघोष की सारिपुत्र-प्रकरण जैसी नाट्यकृति (कृतियों ?) का परवर्ती नाट्य-साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका विवेचन कठिन है, चूँकि इसके लिए पर्याप्त सामग्री का अभाव है। फिर भी, बहुत सम्भव है, हर्ष की नागानन्द जैसी नाट्यकृति का प्रेरणा-स्रोत अश्वघोष का उक्त प्रकरण ही रहा हो।

अश्वघोष के पश्चात् संस्कृत नाट्य-साहित्य की जिस उज्ज्वल विभूति पर हमारा ध्यान केन्द्रित होता है, वह है शूद्रक-कृत **मृच्छकटिक**। यदि यों कहा जाय कि कालिदास से पूर्व ज्ञात नाटककारों तथा अब तक प्राप्त प्राचीन नाट्यग्रन्थों के आलोचनात्मक अनुशीलन के प्रकाश में भास के पश्चात् विशिष्ट नाटककार के रूप में शूद्रक का ही नाम आता है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। यों यह निश्चितप्राय है कि शूद्रक की नाट्यकीर्ति के एक बहुत बड़े अंश के साझेदार स्वयं भास हैं जिनके चारु-दत्त का बहुत कुछ अविकल वृत्त मृच्छकटिक के प्रथमांश का आधार रहा है।[१]

---

१. ऐसे विद्वानों की कमी नहीं जो चारुदत्त को ही मृच्छकटिक पर आधृत मानते हैं। श्री सी० आर० देवधर अपने चारुदत्त के संस्करण (पूना, १९३९) की प्रस्तावना में इसी मत की स्थापना करते हैं कि चारुदत्त मृच्छकटिक के प्रथम चार अंकों का संक्षिप्त रूप है। दूसरी ओर दोनों नाटकों की भाषा, शैली, घटना आदि के तुलनात्मक परीक्षण करने के बाद बेल्वल्कर जैसे विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चारुदत्त शूद्रक की नाट्यकृति पर आधृत नहीं माना जा सकता। इन परस्पर विरोधी मतों के बावजूद सत्य यही जान पड़ता है कि शूद्रक भास के बाद अवतीर्ण हुए और उन्होंने ही अपने प्रकरण की विषय-वस्तु के लिए भास के चारुदत्त का प्रत्यक्ष आधार ग्रहण किया।

मृच्छकटिक की नाटकीय सफलता का एक बहुत बड़ा हेतु उसका असामान्य वृत्त है, और इस वृत्त के मौलिक सूत्रों के प्रणेता भास ही रहे हैं। किन्तु शूद्रक की कृति पर भास के प्रभाव की इस गहन छाप को मान लेने पर भी शूद्रक की नाटकीय मौलिकता कम नहीं होती; शूद्रक एक ऐसे कलाकार हैं जो पुरानी वस्तुओं को बेहिचक ग्रहण करके उन्हें अभिनव स्थितियों एवं रूपों में ढालते हैं तथा उनसे नित्य नवीन भव्य प्रासाद खड़ा कर लेते हैं। मुरारि, राजशेखर आदि की नाट्यकृतियों के अध्ययन के पग-पग में हमें भवभूति का स्मरण हो आता है, यद्यपि शायद ही उन्होंने उतने प्रत्यक्ष ढंग से भवभूति का अनुकरण किया है जितना शूद्रक ने भास का किया है। इसका कारण सम्भवतः यही है कि मुरारि आदि की रीति में ही भवभूति वर्तमान हैं, भले ही इन कवियों का मार्ग नया हो। उधर शूद्रक पुरानी लीक पर चलकर भी भास का बहुत कम स्मरण दिलाते हैं, चूँकि शूद्रक की रीति नयी है, ढंग नया है। अतः कोई वस्तु नयी है या पुरानी, महत्त्व इसमें नहीं है; महत्त्व का वास्तविक आधार किसी वस्तु के उपन्यस्त करने का विशिष्ट ढंग होता है। शूद्रक अपनी कला के इस मर्म को भली भाँति जानते हैं; उनकी सफलता का रहस्य भी यही है।

संस्कृत में नाटकों के बाद सबसे अधिक लिखे जानेवाले रूपक **प्रकरण** ही हैं; महत्त्व की दृष्टि से भी नाटकों के पश्चात् इन्हीं का स्थान है। दुर्भाग्य से प्रकरण-साहित्य का बहुत बड़ा भाग काल-कवलित हो चुका है; हमारे सामने बहुत थोड़े-से प्रकरण ही अवशिष्ट हैं। जो प्रकरण अब हमारे बीच नहीं रहे तथा जिनके आंशिक रूप लक्षण-ग्रन्थों में यत्र-तत्र उद्धृत पाये जाते हैं, उनके नाटकीय मूल्यों के सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ कहना कठिन है। यों संस्कृत साहित्य की लम्बी परम्परा पर दृष्टि-पात करने से एक तथ्य यह सामने आता है कि पुरानी तथा अपेक्षाकृत सामान्य कृतियों के काल-कवलित या विस्मृत होने के पीछे कुछ नयी विशिष्ट कृतियों का जन्म प्रधान हेतु रहा है। उदाहरण के लिए वाल्मीकिकृत रामायण का आदिकाव्यत्व इसमें नहीं कि संस्कृत में उसके पहले दूसरे प्रबन्धकाव्यों की सत्ता ही नहीं थी; वस्तुतः रामायण की परिष्कृत शैली, वस्तु आदि इस बात के सूक्ष्म व्यंजक हैं कि उसके पहले भी ऐसे कई छोटे-बड़े काव्य लिखे गये होंगे—रामायण ऐसे ही काव्यों की निरन्तर प्रगतिशील शैली का एक सहज एवं परिणत विकास मात्र है। लेकिन रामायण जैसी महती रचना के असामान्य निबन्धन का सबसे बड़ा धक्का उन्हीं काव्यों को लगा—कालक्रम से रामायण की रसात्मकता के आगे जनता उन्हें भूलती गयी और एक ऐसा समय आया जब वे पूर्णतया तिरोहित हो गये। संस्कृत नाटक के क्षेत्र में भी, कुछ अपवादों को छोड़कर, यही सत्य भासित होता है। भास, शूद्रक, कालिदास, भवभूति आदि की नाट्यकृतियों ने अपने पीछे बहुत सारे नाटकों को तिरोहित कराने में प्रमुख योगदान दिया। इस सन्दर्भ में विचार करने से यही स्पष्ट होता है कि शूद्रक के मृच्छकटिक से पूर्व जो प्रकरण लिखे गये होंगे, वे इसकी कलागत पूर्णता एवं ऐश्वर्य के आगे निस्तेज पड़ गये होंगे।

वस्तु एवं भाव का सन्तुलन संस्कृत के बहुत कम नाटकों में दीख पड़ता है। मृच्छकटिक की नाटकीय उपलब्धि का एक बहुत बड़ा रहस्य उसकी वस्तु एवं भाव के बीच सन्तुलन की यही कलात्मक स्थिति है। भास अपने वस्तुविन्यास में जहाँ सरल दीखते हैं, शूद्रक वहाँ जटिल हो जाते हैं। मृच्छकटिक में आयी जीवन की विरोधी परिस्थितियों को जिस नाटकीय विपाकिता के साथ उपन्यस्त किया गया है, वह शूद्रक की इसी 'जटिलता' का प्राणवन्त निदर्शन है। शैली के क्षेत्र में भी भास पर शूद्रक का स्पष्ट समुत्कर्ष दृष्टिगत होता है; यों इन दोनों की शैली प्रसादपूर्ण तथा नाटकीय संवादों के उपयुक्त है, किन्तु शूद्रक ने अपनी सरल शैली में जीवन के गम्भीर व्यंग्यों का जैसा मार्मिक रंग चढ़ाया है, भास वैसा नहीं कर सके हैं। शूद्रक संस्कृत के ऐसे प्रथम तथा अन्तिम नाटककार हैं जिनकी पंक्ति-पंक्ति में सहज विनोद, मुक्तता, हास्य आदि का पुट वर्तमान है। पुनः भास के बाद वे ऐसे अन्तिम नाटककार हैं जिन्होंने राज-संस्कृति के नियमों का स्पष्ट उल्लंघन करके अपने नाटक में समाज के निम्नतम वर्गों का भी जीवन्त प्रतिनिधित्व कराया है।[1] शूद्रक की शैली, विचार, दर्शन आदि पर उनके अप्रतिम नाट्य-व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है और परवर्ती काल में भवभूति के अतिरिक्त ऐसा दूसरा कोई नाटककार दृष्टिगत नहीं होता जो प्रकरण के क्षेत्र में मृच्छकटिक के टक्कर की कोई कृति प्रस्तुत करने में कृतकार्य हुआ हो। संक्षेप में, संस्कृत नाट्य साहित्य के विकास की उज्ज्वल परम्परा में भास के बाद शूद्रक ही निर्विवाद रूप से दूसरे मीलपत्थर हैं; तीसरे मीलपत्थर कालिदास तथा चौथे तथा बहुत कुछ अन्तिम मीलपत्थर भवभूति हैं। भवभूति के बाद संस्कृत नाटकों के ह्रास-युग का आरम्भ हो जाता है। उनके बाद नाटककार प्रायः भवभूति को ही अपना आदर्श मानकर चलते हैं, किन्तु आदर्श निभाना कठिन हो गया है; फलतः उनकी कृतियाँ प्रायः असफल अनुकृति मात्र सिद्ध होती हैं।

भास, अश्वघोष एवं शूद्रक के बाद हमारी दृष्टि कालिदास पर केन्द्रित हो जाती है। कालिदास के काव्य, चाहे वे श्रव्य हों अथवा दृश्य, भारतीय साहित्य, कला, संस्कृति आदि के **स्वर्णयुग** के सही मानी में **स्वर्णप्रतिनिधि** हैं। भारतीय संस्कृति के पार्थिव उदात्त की जैसी मांसल अभिव्यंजना कालिदास में हुई है, वैसी किसी दूसरे भारतीय कवि में नहीं पायी जाती। भास ने अपनी कृतियों के माध्यम से जिन महान् नाटकीय सम्भावनाओं का द्वार उद्घाटित किया था, कालिदास ने अपने नाटकों में उन सबको मूर्त रूप प्रदान किया। भास की जो शक्ति है, वह कालिदास में तेज बन कर फूटी है; उनकी जो रिक्तता है, वह इनमें स्वस्थ पूर्ति बनकर प्रकट हुई है; एक में अभावों का जो मरु दीखता है, उसके बदले दूसरे में तरल भावों की उच्छलित निर्झरिणी प्रवाहित हुई है। कालिदास ने रामायण को अपने नाटकीय कथानक का विषय बिलकुल नहीं

१. हमने अपने इस विचार को अपने "Influence of Court culture upon Sanskrit Drama" नामक प्रबन्ध में विस्तार के साथ पल्लवित किया है (दि० स्टडीज इन ह्यूमैनिटीज, बी० एन० कालेज मैगजिन, मार्च १९६४, पृ० ६४)।

बनाया है, यह सचमुच आश्चर्य की बात है। भास की तरह महाभारत की मूलकथा अथवा उसके किसी खण्ड पर भी उनका कोई नाटक आधृत नहीं; हाँ, उनके समाकर्षण का स्थल महाभारत का ही एक उपाख्यान है जो उनकी विश्वप्रसिद्ध नाट्यकृति अभिज्ञानशकुन्तल का उपजीव्य है। इस उपाख्यान का महाभारत की मूलकथा से कोई सम्बन्ध नहीं है; इस अर्थ में कालिदास ने नाटकीय उपजीव्य की दृष्टि से वास्तविक महाभारत की भी उपेक्षा ही की है। उनकी शेष दो नाट्यकृतियों—विक्रमोर्वशी तथा मालविकाग्निमित्र—में से एक उर्वशी तथा पुरुरवा की वैदिक एवं पौराणिक कहानी पर आधृत है तथा दूसरे का उपजीव्य राजा अग्निमित्र का ऐतिहासिक कथानक है। किन्तु कालिदास की नाट्यप्रतिभा की वास्तविक निष्पत्ति अभिज्ञानशकुन्तल में हुई है, शेष दोनों नाट्यकृतियाँ शकुन्तला के नाटकीय उत्कर्ष की उर्वर पार्श्वभूमि के रूप में महत्व रखती हैं।

अभिज्ञानशकुन्तल कालिदास के त्याग और तपस्यापरक जीवन-दर्शन, आत्मिक एवं पार्थिव सौन्दर्य की निरुपम अभिव्यक्ति, गीतिपरक मानव संवेगों तथा नाटकीय औदात्त्य का अप्रतिम कलात्मक समाहार है। कालिदास सौन्दर्य के कोमल सत्यों के अन्वेषी हैं; उनकी यह नाट्यकृति इसी अन्वेषण की सर्वोत्तम उपलब्धि है। भारतीय नाटक पाश्चात्त्य अर्थ में न तो विशुद्ध काव्य होता है और न विशुद्ध नाटक—अभिज्ञानशकुन्तल इसका प्राणवन्त निदर्शन है। इसमें एक ही जगह महाकाव्य तथा महानाटक की गरिमा मूर्त हुई-सी प्रतीत होती है। किन्तु इसके महाकाव्यत्व तथा नाटकत्व कहीं भी एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं, इन दोनों तत्त्वों की यहाँ एक ही संश्लिष्ट गति एवं लय है। भारतीय नाटक का जो गन्तव्य है, प्रस्तुत नाटक उसी की बेजोड़ उपलब्धि है। स्थूल और सूक्ष्म, पार्थिव तथा आध्यात्मिक का ऐसा कलात्मक एवं रागात्मक समन्वय सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में और कहीं नहीं मिलेगा।

कालिदास के बाद संस्कृत नाटककारों में जो सबसे पहले हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, वे हैं श्रीहर्ष। इनका नागानन्द नामक एक नाटक तथा दो नाटिकाएँ—प्रियदर्शिका तथा रत्नावली—उपलब्ध होती हैं। नागानन्द बौद्ध नाटक है जिसमें जीमूतवाहन के आत्मोत्सर्ग को नाटकीय रूप प्रदान किया गया है। प्रियदर्शिका तथा रत्नावली की कथावस्तु न केवल एक ही उदयन की पौराणिक कथा से ली गयी है, प्रत्युत इन दोनों के वृत्त का विकास भी बहुत कुछ समान रूप से चलता है। श्रीहर्ष की प्रसिद्धि का आधार रत्नावली नाटिका है जो निस्सन्देह इनकी सर्वोत्तम नाट्यकृति है। नाट्य लक्षणग्रन्थों के लिए इस नाटिका में पर्याप्त समाकर्षण है और उन्होंने इसका भरपूर उपयोग किया भी है। नाटकीय मौलिकता की दृष्टि से विचार करने पर श्रीहर्ष में बहुत कम कुछ दीख पड़ता है। उनके नाटक कालिदास के मालविकाग्निमित्र से अत्यधिक प्रभावित हैं। यों श्रेष्ठ साहित्यकारों में भी कुछ दूसरों की कृतियों के बिम्ब सरलता से ढूँढ़े जा सकते हैं,

किन्तु वे दूसरे की वस्तुओं को अपनी कला में इस प्रकार आत्मसात् कर लेते हैं कि उनका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाता—पचाने या आत्मसात् करने की यही क्रिया उनकी श्रेष्ठता का मापक होती है। श्रीहर्ष ने लाख चेष्टा की है, किन्तु वे कालिदास के प्रभावों को 'अपना' नहीं बना सके हैं, उन्हें अपने निजी रंग में सराबोर नहीं कर पाये हैं। फलतः उनमें कालिदास जहाँ भी हैं, कालिदास ही हैं; वे श्रीहर्ष नहीं हो पाये हैं। अतः भास, शूद्रक, एवं कालिदास ने अपने जिस नाट्यव्यक्तित्व की छटा बिखेरी है, श्रीहर्ष में उसका अभाव है। इनका विशेष महत्त्व इसी में है कि थे कालिदास के पश्चात् संस्कृत नाटकों की परम्परा का वहन करते हैं, भले ही उसे किसी विशिष्ट दिशा में आगे नहीं बढ़ा पाते।

ऊपर जिन संस्कृत नाटककारों तथा उनकी विशिष्ट नाटकीय प्रवृत्तियों का संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया, उससे स्पष्ट है कि भवभूति से पूर्व संस्कृत नाटक ने क्या शैली, क्या भाव और क्या वस्तु, इन तीनों ही क्षेत्रों में परम उत्कर्ष प्राप्त कर लिया था। इस उत्कर्ष का एकत्र प्रतिनिधित्व कालिदास के नाट्यग्रन्थों में प्राप्त होता है। अर्थात् भास के समय से संस्कृत नाटकों के उन्नयन के जिस युग का समारम्भ हुआ, वह उत्तरोत्तर विकासोन्मुख होता हुआ कालिदास में अपने पूर्ण परिपाक को प्राप्त हुआ। कालिदास की उदात्त नाटकीय स्थापनाओं के पश्चात् किसी दूसरे परवर्ती नाटककार के लिए संस्कृत नाटक को उससे भी महत्तर भूमि प्राप्त कराना अथवा उसमें किंचित् नये मूल्यों को प्रतिष्ठित करना अत्यन्त कठिन कार्य था। यह कार्य वस्तुतः वही कर सकता था जिसकी असाधारण मेधा तथा प्रतिभा को भारतीय जीवन या साहित्य के उन सूक्ष्म सत्यों के दर्शन कर सकने की क्षमता प्राप्त हो जो कालिदास से अस्पृष्ट रह गये थे अथवा जिन्हें उन्होंने अपनी विशिष्ट कलात्मक प्रवृत्तियों के कारण जान-बूझकर छोड़ दिया था। कालिदास के बाद श्रीहर्ष आदि में संस्कृत नाटक के जिस भाव-क्षीणता के युग का प्रतिबिम्ब प्राप्त होने लगता है, इसके मूल में परवर्ती नाटककारों की इसी प्रातिभ अक्षमता की ध्वनि प्राप्त होती है। कालिदास के अनन्तर भवभूति के अतिरिक्त केवल एक ही ऐसे नाटककार हैं जो अपनी नाट्यकृति में कुछ नये नाटकीय मूल्यों के स्थापन में समर्थ दीखते हैं और वे हैं मुद्राराक्षस के कृती प्रणेता विशाखदत्त। विशाखदत्त को निश्चय के साथ भवभूति के पहले नहीं रखा जा सकता, इसी कारण यहाँ उनका उल्लेख छोड़ दिया गया है। किन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो विशाखदत्त अपनी प्रख्यात कृति में संस्कृत नाट्यरचना की दृष्टि से जिस नये मोड़ का सर्जन करते हैं, उसमें भाव, वस्तु एवं शैली तीनों दृष्टियों से कालिदास के विशिष्ट मार्ग से कतराने की चेष्टा की गई है। अर्थात् मुद्राराक्षस की कलात्मक गरिमा का श्रेय बहुत कुछ भास, शूद्रक एवं कालिदास द्वारा प्रवर्तित मार्ग से बचकर एक सर्वथा नई लीक के अन्वेषण को दिया जा सकता है। विशाखदत्त कदाचित् यह समझ रहे थे कि कालिदास के पश्चात् उन्हीं के मार्ग पर चलकर नाटकीय वैशिष्ट्य उत्पन्न करना

अत्यन्त दुष्कर होगा। अतः, इस प्रकाश में देखने पर, कालिदास की नाट्यकला को वास्तविक चुनौती भवभूति से प्राप्त होती है, न कि विशाखदत्त से; चूँकि भवभूति अपनी कला के लिए प्रायः उसी साँचे को ग्रहण करते हैं जिसे कालिदास ने अपनाया था, फिर भी उससे वे ऐसे नाट्य-रूपों की सर्जना करते हैं जो कालिदास से अछूते रह गये थे। इस ऐतिहासिक साहस एवं चुनौती के कारण भवभूति का नाटकीय महत्त्व पिछले खेवे के नाटककारों में सर्वाधिक हो जाता है।

उक्त नाटककारों के अतिरिक्त श्रव्यकाव्य के क्षेत्र में भी भवभूति से पूर्व कुछ ऐसे महाकवियों का उदय हुआ जिन्होंने संस्कृत के परवर्ती काव्य-प्रवाह को बड़ी दूरी तक प्रभावित किया। इनमें भवभूति से पहले जिन दो महाकवियों की सत्ता असंदिग्ध मानी जा सकती है, वे हैं भारवि और बाणभट्ट। इनमें से पहले ने महाकाव्य के क्षेत्र में कालिदास-स्कूल से विलक्षण एक नये आलंकारिक स्कूल का प्रवर्तन किया और दूसरे ने संस्कृत गद्य को उच्च, किन्तु अलंकृत काव्य की समास-शैली प्रदान की। भवभूति के दृश्यकाव्य के लिए यद्यपि भारवि या बाण की शैलियों का कोई विशेष महत्त्व नहीं माना जा सकता, किन्तु, जैसा कि हम भवभूति की भाषा और शैली के अध्ययन के प्रक्रम में देखेंगे, भवभूति शायद चाहकर भी अपनी नाट्यशैली को उक्त कवियों द्वारा गृहीत समासपरक, अलंकारपरक एवं पाण्डित्यपरक युगीन प्रभावों से बचा नहीं सके।

●

तृतीय प्रकरण

१. भवभूति के नाटक
२. नाटकीय विशेषताएँ
३. भवभूति के राम : चरित्र-विश्लेषण
४. मालतीमाधव

अध्याय १

भवभूति के नाटक

महावीरचरित

ऊपर भवभूति के तीनों नाटकों का तुलनात्मक कालक्रम निश्चित कर लेने के पश्चात् अब यहाँ हम एक-एक नाटक के उपजीव्य, वृत्त आदि का परीक्षण करेंगे तथा उनके नाटकीय मूल्यों की विवेचना प्रस्तुत करना चाहेंगे। जिस निष्कर्ष पर हम अब तक पहुँचे हैं, उसके अनुसार महावीरचरित एवं उत्तररामचरित कई दृष्टियों से परस्पर सम्बद्ध नाटक होकर भी रचना-काल की दृष्टि से एक सर्वथा भिन्न प्रकृति के रूपक—मालतीमाधव प्रकरण—से परस्पर विच्छिन्न हो गये हैं। उचित तो यही होता कि कवि की रचनाओं के कालानुक्रम को ध्यान में रखकर ही उनकी कृतियों का विवेचन किया जाय, क्योंकि इससे कवि की नाट्यकला के क्रमिक विकास को परखने में सुविधा होगी। लेकिन हम अपने अध्ययन की आसानी के लिए इन कृतियों के काल-खण्डों पर पूर्णतया निर्भर न रहकर उनकी विशिष्ट प्रकृतियों तथा अन्तः सम्बन्धों पर अधिक बल देना चाहेंगे। इससे रचनाओं का क्रम थोड़ा भंग अवश्य हो जायगा, किन्तु हमारे अनुशीलन का मार्ग अधिक सीधा और सरल दीखेगा। इस क्रम-भंग से भवभूति की प्रतिभा के क्रमिक विकास के परीक्षण में कोई अवरोध उत्पन्न होगा, हम ऐसा भी नहीं समझते। कवि की तीनों नाट्यकृतियों में केवल मालतीमाधव ही ऐसा है जिसका पृथक् अध्ययन अभीष्ट है; कारण, इसकी प्रकृति, परम्परा आदि शेष दो नाटकों से सर्वथा अलग जा पड़ती है। अतः सबसे पहले हम महावीरचरित एवं उत्तररामचरित के विवेचन कर लेंगे, उसके बाद मालतीमाधव के नाटकीय वैशिष्ट्य की परीक्षा करेंगे। हमारे इस अध्ययन के लिए यही सबसे अच्छा एवं स्वाभाविक क्रम प्रतीत होता है, भले ही इसका इन कृतियों के ऐतिहासिक क्रम से कुछ विरोध हो जाता है।

नाटकीय वस्तु

प्रथम अंक

दृश्य[१] १, प्रस्तावना (स्थान—कालप्रियनाथ के यात्रा-महोत्सव में निर्मित नाट्य-मण्डप)—सूत्रधार प्रवेश करता है। वह महावीरचरित की कथावस्तु, उसके अप्राकृत पात्र एवं वीर रस आदि का बखान करता है (१ : २, ३)। इसके पश्चात् वह

---

१. संस्कृत नाटकों में अंकों का दृश्य-विभाग नहीं किया जाता। किन्तु हम नाटकीय वस्तु को स्पष्टतापूर्वक रखने के उद्देश्य से प्रधान पात्रों के प्रवेश या प्रस्थान तथा मुख्य घटनाओं के आधार पर यहाँ अङ्कों का दृश्य-विभाजन दिखा रहे हैं।

वश्यवाक् कवि भवभूति के उज्ज्वल श्रोत्रिय-कुल का शंसन करता हुआ भवभूति के गुरु ज्ञाननिधि (१ : ५) का महत्त्व दर्शाता है। नट प्रवेश करता है। नट के कथा-प्रवेश के विषय में जिज्ञासा करने पर सूत्रधार बताता है कि ऋषि विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को वसिष्ठ के यजमान दशरथ के घर से अपने यज्ञ में बुला लाए हैं; राजा जनक के प्रतिनिधि के रूप में उनके भाई कुशध्वज भी आमन्त्रित होकर सीता एवं ऊर्मिला को साथ लेकर उस यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए आ गए हैं। दोनों प्रस्थान करते हैं।

दृश्य २ (स्थान—विश्वामित्र का सिद्धाश्रम तथा उसका निकटवर्ती वनांचल)—रथस्थ राजा कुशध्वज एवं सूत सीता एवं ऊर्मिला के साथ प्रवेश करते हैं। राजा एवं सूत दोनों कन्याओं को ऋषि विश्वामित्र के अद्भुत व्यक्तित्व एवं परा साधना के विषय में बताते हैं (१ : १०-१२) आश्रम निकट रह जाने पर राजा कन्याओं के साथ रथ से उतर जाते हैं। सूत प्रस्थान करता है। इसके बाद राम एवं लक्ष्मण के साथ विश्वामित्र का प्रवेश होता है। विश्वामित्र अपने स्वगतभाषण में राम के लिए किये जाने वाले रक्षोघ्न मंगल, सीता के साथ राम के भावी विवाह, अपने याज्ञिक संकल्प तथा लोक-क्षेम के लिए राम के आश्चर्यजनक कार्यों का संकेत करते हैं (१ : १३)। आमन्त्रित जनक की ओर से कन्याओं के साथ कुशज्वज को आते देखकर वे प्रसन्नता व्यक्त करते हैं। राम एवं लक्ष्मण को वे राजर्षि जनक तथा उनकी अयोनिजा कन्या के सम्बन्ध में बताते हैं। स्वयं जनक यज्ञ में लगे हुए हैं, अतः उन्होंने अपने अनुज कुशध्वज को विश्वामित्र के पास भेज दिया है। कुछ दूर से ही विश्वामित्र के साथ खड़े दोनों क्षत्रिय-कुमारों को देखकर उनके प्रति न केवल राजा, प्रत्युत सीता एवं ऊर्मिला भी समाकृष्ट हो जाती हैं। राजा निकट आकर भगवान् विश्वामित्र का अभिवादन करते हैं। कन्यायें भी उन्हें प्रणाम करती हैं। राम देवयज्ञ से उत्पन्न सीता के सम्बन्ध में जानकर उनके प्रति सहज ही खिंच जाते हैं (१ : २१)। विश्वामित्र राजा को राम एवं लक्ष्मण का परिचय देते हैं। दाशरथि कुमारों से परिचित होकर राजा उन्हें गले लगाते हैं और रघुवंश की कीर्ति का शंसन करते हैं। सभी आश्रम में प्रवेश करके वहाँ वृक्ष की छाया में समासीन होते हैं। नेपथ्य से राम की जयकार सुनाई देती है। जिज्ञासु राजा को विश्वामित्र बताते हैं कि यह उद्घोष पत्थर बनी हुई अहल्या का है जिसे राम ने अपने प्रताप से पाप-मुक्त कर दिया है। राम की ऐसी उपलब्धियों को सुनकर राजा के मन में राम के साथ सीता के विवाह की कामना जाग्रत हो जाती है। किन्तु शिव-धनुष चढ़ाने की राजा जनक की दृढ़ प्रतिज्ञा का स्मरण करके वे निराश हो जाते हैं। इसी समय सीता की मँगनी के लिए आया हुआ रावण का पुरोहित सर्वमाय प्रवेश करता है। वह मिथिला में राजा जनक के पास से होकर उन्हीं के आदेश से यहाँ विश्वामित्र एवं कुशध्वज से मिलने आया है। वह रावण का प्रस्ताव इनके सामने रखता है (१ : ३०)। प्रस्ताव को सुनकर सीता

करते हैं। इसके पश्चात् पम्पासरोवर-प्रान्त दीखता है। विभीषण इससे सम्बद्ध विविध अभिज्ञानों तथा राम के वीरतापूर्ण कार्यों की ओर इंगित करते हैं (७ : १६)। इसी सन्दर्भ में जब राम सीता के अनसूया-नामांकित उत्तरीय की प्राप्ति का सजल स्मरण करते हैं तो सीता लज्जा का अनुभव करती हैं। उसके बाद गृध्रराज जटायु से सम्बद्ध प्रदेश विशेष को पार कर लेने के बाद दण्डकारण्य की सीमा समाप्त हो जाती है—सुग्रीव उस सीमान्त पर शूर्पणखा की नाक एवं ओठ काटे जाने के कारण कुपित हुए त्रिशिरा, खर एवं दूषण के मारे जाने की याद दिलाता है। पुष्पक अब आर्यावर्त में प्रवेश करने के लिए सह्य गिरि को पार करने लगता है। वह विष्णुपद से भूषित मध्यम लोक में आ जाता है जहाँ सीता दिन में ही टिमटिमाते हुए तारों को देखकर विस्मित हो जाती हैं। सुग्रीव सबों को उदयाचल एवं अस्ताचल की छटा दिखाता है (७ : २३) और नीचे फैले हुए कैलास, अंजन पर्वत, कांचनाचल एवं गन्धमादन की ओर सबों का ध्यान आकृष्ट करता है। इसके बाद राम एवं सीता अपने सामने कुबेर का सन्देश लेकर आते हुए किन्नर-दम्पति को प्रत्यक्ष करते हैं। किन्नर-दम्पति नेपथ्य से राम का यशोगान करते हैं (७ : २५, २६)। विभीषण अब हिमालय के पवित्र शिखरों को दिखाते हैं। इसके बाद राम नीचे भूखण्ड पर फैले हुए विश्वामित्र के पवित्र तपोवन को लक्ष्य करते हैं। नेपथ्य से विश्वामित्र राम को आदेश देते हैं कि वे बीच में बिना कहीं रुके हुए साकेत चले जायँ, वहाँ वसिष्ठ उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं—विश्वामित्र स्वयं भी वहाँ कुछ देर में आ जायँगे। पुष्पक आगे बढ़ता है। कुछ ही क्षणों में विभीषण नीचे पृथ्वी पर कुहरे की तरह उड़ती हुई धूल की ओर संकेत करते हैं। राम का अनुमान है कि भरत सेना के साथ उनकी अगवानी करने आ रहे हैं। हनूमान् का प्रवेश होता है। वे बताते हैं कि तपस्वी भरत प्रजा के साथ राम से मिलने आ रहे हैं (७ : ३०)। भरत से मिलने की बात से राम, लक्ष्मण आदि प्रसन्न होते हैं। विमान रोककर सभी उस पर से उतरते हैं। राम, भरत आदि प्रेम-विह्वल होकर एक दूसरे के गले लगते हैं। राम सुग्रीव एवं विभीषण का परिचय भरत एवं शत्रुघ्न से कराते हैं। भरत राम को राज्याभिषेक के लिए वसिष्ठ के पास बुला ले जाते हैं। वसिष्ठ अरुन्धती एवं राम की माताओं के साथ प्रवेश करते हैं। अरुन्धती कैकेयी से उसकी उदासी का कारण पूछती हैं। कैकेयी लोगों की इस धारणा का उल्लेख करती हैं जिसके अनुसार राम के वनवास के लिए कैकेयी ही उत्तरदायी हैं—ऐसी स्थिति में वे राम के सामने जाने से स्वभावतः ही झिझकती हैं। अरुन्धती उन्हें समझाती हैं कि वे सर्वथा निष्कलंक एवं निरपराध हैं, वस्तुतः माल्यवान् के आदेशानुसार शूर्पणखा ही मन्थरा के शरीर में प्रविष्ट होकर राम आदि के वन जाने का निमित्त बनी। इसे सुनकर सभी स्त्रियाँ राक्षसों की दुष्टता पर आश्चर्य व्यक्त करती हैं। राम, लक्ष्मण एवं सीता निकट आकर वसिष्ठ, अरुन्धती एवं माताओं को प्रणाम करते हैं। वे सभी उन्हें आशीर्वाद देते हैं। इसी बीच नेपथ्य से घोषणा होती है—विश्वामित्र की आज्ञा है कि परिजन उत्सव मनायें, अधिकारी लोग अपने कार्यों में सावधान रहें तथा

ब्राह्मण राम के अभिषेक की तैयारी करें (७ : ३७)। वसिष्ठ तथा दूसरे लोग इसे सुनकर प्रसन्न होते हैं। विश्वामित्र अपने शिष्य के साथ प्रवेश करते हैं। वसिष्ठ उनका स्वागत करते हैं। दोनों ऋषि राम के अभिषेक की आज्ञा देते हैं। मुनिगण राम को अभिषिक्त करते हैं। नेपथ्य से दुन्दुभि बजती है और आकाश से पुष्पवृष्टि होती है। अभिषेक के बाद राम दोनों गुरुजनों के प्रति अपना प्रणाम निवेदित करते हैं। दोनों उनकी मंगलकामना करते हैं (७ : ४०)। विश्वामित्र राम को सुग्रीव एवं विभीषण की विदाई करने एवं पुष्पक को कुबेर के पास भेज देने का आदेश देते हैं। राम वैसा ही करते हैं। सबके अन्त में राम भरतवाक्य के क्रम में विश्वामित्र से राष्ट्र की समृद्धि आदि के लिए प्रार्थना करते हैं (७ : ४२)। विश्वामित्र के 'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) कहने के बाद सब लोग प्रस्थान करते हैं।

महावीरचरित का उपजीव्य

भवभूति की आदि नाट्यकृति महावीरचरित का उपजीव्य स्पष्टतः वाल्मीकिकृत रामायण है। कवि ने अपने इस नाटक के उपजीव्य की स्पष्ट सूचना इसके आमुख में ही दे दी है।[1] प्रस्तुत श्लोक की इन पंक्तियों से न केवल इस नाटक के उपजीव्य का संकेत मिल जाता है, प्रत्युत उसके चरितनायक एवं रचयिता के प्रति कवि की अपार श्रद्धा एवं भक्ति के भाव भी छलकते हुए-से प्रतीत होते हैं। 'काव्यबीजं सनातनम्'[2] रामायण के प्रति ऐसा सहज आकर्षण केवल भवभूति के कर्तृत्व की ही विशेषता रही हो, ऐसी बात नहीं। वस्तुतः यदि अश्वघोष, शूद्रक, विशाखदत्त आदि कुछ गिने-चुने अपवादों को छोड़ दें, तो संस्कृत महाकवियों की दीर्घ परम्परा में शायद ही ऐसा कोई कवि हुआ है जिसकी विशिष्ट कृतियों का रामायण एवं महाभारत के कतिपय प्रसंगों से उपजीव्य-उपजीवक सम्बन्ध नहीं रहा है। ये दोनों ही ग्रन्थ भारतीय संस्कृति एवं साधना के शाश्वत एवं रसपेशल मूल्यों के जीवन्त निदर्शन हैं जिनकी उत्तमर्णता की छाप भारतीय साहित्य एवं कला की प्रायः प्रत्येक विधा में विद्यमान है। किन्तु यहाँ भी हमारा निश्चित मत है कि सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा तथा पारिवारिक आदर्शों की स्थापना में जिस सीमा तक रामायण सहायक रही है, उतना महाभारत नहीं। महाभारत मूलतः मानव-द्वन्द्व एवं क्रान्ति का साहित्य है; उसके वैचारिक मूल्य उसकी सामाजिक मान्यताओं से कहीं अधिक प्रखर एवं सशक्त हैं। इसीलिए राम को भारतीय जन-मानस मर्यादापुरुषोत्तम के रूप में ग्रहण करता आया है, जब कि महाभारत के कृष्ण का दार्शनिक या उपदेशक-रूप ही अधिक समादृत हुआ है। फलतः राम के वृत्त पर

---

१. प्राचेतसो मुनिवृषा प्रथमः कवीनां
यत्पावनं रघुपतेः प्रणिनाय वृत्तम्।
भक्तस्य तत्र समरंसत मेऽपि वाच—
स्तत्सुप्रसन्नमनसः कृतिनो भजन्ताम्॥
—म० च० : १ : ७।

२. बृहद्धर्म० : १ : ३० : ४७।

आधृत जो नाटक या काव्य संस्कृत में लिखे गये हैं वे प्रायः उस पावन वृत्त के माध्यम से सामाजिक आदर्शों की स्थापना करना ही अपना परम ध्येय मानते हैं। महाभारत की मूलकथा अथवा उसकी उपकथाओं पर आश्रित संस्कृत काव्यों या नाटकों का यह पक्ष उतना प्रबल नहीं दीखता—वहाँ कथ्य को आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने तथा हमें किसी रस-स्थिति तक पहुँचाने में ही कवि अधिक सचेष्ट दीखता है। अभिज्ञान-शकुन्तल के दुष्यन्त एवं शकुन्तला के चारित्रिक कलुष का शोधन करके कालिदास ने जितना किसी सामाजिक मूल्य की स्थापना नहीं की है, उतना उनके चरित्रों को सुरुचिपूर्ण बनाकर उन्हें शृंगार के विप्रलम्भ एवं सम्भोग पक्षों की व्यञ्जना के सर्वथा उपयुक्त बना दिया है। चाहे नायक के रूप में दुष्यन्त तथा नायिका के रूप में शकुन्तला का चरित्र कितना भी उदात्त क्यों न हो, उनकी मूल प्रकृति रोमानी है; वे प्रणय के संवेगों के प्रतिनिधि हैं—उनके चरित्र की सारी सामाजिकता उनके इन्हीं भावों की चेरी है। इधर उत्तररामचरित के राम एवं सीता का वृत्त भी जब तब विप्रलम्भ एवं सम्भोग शृंगारों की समर्थ व्यञ्जना करता है, किन्तु इस व्यञ्जना के मूल में प्रणय के संवेग सामाजिक आदर्शों की गहन अनुभूतियों के पर्याय बन जाते हैं। राम एवं सीता वस्तुतः भारतीय नाट्य के सामान्य नायक-नायिका के रूपों में डाले गये 'प्रकार' न होकर विशिष्ट सामाजिक मूल्यों के जीवन्त प्रतीक 'व्यक्ति' होकर आते हैं। उनके रूप एवं व्यक्तित्व की यही मर्यादा है जो उन्हें दुष्यन्त एवं शकुन्तला जैसे पात्रों से अलग पांक्तेय बनाती है। अर्थात् राम एवं सीता के चारित्रिक उत्कर्ष की महनीयता उनके 'व्यक्ति' होने में है, जब कि दुष्यन्त एवं शकुन्तला की चारित्रिक विभूतियों का गौरव उनके 'प्रकार' होने में। कहना न होगा कि अभिज्ञानशकुन्तल का आधार महाभारत का ही एक उपाख्यान विशेष है। सामान्यतः महाभारत-वृत्त पर आधृत अन्य नाटकों या काव्यों के सम्बन्ध में भी यही तथ्य लागू होता है।

इस प्रकाश में तथ्यों की जाँच करने से स्पष्ट हो जाता है कि जिन कवियों ने राम के वृत्त को अपने नाटकों के लिए चुना है, उनका साहित्यिक दायित्व काफी बढ़ गया है। एक ओर तो उन्हें लोक-मानस पर सैकड़ों वर्षों से चली आती हुई राम-चरित की पावन मूर्तियों की रक्षा करनी होती है, तो दूसरी ओर राम-वृत्त के कतिपय उलझे हुए सन्दर्भों को नाटकीय आदर्शों के साँचे में ढालकर सुलझाना पड़ जाता है। कालिदास जब दुष्यन्त या शकुन्तला के चरित्रों को अपने नाटक के लिए ग्रहण करते हैं, तो उनके सामने कदाचित् ही ऐसी कोई समस्या आती है; वस्तुतः महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान को छोड़कर इन दोनों के चरित्र का कोई ऐसा पक्ष नहीं रहा जो कालिदास के पहले या बाद में लोक-व्यापी रहा हो। अतः उनके चारित्रित्र गौरव की रक्षा जैसी कोई समस्या कालिदास को नहीं रहती। अभिज्ञानशकुन्तल में इन दोनों के चरित्र का जो भी औदात्त्य है, वह कालिदास-निर्मित है; परम्परा-निर्मित या लोक-मानस-निर्मित नहीं। फलतः जहाँ कालिदास इन चरित्रों का बहुत कुछ नये सिरे से निर्माण करते हैं, वहाँ भवभूति आदि कवि रामचरित्र का निर्माण कम, रक्षा अधिक

करते हैं। विशुद्ध निर्माण की 'स्वच्छन्द प्रक्रिया' में किसी कलाकार या कवि को मन-चाहा करने की अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता होती है; किन्तु रक्षायोग भारी दायित्व लेकर आता है; इसमें कवि को बँधकर चलना पड़ता है और फूँक-फूँककर कदम रखना होता है। कुछ अपवादों को छोड़कर रामायण एवं महाभारत के चरित्रों में यह दूसरा मूलभूत अन्तर है।

ऐसा नहीं कि भवभूति राम-वृत्त को अपना नाटकीय उपजीव्य बनानेवाले पहले कवि थे। इनसे बहुत पहले भास ने अपने प्रतिमा-नाटक तथा अभिषेक-नाटक में राम-कथा का आधार लिया है। किन्तु यह आश्चर्य का विषय है कि भास एवं भवभूति के बीच संस्कृत नाटकों की लम्बी परम्परा में दूसरे किसी भी नाटककार का कोई राम-नाटक अब तक प्रकाश में नहीं आया है।[१] यहाँ तक कि जो कालिदास राम के पावन चरित को अपने महाकाव्य में बड़ी श्रद्धा एवं सफलता के साथ निबद्ध करते हैं, वे उसे अपने किसी भी नाटक के उपजीव्य के रूप में ग्रहण नहीं करते। जो कवि रामचरित को अपने रघुवंशमहाकाव्य में अपूर्व रस-पेशलता प्रदान कर सकता है, वह क्या उसे अपनी उदात्त नाटकीय कल्पना में ग्रहण नहीं कर सकता? कारण चाहे जो भी रहा हो, इतना तय है कि राम-कथा का नाटकीय रूप कालिदास की रमणीय कल्पना के स्पर्श से वंचित रह गया। यों भास ने अपने प्रतिमा-नाटक में राम-कथा को लेकर कुछ बड़े सुन्दर एवं साहसपूर्ण प्रयोग किए; किन्तु शैली, शिल्प, तकनीक आदि दृष्टियों से वे कुछ पुराने-से प्रतीत होते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर राम-कथा को अभिनव एवं उदात्त नाटकीय रूप प्रदान करनेवाले भवभूति पहले नाटक-कार माने जा सकते हैं। वस्तुतः जो काम कालिदास छोड़ गये, उसे भवभूति ने

१—हरिवंश में राम-नाटकों के अभिनय का स्पष्ट निर्देश इन शब्दों में हुआ है—"**रामायणं महाकाव्यमुद्दिश्य नाटकं कृतम्**" (दे० हरि० : २ : ९३ : ८)। डा० कीथ हरिवंश को महाभारत का क्षेपक मानते हैं और उसका रचना-काल ईसा की दूसरी या तीसरी शती से पूर्व रखने को तैयार नहीं (दे० क्ला० ड्रा०, पृ० २८)। हरिवंश का यह काल-निर्धारण कहाँ तक सही है, हम इसके पचड़े में नहीं पड़ना चाहते। हमारी दृष्टि यहाँ एक ही तथ्य पर केन्द्रित होती है—भवभूति से पूर्व भास के अतिरिक्त सम्भवतः दूसरे भी नाटककार थे जिन्होंने अपने नाटकों के विषय रामायण से लिये थे। किन्तु डा० वी० राघवन के शब्दों में, "Plays based on the Rāmāyaṇa and the Mahābhārata had been composed in a large number but the appearance ef Bhavabhūti and his two Rāmāyaṇa plays and of Bhaṭṭanārāyaṇa and his Mahābhārata plays had eclipsed all earlier compositions in these two classes of plays." (दे० "सम ओल्ड लॉस्ट राम प्लेज", पृ० १)। ऐसी नाट्यकृतियों के ग्रास का कारण चाहे भवभूति की समुज्ज्वल नाट्य-प्रतिभा ही क्यों नहीं बनी हो, प्रकट तथ्य यही है कि भवभूति से पहले भास के अतिरिक्त दूसरे किसी का राम-नाटक अब तक प्रकाश में नहीं आया है। जिन लुप्त राम-नाटकों की चर्चा डा० राघवन के उक्त प्रबन्ध में आयी है, उनमें से भी कोई ऐसा नहीं जिसकी सत्ता असन्दिग्ध रूप से भवभूति से पहले सिद्ध की जा सके।

पूरा किया। एक अर्थ में दोनों की प्रतिभा एक दूसरे की पूरक कही जा सकती है—कालिदास अपनी अमर नाट्यकृति के आधार के लिए महाभारत की ओर जाते हैं और भवभूति रामायण की ओर।

महावीरचरित की पाठ-समस्या

महावीरचरित के नाटकीय वृत्त पर कुछ भी विचार करने से पूर्व हमारा ध्यान प्रथमतः इस नाटक के विवादास्पद आयाम की ओर आकृष्ट होता है। अपने इस रूप में यह नाटक भवभूति के अन्य दो नाटकों से कुछ पृथक् जा पड़ता है। अर्थात् चाहे उत्तररामचरित हो, या मालतीमाधव, इन दोनों के पाठों में, उत्तर या दक्षिण की अब तक प्राप्त समग्र पाण्डुलिपियों एवं मुद्रित संस्करणों में, एकरूपता प्राप्त होती है। इनमें पाठ-भेद नहीं हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता; किन्तु ये पाठ-भेद नाट्यवस्तु के किसी समग्र अंश को लेकर नहीं आये हैं। वस्तुतः ऐसे सारे पाठ-भेद यहाँ गद्य या पद्य-भाग के किञ्चित् पदों या वाक्यांशों में ही यत्र-तत्र कुछ वैविध्य उपस्थित करते हैं। इस प्रकार के अनेक पाठ-भेद भा० मा० मा० तथा का० उ० च० के आलोचनात्मक संस्करणों की पाद-टिप्पणियों में द्रष्टव्य हैं। ठीक इसके विपरीत महावीरचरित का पाठ आता है जिसमें न केवल पद, पदांश, वाक्य या वाक्यांश के भेद हैं, प्रत्युत नाट्यवस्तु की एक विशिष्ट सीमा के पश्चात् पूरे कथा-भाग के अब तक ज्ञात तीन पाठ-भेद परिलक्षित होते हैं। जब तक इसका निश्चय नहीं हो जाता कि भवभूति के मूल महावीरचरित का स्वरूप क्या था, उसके कथा-भाग की परिसमाप्ति कहाँ पर हुई थी, महावीरचरित के आलोचनात्मक अध्ययन का वृत्त अधूरा ही समझा जायगा।

महावीरचरित की पाठ-समस्या के समाधान की दिशा में अब तक हमने जितने ग्रन्थों या निबन्धों का अवलोकन किया है, उन सबों में टोडरमल द्वारा सम्पादित महावीरचरित[1] तथा इण्डियन एण्टीक्वेरी में प्रकाशित श्री एस० के० दे के निबन्ध[2] से हमें सर्वाधिक सहायता मिली है। टोडरमल ने देश-विदेश में बिखरी हुई पाण्डुलिपियों का तुलनात्मक सम्पादन करके महावीरचरित का जो पाठ हमारे सामने प्रस्तुत किया है, उसे एक नजर देख लेने से ही उनके अतुल परिश्रम, अध्ययन एवं मनीषा का पता लग जाता है। वस्तुतः यह ग्रन्थ स्व० टोडरमल के वैदुष्य एवं अध्यवसाय का एक ऐसा स्मारक है जिसका विद्वत्समाज में सर्वदा आदर एवं उपयोग होगा। श्री दे के निबन्ध में यद्यपि टोडरमल द्वारा प्रयुक्त अठारह पाण्डुलिपियों के अतिरिक्त भी कुछ नयी पाण्डुलिपियों की ओर इङ्गित किया गया है[3], यह निबन्ध वस्तुतः टोडरमल द्वारा

१. पंजाब युनिवर्सिटी ओरियण्टल पब्लिकेशन्स, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, १९२८।

२. On the Text of the Mahāvīracaritam, द इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड ५९ (१९३०), पृ० १३-१८।

३. टोडरमल ने **मत** एवं **मग** को गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी, मद्रास से प्राप्त किया था। श्री दे ने इसी पुस्तकालय की तीन अन्य पाण्डुलिपियों का उल्लेख किया है जिन्हें सम्भवतः

संगृहीत पाण्डुलिपियों एवं उनके अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों को ही आधार बनाकर चला है। श्री दे के इस निबन्ध का महत्त्व इसमें है कि यहाँ टोडरमल के पाठ-सम्बन्धी अभिमतों का पुनः परीक्षण करके उन पर कुछ नया प्रकाश डाला गया है। हम यहाँ टोडरमल एवं श्री दे के विचारों का संक्षिप्त विवेचन करके अपने अनुशीलन के मार्ग का निश्चय करना चाहेंगे।

जैसा कि श्री दे ने अपने निबन्ध में स्पष्ट किया है, टोडरमल से पहले कोई भी दूसरा स्वदेशी या विदेशी विद्वान् महावीरचरित की इतनी सारी पाण्डुलिपियों का उपयोग नहीं कर पाया था। टोडरमल दक्षिण एवं उत्तर भारत के विविध स्थानों से सम्बद्ध अठारह पाण्डुलिपियों को प्राप्त करने में सफल हुए थे। इन पाण्डुलिपियों में से ग्यारह को वे उत्तरभारतीय तथा शेष सात को दक्षिणभारतीय वर्गों में बाँटते हैं।[१] इन दोनों

इस पुस्तकालय ने आगे चलकर प्राप्त किया, शायद इसीलिए टोडरमल उनका उपयोग नहीं कर पाये। श्री दे ने इन पाण्डुलिपियों का विवरण यों दिया है—(१) नं० १२५८४ (पृ० ८४५२) : अंक ५ के अन्त तक जाती है, (२) नं० १२५८६ (पृ० ८४५३) : वीरराघव की टीका से संवलित, अंक १ से ७ तक सम्पूर्ण है और (३) नं० १२५८७ (पृ० ८४५५) : अंक ४ में खण्डित हो जाती हैं। इन पाण्डुलिपियों में आये हुए पाठों का टोडरमल द्वारा मिलाये गये अठारह पाठों के साथ क्या संगति या विभेद है, श्री दे इस पर कुछ नहीं कहते (दे० इ० ए०, खण्ड ५९, पृ० १४ की पाद-टिप्पणी)।

१. ये पाण्डुलिपियाँ निम्नलिखित हैं—

(क) उत्तरभारतीय—(१) **कर**—जम्मू एवं काश्मीर के महाराज के रघुनाथ मन्दिर पुस्तकालय से प्राप्त, नं० ३२७; (२) **कै**—कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से प्राप्त, नं० ए-डीडी० २११५; (३) **ब**—बंगाल एसियाटिक सोसाइटी (कलकत्ता) के पुस्तकालय से प्राप्त, नं० जी० ९८१९; (४) **ए**—एलफिंस्टन कालेज पुस्तकालय, बंबई से प्राप्त, नं० ६८ II बी; (५) **इ१**—इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय, लन्दन से प्राप्त, नं० ११४ सी; (६) **बई**—बंबई सरकार की पाण्डुलिपि नं० १८७२-३ ना ३२; (७) **वि**—बोडलियन (Bodleian) पुस्तकालय, ऑक्सफोर्ड से प्राप्त, नं० २६०, जो पाण्डुलिपि विल्सन २२९ बी है; (८) **संका**—संस्कृत कालेज पुस्तकालय, कलकत्ता से प्राप्त, नं० ४८१; (९) **इ२**—इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय, लन्दन से प्राप्त, नं० ९४३ ए; (१०) **मद**—गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैनस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास से प्राप्त, पाण्डुलिपि नं० ५-२-२२ की प्रतिलिपि; (११) **अल**—अलवर के महाराज के पुस्तकालय की एक पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि।

(ख) दक्षिणभारतीय—(१) **मत** और (२) **मग**—दोनों गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैनस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास से प्राप्त, नं० क्रमशः ५-३-२३ और २-७-१८; (३) **मै**—पैलेस सरस्वती भाण्डार, मैसूर से प्राप्त, पाण्डुलिपि नं० ३७९ की प्रतिलिपि; (४) **त१**, (५) **त२**, (६) **त३** और (७) **त४**—चारों तंजोर पैलेस लाइब्रेरी से प्राप्त, पाण्डुलिपि नं० १०७०३ (टी२) के सम्पादन और उसी संग्रह की पाण्डुलिपि नं० १०७०४ एवं १०७०५ (क्रमशः टी ३ और टी ४) के यत्र तत्र वाचन द्वारा पाण्डुलिपि नं० १०७०२ की प्रतिलिपियाँ।

उक्त सभी पाण्डुलिपियों के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण के लिए दे० म० च०, प्राक्कथन, पृ० ९-१७।

वर्गों के उपयोग एवं विशिष्टता के सम्बन्ध में उनका कहना है, "महावीरचरित के प्रस्तुत पाठ के लिए मैं अठारह पाण्डुलिपियों का मिलान (Collate) करने में समर्थ हो पाया हूँ। इनमें से चार—**त१, त२, त३, त४** (T_1, T_2, T_3, T_4)—का उपयोग मैंने केवल प्रथम अंक के लिए किया है, क्योंकि इनकी जो प्रतिलिपि मुझे मिली थी, वह अत्यन्त ही बुरी थी, अतः उनके पाठों पर मैं अधिक भरोसा नहीं कर सका। शेष पाण्डुलिपियों में से छह—**कर, ए, वि, संका, इ२, मै** (K, E, W, Sc, I_2, Mr)—पूर्ण हैं; चार—**इ१, बई, अल, मद** ((I_1, Bo, Alw, Md)—पंचम अंक तक जाकर समाप्त हो जाती हैं; तीन—**कै, मत, मग** (Cu, Mt, Mg)—पंचम अंक के श्लोक ४६ तक जाकर टूट जाती हैं; जब कि **ब** (B) केवल अन्तिम दो अंक तथा श्लोक ५ : ६० से लेकर पंचम अंक के कुछ अंश तक प्राप्य थी।[1]"

इसके आगे टोडरमल ने उक्त अठारह पाण्डुलिपियों के दो वर्ग—दक्षिणी एवं उत्तरी—कर लेने के बाद उत्तरी पाण्डुलिपयों को पुनः चार उपवर्गों में बाँटा है और इसी क्रम में प्रत्येक उपवर्ग की अलग-अलग पाण्डुलिपियों की सीमाओं एवं वैशिष्ट्यों का परीक्षण किया है। इनमें वे **कै, कर, ब** और **ए** को चौथे उपवर्ग में रखते हैं और इसे उपलब्ध पाठों में सबसे पुराना बताते हैं—उनके मतानुसार इनमें पहली तीन पाण्डुलिपियों में से प्रत्येक लगभग ३०० वर्ष पुरानी है और चौथी भी एक बहुत पुरानी पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि है जिसका अपना निजी महत्त्व है। इस उपवर्ग का महत्त्व इसलिए भी हो जाता है कि महावीरचरित के अब तक प्राप्त तीन संस्करणों में से दो को यहीं प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। इस उपवर्ग की विशेषता का अन्य कारण इसके पाठों का वैविध्य है—दूसरे उपवर्गों की सम्बद्ध पाण्डुलिपियाँ जहाँ पाठ के समान अंश को अपनाती हैं वहाँ इस उपवर्ग की **कर** एवं **ए** प्रथम अंक से सप्तम अंक तक सम्पूर्ण हैं, **कै** पंचम अंक के श्लोक ४६ तक ही जाती है और **ब** खण्डित है, इसमें दो अंकों से कुछ ही अधिक अंश उपलब्ध होते हैं।[2]

टोडरमल दक्षिणी वर्ग की पाण्डुलिपियों का कोई उपवर्ग नहीं दिखाते। इस वर्ग की सात पाण्डुलिपियों में वे केवल चार को महत्त्व देते हैं—तंजोर की शेष तीन पाण्डुलिपियों—**त२, त३, त४**—का पाठ अत्यन्त बुरा होने से वे उनका अधिक उपयोग नहीं कर पाये हैं। उनके अनुसार ये सभी पाण्डुलिपियाँ एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं, उनमें एक दूसरे से समता बहुत कम पायी जाती है। इनमें **मत, मग** एवं **त१** पंचम अंक के श्लोक ४६ तक जाकर समाप्त हो जाती हैं; **मै** सप्तम अंक तक विस्तृत है और यही महावीरचरित का तृतीय संस्करण प्रस्तुत करती है। इस वर्ग की पाण्डुलिपियों का पाठ निस्सन्देह उत्तरी वर्ग के पाठ से उत्तम है, यद्यपि इस वर्ग की सभी पाण्डुलिपियाँ अपेक्षाकृत बहुत नवीन हैं।[3]

---

१. टो० म०, प्राक्कथन, पृ० ७।

२. वही, प्राक्कथन, पृ० ८।

३. वही, पृ० वही।

ऊपर हमने टोडरमल द्वारा उपलब्ध अठारह पाण्डुलिपियों के स्वरूप, महत्त्व आदि का सार-संक्षेप प्रस्तुत किया। अब इन सभी पाण्डुलिपियों एवं महावीरचरित के प्रकाशित पाठों के आधार पर इस नाटक के जिन तीन भिन्न पाठों का पता उन्हें मिला था, उनकी परस्पर समानताओं एवं भेदों का परीक्षण आवश्यक है। टोडरमल के शब्दों में, "जब मैंने इस नाटक पर शोध-कार्य शुरू किया, तब तक इसके केवल दो संस्करण (Recension) ज्ञात थे—पहला जिसे रत्नम् ऐयर ने वीरराघव की टीका के साथ इस नाटक के अपने संस्करण में मुद्रित कराया था और दूसरा जिसे उन्होंने परिशिष्ट में, बिना किसी टीका के, यह लिख कर दे दिया था, '**श्रीभवभूतिकविप्रणीतमहावीरचरितस्य सर्वतः प्रचलितः पाठः।**' त्रिथेन (Trithen), बरुआ, श्रीधर, जीवानन्द और तारानाथ जैसे लोगों के अन्य सभी ज्ञात संस्करण एकमत से इसी **सर्वतः प्रचलितः पाठः** (सर्वप्रचलित पाठ) को भवभूति का प्रामाणिक पाठ मानकर चले थे, नाटक के दूसरे संस्करण के सम्बन्ध में उनमें कहीं कुछ नहीं लिखा था। इन दोनों संस्करणों में इस नाटक के प्रथम अंक से पंचम अंक के श्लोक ४६ तक **समान पाठ** पाया जाता है; इसके पश्चात् उनमें कहीं कोई समानता नहीं, सिवा इसके कि दोनों में सात अंक हैं। सम्पादित पाण्डुलिपियों के परीक्षण से **एक तीसरा संस्करण सामने आया जिसका वैशिष्ट्य यह था कि इसमें केवल ५:४६ से लेकर पंचम अंक की समाप्ति तक ही एक भिन्न पाठ था।** षष्ठ एवं सप्तम अंकों के लिए इसका पाठ नाटक के **सर्वतः प्रचलितः पाठः** के समान था[१]।"

टोडरमल द्वारा मिलाई गई अठारह पाण्डुलिपियों के ऐसे सारे परीक्षणों को हम सारतः इन शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं :—

(क) अठारह पाण्डुलिपियों में से ग्यारह उत्तर भारत एवं शेष सात दक्षिण भारत से सम्बद्ध हैं।

(ख) उत्तर एवं दक्षिण भारत की इन सभी पाण्डुलिपियों तथा त्रिथेन, तारानाथ, जीवानन्द, बरुआ, श्रीधर आदि के महावीरचरित के अबतक प्रकाशित सभी संस्करणों में यदि कोई समानता है जो बिना किसी अपवाद के इन सबों में पायी जाय, तो यही कि इन सबों के पाठों में **प्रथम अंक से लेकर पंचम अंक के श्लोक ४६ तक कोई अन्तर नहीं पाया जाता।**[२]

(ग) पंचम अंक के श्लोक ४६ से लेकर सप्तम अंक की समाप्ति तक के अंशों में उक्त सभी पाण्डुलिपियों एवं प्रकाशित संस्करणों में परस्पर भेद पाया जाता है। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर इस पाठ-भेद के तीन रूप प्रकट होते हैं—(१) पंचम अंक के श्लोक ४६ से लेकर सप्तम अंक के अन्त तक त्रिथेन, तारानाथ, जीवानन्द, बरुआ आदि के प्रकाशित संस्करणों तथा टोडरमल द्वारा सम्प्राप्त आठ उत्तरभारतीय पाण्डुलिपियों—**(ए, वि, संका, इ२, मद, अल, इ१ एवं बई)**—में जो पाठ आया है उसे

१. वही, प्राक्कथन, पृ० १८।

२. नाटक के इस अंश को लेकर इनमें यदि कोई भेद है तो यही कि यत्र तत्र विशिष्ट पदों या वाक्यों के कुछ अलग-अलग रूप दिये गये हैं।

टोडरमल 'संस्करण अ' (Recension A)[१] हर्टेल 'लोकप्रिय संस्करण' (Vulgate Recension)[२] तथा रत्नम् ऐयर 'सर्वतः प्रचलितः पाठः[३]' कहकर अभिहित करते हैं, (२) किन्तु टोडरमल की मैसूर पाण्डुलिपि (मै) तथा रत्नम् ऐयर के संस्करण में महावीरचरित के ठीक इसी अंश, अर्थात् ५:४६ से सप्तम अंक के अन्त के लिए एक सर्वथा भिन्न पाठ उपलब्ध होता है जिसे टोडरमल 'संस्करण स' (Recension C) की संज्ञा प्रदान करते हैं[४]; इस पाठ को स्पष्ट शब्दों में किसी सुब्रह्मण्य नामक कवि की कृति बताया गया है[५], और (३) टोडरमल द्वारा सम्प्राप्त काश्मीर एवं बंगाल पाण्डुलिपियों—कर और ब—के पाठों की विचित्रता यह है कि इनमें केवल ५:४६ से पंचम अंक की समाप्ति तक एक ऐसे पाठ की अवतारणा की गयी है जो टोडरमल के अ या स संस्करण, या अब तक प्रकाशित महावीरचरित के किसी संस्करण के इस अंश (अर्थात् ५:४६ से पंचम अंक के अन्त) के पाठ से सर्वथा भिन्न है[६]; हाँ, जहाँ तक इसके षष्ठ एवं सप्तम अंक के पाठ का प्रश्न है, इसमें तथा हर्टेल के लोकप्रिय (Vulgate) संस्करण, टोडरमल के संस्करण अ, या रत्नम् ऐयर के सर्वतः प्रचलितः पाठः में कोई अन्तर नहीं दीखता। कर ५:४६ तक का पूरा पाठ देकर इन शब्दों में एक टिप्पणी जोड़ती है, 'एतावद् भवभूतेः। अग्रे कविनायकविनायकभट्टैरपूरि।'[७] इसके बाद वह ५:४६ के तृतीय चरण के अन्त के किंचित् अक्षरों तथा सम्पूर्ण चतुर्थ चरण में एक

---

१. दे० टो० म०, प्राक्कथन, पृ० १८।

२. इ० ए०, खण्ड ५९, पृ० १४।

३. म० च०, पृ० २१३।

४. दे० टो० म०, प्राक्कथन, पृ० १८।

५. (क) सप्तम अंक के अन्त में मै में उल्लिखित है—

> "किञ्च। अस्मिन् नाटके वालिप्रकरणे "दौरात्म्यादरिभिः" इति श्लोकपर्यन्तेन ग्रन्थसन्दर्भेण भवभूतिना त्रिभागपरिमिता कथा विरचिता। ततः 'अवश्यं च श्रेयस्विना मया भवितव्यम्' इति वालिवाक्यादारभ्य भरतवाक्यपर्यन्तेन ग्रन्थसन्दर्भेण सुब्रह्मण्यकविना कृत्स्नोऽपि कथाशेषः पूरितः। तस्य पोल्लरुवंशजलधिचन्द्रस्य वेङ्कटेशार्यतनूभवस्य वेङ्कटाम्बागर्भसम्भवस्य द्रागेवाद्वैतात्मज्ञानसिद्धिरस्तु" (दे० टो० म०, पृ० ३०६)।

(ख) महावीरचरित के यशस्वी टीकाकार वीरराघव ने भी अपनी टीका के क्रम में ५ : ४६ के बाद पड़नेवाले उक्त पाठ के लिए इसी सत्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

> एतावत्येव भवभूतेः सूक्तिः। इतःपरं तु सुब्रह्मण्यनाम्नः कस्यचित्कवेर्वच इति मूल एव स्फुटीभविष्यति। अवश्यं चेत्यादीनि सुब्रह्मण्यकवेर्वचांस्यपि प्रायशो व्याख्यास्यन्ते (दे० म० च०, पृ० २१३)।

६. टोडरमल कर और ब के इस पाठ को 'संस्करण ब' (Recension B) की संज्ञा देते हैं (दे० टो० म०, प्राक्कथन, पृ० १८)।

७. दे० टो० म०, पृ० २७९।

भिन्न पाठ उपस्थित करके[1] इसके आगे पंचम अंक की समाप्ति तक एक सर्वथा नवीन पाठ प्रस्तुत करती है।

अपनी पाण्डुलिपियों को उक्त खण्डों एवं उपखण्डों में विभक्त कर तथा उनके पाठों के तुलनात्मक परीक्षण कर चुकने के पश्चात् टोडरमल इसी सम्भावित निष्कर्ष पर आते हैं कि भवभूति ने आरम्भ में महावीरचरित को ५:४६ तक ही लिखा और इस पर सम्मति लेने के लिए इसे अपने समसामयिक कवियों या काव्यशास्त्रियों को दे दिया। तत्कालीन कवि या आलोचक चूँकि इस नाटक पर कोई अच्छी सम्मति नहीं दे पाये, अतः भवभूति खीझ गये। उन्होंने अपनी इस खीझ को अगली नाट्यकृति मालतीमाधव के १ : ८ में अभिव्यक्ति प्रदान की। महावीरचरित के इसी अपूर्ण पाठ (अर्थात् अंक १ से ५:४६ तक) का प्रतिनिधित्व दक्षिणभारतीय पाण्डुलिपियाँ करती हैं। कुछ समय पश्चात् भवभूति ने न केवल अपने उक्त पाठ को आगे बढ़ाकर पंचम अंक के अन्त तक लिख डाला, प्रत्युत अपने सम्पूर्ण मूल पाठ में भी यत्र तत्र संशोधन कर दिये। महावीरचरित का यही संशोधित पाठ उत्तर भारत में पहुँचा जो उत्तरी पाण्डुलिपियों में लिपिबद्ध किया गया।[2]

यह स्थापित कर लेने के बाद कि सम्भवतः भवभूति ने महावीरचरित के पाठ को दो बार तैयार किया और दूसरी बार भी उन्होंने पंचम अंक तक ही लिखा, टोडरमल के सामने दूसरा मुख्य प्रश्न यह आता है कि ५:४६ से अंक ५ की समाप्ति तक उक्त तीनों पाठों में से भवभूति का अपना पाठ कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में उनका यह कहना है कि **संस्करण** अ में प्राप्त पाठ ही भवभूतिकृत है। अपने इस तर्क की पुष्टि में टोडरमल चार युक्तियों का सहारा लेते हैं—

(१) संवत् १६६५ (=१६०९ ई०) में प्राप्त अब तक ज्ञात सबसे पुरानी पाण्डु-लिपि **इ१** का पाठ ५:४६ के आगे बिना रुके हुए चलता जाता है; वहाँ इसका कोई उल्लेख नहीं कि ५:४६ के बाद का पाठ किसी अन्य कवि की कृति है। **संस्करण** अ की अन्य पाण्डुलिपियों में भी ठीक यही बात पायी जाती है। दूसरी ओर, अन्य दोनों संस्करणों की पाण्डुलिपियों में ५:४६ से लेकर अंक ५ के अन्त तक के लिए स्पष्ट शब्दों में उल्लिखित है कि यह अंश दूसरे कवियों की कृति है; इस प्रकार **कर** में ५:४६ के पश्चात् उल्लेख है, **'एतावद् भवभूतेः। अग्रे कविनायकविनायकभट्टैरपूरि।'** इसी प्रकार **मै** भी इसी अंश को सुब्रह्मण्य की रचना बताती है।

(२) दशरूपक : २ : ५० तथा साहित्यदर्पण : ४१६ की टीकाओं ने महावीरचरित के ५:४८ को उद्धृत किया है। सरस्वतीकण्ठाभरण : ५ : १७२ की टीका में भी महावीर-चरित के ५ : ५१ का उद्धरण दिया गया है। ये श्लोक **संस्करण** अ में ही पड़ते हैं और

---

१. ....**नावेदितं**

किन्तु क्रूरतयानया स्फुटतरं क्रव्यादसख्यं मया ॥४६॥ (दे० वही, पृ० वही।)

२. टो० म०, प्राक्कथन, पृ० ८—९।

इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं कि प्राचीन काव्यशास्त्री **संस्करण अ** के पाठ को भवभूति-कृत समझते थे।

(३) **संस्करण अ** में कुछ ऐसी पदावलियाँ आयी हैं जिनकी आवृत्ति कवि की अन्य नाट्यकृतियों में हुई है।

(४) **संस्करण ब** का आयाम कुछ असामान्य-सा प्रतीत होता है—यह ७३ श्लोकों तक विस्तृत है।[1]

इसके पहले कि हम टोडरमल के उक्त मन्तव्य की समीक्षा करें, हम अंक ६ एवं ७ के लिए दिये गये उनके विचारों का भी यहाँ संक्षिप्त उल्लेख करना चाहेंगे। टोडरमल की दृष्टि में महावीरचरित के उक्त दोनों अंक पूर्णतः प्रक्षिप्त हैं—इस अंश के लिए किसी भी संस्करण के पाठ को भवभूति का अपना पाठ नहीं माना जा सकता। अपनी इस स्थापना को सम्पुष्ट करने के लिए उन्होंने महावीरचरित के पाठों के अन्तरंग एवं बहिरंग के किंचित् पक्षों का परीक्षण पाँच युक्तियों के माध्यम से किया है। इन युक्तियों की कुछ प्रधान बातें ये हैं—महावीरचरित के पंचम अंक तक के उद्धरण ही संस्कृत के अलंकारग्रन्थों में पाये जाते हैं, बाद के दो अंकों का कोई उद्धरण इन ग्रन्थों में नहीं आता; महावीरचरित के ४ : ३८-३९ में स्वयं राम दुन्दुभि के अस्थिकूट को अपने पैर के अँगूठे से हटाते हैं, किन्तु ७ : १६ में यही कार्य लक्ष्मण करते हैं। यदि भवभूति ही ७ : १६ के भी रचयिता होते तो इस प्रकार अपनी ही बात का खण्डन या विरोध नहीं करते। पुनः, कुछ प्राकृत-रूपों के परीक्षण तथा **विद्रावित** (६ : २७) में छन्द सम्बन्धी गड़बड़ी भी इसी तथ्य की ओर इङ्गित करती है।[2]

श्री दे ने अपने निबन्ध में सर्वप्रथम टोडरमल के वर्तमान संस्करण से पूर्व प्रकाशित महावीरचरित के विविध संस्करणों तथा उनके पाठों का एक संक्षिप्त तुलनात्मक परिचय प्रस्तुत किया है। डा० हर्टेल ने १९२४ में प्रकाशित अपने निबन्ध में शायद सबसे पहले महावीरचरित की पाठ-समस्या की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था। १९२८ में टोडरमल ने महावीरचरित के अपने संस्करण के लिए जितनी सामग्री एवं पाण्डुलिपियों का उपयोग किया, उसके पहले एफ० एच० त्रिथेन, तारानाथ तर्कवाचस्पति, जीवानन्द विद्यासागर एवं आनन्दोराम बरुआ में से कोई क्रमशः १८४८, १८५७, १८७३ एवं १८७७ में प्रकाशित अपने संस्करणों के लिए उतनी सामग्री की छानबीन नहीं कर पाये थे। टोडरमल के अतिरिक्त उक्त सभी संस्करणों में जिस पाठ का उपयोग हुआ था वह सम्भवतः उत्तर भारत में प्रात 'सर्व-प्रचलित पाठ' था। बाद के संस्करणों में श्री टी० आर० रत्नन् ऐयर, श्री एम० रंगाचार्यर एवं श्री काशीनाथ पाण्डुरंग परब द्वारा सम्पादित तथा निर्णयसागर प्रेस, बम्बई में मुद्रित महावीरचरित का जो संस्करण प्रकाशित हुआ, उसका सर्वाधिक महत्त्व है। इस संस्करण के विद्वान्

१. टो० म०, प्राक्कथन, पृ० १८-१९।

२. टो० म०, प्राक्कथन, पृ० १९-२०।

ही संस्करण अ की संज्ञा दी जानी चाहिये। किसी अज्ञात कवि ने विनायकभट्ट के पाठ के इस अंश (अर्थात् ५ : ४६ से अंक ५ की समाप्ति) को अत्यधिक विस्तृत देखकर सम्भवतः उसे संक्षिप्त करने की दृष्टि से इस अंश के लिए अपना नया पाठ जोड़ दिया।[१]

अब तक हमने टोडरमल एवं श्री दे के विचारों का एक सामान्य एवं संक्षिप्त विवरण दिया। हमारी अपनी सीमा यह है कि महावीरचरित के वास्तविक पाठ पर कुछ भी अभिमत देने के लिए न तो हमारे सामने कोई नयी या पुरानी पाण्डुलिपि है और न उसके प्रकाशित संस्करणों में ही कोई ऐसा नया संस्करण है जिसमें महावीरचरित के पाठ पर कुछ नया प्रकाश पड़ता हो। यों यह हमारा विषय भी नहीं है। किन्तु अब तक हमने इस विषय पर जितना भी अध्ययन किया है, उससे इतना स्पष्ट हो गया है कि महावीरचरित की पाठ-समस्या एक स्वतन्त्र शोध का विषय है; इस पर अभी जितना प्रकाश डाला गया है, वह अत्यन्त अपर्याप्त तो है ही, कई जगह भ्रामक भी है। हमने स्वयं अपनी सीमा में रहकर इस विषय पर अब तक जितना सोचा-समझा है, वह उक्त दोनों विद्वानों के मतों से कुछ पृथक् जा पड़ता है। अपने अभिमत के औचित्य के परीक्षण का कार्य किसी भावी अनुसन्धित्सु को सौंपकर हम उसे नीचे रख रहे हैं—

(१) महावीरचरित के जो तीन विविध पाठ अब तक हमारी दृष्टि के सामने आये हैं, उन्हें देखकर हमारे सामने जो पहला प्रश्न उपस्थित होता है, वह है—भवभूति स्वयं क्या अपनी इस कृति को पूरा नहीं कर पाये? यदि नहीं कर पाये तो उसके दो सम्भावित कारण माने जा सकते हैं—(क) महावीरचरित उनका अन्तिम नाटक रहा होगा, अतः इसे पूरा करने के पूर्व ही वे दिवंगत हो गये होंगे, (ख) मालतीमाधव की प्रस्तावना में वे स्पष्टतः कुछ समसामयिक आलोचकों की अवज्ञा से खीझे हुए लगते हैं; सम्भव है, बुरी आलोचना से हतोत्साह होकर उन्होंने महावीरचरित को ५ : ४६ तक ही लिखकर छोड़ दिया हो और मालतीमाधव में अपनी साहित्यिक ऊर्जा का गहन प्रयोग दिखाकर तत्कालीन रसिक समाज के सामने एक नयी चकाचौंध रखने में ही व्यस्त हो गये हों। जहाँ तक (क) का प्रश्न है, हम पिछले पृष्ठों में भवभूति के नाटकों के कालक्रम पर प्रकाश डाल चुके हैं। महावीरचरित को भवभूति की अन्तिम नाट्यकृति मानकर हम तत्सम्बन्धी कई विसंगतियों को जन्म देंगे। इस नाटक का अन्तरंग एवं बहिरंग स्पष्टतः इस बात को पुष्ट करता है कि वह भवभूति की अन्तिम नाट्यसृष्टि नहीं है। (ख) का प्रसंग विचारणीय है। भवभूति के विरोधी आलोचकों ने उनकी कृति (या कृतियों?) के प्रति अवज्ञा दिखाकर उनके मन को किस रूप में प्रभावित किया, इसका अनुमान स्वयं उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों के द्वारा लगाया जा सकता है। भवभूति के सम्भावित जीवन-चरित की रेखाएँ खींचते हुए हम कह चुके हैं

---

१. दे०, वही, पृ० १८।

कि वे एक स्वाभिमानी पुरुष तो थे ही, अपनी प्रतिभा एवं कला के प्रति भी अत्यन्त आस्थावान् एवं अनुरक्त रहनेवाले व्यक्ति थे। ऐसा व्यक्ति अपनी नाट्यकला पर लगनेवाली जरा-सी आँच को भी सह नहीं पाता होगा, यह सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होता है। भवभूति की खीझ, इसीलिए, निराशा से अधिक आशा, जड़ता से अधिक चैतन्य एवं शैथिल्य से अधिक ऊर्जा का व्यंजक है। ऐसा कवि किसी की प्रतिकूल आलोचना से घबड़ाकर अपनी एक सुन्दर-सी रचना को अधूरा ही छोड़ दे, यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं जान पड़ता। ऐसा करना तो उसकी क्लीवता का व्यंजक होगा—वह अवज्ञा करनेवालों के प्रति झुक जाता है या उनसे हार मान लेता है, इससे यही समझा जायगा। किन्तु भवभूति किसी भी प्रहार या आघात से टूटनेवाले व्यक्ति नहीं, यह उनके शब्दों से स्पष्ट हो जाता है। अतः कुछ इस कारण से वे अपने नाटक को अपूर्ण छोड़कर आगे बढ़ गये हों, यह संगत प्रतीत नहीं होता। इस सम्बन्ध में एक दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य भी ध्यातव्य है। भवभूति की नाट्यकृतियों के आमुख इस बात के प्रबल साक्षी हैं कि वे सभी कालप्रियनाथ के यात्रा-महोत्सव के अवसर पर, कवि के जीवन-काल में ही, अभिनीत हुई थीं। यदि भवभूति ने महावीरचरित को ५ : ४६ तक ही लिखकर छोड़ दिया, तो क्या यह माना जाय कि भवभूति को इस नाटक का अधूरा अभिनय देखना या दिखाना अभीष्ट था? अतः यह दूसरा तथ्य भी इसी अनुमान की पुष्टि करता है कि भवभूति ने इस नाटक को पूरा का पूरा, सम्भवतः सप्तम अंक के अन्त तक, अवश्य लिखा होगा, तभी इसका सम्यक् अभिनय फलित हुआ होगा।

(२) यदि महावीरचरित का निबन्धन पूर्ण रूप में हुआ तो उसके विविध पाठों की स्थिति का क्या कारण है, यह दूसरा मुख्य प्रश्न है। इस सम्बन्ध में श्री कृष्णमाचार्यर ने तंजोर पुस्तकालय की एक पाण्डुलिपि का हवाला देते हुए एक आश्चर्यजनक तथ्य हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। इस पाण्डुलिपि में एक जगह महावीरचरित के ५ : ४६ के बाद पड़नेवाले लुप्त पाठ पर इन शब्दों में प्रकाश डाला गया है, **'श्रीवश्यवाचा भवभूतिमहाकविना विरचितं महावीरचरितं नाम नाटकमेतावदेवास्मिन् देशे दृश्यते, शेषं तु राजशेखरेण दग्धमिति प्रसिद्धिः।'**[1] इस निर्देश का यदि ऐतिहासिक महत्त्व न भी माना जाय तो भी इससे सम्बद्ध तथ्यों पर कुछ न कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है। इस पाण्डुलिपि के तैयार होने के समय दक्षिण भारत में सम्भवतः ऐसी जनश्रुति चली आ रही थी कि महावीरचरित का पाठ पहले खण्डित नहीं था। यह जनश्रुति महावीरचरित पूरा नहीं लिखा जा सका था, इस अनुमान के विरुद्ध जाती है। राजशेखर ने शेष अंश को जला दिया, इस कथन पर ध्यान देने की जरूरत है। राजशेखर कनौज के राजा महेन्द्रपाल के उपाध्याय थे। इनका साहित्यिक कार्य-काल नवीं शती का अन्तिम भाग तथा दसवीं शती का आरम्भ बताया गया है।[2] अर्थात्

१. कृ० हि० लि०, पृ० ६२२, पाद-टिप्पणी ९।
२. दे० हि० पो०, पृ० २१६-२१७।

भवभूति के समय से राजशेखर लगभग डेढ़ सौ वर्ष पीछे आते हैं। वे भवभूति के कितने बड़े प्रशंसक थे, यह बालरामायण की प्रस्तावना से स्पष्ट हो जाता है जहाँ वे अपने को भवभूति का अवतार घोषित करते हैं।[१] अतः राजशेखर ने भवभूति के प्रति किसी बुरे भाव से आविष्ट होकर उनकी किसी कृति को जान-बूझकर जला डाला होगा, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। अधिक सम्भव यही जान पड़ता है कि राजशेखर के समय कोई ऐसा प्राकृतिक संकट—जैसे अग्नि-काण्ड—उपस्थित हुआ हो जिसने राजशेखर या उनके समकालीन किसी दक्षिणालय नरेश द्वारा संगृहीत महावीरचरित की बहुत सारी पाण्डुलिपियों को नष्ट कर दिया हो। जो पाण्डुलिपि किसी तरह बच पायी, वह भी शायद ५ : ४६ तक खण्डित रूप में ही बचायी जा सकी। सम्भवतः इस विनाश से दक्षिण भारत में इस नाटक की पाण्डुलिपियों की परम्परा ही नष्ट हो गयी और वहाँ परवर्ती साहित्यकारों के सामने महावीरचरित की यह खण्डित प्रति मात्र अवशिष्ट रह गयी। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि टोडरमल द्वारा उपलब्ध दक्षिण भारत की चार पाण्डुलिपियों में मै के अतिरिक्त शेष तीनों पाण्डुलिपियाँ ५ : ४६ पर आकर समाप्त हो जाती हैं। उत्तरी पाण्डुलिपियों में, ठीक इसके विपरीत, अधिकांश ऐसी हैं जो सात अंकों के पूर्ण आकार में परिमित हैं। इससे इस अनुमान को बल मिलता है कि उत्तर भारत में महावीरचरित का मूल रूप अपनी पूर्णता में सुरक्षित रहा।

(३) टोडरमल विविध पाण्डुलिपियों की छानबीन के पश्चात् इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि भवभूति की मूल कृति **संस्करण** अ के पंचम अंक तक ही मानी जा सकती है। **संस्करण** अ एवं ब में आनेवाले षष्ठ एवं सप्तम दोनों अंकों को वे प्रक्षिप्त मान लेते हैं। इसके लिए वे जो तर्क उपस्थित करते हैं, हमारी समझ से उनमें विशेष शक्ति नहीं है। यह मानी हुई बात है कि वस्तु-संगठन एवं पात्रों के चरित्र-विकास आदि की दृष्टि से भवभूति ने जो प्रयोग करने चाहे हैं, वे सभी मुख्यतः महावीरचरित के पहले पाँच अंकों की सीमा में ही द्रष्टव्य हैं। इसके आगे वस्तु के विकास की दृष्टि से, मुख्य रूप से, केवल लंका-युद्ध ही शेष रह जाता है जिसे कवि ने अगले दो अंकों में पूरा किया है। अतः यदि परवर्ती काव्यशास्त्रियों का ध्यान इस नाटक के मूल प्रयोग-क्षेत्र—१ से ५ अंकों—तक ही गया हो और उन्होंने इसी अंश से उद्धरण देना ही उपयुक्त समझा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। स्वयं भवभूति भी सम्भवतः इसीलिए इस नाटक के उत्तरांश की पंक्तियों की आवृत्ति अपनी अन्य नाट्यकृतियों में नहीं के बराबर करते हैं। वस्तुतः भवभूति ने अपनी अन्य दो नाट्यकृतियों में भी पदों या वाक्यों की आवृत्ति सर्वत्र या सभी अंकों में की हो, ऐसी बात नहीं है। स्वयं टोडरमल द्वारा प्रस्तुत ऐसी आवृत्तियों की तालिका[२] स्पष्ट करती है कि भवभूति ने मालतीमाधव के अंक २, ३ एवं ७ से किसी पद, पदांश या वाक्य की आवृत्ति अपने अन्य दो नाटकों में नहीं की है। तो इससे यह कहाँ माना गया है कि ये अंक भवभूति के नहीं हैं?

१. बालरामायण : १ : १६।

२. टो० म०, प्राक्कथन, पृ० ४०-४२।

(४) टोडरमल एवं श्री दे दोनों ने ही अपने-अपने तर्क की पुष्टि के लिए सम्बद्ध पाण्डुलिपियों की पुरातनता को एक हेतु स्वीकार किया है। टोडरमल अपने मत की सम्पुष्टि में उपलब्ध पाण्डुलिपियों में सबसे पुरानी इ१ का हवाला देते हैं जिसका लेखन-काल संवत् १६६५ (=१६०९ ई०) दिया हुआ है।[1] यह पाण्डुलिपि **संस्करण अ** के अन्तर्गत ही आती है। चूँकि इसमें ५ : ४६ के आगे महावीरचरित का पाठ बिना किसी रुकावट के चलता जाता है, इसमें ऐसा कोई उल्लेख नहीं कि ५ : ४६ के बाद का अंश किसी अन्य कवि द्वारा प्रणीत है, अतः टोडरमल इस पाण्डुलिपि में आये हुए पंचम अंक की समाप्ति तक के पाठ को भवभूति का स्वरचित पाठ मान लेते हैं। यदि यह तर्क ठीक है तो इसका औचित्य न केवल पंचम अंक की समाप्ति तक के पाठ के लिए, प्रत्युत अंक ६ एवं ७ के लिए भी होना चाहिये जो एक ही कवि की लेखनी से प्रसूत अविच्छिन्न भाव-प्रवाह का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

(५) जहाँतक **संस्करण ब** की पाण्डुलिपि **कर** का प्रश्न है, यह **इ१** के बाद दूसरी पुरानी पाण्डुलिपि है जिसका समय संवत् १६७४ (=१६१८ ई०) उल्लिखित है। श्री दे इसी को आधार मानकर सिद्ध करना चाहते हैं कि ५ : ४६ के बाद पड़नेवाला महावीरचरित का सम्पूर्ण पाठ विनायकभट्ट नामक किसी कवि की कृति है। यहाँ ५ : ४६ से अंक ५ के अन्त तक के पाठ के लिए कोई विवाद खड़ा नहीं होता, चूँकि यह अंश स्पष्टतः विनायकभट्ट का है। शंका केवल इसके अंक ६ एवं ७ के लिए ही होती है, चूँकि इन दोनों अंकों के पाठ **संस्करण अ** या **सर्वतः प्रचलितः पाठः** से अभिन्न हैं। यदि 'अग्रे' से अंक ६ एवं ७ के पाठों को भी ग्रहण कर लिया जाय, जैसा कि श्री दे स्थापित करते हैं, तो यहाँ विनायकभट्ट के भाषा-पक्ष एवं भाव-पक्ष प्रश्न-चिह्न बनकर खड़े हो जाते हैं। जहाँ संस्करण अ में ५ : ४६ से अंक ५ के अन्त तक केवल १७ श्लोक आते हैं, प्रस्तुत पाण्डुलिपि में, इसी अंश के लिए, २७ श्लोकों का वर्णनात्मक विस्तार, जो नाटकीय दृष्टि से अनुचित है, आया है। **संस्करण अ** के अङ्क ६ एवं ७ के अपेक्षाकृत सन्तुलित विस्तार से इसकी तुलना करने पर अधिक सम्भाव्य यही लगता है कि अङ्क ६ एवं ७ किसी दूसरी प्रौढ़ लेखनी की कृति हैं, वे विनायकभट्ट की वर्णनात्मक एवं अतिशय विस्तारी शैली की संगति में नहीं पड़ते। दूसरी बात, महावीरचरित के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि भवभूति न केवल अपने चरित-नायक राम, प्रत्युत उनके विरोधी कैकेयी एवं वाली के चरित का भी मार्जन करना चाहते हैं। विनायकभट्ट ने वाली का रामायणसम्मत आततायी स्वरूप प्रकट किया है[2] जो **संस्करण अ** के वाली-चरित्र के विरोध में पड़ता है। **संस्करण अ** में वाली राम का प्रतिपक्षी अवश्य है, किन्तु वह अन्य वानर वीरों—

---

१. वही, पृ० १८।

२. तुल० **पापः पितृव्यस्यापि रायोऽपहर्ता सोदर्यस्यां स्वस्य भार्याभिकश्च।**
रक्षोमित्रं त्वय्यनार्यं विधित्सुः पूर्णच्छद्मोपेक्ष्यते किं कपीन्द्रः॥
—टो० म०, पृ० २८१।

जैसे सुग्रीव, हनूमान् आदि—के साथ एक मधुर पारिवारिक सम्बन्ध में बँधा हुआ आता है। यह पारिवारिक चेतना न केवल **संस्करण अ** के इस पाठ को अधिक प्रीत एवं संवेदनशील बनाती है, प्रत्युत इस अनुमान की पुष्टि करती है कि वह पारिवारिक सम्बन्ध को सर्वोपरि माननेवाले भवभूति का निजी पाठ है। प्रश्न है, **संस्करण ब** में केवल ५ : ४६ से अङ्क ५ की समाप्ति तक के लिए विनायकभट्ट का यह पाठ क्यों आ गया? हमारी दृष्टि में यह हमारे इस अनुमान को और भी पुष्ट करता है कि किसी प्राकृतिक सङ्कट के कारण महावीरचरित का मूल पाठ खण्डित हो गया। विनायकभट्ट को इस नाटक का जो पाठ मिला, वह सम्पूर्ण होकर भी अङ्क ५ के श्लोक ४६[1] से पञ्चम अङ्क की समाप्ति तक विनष्ट हो गया होगा। अतः उन्होंने केवल इसी अंश के लिए अपना पाठ जोड़ दिया होगा।

(६) **संस्करण अ** का ५ : ४६ से अङ्क ५ की समाप्ति तक का पाठ भवभूतिकृत है, इसे सिद्ध करने के लिए टोडरमल ने एक प्रमुख युक्ति यह दी है कि इस अंश के कुछ उद्धरण दशरूपक, सरस्वतीकण्ठाभरण एवं साहित्यदर्पण की टीकाओं में दिए गए हैं। यदि यह अंश भवभूति का निजी न होता तो परवर्ती आचार्य उससे उद्धरण नहीं देते। श्री दे ने टोडरमल की इस युक्ति का परीक्षण करते हुए बताया है कि दशरूपक के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में उद्धृत पङ्क्तियों को विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। यदि हम श्री दे की दलील को ही स्वीकार कर लें तो भी दशरूपक का उद्धरण ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। इसे यह कहकर नहीं टाला जा सकता कि यह अपने ढंग का एकमात्र उद्धरण है, अतः केवल इसीके चलते महावीरचरित के सम्बद्ध अंश को भवभूतिकृत नहीं सिद्ध किया जा सकता। वस्तुस्थिति यह है कि उक्त आचार्यों में धनञ्जय एवं उनके छोटे भाई धनिक भवभूति के समय के सर्वाधिक सन्निकट थे।[2] दसवीं शताब्दी के अन्त-भाग में होने के कारण ये दोनों भवभूति से लगभग दो सौ वर्ष ही पीछे हुए। अतः यदि धनिक **संस्करण अ** के पाठ से ५ : ४८ का उद्धरण देते हैं तो यह एक अत्यन्त पुष्ट प्रमाण बनकर इस संस्करण के इस अंश को भवभूतिप्रणीत सिद्ध करता है।

---

१. विनायकभट्ट को महावीरचरित का खण्डित पाठ ही मिला था, इसकी पुष्टि में **संस्करण ब** में आए हुए पञ्चम अङ्क के श्लोक ४६ को लिया जा सकता है। **संस्करण अ** एवं **स** दोनों में ही कुछ पद या पदांशों के पाठ-भेद के अतिरिक्त इस श्लोक में कोई दूसरी असमानता नहीं दीखती। किन्तु **संस्करण ब** में इस श्लोक के तृतीय चरण का अन्तिमांश एवं सम्पूर्ण चतुर्थ चरण बदले हुए आते हैं। इससे यही प्रमाणित होता है कि विनायकभट्ट को महावीरचरित की जो प्रति मिली थी, वह ५ : ४६ तक भी पूरी नहीं थी, बल्कि वह ५ : ४६ के तृतीय चरण के कुछ अंश अथवा अधिक-से-अधिक तृतीय चरण तक जाकर खण्डित हो गई थी। इसके बाद सम्भवतः उस प्रति में अङ्क ६ एवं ७ सुरक्षित थे, अतः विनायकभट्ट ने इन दोनों अङ्कों को ज्यों का त्यों रहने दिया।

२. विष्णु के पुत्र धनञ्जय मालवा के परमारवंश के राजा मुञ्ज के राजकवि थे जिनका समय ९७४-९९५ ई० माना गया है (दे० हि० पो०, पृ० २४६)।

(७) टोडरमल द्वारा अपने प्रमाण की पुष्टि में उदाहृत यह तथ्य भी परीक्षणीय है कि दुन्दुभि के अस्थिकूट को महावीरचरित के ५ : ३८-३९ में स्वयं राम अपने पैर के अंगुष्ठ से हटाते हैं, किन्तु ७ : १६ में इसी कार्य को करनेवाले लक्ष्मण बताए गए हैं। टोडरमल की दृष्टि में यह इस बात का प्रमाण है कि महावीरचरित का द्वितीयांश किसी अन्य लेखक की कृति है, अन्यथा भवभूति स्वयं अपनी ही स्थापना को इस ढंग से नहीं तोड़ते। हमारी सम्मति में यह तथ्य इस बात की ओर इङ्गित करता है कि महावीरचरित किन्हीं अज्ञात कारणों से, एक बार में नहीं लिखा जा सका। प्रथमांश एवं द्वितीयांश के लेखन में कुछ कालिक व्यवधान अवश्य रहा, अतः भवभूति की लेखनी, सम्भव है, प्रथमांश में आए हुए इस तथ्य को स्मरण नहीं कर पाई। महावीरचरित एवं उत्तररामचरित की नवोढ़ा सीता के रूपों की परस्पर तुलना हमारे इसी तर्क को पुष्ट करती है।[1] महावीरचरित के द्वितीय अङ्क में विवाहिता सीता राम के द्वारा तरुणी के रूप में वर्णित हुई हैं, जबकि उत्तररामचरित के प्रथम अङ्क में स्वयं राम उसी सीता के रूप का वर्णन शिशु के रूप में उपन्यस्त करते हैं। अतः उक्त प्रसङ्ग भवभूति की कला की असावधानी के रूप में ही गृहीत होना चाहिए। जहाँ तक विद्रावित (६ : २७) में छन्दसम्बन्धी त्रुटि का प्रश्न है, इस सामान्य-से दोष से सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वह भवभूति का लिखा नहीं है। ऐसे दोष दूसरे कई महाकवियों में भी पाए जाते हैं।

निष्कर्षतः हम यही कहना चाहते है कि **संस्करण अ** का सम्पूर्ण पाठ भवभूति का निजी पाठ है। इसके विरुद्ध विद्वानों ने अबतक जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, मेरी सम्मति में वे अकाट्य नहीं समझे जा सकते। यों मेरा यह निष्कर्ष सर्वांशतः सही है, इसका दावा मैं नहीं कर सकता। अपने वर्तमान अध्ययन के लिए मैंने **संस्करण अ** के सम्पूर्ण पाठ को चुना है। महावीरचरित के ५ : ४६ तक ही अपने अध्ययन की सीमा बाँधने में मैं उक्त कारणों से अपने को असमर्थ पा रहा हूँ।

नाटकीय वस्तु का स्वरूप और लक्ष्य

ऊपर हमने महावीरचरित की नाटकीय वस्तु, उसके उपजीव्य तथा पाठगत समस्याओं के सम्बन्ध में अपने विचार रखे। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि राम-

१. तुल०—**रामः—प्रिये, स्वस्था सती निवर्तस्व।**

आतङ्कश्रमसाध्वसव्यतिकरोत्कम्पः कथं सह्यता-
मङ्गैर्मुग्धमधूकपुष्परुचिभिर्लावण्यसारैरयम्।
उन्नद्धस्तनयुग्मकुड्मलगुरुश्वासावभुग्नस्य ते
मध्यस्य त्रिवलीतरङ्गकजुषो भङ्गः प्रिये मा च भूत्॥
—म० च० : २ : २१।

इयमपि तदा जानकी
पतनविरलैः प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुन्तलैर्दशनमुकुलैर्मुग्धालोकं शिशुर्दधती मुखम्।
ललितललितैर्ज्योत्स्नाप्रायैरकृत्रिमविभ्रमैरकृत मधुरैरम्बानां मे कुतूहलमङ्गकैः॥
—उ० च० : १ : २०।

नाटकों की दीर्घ परम्परा में उत्तररामचरित के बाद यदि कोई दूसरा नाटक है जो वस्तु एवं भाव दोनों ही दृष्टियों से समृद्ध हो तो वह भवभूति का ही दूसरा नाटक महावीरचरित है। कवि की आदर्शवादी विचार-धारा के समर्थ प्रतीक राम प्रस्तुत नाटक की कलात्मक वस्तु के सर्वस्व हैं। उन्हे समझे बिना उत्तररामचरित के राम के चारित्रिक वैशिष्ट्यों का अध्ययन अधूरा माना जायगा। 'महावीर' राम ही आगे चलकर उत्तरचरित के 'लोकाराधक' राम के पवित्र उत्कर्ष में उन्नीत हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, यहाँ राम की जो अप्रतिम 'वीरता' है, वही आगे चलकर उनकी अनुपम मानवता की सजल 'करुणा' का रूप ले लेती है।

सात अंकों में निबद्ध महावीरचरित की कथावस्तु का आरम्भ विश्वामित्र के आश्रम में राम के प्रवेश से होता है और लंका-विजय के पश्चात् उनके अयोध्या वापस आने एवं अभिषिक्त होने तक उसका वृत्त चलता रहता है। इस प्रकार उत्तररामचरित की तुलना में एक विशाल कथा-भाग को यहाँ नाटकीय सीमाओं में आबद्ध किया गया है। इतने बड़े कथा-खण्ड को रंगमंच पर सफलता के साथ उतार देना भवभूति जैसी प्रतिभा का ही चमत्कार कहा जा सकता है। भवभूति ने न केवल मूलकथा के श्रव्यकाव्योचित विस्तार का नाटकीय संक्षेपण किया है, प्रत्युत उसे नाटकीय संवेग देने तथा मूलवृत्त की ऋजुता को ग्रन्थिल बनाने के निमित्त उसमें कई स्थानों पर आवश्यक परिवर्धन भी किये हैं। निश्चय ही वृत्त की प्रान्तरेखाएँ वाल्मीकि की ही हैं, किन्तु उसके आभ्यन्तर रूपों को भवभूति ने बड़ी सफलता एवं मौलिकता के साथ सजा-सँवारा है, नाटकीय औचित्य प्रदान किया है। इस आवश्यक कथा-परिवर्तन के द्वारा उन्होंने किसी सर्वथा नयी दिशा का उद्घाटन किया हो, ऐसी बात नहीं। उनसे बहुत पहले स्वयं भास ने अपने दोनों राम-नाटकों, विशेषतः प्रतिमा-नाटक में कई मौलिक परिवर्तन किए थे जिनकी वाल्मीकिकृत रामायण से कोई संगति नहीं बैठती। वस्तुतः भवभूति के पश्चात् महाकाव्यों या पौराणिक आख्यानों पर आधृत नाटकों की वस्तु-योजना में छोटे-बड़े परिवर्तन सर्वदा दीखते हैं जो प्रायः मूल कथानक में निबद्ध चरित्रों के सम्यक् विकास को दृष्टि में रखकर ही किए गये हैं। नाटक के वृत्त प्रख्यात होते हैं, किन्तु **'किञ्चित् उत्पाद्य वस्तु च'** से कवियों को स्पष्ट निर्देश मिला है कि यदि वे किसी चरित्र या रस के परिपोषण के लिए आवश्यक समझें, तो वे ऐसे वृत्तों में कुछ अपनी ओर से भी जोड़-घटा सकते हैं। आदिकवि वाल्मीकि के प्रति वैसे सभी नाटककार नतमस्तक हैं जिन्होंने अपने नाटकीय वृत्त के रूप में राम-कथा का आधार लिया है। स्वयं भवभूति ने भी जहाँ कहीं वाल्मीकि का उल्लेख किया है, उनके प्रति बड़ी श्रद्धा एवं भक्ति-भाव प्रदर्शित किया है।[1] अतः ऐसा भी नहीं सोचा जाना चाहिए कि भवभूति ने या दूसरों ने वाल्मीकिकृत रामायण के कथांशों को नाटक-रूप में

---

१. म० च० : १ : ७।

तथा का० उ० च०, पृ० ३४–३६।

ढालकर मूल कथा में जो हेर-फेर किए हैं उसके मूल में उनका वाल्मीकि के प्रति कोई उपेक्षा-भाव है। ऐसे नाटकों में वाल्मीकि की उत्तमर्णता असन्दिग्ध है, उनके प्रति कवियों के श्रद्धा-भाव में भी कोई शंका नहीं की जा सकती। किन्तु, इतना होने पर भी, कवियों ने अपने-अपने नाटकों में यत्र तत्र मूल राम-कथा को कुछ परिवर्तित रूप देने में जो स्वतन्त्रता अपनाई है, उसके मुख्य कारण ये माने जा सकते हैं—(१) वाल्मीकि के द्वारा निबद्ध राम, सीता, कैकेयी आदि चरित्रों के सम्बन्ध की कुछ ऐसी बातें जो या तो पीछे विवादास्पद बन गयीं या इनमें से कुछ चरित्रों के अमल-धवल स्वरूप में कलंक की तरह भद्दी प्रतीत होने लगीं,[1] (२) आदिकवि के द्वारा उपन्यस्त लोकानुरञ्जक राम-चरित्र की अक्षीयमाण रसात्मकता जो समय के प्रवाह में कवियों, पाठकों या दर्शकों की दृष्टि में कभी पुरानी नहीं पड़ी[2], बल्कि नए-नए परिवेशों में उपस्थापित किए जाने पर उसके आह्लादकत्व की क्षमता बढ़ती ही गयी, (३) रामायण की 'प्रख्यात' वस्तु जिसके लिए कवियों को नाट्यशास्त्रियों की ओर से 'किञ्चित् उत्पाद्य वस्तु च' जैसी सीमित स्वतन्त्रता भी मिल गयी, (४) राम-चरित पर युग-जीवन तथा युग-धर्म के चिन्तन का सम्मिलित प्रभाव जिसने उसे किंचित् नये परिवेशों में प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी।

यदि हम महावीरचरित एवं उत्तररामचरित की वस्तुओं का अनुशीलन करें तो इन नाटकों की सर्जना के पीछे उक्त सभी कारण न्यूनाधिक रूप में विद्यमान मिलेंगे। दोनों ही नाटकों में नाटककार का मुख्य उद्देश्य राम के पावन चरित में लगे तथाकथित कलंकों से अपने चरित-नायक को बचाना है, या उनके चरित्र का और भी उन्नयन करना है। महावीरचरित में राम-चरित के कलंक का मार्जन वहाँ दीखता है जहाँ वाली को राम धोखे से नहीं मारते, प्रत्युत उसके साथ उनका प्रत्यक्ष युद्ध होता है जिसका परिणाम होता है वाली की मृत्यु।[3] इसी नाटक में अन्यत्र राम की कनिष्ठा

---

१. डा० वी० राघवनकृत "सम ओल्ड लॉस्ट राम प्लेज", इन्ट्रोडक्शन, पृ० १०-११।

२. तुल० "न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति।
यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले॥
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति।

—रामा० : बाल० : २ : ३५-३७।

३. रामायण में राम वाली को तब मारते हैं जब वह अपने अनुज सुग्रीव के साथ युद्धरत है, उसे कहीं अन्यत्र से अपने ऊपर आक्रमण की कोई शंका नहीं है। राम ने किस प्रकार उस पर धोखे से वाण-प्रहार किया, इसे स्वयं वाली ने राम के प्रति अपने आक्रोशभरे शब्दों में यों व्यक्त किया है—

त्वं नराधिपतेः पुत्रः प्रथितः प्रियदर्शनः।
पराङ्मुखवधं कृत्वा कोऽत्र प्राप्तस्त्वया गुणः।
यदहं युद्धसंरब्धस्त्वत्कृते निधनं गतः॥

—रामा० : किष्किन्धा० : १७ : १६।

इसके उत्तर में राम ने जो कुछ कहा है, वह हमारी विवेक-बुद्धि को जँचता नहीं है। वाली

माता कैकेयी के कलंक को भी कवि ने बड़ी बारीकी से धो डाला है। रामायण में अपनी प्रिय दासी मन्थरा के द्वारा बहकायी जाकर कैकेयी राजा दशरथ को उनके पूर्व वचन का स्मरण दिलाकर राम के वन-गमन का स्वयं कारण बन जाती है। किन्तु महावीरचरित के चतुर्थ अंक में राजनीति-कुशल माल्यवान् द्वारा प्रयुक्त शूर्पणखा अपनी माया-शक्ति से मन्थरा के शरीर में प्रविष्ट हो जाती है और आगे चलकर राम के वन-गमन का मूल हेतु वही होती है।

उत्तररामचरित

नाटकीय वस्तु

प्रथम अंक

दृश्य १, प्रस्तावना (स्थान—कालप्रियनाथ के यात्रा-महोत्सव में निर्मित नाट्य-मण्डप)—नान्दी-पाठ के अनन्तर सूत्रधार का प्रवेश होता है। वह संक्षेप में भवभूति के उच्च वंश, पाण्डित्य आदि गुणों की चर्चा करके उनके द्वारा प्रणीत उत्तररामचरित के प्रयोग की बात करता है (१ : २)।

दृश्य २, प्रस्तावना (स्थान—अयोध्या में राम के राजभवन का विस्तृत प्रांगण)—सूत्रधार अयोध्या-निवासी की भूमिका अपनाकर राम के राज्याभिषेक के समय भी अयोध्या नगरी के जनसंचाररहित चतुष्पथों पर आश्चर्य प्रकट करता है। इसी समय नट प्रवेश करता है। वह सूत्रधार को बताता है कि अभिषेक-महोत्सव की समाप्ति हो चुकी है, राम के अतिथियों की विदाई भी की जा चुकी है; यही कारण है कि चारों ओर शान्ति छाई हुई है। इसके साथ ही वह यह भी सूचित करता है कि राम की माताएँ एवं अन्य गुरुजन, राम की बहन शान्ता के पति ऋष्यशृंग के अनुरोध पर 'कठोर-गर्भा' जानकी को छोड़कर उनके द्वादश वार्षिक सत्र में भाग लेने के लिए अयोध्या से प्रस्थान कर चुके हैं। बात ही बात में नट सीता के सम्बन्ध में जन-समाज में फैले हुए अपवाद का भी संकेत करता है (१ : ६)। इससे सूत्रधार को चिन्ता हो जाती है—यह किंवदन्ती कहीं महाराज राम के कानों तक पहुँचे, तो क्या होगा ! नट को आशा है कि ऋषियों एवं देवताओं के प्रसाद से सब कुछ मंगलमय होगा। पूछ-ताछ करने पर उन्हें ज्ञात होता है कि अपने पिता जनक की विदाई से खिन्न पड़ी हुई देवी सीता को आश्वस्त करने के लिए राम अपना धर्मासन छोड़कर अन्तःपुर की ओर चले जा रहे हैं (१ : ७)।

पापी है, अतः वह दण्डनीय है, यह तर्क तो ठीक है; किन्तु उसे छिपकर क्यों मारा गया, इसकी सफाई में राम की कही हुई यह बात रामोचित प्रतीत नहीं होती—

> **यान्ति राजर्षयश्चात्र मृगयां धर्मकोविदाः।**
> **तस्मात्वं निहतो युद्धे मया बाणेन वानर।**
> **अयुध्यन् प्रतियुध्यन् वा यस्माच्छाखामृगो ह्यसि॥**
>
> —रामा० : किष्किन्धा० : १८ : ४०।

दृश्य ३ (स्थान—अन्तःपुर में राम का विश्रामागार)—खिन्न सीता के साथ राम का प्रवेश होता है। राम गुरुजनों के अभीष्ट कर्तव्यों का स्मरण दिलाकर सीता को आश्वासन देते हैं। इसी बीच ऋष्यश्रृंग के आश्रम से वसिष्ठ आदि का सन्देश लेकर अष्टावक्र का प्रवेश होता है। वे शान्ता आदि का कुशल बताकर सन्देश-कथन करते हैं। सन्देशानुसार वसिष्ठ ने सीता के उच्च वंश, उच्च प्रसूति आदि का बखान करके उन्हें वीरप्रसवा होने का आशीर्वाद दिया है। भगवती अरुन्धती, राम की माताओं एवं शान्ता का सन्देश है कि सीता को यदि कोई गर्भ-दोहद हो तो उसे शीघ्र पूरा किया जाय। राम के लिए वसिष्ठ का सन्देश है—राम को प्रजा की सेवा में सर्वदा संलग्न रहना चाहिए (१ : ११)। इस सन्देश के उत्तर में राम का कहना है कि वे सर्वस्व-त्याग—यहाँ तक कि सीता का त्याग—करके भी लोक-सेवा करते रहेंगे (१ : १२)। अष्टावक्र प्रस्थान करते हैं। लक्ष्मण प्रवेश करते हैं और राम से उनके विगत जीवन पर आधृत भित्तिचित्र देखने का प्रस्ताव करते हैं।

दृश्य ४ (स्थान—राम के राजभवन का एक कक्ष जहाँ राम के अतीत के भित्ति-चित्र अंकित हैं)—राम और सीता चित्रों का अवलोकन करते हैं, लक्ष्मण उन्हें चित्रों का परिचय देते चलते हैं। चित्र में सबसे पहले जृम्भकास्त्र दिखाये जाते हैं। इसके बाद मिथिला का वृत्तान्त चित्रित है जिसमें चारो भाइयों के वैवाहिक अनुष्ठान की झाँकियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। परशुराम के चित्र को देखते ही सीता भय से पीली पड़ जाती हैं। इसी क्रम में चारो भाइयों का अपनी पत्नियों के साथ अयोध्या वापस आना दिखाया गया है। यहाँ पर अपने पिता के जीवन-काल में अपनी निश्चिन्त जीवन-चर्या का स्मरण करके राम की आँखें छलछला जाती हैं। उसके पश्चात् राम के वन-गमन के प्रसंग में श्रृंगवेरपुर, भागीरथी, कालिन्दी-तट पर स्थित श्याम नामक बरगद आदि के भावुक चित्र खींचे गये हैं। अन्त में राम आदि का दक्षिणारण्य-प्रवेश दिखाया गया है। यहाँ राम जनस्थान में अपनी प्रेयसी सीता के साथ किये गये प्रेमालाप आदि की भीनी हुई स्मृति प्रस्तुत करते हैं (१ : २६, २७)। इसी बीच लक्ष्मण शूर्पणखा का चित्र दिखा देते हैं जो सीता की इस मार्मिक उक्ति का कारण बन जाता है—'हा आर्यपुत्र, यहीं तक आपके दर्शन कर सकूँगी!' इसके बाद रावण द्वारा सीता का अपहरण, जटायु का प्राणोत्सर्ग तथा विरही राम का सीता की खोज में भटकते हुए पम्पाप्रदेश में पहुँचना दिखाया जाता है। अन्त में राम काले बादलों से समाच्छन्न माल्यवान् पर्वत को देखकर अतीत विरह को वर्तमान-सा अनुभव करने लगते हैं और अत्यन्त आकुल होकर लक्ष्मण से इसके आगे कुछ भी नहीं दिखाने का अनुरोध करते हैं (१ : ३३)। लक्ष्मण थकी हुई सीता से विश्राम करने का आग्रह करते हैं। सीता के मन में चित्र-दर्शन से भावित दोहद जाग्रत होता है—वे फिर एक बार शीतल वन-श्रेणियों में विश्राम करतीं और भागीरथी में स्नान करतीं! सीता की इच्छा जान-कर राम लक्ष्मण को अविलम्ब रथ सज्जित करने का आदेश देते हैं। लक्ष्मण प्रस्थान करते हैं।

दृश्य ५ (स्थान-राम के राजभवन का शयनकक्ष)—चित्र-दर्शन के कारण थकी हुई सीता से राम सो जाने को कहते हैं। क्लान्त सीता अपने जीवन-सर्वस्व राम की भुजा पर सिर टेककर परम विश्वास, प्रेम एवं शान्ति से सो जाती हैं। भावुक राम सोई हुई सीता के प्रति अपने दाम्पत्य की गहनतम एवं पवित्रतम अनुभूतियों को निवेदित करते हैं (१ : ३८, ३९)। दाम्पत्य प्रणय के इसी संवेग के बीच प्रतिहारी राम के एक पुराने एवं विश्वसनीय गुप्तचर दुर्मुख के आगमन की सूचना देती है। राम दुर्मुख को बुलाते हैं। दुर्मुख प्रवेश करता है। अत्यन्त संकोच एवं खेद के साथ वह राम से सीता के सम्बन्ध में फैले हुए लोकापवाद की चर्चा करता है। राम के लिए वह वाग्वज्र सिद्ध होता है—वे इसे सुनते ही मूर्च्छित हो जाते हैं। प्रणय एवं कर्तव्य के द्वन्द्व में उनका मानस पिस जाता है। अन्त में कर्तव्य-भाव विजयी होता है—राम अपने व्यक्तिगत सुख-दुख को समष्टि के हित के लिए समर्पित कर देते हैं (१ : ४१)। वे दुर्मुख के द्वारा लक्ष्मण के पास सीता-त्याग का आवश्यक संकेत एवं आदेश भेज देते हैं। दुर्मुख प्रस्थान करता है। सीता अब भी राम की सहृदय भुजा का सहारा लेकर प्रगाढ़ निद्रा में लीन हैं। राम अपने को धिक्कारते हुए (१ : ४५, ४६) सीता के सिर को अपनी भुजा से अलग कर देते हैं। इसी समय नेपथ्य से लवण द्वारा संत्रस्त ऋषियों की कातर वाणी सुनायी पड़ती है (१ : ५०)। इस पर राम के मन में राजधर्म की संचेतना दीप्त हो जाती है। लवण का मूलोच्छेद करने के लिए वे शत्रुघ्न को भेजने का निश्चय करते हैं। अपने प्रस्थान से पूर्व राम वसुन्धरा से प्रार्थना करते हैं—'देवि वसुन्धरे, अपनी बेटी की रक्षा करना!' उनके चले जाने पर एकाकिनी सीता की पलकें खुलती हैं। वे अपने प्राणाधार राम को वहाँ न पाकर दुखी होती हैं। इसी समय दुर्मुख लक्ष्मण द्वारा सज्जित रथ की सूचना लेकर प्रवेश करता है। सीता भागीरथी जाने की सोचकर प्रस्थान करती हैं।

द्वितीय अंक

दृश्य १, विष्कम्भक (स्थान—दण्डकारण्य)—नेपथ्य से वन-देवता वासन्ती अध्वगवेष में प्रविष्ट हुई आत्रेयी नामक तापसी का स्वागत करती है। वासन्ती का प्रवेश होता है। वासन्ती के पूछने पर आत्रेयी वाल्मीकि का आश्रम छोड़कर अपने दक्षिणारण्य में आने का कारण बताती है। उसके कथनानुसार उस आश्रम में लव एवं कुश नामक अज्ञात वंश के जुड़वे क्षत्रिय कुमारों की असामान्य मेधाशक्ति एवं चंचल स्वभाव के कारण आत्रेयी की पढ़ाई ठीक से नहीं चल पा रही थी। वाल्मीकि स्वयं उन बच्चों के शिक्षक एवं संरक्षक हैं जो सम्प्रति रामायण नामक नये काव्य की रचना में संलग्न हैं। विश्राम कर लेने के बाद आत्रेयी वहाँ से अगस्त्य के आश्रम की ओर जाना चाहती है, किन्तु सीता के जीवन से सम्बद्ध कुछ स्थानों के आकस्मिक नामोच्चारण मात्र से उसकी स्मृतियाँ जग जाती हैं। सुदूर अयोध्या में घटित हुई घटनाओं से सर्वथा अनजान, सीता की पूर्व सखी वासन्ती आत्रेयी से सीता के सम्बन्ध में समाचार पाने को उत्सुक

हो जाती है। जब उसे आत्रेयी से यह ज्ञात होता है कि राम ने लोकापवाद से बचने के लिए सीता का त्याग कर दिया, अब तो सीता नामशेषा ही रह गयी हैं, तो वह शोकविह्वल होकर मूर्च्छित हो जाती है। आश्वस्त होकर वह राम की निर्ममता के प्रति आक्रोश प्रकट करती है। आत्रेयी से उसे विदित होता है कि राम ने अश्वमेध यज्ञ का समारम्भ किया है जिसमें सहधर्मचारिणी के रूप में उन्होंने सीता की हिरण्मयी प्रतिकृति को स्वीकार किया है। मेध्य अश्व का संरक्षण लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु कर रहे हैं। स्वयं राम शम्बूक नामक शूद्रतपस्वी के संहार के लिए निकल पड़े हैं। चूँकि शम्बूक दण्डक में ही निवास करता है, अतः वासन्ती को आशा होती है कि वह पुनः राम से मिल सकेगी। दोपहर का समय हो चुका है (२ : ९)। दोनों प्रस्थान करती हैं।

दृश्य २ (स्थान—दण्डकारण्य, विशेषतः उसका जनस्थान नामक अञ्चल)—शम्बूक के संहार के लिए हाथ में तलवार लिए हुए राम प्रवेश करते हैं। उनके खड्ग से आहत होकर शम्बूक दिव्य पुरुष के रूप में प्रवेश करता है और राम को अपना परिचय देता है। उसके मुख से उच्चरित 'दण्डक' शब्द को सुनकर राम को अपनी वास्तविक स्थिति का बोध होता है, उनकी सीतामयी चेतना हिलती है और वे अपने अतीत को प्रत्यक्ष की तरह अनुभव करने लगते हैं (२ : १७)। शम्बूक द्वारा वर्णित दण्डक के सुनील अंचलों, गरजते हुए निर्झरों, पर्वतों, पहाड़ी नदियों आदि को देख-सुनकर राम का अन्तःकरण और भी खिन्न हो जाता है, फलतः वे शम्बूक का वहाँ से प्रस्थान करा देते हैं। वहाँ अकेले रह जाने पर वे आज लगभग बारह वर्षों के अनन्तर अपने को उसी वनाञ्चल में पाते हैं जहाँ उनके मधुर अतीत के पन्ने खुले पड़े हैं (२ : २२-२५)। राम की भावनाओं को सन्दीपित करती हुई गोदावरी नदी सामने ही बह रही है, वह विशाल प्रस्रवण पर्वत भी आगे खड़ा है जिसके नीचे कभी राम की पर्णकुटी थी। पञ्चवटी की सुपरिचित वनस्थली राम के हृदय को झकझोर देती है, वे सीता के लिए बेचैन हो उठते हैं (२ : २६)। शम्बूक प्रवेश करता है। वह राम को भगवान् अगस्त्य एवं लोपामुद्रा का आमन्त्रण देता है—'अयोध्या जाने से पूर्व राम उनके आश्रम में पधारने की कृपा करें।' राम अपनी राजधानी जाने से पहले एक बार पुनः पञ्चवटी में आने का संकेत देकर शम्बूक के साथ अगस्त्य आदि से मिलने के लिए प्रस्थान करते हैं।

तृतीय अंक

दृश्य १, विष्कम्भक (स्थान—दण्डक का पञ्चवटी नामक वनाञ्चल)—मुरला तथा तमसा नामक दो नदियों का प्रवेश होता है। मुरला को भगवान् अगस्त्य तथा उनकी पत्नी लोपामुद्रा ने एक आवश्यक सन्देश देने के लिए गोदावरी के पास भेजा है—राम पञ्चवटी में जानेवाले हैं जहाँ सीता की सजल स्मृतियों से आप्यायित वनस्थली को देखकर उनके संज्ञालोप होने की आशंका है, अतः गोदावरी सावधान रहकर संतप्त

राम को अपनी शीतल लहरों के कणों से भीगे हुए पवन का संस्पर्श प्रदान करेंगी (३ : २)। तमसा के कहने से ज्ञात होता है कि राम द्वारा निर्वासित होकर प्रसव-वेदना से व्याकुल सीता ने अपने को गंगा के प्रवाह में डाल दिया, वहीं उन्होंने दो बच्चे जने। पृथ्वी एवं भागीरथी सीता को रसातल में ले गयीं। बच्चे जब कुछ बड़े हो गये तो गंगा देवी उन्हें स्वयं महर्षि वाल्मीकि को सुपुर्द कर आयीं। यह जानकर कि राम पञ्चवटी में आनेवाले हैं, गंगा ने सीता को भी पञ्चवटी में भेजने की योजना बनायी है। उनके प्रभाव से सीता पृथ्वी पर अदृश्य होकर विचरण करेंगी, उनकी सहचरी होकर केवल तमसा उनके साथ जायगी। सीता की अदृश्य उपस्थिति से राम को संजीवन देने की इस योजना का कोई पूर्वाभास सीता को नहीं दिया गया है। अपनी वातचीत के अनन्तर मुरला लोपामुद्रा को यह समाचार देने के लिए चलना चाहती है। तमसा सीता के साथ पञ्चवटी जाने के लिए प्रस्तुत होती है और गोदावरी नदी की जल-सतह से बाहर निकलती हुई करुण मूर्ति सीता की ओर इंगित करती है (३ : ४)। मुरला और तमसा प्रस्थान करती हैं।

दृश्य २ (स्थान—वही)—पुष्प-चयन करती हुई तथा नेपथ्य से अपनी सखी वासन्ती की वाणी सुनती हुई सीता प्रवेश करती हैं। वासन्ती अपने स्वर में सीता द्वारा पहले पाले गये हाथी के एक बच्चे पर एक दूसरे गजराज के आक्रमण की सूचना देती है (३ : ६)। सीता आवेश में उस हाथी की रक्षा करने के लिए अपने आर्यपुत्र (राम) को पुकारती हैं; किन्तु, दूसरे ही क्षण, अपनी वास्तविक स्थिति का बोध होने पर मूर्च्छित हो जाती हैं। तमसा प्रवेश करके उन्हें आश्वस्त करती है। सीता को वस्तुतः नेपथ्य से आती हुई राम की धीर-गम्भीर वाणी से आश्वासन मिलता है। तमसा उन्हें बताती है कि सचमुच ही राम शूद्रतपस्वी शम्बूक को दण्डित करने के लिए जनस्थान में पधारे हुए हैं। इस पर सीता अपने भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करती हुई कहती हैं—'सौभाग्य से राजा अपने धर्म पर स्थिर हैं!' उधर नेपथ्य में सीता के वियोग में अधीर बने हुए राम सीता का नाम ले-लेकर करुण प्रलाप करते हुए मूर्च्छित हो जाते हैं। इससे आकुल बनी हुई सीता तमसा के चरणों पर गिरकर राम के प्राणों की भिक्षा माँगती हैं। तमसा सीता को अपने शीतल करस्पर्श से राम को संजीवित करने को कहती है (३ : १०)। घबड़ाई हुई सीता राम के पास चल देती हैं।

दृश्य ३ (स्थान—वही)—सीता के सहृदय कर-स्पर्श से आह्लादित एवं उच्छ्वसित राम का प्रवेश होता है। सीता की स्पर्श-रूप रसमय संजीवनी से राम के प्राणों में अमृतसेक की-सी अनुभूति होती है (३ : ११); वे व्यग्र होकर अदृश्य सीता को देखने की अभिलाषा व्यक्त करते हैं। सीता डरकर अलग हट जाती हैं—कहीं राम उन्हें वहाँ देखकर और अधिक क्रोध न कर बैठें! इस पर तमसा उन्हें समझाती है कि गंगा के प्रभाव से उन्हें वहाँ कोई भी देख नहीं सकता। राम के करुण विलापों को सुनकर सीता के मन का क्षोभ धुलता जाता है, वे भावात्मक रूप से अपने पति की ओर खिंचती चली जाती हैं। सम्भ्रान्त वासन्ती प्रवेश करती है और राम से गोदावरी-तट पर

चलकर वहाँ लड़ रहे गजराज से सीता के पुत्रक गजपोत की रक्षा करने का निवेदन करती है। इसके पश्चात् सभी गोदावरी की ओर प्रस्थान करते हैं।

दृश्य ४ (स्थान—गोदावरी का तट : कुछ दूरी पर प्रवाह में लड़ रहे दो गजराज)—युद्ध में सीता द्वारा सम्पोपित गजपोत, जो अब तरुण वयस् को प्राप्त करके अपनी हथिनी के साथ दीख रहा है, विजयी होता है। इस पर सभी प्रसन्न होते हैं। अपने निजी बच्चे की तरह पाले गये करिकलभ की तरुण अवस्था को देखकर सीता के मन में एक ममत्वभरी उत्कण्ठा जगती है—यह तो इतना बड़ा हो गया है, जाने इस समय तक कुश व लव कितने बड़े हो गये होंगे ! इसके बाद वासन्ती राम से एक-एक करके पञ्चवटी के उन प्राणियों एवं स्थानों का परिचय कराती है जिनका सीता के अतीत जीवन के साथ अत्यन्त स्निग्ध सम्बन्ध रहा है। राम के मन पर सुधियों का ज्वार-सा छा जाता है जो उनके प्राणों में वर्षों से जमी हुई वेदना की सघन परतों को तोड़-तोड़ कर बाहर लाता है। इस मनोवैज्ञानिक शोधन के द्वारा राम का हृदय स्वस्थ होता जाता है, उसकी कुण्ठाएँ मिटती जाती हैं (३ : २९)। राम के वेदनापरक प्रणयोद्‌गारों को सुन-सुनकर सीता का पीड़ित मन भी सुस्थ होता चलता है और वे अन्ततः अपने पति के दुखों के लिए स्वयं अपने को उत्तरदायी मानकर पश्चात्ताप करती हैं। अब वे भावात्मक रूप से राममय हो जाती हैं, राम की ओर से कोई शिकायत उन्हें रह नहीं पाती। अपने पति के मुख से यह सुनकर कि अश्वमेध यज्ञ में राम की सहधर्मचारिणी के रूप में सीता की स्वर्ण-प्रतिमा बनायी गयी है, उनके हृदय का रहा-सहा अभिमान व क्षोभ भी ढह जाता है। अन्त में राम अपने यज्ञ में भाग लेने के लिए अयोध्या जाने को तत्पर होते हैं। सभी प्रस्थान करते हैं।

चतुर्थ अंक

दृश्य १, विष्कम्भक (स्थान—वाल्मीकि का आश्रम)—सौधातकि तथा दाण्डायन नामक वाल्मीकि के दो शिष्यों का प्रवेश होता है। वे अपनी बातचीत में वाल्मीकि के आश्रम में समागत अतिथियों के स्वागत-सत्कार का उल्लेख करते हैं। उनसे ज्ञात होता है कि ऋष्यश्रृंग के द्वादशवार्षिक यज्ञ की समाप्ति होने पर अरुन्धती, वसिष्ठ एवं राम की माताएँ सीता से विरहित अयोध्या में जाना अनुचित समझकर यज्ञ से सीधे वाल्मीकि के आश्रम में आ गये हैं। इनके अतिरिक्त राजर्षि जनक भी अपने चिरन्तन मित्र वाल्मीकि से मिलने आये हुए हैं। दाण्डायन के कहने से विदित होता है कि महर्षि वसिष्ठ ने भगवती अरुन्धती के द्वारा कौसल्या के पास सन्देश भेजा है कि कौसल्या को स्वयं जाकर जनक से मिलना चाहिए। ब्रह्मवादी जनक आश्रम के बाहर वृक्ष के नीचे बैठे हुए अपनी पुत्री सीता के शोक से संतप्त हो रहे हैं (४ : २), यह सूचना देकर दोनों शिष्य प्रस्थान करते हैं।

दृश्य २ (स्थान—वही)—निरपराध सीता के अप्रत्याशित दुर्भाग्य की चिन्ता में लीन जनक प्रवेश करते हैं। वे सीता के शैशव की कोमल स्मृतियों में खोये ही हुए हैं

(४ : ४) कि कंचुकी के साथ अरुन्धती एवं कौसल्या आती हुई दीखती हैं। जनक का पहले तो 'प्रजापालक की माता' कौसल्या के प्रति अच्छा भाव नहीं रहता, किन्तु वे शीघ्र ही दशरथ के घर की इस लक्ष्मी (४ : ६) की दीन-हीन दशा देखकर करुणा-विह्वल हो जाते हैं। कंचुकी के साथ अरुन्धती एवं कौसल्या प्रवेश करती हैं। जनक एवं कौसल्या दोनों कुछ देर तक सीता की सजल स्मृतियों में सने हुए शोकोद्गार व्यक्त करते हैं। इसी बीच नेपथ्य से छुट्टी मनाते हुए बच्चों का शोरगुल सुनाई देता है। उनमें से राम एवं सीता से मिलती-जुलती आकृतिवाले एक बालक को देखकर उपस्थित सभी व्यक्तियों का वात्सल्य-भाव छलक पड़ता है (४ : १९, २२)। अरुन्धती को पहले से ही भागीरथी द्वारा निवेदित यह रहस्य मालूम है कि वह सीता के जुड़वे बच्चों में से ही कोई एक है। जनक के अनुरोध से कंचुकी उस क्षत्रिय ब्रह्मचारी को वहीं बुला लाने के लिए प्रस्थान करता है। लव प्रवेश करता है। कौसल्या तथा अरुन्धती बारी-बारी से उसे अपनी गोद में लेकर प्यार करती हैं। बच्चा अपना नाम लव बताता है और ऋषि वाल्मीकि से अपने को सम्बद्ध कहता है। नेपथ्य से अपने सैनिकों के प्रति चन्द्रकेतु की घोषणा सुनाई पड़ती है—'आश्रम में किसी प्रकार का उत्पात नहीं करना होगा!' लक्ष्मण का पुत्र चन्द्रकेतु राम के मेध्य अश्व के संरक्षण में आश्रम की ओर आ पहुँचा है। उससे मिलने की सम्भावना से जनक एवं कौसल्या प्रफुल्लित हो जाते हैं। चन्द्रकेतु के सम्बन्ध में लव स्वभावतः ही जिज्ञासा करता है। जनक चन्द्रकेतु को लक्ष्मण का पुत्र बताकर लव की जिज्ञासा शान्त करते हैं। लव, जिसे सम्पूर्ण रामायण कण्ठस्थ है, चन्द्रकेतु को आसानी से पहचान लेता है। इस पर जनक के द्वारा अन्य दाशरथियों की सन्तानों के विषय में प्रश्न किये जाने पर वह इस कथाखण्ड से अपनी अनभिज्ञता प्रकट करता है। उसके कथनानुसार भगवान् वाल्मीकि ने राम-कथा के उत्तरखण्ड के किंचित् अंश को अभिनेय काव्य का रूप देकर उसे लव के अग्रज कुश के संरक्षण में भरत मुनि के पास भेज दिया है। जनक के यह पूछने पर कि इस कथा-भाग का अन्त कैसा हुआ है, लव प्रकाशित कथा-भाग के अन्त को इन शब्दों में व्यक्त करता है—झूठे लोकापवाद से घबड़ाये हुए महाराज राम द्वारा निर्वासित, प्रसववेदना से आकुल सीता देवी को वन में एकाकिनी छोड़कर लक्ष्मण लौट आये! इस चर्चा से जनक एवं कौसल्या का सीताविषयक शोक पुनः हरा हो जाता है। जनक तो भावावेश में राम को शाप देने पर भी उतारू हो जाते हैं, किन्तु अरुन्धती के समझाने पर शान्त पड़ जाते हैं (४ : २५)। अबतक लव जनक आदि को अच्छी तरह पहचान लेता है। इसी बीच कुछ वटु लव को खोजते हुए प्रवेश करते हैं। वे उससे 'अश्व' नामधारी एक विचित्र प्राणी को देखने चलने का आग्रह करते हैं (४ : २६)। लव भी अपना कौतूहल रोक नहीं पाता और कौसल्या आदि से आज्ञा लेकर बच्चों के साथ घोड़े को देखने के लिए दौड़ पड़ता है। कंचुकी प्रवेश करता है। वह उपस्थित लोगों से वाल्मीकि का सन्देश सुनाता है—आप लोगों को शीघ्र ही वास्तविकता का पता हो जायगा। जनक इसे अत्यन्त गम्भीर बात मानते हैं और

अरुन्धती, कौसल्या तथा आर्य गृष्टि को साथ लेकर वाल्मीकि से मिलने के लिए प्रस्थान करते हैं।

दृश्य ३ (स्थान—वही)—वटुओं का प्रवेश होता है। वे लव को उस अद्‌भुत प्राणी का दर्शन कराते हैं। लव घोड़े को देखते ही पहचान लेता है कि वह आश्वमेधिक है। जिज्ञासा करने पर नेपथ्य से बच्चों को सूचित किया जाता है कि वह अश्व सप्त-लोकों के एकमात्र वीर, रावणकुल का संहार करनेवाले राम की 'वीरघोषणा' है (४ : २७)। अश्वरक्षकों की इस उद्धत घोषणा को सुनकर लव का क्षत्रिय रक्त गर्म हो जाता है और वह अपने साथी बालकों को अश्व पकड़ लेने को कहता है। मेध्य अश्व का संरक्षक एक गर्वोद्धत पुरुष प्रवेश करता है। वह बालकों को डराकर उन्हें भाग जाने को कहता है। किन्तु लव तनिक भी नहीं डरता। वह राम की सेना के साथ युद्ध करने के लिए सन्नद्ध होकर प्रस्थान करता है। दूसरे भी प्रस्थान करते हैं।

पंचम अंक

दृश्य १ (स्थान—वाल्मीकि के आश्रम का निकटवर्ती खुला हुआ क्षेत्र)—लव के साथ अपने सैनिकों के युद्ध की सूचना पाकर रथारूढ़ चन्द्रकेतु अपने वृद्ध सारथि सुमन्त्र के साथ प्रवेश करता है। जैसे ही वीर बालक लव पर उसकी दृष्टि पड़ती है, उसके प्रभावशाली व्यक्तित्व से वह सहज ही आकृष्ट हो जाता है, मानो लव 'रघुवंश का ही कोई अप्रसिद्ध नवांकुर' हो (५ : ३)। उधर सुमन्त्र को लव के वीर बालरूप में ऋषि विश्वामित्र के यज्ञविघातकों के विनाश करने में तत्पर बालक राम की प्रतिच्छवि दीखती है (५ : ४)। लव द्वारा अपने सैन्यबल को बुरी तरह हताहत होते देख कर उत्तेजित चन्द्रकेतु लव का सामना करने के लिए उसके सामने आ जाता है। धीरोदात्त लव प्रवेश करता है। चन्द्रकेतु के कहने पर वह सैन्य-संहार से विरत होकर सूर्यवंशी चन्द्रकेतु के साथ ही द्वन्द्वयुद्ध के लिए तत्पर हो जाता है। किन्तु उसके द्वारा पराजित राम की सेना जब पुनः पीछे से उस पर प्रहार करना शुरू करती है, तो वह क्रुद्ध होकर अपने आगे-पीछे दोनों ओर बाण-वर्षा करने लगता है। उसके अपूर्व रणकौशल तथा वीरता को देखकर सुमन्त्र एवं चन्द्रकेतु मन्त्रमुग्ध-से रह जाते हैं (५ : ११)। जब लव जृम्भकास्त्र का प्रयोग करके समग्र सेना को निश्चेष्ट कर देता है तो इन दोनों का आश्चर्य और भी बढ़ जाता है—इस बालक ने जृम्भकास्त्र की सिद्धि कैसे कर ली! कालान्तर में चन्द्रकेतु एवं लव दोनों ही एक दूसरे के प्रति अज्ञात एवं अहेतुक स्नेह का बोध करने लगते हैं, मानो दोनों के बीच कोई जन्मान्तर सम्बन्ध रहा हो (५ : १६)। एक दूसरे पर शस्त्र न चलाना चाहकर भी वीराचार को ध्यान में रखते हुए दोनों परस्पर जूझने को विवश हो जाते हैं। लव को पैदल युद्ध करते देखकर चन्द्रकेतु भी अपने रथ से नीचे उतर आता है। लव उससे पुनः रथारूढ़ होकर युद्ध करने का निवेदन करता है, किन्तु चन्द्रकेतु का कहना है—वह रथ पर तभी चढ़ेगा, यदि लव स्वयं भी दूसरे रथ पर सवार हो जाय। लव का कहना है कि यह लड़ाई अश्वरक्षकों की उद्धत घोषणा के द्वारा उसके सिर पर थोपी गयी है, वह स्वयं युद्ध का इच्छुक नहीं

था। चन्द्रकेतु की स्निग्ध वार्ता की दिशा एकाएक बदल जाती है जब लव पुरुषोत्तम राम के चरित्र को लक्ष्य करके कुछ आक्षेप कर बैठता है (५ : ३४)। अन्ततोगत्वा इसी आक्षेप के कारण दोनों की क्रोधाग्नि भड़क उठती है और वे युद्ध के लिए तैयार होकर रणक्षेत्र की ओर प्रस्थान करते हैं।

षष्ठ अंक

दृश्य १, विष्कम्भक (स्थान—वाल्मीकि-आश्रम के ऊपर आकाशीय क्षेत्र) —विमान द्वारा विद्याधर-दम्पति प्रवेश करते हैं। वे अकस्मात् विरोध से क्रुद्ध हुए दोनों सूर्यवंशी कुमारों (लव एवं चन्द्रकेतु) के आश्चर्यजनक युद्ध एवं अद्भुत विक्रम का आँखों देखा हाल सुनाते हैं। इसी क्रम में वे उनके द्वारा एक दूसरे पर प्रयुक्त वारुण, वायव्य आदि अस्त्रों के चमत्कारों के समर्थ शब्द-चित्र प्रस्तुत करते हैं। उस भीषण युद्ध के बीच ही विद्याधर शंबूकवध से लौटे हुए राम की आकस्मिक उपस्थिति की सूचना देता है और कहता है कि राम के मधुर वचन को सुनकर दोनों बच्चों ने अपना युद्ध अविलम्ब समाप्त कर दिया है (६ : ७)।

दृश्य २ (स्थान—वाल्मीकि-आश्रम से कुछ दूर युद्ध-क्षेत्र)—लव तथा चन्द्रकेतु के साथ राम प्रवेश करते हैं। चन्द्रकेतु लव को अपना प्रिय वयस्य बताकर उसका परिचय राम से कराता है तथा उसके प्रति भी राम के स्नेह का प्रार्थी होता है। राम के दर्शन मात्र से लव के मन का क्षोभ शान्त हो जाता है और वह चन्द्रकेतु आदि के प्रति अपने विरोध को तत्क्षण भुलाकर परवश-सा अनुभव करने लगता है (६ : ११)। उधर राम भी लव को देखकर किसी अनिर्वचनीय स्नेह की अनुभूति करते हैं—उनके हृदय में दुखों की विश्रान्ति-सी प्रतीत होती है। जब चन्द्रकेतु से लव को यह ज्ञात होता है कि वे ऋषि वाल्मीकि-प्रणीत रामायण के चरितनायक स्वयं रामचन्द्र हैं, वह राम के प्रति अतिशय सम्मान एवं श्रद्धा-भाव से झुककर उनका अभिवादन करता है। राम भी अपनी प्रबल प्रीति के आवेग को और अधिक देर तक रोक नहीं पाते—लपककर बालक लव को अपने स्निग्ध आलिंगन में बाँध लेते हैं। लव उनसे अपने युद्धविषयक औद्धत्य के लिए क्षमाप्रार्थी होता है, किन्तु राम इसे क्षत्रियों का सहज अलंकार बताकर लव की वीरता की प्रशंसा करते हैं (६ : १४)। वे जृम्भकास्त्र के प्रयोग से स्तंभित सेना को देखकर लव को उस अस्त्र के उपसंहार करने तथा चन्द्रकेतु को अपनी सेना को आश्वस्त करने का आदेश देते हैं। चन्द्रकेतु प्रस्थान करता है। लव अपने अस्त्र को उपसंहृत करता है, सेना संज्ञा प्राप्त करती है। जब राम को लव से यह ज्ञात होता है कि उसके कुश नामक एक और भाई है और इन दोनों को जृम्भकास्त्र स्वतः प्रकाश हैं, वे और भी आश्चर्य में पड़ जाते हैं। इसी समय नेपथ्य से भरत मुनि के आश्रम से लौटे हुए कुश की धीर-गम्भीर वाणी सुनाई पड़ती है। कुश महाराज राम की सेना के साथ अपने अनुज लव के युद्ध की चर्चा सुनकर स्वयं भी अत्यन्त उत्तेजित हो उठा है और क्षत्रिय जाति की शस्त्राग्नियों को शमित कर देने के लिए कृतसंकल्प हो रहा है (६ : १६)। कुश प्रवेश करता है। साक्षात् वीर रस की नाईं आते हुए

इस तेजस्वी ब्रह्मचारी को देखकर राम फूले नहीं समाते और उसे भी अपने आलिंगन में भर लेते हैं। कुश के गात्र-स्पर्श से भी राम को वैसी ही सुखद अनुभूति होती है जैसी लव के स्पर्श से हुई थी। उसके स्पर्श से जिस अनिर्वचनीय सुख की उपलब्धि उन्हें होती है, उससे उनके मन के किसी कोने में एक अव्याख्येय भाव जन्म लेता है—मेरे शरीर को मानो अमृतरस के प्रवाह से सींचनेवाला यह बालक कहीं मेरे हृदय के निष्यन्द से ही तो निर्मित नहीं हुआ है (६ : २२)। वे सभी सालवृक्ष की छाया में बैठ जाते हैं। राम समझ जाते हैं कि विनययुक्त होने पर भी कुश तथा लव की चलने, ठहरने तथा बैठने आदि की क्रियाएँ उनके सार्वभौमत्व की सूचक हैं (६ : २३)। इतना ही नहीं, वे उनमें रघुवंशीय कुमारों के बहुत अधिक सादृश्य एवं लक्षण भी देखते हैं तथा उन दोनों कुमारों में वे स्वयं अपनी तथा सीता की आंगिक छाया विद्यमान पाते हैं (६ : २६)। राम की समग्र चिन्ता-धारा उन्हें एक ही भावना तक पहुँचाती है—ये बालक हो-न-हो सीता के ही जुड़वे बच्चे हैं (६ : २८)। इस भावना तक पहुँचते-पहुँचते राम की आँखें छलक जाती हैं। उनकी शोकाग्नि को लक्ष्य करके लव एवं कुश जिस ढंग से अपने सहृदय उद्‌गार व्यक्त करते हैं, उससे उनकी राम या सीता के प्रति तटस्थता का भाव ही प्रकट होता है। अपने या सीता के सम्बन्ध में उन बच्चों की ऐसी उदासीनता को परखकर राम को उनके सीता-पुत्र होने में सन्देह हो जाता है। नेपथ्य से वसिष्ठ, अरुन्धती, वाल्मीकि, जनक तथा दशरथ की महारानियों के आने की सूचना दी जाती है। वे सभी बालकों के परस्पर युद्ध की बात सुनकर अनिष्ट की आशंका से आतुर हो चले हैं। उनके आगमन की सूचना पाकर राम का हृदय एक ही साथ हर्ष, संकोच एवं आत्मग्लानि के भावों से भर जाता है—वे कैसे उनके दर्शन कर सकेंगे! और जब नेपथ्य से ही राम की करुण दशा को देखकर जनक आदि के मूर्च्छित होने की सूचना दी जाती है, तो राम इससे और विह्वल होकर उन्हें सम्भावित करने के लिए कुश एवं लव के साथ प्रस्थान करते हैं।

सप्तम अंक

दृश्य १ (स्थान—वाल्मीकि-आश्रम के सन्निकट गंगातट पर निर्मित रंगमंच) —लक्ष्मण प्रवेश करते हैं। वे वाल्मीकिप्रणीत रामायण के अभिनेय सन्दर्भ को अप्सराओं द्वारा अभिनीत किये जाने की घोषणा करते हैं। उनके कथनानुसार इस अभिनय के दर्शक के रूप में ऋषि वाल्मीकि ने राम के साथ उनके समस्त प्रजावर्ग को भी निमन्त्रित किया है और अपने तपोबल से देवादि सहित चराचर समुदाय को भी वहाँ उपस्थित करा दिया है। राम प्रवेश करते हैं। उनके राजासन पर बैठ जाने के बाद लक्ष्मण गर्भनाटक को प्रस्तुत करने का आदेश देते हैं।

दृश्य २, गर्भनाटक, प्रस्तावना (स्थान—वही)—सूत्रधार प्रवेश करता है। वह सामाजिकों से भगवान् प्राचेतस की करुणाद्‌भुत नाट्यवस्तु पर ध्यान देने का निवेदन करता है। नेपथ्य से लक्ष्मण द्वारा अरण्य में परित्यक्त, प्रसववेदना से बेचैन एकाकिनी एवं अशरणा सीता देवी का आर्त्त स्वर सुनाई देता है। वे अपने मन्दभाग्य

को कोसती हुई स्वयं को भागीरथी में निक्षिप्त करने के लिए कृतसंकल्प होती हैं। सूत्रधार उनके गर्भमोचन एवं गंगा देवी में निक्षेप की सूचना देकर (७ : २) चला जाता है।

दृश्य ३, गर्भनाटक (स्थान—वही)—सीता के दोनों बच्चों में से एक-एक को अपने अंक में लेकर, सीता को थामे हुई, पृथिवी एवं गंगा देवी प्रवेश करती हैं। दोनों देवियाँ कल्याणी वैदेही को धैर्य धारण कराती हैं और उन्हें रघुकुल को धारण करने-वाले दो पुत्रों को प्रसूत करने के उपलक्ष्य में बधाई देती हैं (७ : ३)। सीता की करुण दशा देखकर उनकी माता विश्वंभरा धीरज खो बैठती हैं और सीता को अपने आलिंगन में भरकर मूर्च्छित हो जाती हैं। भागीरथी के प्रयत्नों से समाश्वस्त होकर वे सीता जैसी पुत्री को जन्म देने के कारण अपने भाग्य को कोसती हैं। उनका कहना है कि राम ने सीता के प्रति जो कुछ भी किया, वह उनके लिए सर्वथा अनुचित था— न तो उनके लिए बच्ची सीता का पाणिग्रहण प्रमाण रहा, न पृथिवी, न जनक, न अग्नि, न सीता द्वारा उनका छायावत् अनुसरण और न सीता की गर्भस्थ संतान (७ : ५)। राम, जो प्रेक्षक के रूप में वहाँ वर्तमान हैं, सीता के प्रति की गई कठोरता की अनुभूति से क्षणानुक्षण विकल होते जाते हैं। भागीरथी राम के उज्ज्वल वंश, प्रजा के प्रति उनके कर्तव्य आदि का स्मरण दिलाकर पृथिवी को राम के प्रति सहृदय एवं क्षमाशील बना देती हैं। सीता अपमान एवं दुख की ज्वालाओं से विकल होकर माता पृथिवी के अंगों में विलीन हो जाने की प्रार्थना करती हैं, किन्तु भागीरथी एवं पृथिवी के समझाने-बुझाने से वे ऐसा नहीं कर पातीं। इसी बीच नेपथ्य में कलकल ध्वनि होती है, जृम्भकास्त्रों का प्रादुर्भाव होता है और वे सीता को नमस्कार करके उनके दोनों पुत्रों को अपना प्राप्य बताते हैं। सीता इसे अपने प्रिय पति का अनुग्रह मानकर दुख के क्षणों में भी प्रसन्न होती हैं। भागीरथी बताती हैं कि जब सीता के बच्चे मा का दूध पीना छोड़ देंगे, तो उन्हें भगवान् वाल्मीकि के आश्रम में भेज दिया जायगा। सीता एक बार पुनः अपने प्रति किये गये अपमान को न सहकर पृथिवी में समाहित होने की बात कहती हैं। किन्तु पृथिवी उन्हें बच्चों के दूध पीने तक प्रतीक्षा करने को कहती हैं। गर्भनाटक के सभी पात्र प्रस्थान करते हैं। सीता के प्रस्थान करते ही शोकविह्वल राम मूर्च्छित हो जाते हैं। भगवान् वाल्मीकि द्वारा अनुमत पवित्र आश्चर्य को देखने के लिए नेपथ्य से घोषणा होती है—तरंगायित गंगा की जल-सतह से गंगा एवं पृथिवी के साथ पुनः सीता देवी प्रकट होती हुई दीखती हैं (७ : १६)। नेपथ्य में ही दोनों देवियाँ सीता के उज्ज्वल चरित्र का कीर्तन करके उन्हें भगवती अरुन्धती को समर्पित कर देती हैं। इसके बाद सीता के साथ अरुन्धती प्रवेश करती हैं। अरुन्धती सीता को अपने पाणि-स्पर्श द्वारा मूर्च्छित पड़े हुए राम को संजीवित करने का आदेश देती हैं। सीता के सहृदय स्पर्श से राम की चेतना लौट आती है—वे प्रिया सीता को सामने देखकर निहाल हो जाते हैं। नेपथ्य से देवी भागीरथी राम को उनके उस वचन का स्मरण दिलाती हैं जबकि चित्रदर्शन के क्रम में उन्होंने गंगा से वधू जानकी के

प्रति कृपालु होने के लिए प्रार्थना की थी—इस प्रार्थना को स्वीकार करके गंगा अपने को उऋण समझती हैं। पुनः नेपथ्य से पृथिवी भी राम को अपने प्रति किये गये उस अनुनय का स्मरण कराती हैं जो कि सीता को त्यागने के समय किया गया था—अपनी पुत्री सीता की देख-भाल करेंगी। इस वचन की पूर्ति करने के कारण पृथिवी अपने को कृतकार्य मानती हैं। अरुन्धती से निर्भर्त्सित होकर समागत पुरवासी, जनपद-वासी आदि लोग पूज्या सीता को नमस्कार करते हैं। लोकपाल तथा सप्तर्षि पुष्पवर्षा करते हैं। अरुन्धती प्रस्थान करती हैं। इसके बाद कुश एवं लव को साथ लिए हुए भगवान् वाल्मीकि प्रवेश करते हैं। वे दोनों बच्चों को उनके माता-पिता को समर्पित कर देते हैं। इसी समय लवण का संहार करके लौटे हुए शत्रुघ्न के आगमन की सूचना दी जाती है। सब प्रकार से प्रसन्न राम भरतवाक्य का पाठ करते हैं (७ : २०)। सभी प्रस्थान करते हैं।

उत्तररामचरित का उपजीव्य

जैसा कि ऊपर निवेदित किया जा चुका है, अन्तः एवं बाह्य प्रमाणों के आधार पर सत्य यही जान पड़ता है कि उत्तररामचरित न केवल भवभूति की अन्तिम, वरन् सर्वश्रेष्ठ नाट्यकृति है। भवभूति की पहली दो नाट्यकृतियों में जो मूल्य अधकचरे जान पड़ते हैं, अथवा जिन नये मूल्यों की सम्भावना दीख पड़ती है, प्रायः वे सब-के-सब अपने पूर्ण परिपाक में यहाँ वर्तमान मिलते हैं। ये मूल्य कवि की सुविकसित नाट्य-प्रतिभा के चूडान्त निदर्शन तो हैं ही, वे उसके गम्भीर तथा मँजे हुए जीवन-दर्शन की विशिष्ट झलक लेकर भी उपस्थित होते हैं। इस रूपक-रत्न की नाटकीय विशेषताएँ क्या हैं, इस पर हम पीछे विचार करेंगे। पहले इसकी कथावस्तु, उपजीव्य आदि पर यत्किञ्चित् विचार कर लेना समीचीन होगा।

उत्तररामचरित में जो उत्तर पद विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, वह न केवल राम के 'पुरोवर्ती' जीवन-वृत्त का बोधक है, बल्कि, प्रत्यक्षतः उसका सम्बन्ध वाल्मीकीय रामायण के 'उत्तर' काण्ड से भी प्रतीत होता है। महावीरचरित की प्रस्तावना में वाल्मीकि तथा उनकी अमर कृति रामायण के प्रति कवि ने जो भक्तिभाव प्रकट किया है,[१] वह न केवल महावीरचरित की कथावस्तु, प्रत्युत उत्तररामचरित के इतिवृत्त का भी स्पष्ट संकेत देता है। यों राम के पूर्वचरित (महावीरचरित) के सम्बन्ध में तो सभी विद्वान् एकमत हैं कि उसकी वस्तु मूल रामायण पर आधृत है, परन्तु उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त काण्ड है, वह वाल्मीकिकृत नहीं, ऐसी कई विद्वानों की स्थापना है।[२] हमें इस विवाद

१. म० च० : १ : ७।

२. प्रोफेसर जैकोबी ने भाषाशास्त्र, भूगोल, ज्योतिष तथा अन्य कई दृष्टियों से रामायण के वर्तमान रूप का अनुशीलन किया है और इस सम्बन्ध में वे कुछ निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचे हैं—रामायण का मूल रूप ई० पूर्व ८०० से ५०० के बीच कभी लिखा गया होगा, इसके बाद भी ईसा की कई शताब्दियों तक इस मूल रूप में कई परिवर्धन तथा प्रक्षेपण होते रहे जिनके परिणाम हैं बालकाण्ड का अधिकांश तथा सम्पूर्ण उत्तरकाण्ड; इनके अतिरिक्त भी यत्र तत्र कितने कथांश हैं जो अपेक्षाकृत नवीन तथा पीछे जोड़े गये हैं।

में न पड़कर यह देखना है कि क्या यह तथाकथित प्रक्षिप्त काण्ड भवभूति के समय वर्तमान था, और यदि था तो किस रूप में ? यदि इसका निश्चय हो जाय कि उत्तर-काण्ड की स्थिति उनके समय थी, तो असन्दिग्ध रूप से उनके इस नाटक की प्रान्त-रेखाएँ उसी पर आधृत मानी जा सकती हैं। हाँ, उत्तरकाण्ड की कथा से भवभूति के कथानक में यत्र तत्र जो भेद परिलक्षित होते हैं, वे या तो भवभूति के अपने आविष्कार होंगे या उन्हें भवभूति ने रामायण से पृथक् प्राचीन अथवा समसामयिक साहित्य में अनुबद्ध राम के उत्तरवृत्त का आधार प्रदान किया होगा। हमें इन सारे पहलुओं का विश्लेषण कर लेना होगा, तभी उत्तररामचरित के उपजीव्य की रूपरेखा स्पष्ट हो सकेगी।

उत्तररामचरित के निम्नलिखित सन्दर्भ इस दृष्टि से विचारणीय एवं परीक्षणीय हैं। ये भवभूति द्वारा स्वीकृत वाल्मीकिकृत रामायण के रूपों पर प्रत्यक्षतः प्रकाश डालते हुए-से प्रतीत होते हैं—

(क) आत्रेयी—तेन खलु पुनः समयेन तं भगवन्तमाविर्भूतशब्दब्रह्मप्रकाशमृषिमुपसङ्गम्य भगवान् भूतभावनः पद्मयोनिरवोचत्—"ऋषे प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि। तद्ब्रूहि रामचरितम्। अव्याहतज्योतिरार्षं ते प्रातिभं चक्षुः। आद्यः कविरसि" इत्युक्त्वा तत्रैवान्तर्हितः। अथ स भगवान्प्राचेतसः प्रथमं मनुष्येषु शब्दब्रह्मणस्तादृशं विवर्तमितिहासं रामायणं प्रणिनाय। —उ० च० : २, पृ० ३६।

(ख) जनकः—(विचिन्त्य।) यदि त्वमीदृशः कथायामभिज्ञस्तद्ब्रूहि तावत्पृच्छामस्तेषां दशरथात्मजानां कियन्ति किंनामधेयान्यपत्यानि केषु केषु दारेषु प्रसूतानीति।

लवः—नायं कथाप्रविभागोऽस्माभिरन्येन वा श्रुतपूर्वः।

जनकः—किं न प्रणीत एव कविना।

लवः—प्रणीतो न प्रकाशितः। तस्यैव कोऽप्येकदेशः सन्दर्भान्तरेण रसवानभिनेयार्थः कृतः। तं च स्वहस्तलिखितं मुनिर्भगवान् व्यसृजद्भगवतो भरतस्य मुनेस्तौर्यत्रिकसूत्रकारस्य।

जनकः—किमर्थम्।

लवः—स किल भगवान्भरतस्तमप्सरोभिः प्रयोजयिष्यतीति।

× × × ×

जनकः—वत्स कथय कथाप्रबन्धस्य कीदृशः पर्यन्तः।

लवः—अलीकपौरापवादोद्विग्नेन राज्ञा निर्वासितां देवीं देवयजनसम्भवां सीतामासन्नप्रसववेदनामेकाकिनीमरण्ये लक्ष्मणः परित्यज्य प्रतिनिवृत्त इति।

— वही : ४, पृ० १०१–०२।

(ग) कुशः—अयि वत्स

विना सीतादेव्या किमिव हि न दुःखं रघुपतेः
प्रियानाशे कृत्स्नं किल जगदरण्यं हि भवति।
स च स्नेहस्तावानयमपि वियोगो निरवधिः
किमेवं त्वं पृच्छस्यनधिगतरामायण इव॥

—वही : ६ : ३०।

(घ) सीता—(रुदती कृताञ्जलिः।) णेदु मं अत्तणो अङ्गेसु विलअं अम्बा।
रामः—किमन्यद्ब्रवीतु।
भागीरथी—शान्तम्। अविलीना संवत्सरसहस्राणि भूयाः।
—वही : ७, पृ० १४९

(ङ) सीता—णेदु मं अत्तणो अङ्केसु विलअं अम्बा। ण सहिस्सं ईरिसं जीअलोअपरिभवं अणुभविदुम्।

× × × ×

रामः—कथं विलय एव वैदेह्याः सम्पन्नः। हा देवि दण्डकारण्यवासप्रियसखि हा चारित्रदेवते लोकान्तरं पर्यवसितासि। (मूर्च्छति।)
लक्ष्मणः—भगवन्वाल्मीके परित्रायस्व परित्रायस्व। एष ते काव्यार्थः।
—वही : ७, पृ० १५२।

ऊपर के उद्धरण भवभूति की प्रस्तुत नाट्यकृति के वस्तुतत्त्व पर एक बड़ी सीमा तक प्रकाश डालते हैं। उद्धरण (क) से इतना तो स्पष्ट होता है कि उत्तररामचरित के प्रणयन के सन्दर्भ में कवि जो इतनी श्रद्धा तथा सम्मान-भाव के साथ वाल्मीकि एवं उनकी रामायण का परिचय दे रहा है, उसकी कहानी को वह अवश्य ही अपने नाटकीय कथानक की निर्माण-प्रक्रिया में प्रयुक्त कर रहा होगा। इस तथ्य की सर्वाधिक पुष्टि उद्धहरण (ग) से होती है। यहाँ सीता-वियुक्त राम के मनस्ताप की वर्णना के क्रम में कुश लव से कहता है—"तुम तो ऐसी बातें कर रहे हो, जैसे तुमने रामायण पढ़ी ही नहीं है।" स्पष्टतः कुश के इस कथन का उत्तररामचरित के इस कथा–खण्ड के मूल उपजीव्य के साथ गहन सम्बन्ध है। इससे इतना तो तय हो जाता है कि सीता का परित्याग, राम का दुसह विरह-भाव आदि घटनाएँ रामायण का आधार लेकर ही यहाँ निबद्ध की गयी हैं। किन्तु इतना मान लेने पर भी कि कवि ने उत्तररामचरित के उत्स के रूप में रामायण को ग्रहण किया है, हमारी वास्तविक समस्या कुछ भी नहीं सुलझती—भवभूति के समय उत्तरकाण्ड की कैसी रूपरेखा थी और उन्होंने उसे अपने नाटक में क्या मोड़ दिया है, यहाँ हमारे अध्ययन का वास्तविक विषय यही है। उद्धरण (क) से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि भवभूति यहाँ शब्दब्रह्म के विवर्त के रूप में रामायण का उल्लेख मात्र नहीं करना चाहते; वस्तुतः अपने नाटक की सृष्टि में 'सामान्य' रूप से वे रामायण से कितने प्रभावित हैं, इसकी ध्वनि भी यहाँ प्राप्त होती है।

उद्धरण (ख) से उत्तरकाण्ड की कथावस्तु पर प्रत्यक्ष रूप से कुछ प्रकाश पड़ता हुआ प्रतीत होता है। लव को देखकर जनक के मन में कहीं विश्वास-सा होने लगता है कि हो-न-हो वह सीता का आत्मज है। वे बड़ी प्रवीणता के साथ लव से अपनी तत्सम्बन्धी जिज्ञासा का समाधान कराना चाहते हैं। दशरथ के किन-किन पुत्रों को किन-किन भार्याओं से कितने और कौन-कौन पुत्र हुए, यह निश्चित रूप से एक ऐसा प्रश्न है, जो उत्तरकाण्ड के कथानक को एक सीमा तक हमारे सामने रखने का उपक्रम करता है। जब इस प्रश्न के उत्तर में जनक को लव का छोटा-सा असंतोषप्रद

उत्तर मिलता है—"**कथा के इस अंश को हमने या किसी दूसरे ने अभी सुना ही नहीं है**"—तो प्रश्न कुछ उलझ-सा जाता है। इसके पश्चात् जिज्ञासु जनक लव से एक सीधा-सा प्रश्न पूछ बैठते हैं—"**क्या (इस कथांश को) कवि ने अभी रचा ही नहीं है?**" इस प्रश्न के उत्तर से भी जब उन्हें तृप्ति नहीं मिलती, तो सहज जिज्ञासावश वे एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित करते हैं जो हमारे प्रस्तुत अध्ययन के लिए भी बड़ा ही साम्प्रतिक प्रतीत होता है। प्रश्न है—"**वत्स, बताओ तो (वाल्मीकि के इस) कथा-प्रबन्ध का अन्त कैसा हुआ है?**" उत्तर में लव ने जितना कुछ कहा है, उससे यही स्पष्ट होता है कि राम द्वारा निर्वासित सीता देवी को जंगल में अकेली छोड़कर लक्ष्मण अयोध्या वापस आ गए; लव के कथनानुसार कथा के इस प्रविभाग का यहीं अन्त हुआ।

यहाँ हमारे सामने स्वभावतः यही शंका उत्पन्न होती है कि क्या सचमुच भवभूति के समय उत्तरकाण्ड की कथा यहीं समाप्त हो जाती थी? यदि लव की बात में विश्वास करके हम इतना मान लें कि लोक-प्रकाशित रामायण की कथा का अन्त यहीं हुआ है—यों उसका किंचित् उत्तर अंश भी है, किन्तु वह वाल्मीकि या आचार्य भरत के पास सुरक्षित है—तो फिर एक दूसरी शंका हमारे सम्मुख उपस्थित होती है—वाल्मीकि-कृत राम-कथा का यह अंश भी, जिसे सप्तम अंक में नाटकीय रूप प्रदान किया जाता है, सुखान्त क्यों होता है? रामायण के वर्तमान रूप में तो यह कथा दुखान्त होकर ही हमारे सामने आती है।

रामकथा केवल रामायण में ही निबद्ध की गयी हो, ऐसी बात नहीं। कई पुराणों में भी राम की कहानी किंचित् परिवर्तन या परिवर्धन के साथ प्रस्तुत की गयी है। **अध्यात्म रामायण** को आंशिक रूप से निबद्ध करनेवाले **ब्रह्मपुराण** तथा **भागवत**, **स्कन्द**, **गरुड**, **अग्नि**, **पद्म**, **कूर्म** आदि कई पुराण अपने अपने ढंग से रामकथा की अवतारणा करते हैं। किन्तु हमारे प्रस्तुत अध्ययन के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण **पद्मपुराण** है जिसके **पातालखण्ड** में राम का उत्तर वृत्त एक नये परिवेश में खड़ा किया गया है। यहाँ रामायण के वर्तमान दुखान्त रूप से भिन्न एक ऐसे सुखान्त रूप की कल्पना की गयी है जहाँ वाल्मीकि के प्रयत्न से निर्वासिता सीता का राम से मिलन हो जाता है—यहाँ सीता के पृथिवी में अन्तर्हित होने का प्रसंग लाया ही नहीं गया है। इतना ही नहीं, इस कथा के मध्य भागों में भी रामायण से कई भेद परिलक्षित होते हैं—जैसे, राम के मेध्य अश्व का वाल्मीकि के आश्रम में प्रवेश, वहाँ लव तथा कुश का राम की सेना के साथ प्रबल युद्ध, पराजित राम-सैन्य का पलायन आदि। यदि उत्तररामचरित के पञ्चम तथा षष्ठ अंकों में चित्रित युद्ध आदि घटनाओं की पद्मपुराण के इन अंशों से तुलना की जाय, तो हमें इन दोनों में बहुत कुछ साम्य दृष्टिगोचर होगा। अतः, जैसी कि डा० बेल्वल्कर की स्थापना है,[1] भवभूति सम्भवतः जहाँ जहाँ उत्तररामचरित की कथावस्तु में रामायण

---

१. बे० उ० च०, पृ० ५६-५८।

से प्रमुख भेद उपस्थित करते हैं, वहाँ वे पद्मपुराण में निबद्ध राम-चरित से प्रभावित जान पड़ते हैं। उनकी वस्तु का मूल उत्स निश्चित रूप से रामायण ही है, किन्तु अपनी नाटकीय कथा-भित्ति की रूपरेखा को तैयार करने में यदि वे पद्मपुराण से सहायता लेते हैं, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं माना जाना चाहिये।

हाँ, जहाँ तक राम-कथा के सुखान्त स्वरूप का प्रश्न है, ऐसा प्रतीत होता है कि भवभूति के समय रामायण निश्चित रूप से दुखान्त ही था। इस तथ्य के सम्यक् परिचय के लिए हमें उद्धरण (घ) तथा (ङ) का सूक्ष्म विश्लेषण करना होगा। (घ) में शोक-विह्वल सीता अपनी मा पृथिवी से निवेदन करती हैं—"**मा, मुझे अपने अंगों में विलीन हो जाने दें।**" यहाँ विलीन या 'विलय' के दो अर्थ हो सकते हैं—छिप जाना या सदा के लिए अन्तर्हित हो जाना (=मर जाना)। यदि सीता का अभिप्राय विलय के प्रथम अर्थ से है, तो सम्भवतः वे एक निश्चित अवधि के लिए ही अपने को पृथिवी में गोपित करना चाहती हैं। किन्तु आगे सीता के इस अनुनय से विचलित होकर भागीरथी जो उद्गार व्यक्त करती हैं, उससे 'विलय' के दूसरे अर्थ की ही पुष्टि होती है। यदि पहला अर्थ अभीष्ट होता तो वे 'शान्तम्' नहीं कहतीं, अथवा सीता के 'हजारों वर्ष' के दीर्घायुष्य की कामना नहीं करतीं। रामायण में जब राम सीता के सामने पुनः अग्नि-परीक्षा देने का प्रस्ताव रखते हैं, तो सीता स्पष्टतः इसे अपना परिभव मानती हैं[1]—इसी परिभव की ज्वाला में झुलसती हुई-सी वे पृथिवी की गोद में अनन्त शरण ले लेती हैं। (ङ०) में सीता जीवलोक के जिस परिभव से मर्माहत होकर पृथिवी के अंक में अपने विलीन होने की बात करती हैं, वह रामायण में निबद्ध उनके उक्त अपमान का ही स्मरण दिलाता है। रामायण में सीता को पृथिवी के उदर में सर्वदा के लिए विलीन होते हुए देखकर राम जिस प्रकार शोकाकुल हो जाते हैं,[2] ठीक उसी की ध्वनि यहाँ विलीना सीता को देखकर राम की मर्मांतक वेदना में प्राप्त होती है; उनके "**लोकान्तरं पर्यवस्थितासि**" जैसे शोकोद्गार रामायण में चित्रित सीता के करुण अवसान का ही स्मरण दिलाते हैं। आगे इसी उद्धरण में लक्ष्मण जब वाल्मीकि के प्रति अपने विनीत निवेदन में "**एष ते काव्यार्थः**" कह पड़ते हैं, तो इस वाक्य की ध्वनि भी रामायण-निबद्ध लोकान्तरगता सीता के ठीक अनुकूल पड़ती है। "**क्या यही आपके काव्य का प्रयोजन है ?**" से "**आपका काव्य इस प्रकार दुखान्त नहीं होना चाहिए था**" की सहज ही अर्थ-निष्पत्ति हो जाती है।

ऊपर के विश्लेषण से बहुत कुछ निश्चित हो जाता है कि भवभूति ने अपने इस नाटक के प्रधान उपजीव्य के रूप में रामायण को ही ग्रहण किया है, यद्यपि वे पद्म-पुराण के प्रभावों से भी सर्वथा अस्पृष्ट नहीं कहे जा सकते। इसी सन्दर्भ में दूसरा प्रमुख निष्कर्ष यह निकलता है कि भवभूति के समय रामायण के उत्तरकाण्ड की प्रायः वैसी ही रूप-रेखा थी जैसी कि हम उसे आज पाते हैं। यद्यपि भवभूति दुखान्त रामायण

---

१. रामा० : उत्तर० : ९७ : १३-१६।

२. वही : उत्तर० : ९८ : २-१०।

से परिचित थे, फिर भी भारतीय नाट्य-परम्परा को दृष्टि में रखकर उन्होंने अपने नाटक को सुखान्त वना दिया है। भवभूति की बारीकी इसी में है कि उन्होंने अपने नायक एवं नायिका के मिलन-सुखों को विरह, दुख, यहाँ तक कि करुण मृत्यु के निविड़ आँसुओं से सींचकर पुष्ट किया है। रामायण में वर्णित सीता के करुण अन्त की अनुभूति हम यहाँ भी प्रकारान्तर से कर ही लेते हैं; यद्यपि यही अनुभूति उनके मिलन-सुख का मूल अंश भी बन जाती है।

अध्याय २

नाटकीय विशेषताएँ

महावीरचरित

राम-चरित पर केन्द्रित भवभूति के इस प्रथम रूपक के नाटकीय मूल्यों की छान-बीन करते समय सर्वप्रथम हमारा ध्यान इसके नाम की ओर आकृष्ट हो जाता है। उत्तररामचरित के साथ विचार करने पर महावीरचरित का स्वाभाविक नाम **पूर्वराम-चरित** प्रतीत होता है; प्रश्न है, एक ही वृत्त पर आधृत इन दोनों नाटकों के नामकरण में भवभूति का यह दृष्टिभेद क्यों हो जाता है? महावीर पद की अपनी कोई वैसी व्यंजना भी नहीं जिससे मात्र चरित-नायक राम का ही बोध हो; वस्तुतः यह पद सामान्य अर्थ-वाची है जो किसी भी बड़े शूर-वीर के लिए प्रयुक्त हो सकता है। लोक-प्रचलित विशिष्ट अर्थ में यदि किसी एक व्यक्ति का निर्देश इससे मिलता है तो वे राम नहीं, प्रत्युत जैन धर्म के प्रवर्तक तीर्थंकर महावीर हैं, अथवा राम-भक्त हनूमान् हैं। सम्भव है, भवभूति के समय इस शब्द की अर्थ-परम्परा कुछ भिन्न रही हो, किन्तु इसके पुराने प्रयोगों को देखने से इतना निश्चित-सा लगता है कि विशेष अर्थ में इसका अभिधेय राम कभी नहीं रहा। यों 'महावीर' शब्द का एक अर्थ 'विष्णु' भी है।[1] राम विष्णु के अवतार थे ही, तो क्या इसी अर्थ में भवभूति ने इस शब्द को अपनी प्रथम नाट्य-कृति के अभिधान के रूप में चुना है? कुछ निश्चित रूप से कहना कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि इतना मान लेने पर भी एक शंका रह ही जाती है—'राम' तथा तद्वाची कतिपय प्रचलित शब्दों को छोड़कर भवभूति 'महावीर' जैसे अस्पष्ट शब्द को अपने राम-नाटक की संज्ञा के लिए क्यों चुनते हैं?

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इस सन्दर्भ में यही तथ्य प्रकाशित होता है कि यहाँ 'महावीर' पद न केवल एक विशेष अर्थ में राम-वाची होकर आया है, वरन् सामान्य अर्थ में इस नाटक में अपनी-अपनी भूमिका में आनेवाले राम के सहयोगी या प्रतियोगी अन्य कई पात्रों के लिए भी इसकी व्यंजकता सिद्ध होती है। उदाहरण के रूप में परशुराम, जटायु, बाली, हनूमान् आदि लिए जा सकते हैं जिनके लिए किसी न किसी सन्दर्भ में कवि ने वीर, महावीर या तद्वाची अन्य पदों के प्रयोग किए हैं। एक आश्चर्य का विषय यह भी है कि स्पष्टतः 'महावीर' शब्द का प्रयोग महावीरचरित में एक बार भी चरित-नायक राम के लिए नहीं किया गया है।[2] किन्तु यह भी सत्य है कि यहाँ जिन पात्रों के लिए 'महावीर' का प्रयोग हुआ है, उन सबों की तुलना में राम

---

१. सं० डि०, पृ० ८०० ।

२. एक बार राजा जनक ने राम के लिए **"वीरस्य तस्य महतः"** (म० च० : ४ : १२) का प्रयोग अवश्य किया है।

की शक्ति, तेज, प्रताप एवं महिमा अतिशायिनी होकर आयी है; जनक इसीलिए उन्हें **एकवीर** की संज्ञा से विभूषित करते हैं।[1] राम के शौर्य एवं अन्य गुणों की प्रशंसा में महावीरचरित से कई उद्धरण दिए जा सकते हैं। उनकी सर्वातिशायिनी महिमा की प्रबल अभिव्यक्ति इससे भी होती है कि वे स्वयं अपने विरोधियों या शत्रुओं तक को 'महावीर' शब्द से भूषित करते हैं—इस प्रकार वाली तक उनकी दृष्टि में 'महावीर' हैं।[2] अतः राम के अतिरिक्त यहाँ दूसरे जितने 'महावीर' आये हैं, वे सभी वस्तुतः राम के ही महावीरत्व का संपोषण करते हैं, उसी के जीवन्त मापक सिद्ध होते हैं। इस प्रकाश में देखने पर महावीरचरित के वास्तविक 'महावीर' राम ही प्रकट होते हैं, भले ही स्फुट रूप से उनके लिए इस विशेषण का प्रयोग कहीं नहीं किया गया हो।[3]

लेकिन **रामचरित** या **पूर्वरामचरित** जैसे नाम देकर भी भवभूति अपने इस नाटक में राम को 'महावीर' सिद्ध कर सकते थे; फिर, उन्हें इस पद के लिए ऐसा तीव्र आग्रह एवं सम्मोह क्यों होता है ? उत्तररामचरित में भी राम के कुछ विशिष्ट गुणों को कवि ने उनकी उदात्त भूमिका में बड़ी प्रभावोत्पादकता के साथ खड़ा किया है। इन गुणों में एक विशिष्ट गुण राम का **लोकाराधक** होना है—लोक के अनुरंजन के लिए राम अपनी प्रेयसी पत्नी सीता का भी त्याग कर देते हैं।[4] अतः महावीरचरित की तरह यदि इस नाटक का भी कोई नाम दिया जाय तो वह उत्तररामचरित नहीं, प्रत्युत **लोकाराधकचरित** की तरह कुछ होना चाहिए। यदि यह कहें कि महावीरचरित में आदि से अन्त तक 'वीर' रस की समर्थ व्यंजना हुई है, अतः इस रस के कारण ही इस नाटक का ऐसा नाम पड़ा, तो उत्तररामचरित में भी **ग्रावा तक को रुलानेवाले तथा वज्र के हृदय को भी विदलित करनेवाले** करुण रस की धारा प्रवाहित की गयी है; इतना होने पर भी भवभूति अपने इस नाटक का नाम **महाकरुणचरित** नहीं रखते। अतः इतना निश्चित है कि एक ही उपजीव्य पर आधृत तथा एक ही चरित-नायक के चित्रण करनेवाले इन दोनों नाटकों के नामकरण स्पष्टतः दो दृष्टिकोणों से किये गये हैं।

---

१. **"अयं विनेता दृप्तानामेकवीरो जगत्पतिः।"** —म० च० : ३ : ४६।

२. म० च० : ५ : ३६।

३. श्री आर० डी० कर्मार्कर की स्थापना हमारे इस अभिमत के सर्वथा विपरीत है (दे० भव०, पृ० १७-२०)। उनके मतानुसार महावीरचरित में भवभूति का उद्देश्य केवल एक महावीर (राम) का ही चरित-गान नहीं, प्रत्युत परशुराम, वाली, रावण, हनूमान्, जटायु एवं विश्वामित्र जैसे कई महावीरों का चरिताङ्कन करना भी है। हम कहाँ तक श्री कर्मार्कर के इस दृष्टिकोण से सहमत या असहमत हैं, इसका विवेचन ऊपर कर चुके हैं।

४. उत्तररामचरित के प्रथम अंक में ही राम का यह महनीय गुण उन्हीं के मुख से इस प्रकार व्यक्त होता है—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

—उ० च० : १ : १२।

कवि का वस्तुगत एवं भावगत आदर्श

महावीरचरित की कथावस्तु का जिस कुशलता तथा जिस रीति से संगठन किया गया है, उसके पीछे कवि के कुछ निश्चित आदर्श हैं। इस परिप्रेक्ष्य में सबसे पहली बात यह प्रकट होती है कि कवि राम के चरित पर मुग्ध है, उसने राम की कहानी को श्रद्धा एवं भक्तिभाव से ग्रहण किया है और कहानी का जो अंश उसके भक्तिभाव को कचोटता है, उसे परिवर्तित रूप देने में उसने तनिक भी हिचक नहीं दिखाई है। अतः इस कथापरिवर्तन के पीछे उसके दो भाव स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं—(१) राम की कहानी ऐसी न हो जिससे कवि के भक्तिभाव को कोई ठेस पहुँचे और (२) वह ऐसी भी न हो जो सामान्य नाटकीय मर्यादा या नियम के विपरीत पड़े। अपने इसी आदर्श के अनुरूप कवि ने राम के चरित्र में जहाँ कहीं भी कोई लक्ष्म देखा है, उसे अपने ढंग से धोने की चेष्टा की है—उसके कलंक-मार्जन की यह रीति नाटकीय मर्यादा के सन्तुलन में आयी है। न केवल राम, वरन् कुछ दूसरे चरित्रों को भी उसने बड़ी सहानुभूति से गढ़ने का प्रयत्न किया है। कदाचित् उसका यह विश्वास है कि राम के स्वजनों को भी राम के व्यक्तित्व के अनुरूप ही होना चाहिए। उसकी इसी आस्था का परिणाम है कैकेयी तथा वाली के चरित्रों का लक्ष्म-मार्जन। कैकेयी तो राम की माता ही ठहरीं, उन्हें निष्कलंक सिद्ध करने की बात हमारी समझ में आ जाती है; किन्तु वाली जैसे राम के प्रतिद्वन्द्वी को भी जब कवि एक अभिनव तथा उदात्त परिवेश में खड़ा करता है, तो हम दंग रह जाते हैं। कवि ने राम को तो यहाँ कलंकित होने से बचा ही लिया है, मूल कथा में अपने छोटे भाई सुग्रीव के प्रति आततायी वाली का जो अत्याचार दिखाया गया है, यहाँ वाली उससे सर्वथा भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। रामायण के इस कथाभाग में राम तथा वाली दोनों के चरित्र चिन्त्य दीखते हैं, किन्तु महावीरचरित में इन चरित्रों को निष्कलङ्क तो कर ही दिया गया है, उनमें एक अपूर्व निखार भी ला दिया गया है।

जैसा कि इस नाटक के नाम से ही स्पष्ट हो जाता है, कवि ने अपनी इस कृति में मुख्य रूप से वीर रस की व्यंजना करायी है। इस नाटक में 'वीर' शब्द का प्रयोग दो सौ से भी अधिक बार हुआ है।[1] कवि सूत्रधार के मुख से भी इस रस की सूचना पहले ही दे देता है।[2] राम की विविध वीरता की पुष्टि उसने आद्योपान्त बड़ी सफलता के साथ तो की ही है, उनके अद्भुत कृत्यों के लिए कई स्थलों पर प्रत्यक्ष रूप से 'अद्भुत' शब्द का प्रयोग किया है।[3] इससे कवि यहाँ वीर रस की निष्पत्ति के लिए कितना सचेष्ट है, हमें इसका स्पष्ट आभास मिल जाता है। स्वभावतः ही उसे अपनी कथावस्तु को जान-बूझकर कुछ ऐसे साँचे में ढालना अपेक्षित हो गया है जिससे उक्त रस की

---

१. एनल्स भा० : ३८, पृ० १४७।

२. "अप्राकृतेषु पात्रेषु यत्र वीरः स्थितो रसः"— मा० च० : १ : २।

३. एनल्स भा० : ३८, पृ० १५०।

समर्थ व्यंजना में कोई अवरोध उत्पन्न न होने पाये। राम को अपने प्रबल विरोधियों एवं शत्रुओं से जूझने का पर्याप्त अवसर दिया गया है, भले ही कहानी के अन्य अंशों के अभीष्ट प्रसंगों को या तो पूर्णतया उड़ा दिया गया है, या उनका अतिशय संक्षेपण कर दिया गया है। वीर रस के प्रति कवि के इस उत्साह का परिणाम उसके नाटकीय वृत्त के लिए कहीं-कहीं घातक भी सिद्ध हुआ है। परशुराम के कथा-प्रसंग को लगभग तीन अंकों तक खींचकर ले जाने से वीर रस की पर्याप्त निष्पत्ति तो अवश्य होती है, किन्तु नाटकीय कार्यव्यापार एक ही बिन्दु पर बड़ी देर तक उलझा रह जाता है। निश्चय ही हमारे यहाँ नाटक के तीन प्रधान तत्त्वों—वस्तु, नेता एवं रस—में रस को ही सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है, शेष दोनों तत्त्वों को रस के अनुरूप ढालने में ही नाटककार की कुशलता समझी गयी है। किन्तु इसका अर्थ यह कभी नहीं माना जा सकता कि वृत्त-भाग को शिथिल छोड़कर रस-सर्जना में व्यस्त रहना ही भारतीय नाटककारों का उद्देश्य रहा है। कथा-प्रवाह की ऐसी 'रस-पेशल'[1] शिथिलता श्रव्य-काव्यों के लिए उचित ठहराई जा सकती है, चूँकि वहाँ वर्णनात्मकता के द्वारा कवि को अपनी कला-चातुरी दिखाने का पर्याप्त अवसर प्राप्त होता है। किन्तु यही वर्णनात्मकता जब एक निश्चित सीमा का अतिक्रमण करने लगती है, तो वह दृश्यकाव्य का दूषण बन जाती है। नेता एवं वस्तु के विकास को पूर्णतया उपेक्षित छोड़कर नाटकों में रस की सर्जना नहीं की जा सकती।[2] भवभूति ने स्वयं भी आगे चलकर इस नाटकीय तथ्य को स्वीकार किया है।

भवभूति की दृष्टि में वही वीरता वास्तविक एवं महनीय मानी जा सकती है जो अहंकार-शून्य तो हो ही, साथ ही, व्यक्ति की विनम्रता, सहानुभूतिशीलता, परोपकार-परायणता आदि गुणों पर खड़ी हो। इन गुणों से रहित बड़ी से बड़ी शारीरिक शक्तियाँ ढह जाती है, चूँकि उनमें आत्मिक शक्ति का अमृत नहीं, वरन् पाशविक औद्धत्य का विष भरा होता है। इसी विष के चलते इक्कीस बार क्षत्रिय-वंश को निर्मूल करनेवाले महाबली परशुराम का अकुण्ठित पौरुष्य भी अन्ततोगत्वा राम की विनय एवं मानवीय मधुरता में सनी हुई वीरता के आगे घुटने टेक देता है। ठीक यही हाल वानरयूथपति वाली एवं निशाचरपति रावण का भी होता है। कवि ने इन सारे महावीरों के बीच राम को खड़ा किया है—राम, जो एक बार भी स्पष्ट रूप से

१. यों वृत्त को यदा कदा अनावश्यक रूप से तोड़ने या उसे गलत मोड़ देने का अवश्यम्भावी कुप्रभाव उसके रस-प्रवाह पर भी पड़ता है—रस के संपोषण के लिए सम्पुष्ट वस्तुतत्त्व की नितान्त अपेक्षा होती है। इसी अर्थ में नाट्यदर्पणकार ने, स्पष्ट शब्दों में, इतिवृत्त के अविच्छेद को रस-संपोष का निमित्त स्वीकार किया है—"**इतिवृत्तस्य अविच्छेदश्च रसपुष्ट्यर्थः**" (हि० ना० द०, पृ० १९६)।

२. तुल०—**न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत्।**
रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः।

—द० रू० : ३ : ३२।

'महावीर' नहीं कहे गये हैं, फिर भी, जो इन सबों में महान् और परम तेजस्वी हैं। व्यक्त रूप से उनका महावीर न बनना, शत्रुओं तक की वीरता का प्रशंसक होना तथा कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी धैर्य और विनय न खोना ही उनके अजेय पुरुषार्थ का मूलमन्त्र है। महावीरों के भी महावीर राम के पौरुष की झलक केवल वहीं नहीं मिलती जहाँ वे अपने किसी प्रतिपक्षी से वीरोचित संघर्ष करते हुए दिखाये जाते हैं; इन संघर्षों से अलग हटकर देखें तो भी वे वीर-ही-वीर हैं। इस प्रकार उनकी वास्तविक वीरता का रहस्य वहाँ है जहाँ वे विश्वामित्र के द्वारा ताटका-वध के लिए आदिष्ट होकर भी निर्भीक किन्तु सलज्ज स्वर में बोलते हैं—**"भगवन्, स्त्री खल्वियम्"**;[१] जहाँ वे मन्थरा-प्रविष्ट शूर्पणखा का आज्ञापत्र पढ़कर किसी प्रकार का रोष प्रकट किए बिना प्रसन्नता से नाच उठते हैं—**"तत्रैव गमनादेशो यत्र पर्युत्सुकं मनः।"**[२] उनके हृदय की ऐसी अप्रतिम विशालता एवं स्निग्धता के ऐसे प्रसङ्ग महावीरचरित में कई जगह खोजे जा सकते हैं जो उनकी तेजस्विता एवं वीर्य्यवत्ता के यथार्थ निदर्शन हैं।

ऊपर कवि के कतिपय भागवत आदर्शों का विवेचन हुआ। अब इन आदर्शों को उसने जिस वस्तु में ढाला है, उन्हें जो रूप प्रदान किया है, नाटकीय दृष्टि से उसका भी बहुत महत्त्व हो जाता है। प्रायः अच्छे-से-अच्छे आदर्श सामने रखकर भी कवि उन्हें 'फॉर्म' देने में भूल कर बैठते हैं, अथवा आदर्शों तथा उन्हें रूपायित करनेवाली रीतियों में वे सन्तुलन नहीं रख पाते। सौभाग्य से महावीरचरित की आत्मा एवं शरीर दोनों ही सन्तुलित एवं मर्यादित उतरे हैं। कवि ने मूल राम-कथा के बेतरह उलझे हुए तथा एक दूसरे से असम्बद्ध प्रसंगों की दूरव्यापिनी झाड़ियों के बीच अपने लिए एक सुगम मार्ग तैयार कर लिया है। यह मार्ग जहाँ उसकी नाट्य-प्रतिभा का साक्षी है, वहाँ उसके राम वृत्त की आत्मा को पहचानने की कुशलता का भी व्यंजक है। भवभूति से पहले भास ने भी राम की चौदह वर्षीय जीवन-अवधि को नाटकीय रूप प्रदान किया है। किन्तु भवभूति ने जिस बारीकी के साथ इस अवधि की घटनाओं को नाटकीय अन्विति प्रदान की है, वैसा भास नहीं कर पाये हैं। भास की कहानी में न तो वह मौलिकता है और न वह नाटकीयता, जो महावीरचरित में पाई जाती है। हाँ, भास प्रतिमा-गृह जैसे कुछ सन्दर्भों में मौलिक अवश्य दीखते हैं, किन्तु वहाँ भी प्रायः वे अपनी मौलिकता के साथ नाटकीयता का सम्यक् निर्वाह नहीं कर पाते। इधर भवभूति ने मूलकथा में जहाँ कहीं भी परिवर्तन किये हैं, वे नाटकीय दृष्टि से भी बड़े ही महत्त्व के सिद्ध होते हैं। भास ने कदाचित् नाट्यवृत्त के विस्तार के भय से राम के वनगमन से पूर्व की घटनाओं को छोड़ दिया है। किन्तु भवभूति ने न केवल बड़े साहस के साथ ताटका-वध, राम-विवाह, परशुराम-कोप आदि घटनाओं को अपने वृत्त में संवलित किया है, प्रत्युत इन सबको भावी घटनाओं के साथ अनिवार्य नाटकीय

---

१. म० च०, पृ० ३०।

२. म० च० : ४ : ४२।

सम्बन्ध में ग्रथित कर दिया है। महावीरचरित में आद्योपान्त इस सम्बन्ध का सूत्र कहीं भी टूटता हुआ प्रतीत नहीं होता; उधर प्रतिमा में ऐसी नाटकीय योजना का कई जगह अभाव दीखता है।

महावीरचरित के नाटकीय वृत्त की सबसे बड़ी विशेषता है माल्यवान् तथा शूर्पणखा को एक नयी भूमिका प्रदान करना। माल्यवान् की कूटनीति आरम्भ से अन्त तक इस वृत्त को अन्विति तथा पौर्वापर्य-सम्बन्ध का सूत्र प्रदान करती है। पहले परशुराम, मन्थरा, राम का वनगमन आदि प्रसंगों से राम के साथ लंकेश रावण की शत्रुता का कोई सम्बन्ध नहीं था—राम के जीवन से सम्बद्ध होकर भी ये सारे प्रसंग परस्पर विच्छिन्न एवं स्वच्छन्द-से प्रतीत होते थे। भवभूति की सूक्ष्म तथा ऐक्य-विधायिनी कला-दृष्टि ने राम-कथा के कई असम्बद्ध पहलुओं को या तो छोड़ दिया है, या उन्हें एक ही प्रवाह में अन्तर्भूत लहरों के रूप दे दिए हैं। कथानक की ऐसी ही एकान्विति के प्रशंसक आचार्य अरस्तू हैं जिनका स्पष्ट मत है कि नायक का एक होना ही उसके जीवन-वृत्त की अन्विति का आधार नहीं माना जा सकता। एक व्यक्ति के जीवन में नाना प्रकार की असंख्य घटनाएँ घटती हैं जिन्हें एकान्वित नहीं किया जा सकता। कथानक को एक तथा सर्वांगपूर्ण कार्य का अनुकरण करना चाहिए और उसमें विविध अंगों का संगटन ऐसा होना चाहिए कि यदि एक अंग को भी अपनी जगह से इधर-उधर करें तो सर्वांग ही छिन्न-भिन्न और अस्त-व्यस्त हो जाये।[1] भवभूति ने नाटकीय कथानक के इस सत्य को भलीभाँति समझा है और महावीरचरित में उसे बड़ी कलात्मकता के साथ उतारा है। कहना न होगा कि एकान्वित कथानक की इस भित्ति को तैयार करने में उन्होंने माल्यवान् तथा उसकी कूटनीतिक योजना से बड़ी सहायता ली है। यह इसी योजना का परिणाम है कि कैकेयी का चरित्र कलंकित होने से बच गया है तथा राम का सीता एवं लक्ष्मण के साथ वनगमन नाटकीय दृष्टि से साभिप्राय हो गया है। इस योजना से कथावस्तु अन्वित रूप से अपने लक्ष्य की ओर तो बढ़ती ही है, नाटककार ने इसके द्वारा कथा के सुविस्तृत आयाम को भी अपेक्षाकृत संक्षिप्त रूप देने में सफलता पाई है।[2] इस प्रकार विश्वामित्र के आश्रम में ही सीता की मँगनी के लिए आये हुए रावण-पुरोहित सर्वमाय के सामने ही ताटका-वध होता है, राम को

१. अ० न० : अनुवाद-खण्ड, पृ० २४-२५।

२. केवल परशुराम का प्रसंग इसका अपवाद होकर आता है। मूलकथा की अपेक्षा यहाँ इस प्रसंग को न केवल काफी महत्त्व दिया गया है, वरन् उसे विस्तृत भी कर दिया गया है। भवभूति की दृष्टि में शायद महाबली परशुराम के औद्धत्य के समानान्तर राम के सौम्य व्यक्तित्व का निर्माण राम के महावीरत्व के विकास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं। परशुराम के चरित्र की समग्र प्रखरता को जिस तटस्थता तथा निपुणता के साथ भवभूति ने उपस्थित किया है, वैसा कदाचित् संस्कृत वाङ्मय में दूसरा कोई नहीं कर पाया है। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो परशुराम की उद्दण्डताओं के कुशल चित्रण के अभ्यन्तर में वस्तुतः राम के महनीय चरित्र की शालीनता तथा अपराजेय विनयशालिता का सूक्ष्म प्रवाह है जो निरन्तर पुष्ट होता हुआ बहता गया है।

जृम्भकास्त्र समर्पित किया जाता है, शिव-धनुष तोड़ा जाता है और सीता के साथ राम के विवाह का प्राथमिक अनुष्ठान पूरा किया जाता है। इससे एक ओर तो कथा की सुदीर्घ विस्तृति को नाटकीय संक्षेप प्राप्त होता है, तो दूसरी ओर इसके द्वारा रावण के आसुरी पुरुषार्थ को प्रत्यक्ष चुनौती दी जाती है; इसी चुनौती का पहला परिणाम होता है राम के संहार के उद्देश्य से माल्यवान् द्वारा परशुराम का प्रयोग। रामायण में परशुराम के क्रोध के साथ रावण का कोई सम्बन्ध नहीं, वहाँ वह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व लिये हुए आता है। जब अजेय परशुराम भी राम से हार मान लेते हैं, तो माल्यवान् अयोध्या से संवाद लेकर जनकपुर जाती हुई कैकेयी की दासी मन्थरा के शरीर में शूर्पणखा का प्रवेश कराकर तथा उससे राम के साथ सीता एवं लक्ष्मण के भी वनवास के उद्देश्य की सिद्धि कराकर अपनी कुशल नीति के दूसरे शस्त्र का प्रयोग करता है। इस नीति-प्रयोग से कई प्रयोजन एक साथ ही एक ही जगह सिद्ध हो जाते हैं—(१) कैकेयी तथा मन्थरा दोनों के कलंक का मार्जन हो जाता है, (२) जनकपुर में ही राम के अभिषेक आदि का प्रसंग ला देने तथा वहीं उनके वनगमन की भूमि तैयार कर देने से कथानक का आयाम संक्षिप्त, किन्तु तीक्ष्णाग्र बन जाता है,[१] (३) आज्ञापत्र में राम के साथ सीता एवं लक्ष्मण के भी वनगमन का निर्देश कर देने से राम को सीता एवं लक्ष्मण को समझाने-बुझाने में व्यर्थ समय नहीं देना पड़ता, और (४) नाटकीय दृष्टि से सीता-हरण[२] की भूमिका यहीं तैयार हो जाती है।[३]

---

१. रामायण में विवाह के अनन्तर राम अपने बन्धु-बान्धवों के साथ अयोध्या जाते हैं और वहाँ सीता के साथ कुछ समय सुख-पूर्वक बिताने के पश्चात् ही उन्हें वन जाना पड़ता है। किन्तु महावीरचरित में राम और सीता को निश्चिन्ततापूर्वक दाम्पत्य सुख भोगने का थोड़ा भी समय नहीं दिया जाता है—उनके करसूत्र अभी टूटे भी नहीं, हाथ की हल्दी अभी मिटी भी नहीं कि उन्हें वन जाने का आदेश होता है। यह नयी स्थिति राम के जीवन-संघर्षों को तीव्रतर रूप देने में अधिक समर्थ हुई है।

२. वाल्मीकि ने सीता-विवाह के प्रसंग से रावण को सर्वथा पृथक् रखा है। वहाँ तो अरण्यवास के समय राम के रूप पर लट्टू हुई शूर्पणखा के जब नाक-कान काट लिये जाते हैं, तो वह राम से बदला लेने के विचार से अपने भाई रावण के पास जाती है और सीता के रूप-लावण्य का वर्णन करके रावण के मन में सीता-अपहरण की इच्छा जाग्रत करती है (दे० रामा० : अरण्यकाण्ड : ३४)। अकम्पन नामक राक्षस के द्वारा पहले से ही रावण के मन में सीता-अपहरण की कामना जगा दी गयी होती है। भवभूति ने बड़ी ही नाटकीय कुशलता के साथ सीता-विवाह को उद्दण्ड रावण की अखण्ड वीरता एवं प्रताप के लिए राम की पहली चुनौती बना दी है। आगे की सारी घटनाएँ इसी से जन्म लेती हैं।

३. माल्यवान् ने अपने नीति-नैपुण्य से रामके वनगमन को कितना साभिप्राय कर दिया है, यह उसकी इस उक्ति में द्रष्टव्य है—**"ततोऽनेन योगाचारन्यायेन दूरमाकृष्य रक्षसामङ्कमुपनीतस्य विन्ध्यकान्तारेष्वदेशज्ञस्य विचरतः सुकराण्येवावस्कन्दनानि स्युः। विराधदनुकबन्धप्रभृतयस्तीक्ष्णा दण्डकारण्यसत्रेषु चरिष्यन्ति। ते हि शक्ताः लुप्तप्रभुशक्तेरुत्साहशक्तिं छद्मनातिसंधातुम्। अनिवर्तनीयश्च रावणस्य सीतास्वीकारग्रहः। स चैवमीषत्करः सप्रयोजनश्चेति।"** —म० च०, पृ० १३२।

किन्तु सत्य का मार्ग संघर्ष की आँधियों में जब-तब ओझल भले हो जाय, वह लक्ष्य से विच्छिन्न कभी नहीं होता—भारतीय नाटककारों को 'सत्यमेव जयते' मन्त्र में ध्रुव आस्था है। इसी आस्था के परिणाम हैं नीतिज्ञ माल्यवान् की उक्त योजना की असफलता और एकाकी राम के विजय की ओर बढ़ते हुए अडिग चरण। रावणकी हित-चिन्तना में लगा हुआ माल्यवान् तब भी हार नहीं मानता। वह महापराक्रमी वाली को रावण की मैत्री का हवाला देकर राम के विरुद्ध भड़काने में कृतकार्य होता है। सीता तो इसके पहले ही रावण द्वारा अपहृत हो चुकी रहती हैं; राम के टूटे हुए मन तथा थके-हारे शरीर पर यह दूसरा वज्र-प्रहार किया जाता है। किन्तु राम के उज्ज्वल पुरुषार्थ का एक रूप यह है कि वे कठिन से कठिन परिस्थिति में भी निराश नहीं होते और न उनका मनोबल हार मानता है। अन्ततोगत्वा जब उनके पुरुषार्थ के चरण वाली के रूप में आयी हुई विकट आँधी को भी लाँघ जाते हैं, तो माल्यवान् के आगे राम के साथ प्रत्यक्ष संघर्ष के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं रह जाता है। होता भी यही है—रावण पर राम की विजय होती है, असत्य का घना अन्धकार सत्य के प्रखर तेज से सदा के लिए टूट जाता है, अन्याय पर न्याय की विजय-पताका फहराने लगती है।

महावीरचरित के नाटकीय वृत्त को यदि ध्यान से देखें तो उसमें आदि से अन्त तक कार्य-कारण-सम्बन्ध दीखता है। रामायण में इस सम्बन्ध का प्रायः अभाव है—वहाँ राम के जीवन-वृत्त के साथ उक्त घटनाएँ विश्रृंखलित रूप से जुड़ी हुई हैं। भवभूति की नाट्यकला का सर्वोपरि चमत्कार यहाँ इसी में दीखता है कि वे इन्हें न केवल श्रृंखलाबद्ध कर देते हैं, वरन् उनमें कार्य-कारण-भाव के प्राण फूँक देते हैं। भवभूति अच्छी तरह जानते हैं कि उनका मार्ग क्या है, उन्हें कहाँ जाना है; अपने लक्ष्य से वे कहीं भी भ्रान्त नहीं होते।[1]

उत्तररामचरित

महावीरचरित के पश्चात् उत्तररामचरित तक आते-आते ऐसा प्रतीत होता है, मानो हम शाद्वल उपत्यका के मार्ग का त्याग करके अपने विराट् गौरव एवं प्रशान्त सुषमा में अवस्थित हिमालय के उच्च शिखरों से गुजर रहे हों। व्यक्ति-मानव एवं समष्टि-मानव की गहनतम अनुभूतियों, तीव्रतम संवेगों तथा द्वन्द्वाविष्ट विकट मानसिक संघर्षों के जैसे नाटकीय चित्र यहाँ प्राप्य हैं, वैसे अब तक उपलब्ध संस्कृत की किसी दूसरी नाट्यकृति में नहीं मिलते। भवभूति के कीर्तिस्तम्भ का प्रमुख आधार यही नाटक है, उनके शेष दोनों नाटकों की महत्ता इसमें भी है कि वे उत्तररामचरित की उपयुक्त पृष्ठभूमि बनकर आते हैं। विशेषतः महावीरचरित के साथ प्रस्तुत नाटक की कई संगतियाँ, किन्तु उनसे

---

१. His changes are deliberate, well-advised. He seems to have had a clear conception of just what he wanted to do and what to avoid.

—बे० उ० च०, पृ० ६५।

भी अधिक विसंगतियाँ द्रष्टव्य हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन दोनों नाटकों की प्रकृति तो एक है ही, इनके नायक, नायिका आदि भी समान हैं; नायक राम के चरित्र का जो उत्कर्ष महावीरचरित में निरूपित हुआ है, प्रायः अपने उसी उत्कर्ष में वे उत्तररामचरित की एक अभिनव भूमिका में उतरे हैं। महावीरचरित में कवि ने यदि राम के महावीरत्व को विकेन्द्रित करके उसके अलग-अलग अंगों को सम्पुष्ट किया है, तो उत्तररामचरित में उसे केन्द्रित करके उसके समन्वित औदात्त्य को पूर्ण एवं परिपक्व बनाया है। किन्तु इन दोनों नाटकों की ये अथवा इनकी जैसी दूसरी समानताएँ बहुत कुछ स्थूल हैं; इसीलिए इनको वह महत्त्व नहीं दिया जा सकता जो इनकी असमानताओं को प्राप्त है, चूँकि ये असमानताएँ ही ऐसी सूक्ष्म मापक हैं जो इन दोनों नाटकों के पृथक् सत्त्वों की दिशा निर्धारित करती हैं।

महावीरचरित के कतिपय नाटकीय वैशिष्ट्यों की मीमांसा हम ऊपर कर आये हैं। उनके प्रकाश में उत्तररामचरित को देखने पर हमें स्पष्ट हो जाता है कि क्या वस्तु और क्या भाव, दोनों ही दृष्टियों से हम किसी बहुत ऊँचे धरातल पर आ पहुँचे हैं। यों सभी भारतीय नाटक स्वभावतः ही भाव-प्रधान होते हैं, महावीरचरित इसका अपवाद नहीं माना जा सकता। किन्तु इस नाटक के भाव जहाँ इसके वृत्त के पोषक जान पड़ते हैं, उत्तररामचरित का वृत्त उसके भावों का पोषक प्रतीत होता है। अर्थात् एक का भाव इसलिए है कि उसकी कहानी में कोई असंगति न आने पाये तथा वह निर्बाध रूप से आगे बढ़ती जाय; और दूसरे में वृत्त इसीलिए है कि उसके भावों का सामंजस्य बना रहे और उसका कहीं स्खलन न दीख पड़े। राम के पूर्वचरित को निबद्ध करनेवाले नाटक महावीरचरित में नाटककार की प्रधान समस्या एक उलझे हुए कथानक को लेकर आई है; इसीलिए यहाँ उसके जितने नवीन आविष्कार दीख पड़ते हैं, वे प्रायः वृत्तगत होकर प्रकट हुए हैं। उधर उत्तररामचरित में कवि के लिए कहानी की ऐसी कोई समस्या नहीं। चाहे वाल्मीकिकृत रामायण को लें, अथवा पद्मपुराण को, दोनों में ही राम द्वारा सीता-निर्वासन की कथा थोड़े से अन्तर के साथ दी हुई है; कवि ने अपने नाटकीय वृत्त के लिए इसी कथानक को बहुत कुछ अविकल रूप में ग्रहण कर लिया है। अतः यहाँ उसके नाटकीय आविष्कारों का प्रधान क्षेत्र राम का स्थूल वृत्त नहीं, वरन् उनका सूक्ष्म मनोजगत् है जहाँ सीता के निर्वासन से सम्भूत कई उलझी हुई गुत्थियाँ जन्म लेती हैं—ये ही गुत्थियाँ, उनके निदान तथा मौलिक समाधान उत्तर-रामचरित के वास्तविक वैशिष्ट्य हैं।

जिस एक समस्या ने भवभूति को उत्तररामचरित लिखने की प्रेरणा दी, वह थी—क्या राम द्वारा सीता का निर्वासन उचित था ? इस नाटक का सम्पूर्ण वृत्त इसी प्रश्न या उसके समाधान के इर्दगिर्द चक्कर काटता हुआ प्रतीत होता है। इसके पहले महावीरचरित में कवि ने कई स्थलों पर राम, उनके सहयोगियों तथा प्रतियोगियों के चरित्रों का उन्नयन किया है तथा उनके कथाभाग को सज-सँवारकर एक नयी दिशा दी है; वहाँ उसका लक्ष्य राम-वृत्त का कोई एक बिन्दु नहीं। यही कारण है कि एक

ही बिन्दु को लक्ष्य बनाकर उसके कलात्मक उभार दिखाने में कवि की जो तन्मयता उत्तररामचरित में दीखती है, वह महावीरचरित में प्राप्त नहीं होती। उत्तररामचरित की सफलता के पीछे कवि की इस केन्द्राभिमुखी एकाग्रता का भी बहुत बड़ा योगदान है। अपनी ऐसी एकाग्रता को नाटकीय रूप देने के लिए कवि के पास भावों की पर्याप्त पूँजी तो उपलब्ध है, किन्तु स्थूल वृत्त का वैसा भण्डार नहीं जैसा उसे महावीरचरित के लिए प्राप्त हुआ था। इसीलिए किसी-किसी आलोचक की दृष्टि में उत्तररामचरित के किंचित् सन्दर्भों में या तो कार्यव्यापार का अभाव दीखता है, या वृत्त-भाग की शिथिलता। कवि ने अपने नाटक के लिए राम-कथा का जो खण्ड चुना है, उसके लिए ऐसी कमियाँ प्रत्याशित ही लगती हैं। किन्तु, जैसा कि हम आगे दिखायेंगे, भवभूति की महत्ता का एक बहुत बड़ा प्रमाण यह भी है कि उनका भाव अपनी वस्तु के सन्तुलन में है—संक्षेप में, अपने भाव के सर्वथा अनुरूप उनकी वस्तु-योजना हुई है।

मर्यादापुरुषोत्तम राम अपनी प्रेयसी पत्नी को जिस झटके से निर्वासित कर देते हैं, उससे किसी भी सहृदय पाठक के मन को धक्का लगे बिना नहीं रहता। उनके महान् चरित्र-बल, सीता के प्रति एकनिष्ठ प्रणयभाव, गुरुजनों की उपस्थिति आदि के परिपार्श्व में विचार करने पर यह निर्वासन—जो मात्र अलीक लोकापवाद के कारण हुआ—अत्यन्त असंगत एवं कठोर तो लगता ही है, रामोचित भी प्रतीत नहीं होता। यह ठीक है कि राम के उज्ज्वल चरित्र में इसके अतिरिक्त भी कुछ दूसरे लक्ष्म दृष्टिगत होते हैं, जैसे उनका छिपकर वालिवध करना। किन्तु इसमें तथा सीता-निर्वासन की प्रकृति में एक मूलभूत अन्तर है—पहला राम के यशःकाय पर अधिक से अधिक एक **कलंक** है, किन्तु दूसरा रामचरित्र की उदात्त एवं प्रशान्त गति में एक **समस्यामूलक विसंगति** बनकर उपस्थित होता है। यही कारण है कि महावीरचरित में वृत्त-भाग को थोड़ा-सा परिवर्तित रूप दे देने से ही पहले कलंक का मार्जन हो गया है, किन्तु यहाँ तो पूरा का पूरा उत्तररामचरित रामचरित्र की इसी विसंगति को दूर करने का मौलिक प्रयास है। जिस प्रकार कालिदास ने दुष्यन्त एवं शकुन्तला की चरित्र-रक्षा के लिए दुर्वासा के शाप जैसा अतिमानुषिक प्रसंग खड़ा कर दिया है, भवभूति भी अपने नायक के चरित्र को कुछ इसी प्रकार अतिप्राकृत ढंग से बचा सकते थे। किन्तु वे राम की चारित्रिक समस्या को मूलतः एक मानव-समस्या के रूप में ग्रहण करते हैं और उनका समाधान भी मानव-समाधान होता है। इस सन्दर्भ में भवभूति की कलादृष्टि कालिदास की कला-दृष्टि से न केवल अधिक मानवीय है, वरन् अधिक उदात्त एवं विचारोत्तेजक भी है।

भवभूति का पहला लक्ष्य होता है सीता-निर्वासन की समुचित नाटकीय पृष्ठभूमि का निर्माण। सीता-निर्वासन तो एक कार्य मात्र था; वह तब तक स्वाभाविक एवं सहज नहीं बन सकता जब तक उसके हेतु-बीज सम्पुष्ट न हों, स्वाभाविक एवं फलापेक्षी न हों। पृष्ठभूमि का यह उत्कर्ष हमें उत्तररामचरित के प्रथम अंक में ही मिल जाता है। इस नाटक का प्रथम अंक न केवल उस निर्वासन की सम्यक् पार्श्वभूमि बनता है, वरन् सीता-त्याग के चलते जिन कार्य-व्यापारों की निःसृति भावी अंकों में होती है, उन

सबके सूक्ष्म बीजाणु यहाँ वर्तमान हैं। किसी नाटक का कोई एक अंक इतने सारे महनीय गुणों से संवलित हो, एक मात्र यही चीज उसकी महती उपलब्धि मानी जा सकती है। हमारी ऐसी दृढ़ धारणा है कि जिस सफलता के साथ उत्तररामचरित का प्रथम अंक विशाल नाटकीय सम्भावनाओं को चित्रमय समास-शैली में व्यक्त करता है, वैसा संस्कृत के किसी भी नाटक का कोई एक अंक नहीं कर पाया है।

नाटक की प्रस्तावना में ही प्रेक्षकों को चार ऐसी बातों का पता मिल जाता है जिनका नाटकीय महत्त्व है—(१) राम अभी-अभी अभिषिक्त हुए हैं, (२) उनके अभिषेक में आमन्त्रित लंकायुद्ध के सहयोगी मित्रवर्ग राजर्षि, महर्षि आदि विदा किये जा चुके है, (३) ऋष्यश्रृंग के द्वादशवार्षिक यज्ञ में भाग लेने के लिए वसिष्ठ, अरुन्धती तथा राम की माताओं का भी प्रस्थान हो चुका है और (४) सीता के सम्बन्ध में रक्षोगृहस्थितिमूलक लोकापवाद भी फैल चुका है। इतना ही नहीं, सूत्रधार की यह बलवती आशंका भी है कि यदि सीता-सम्बन्धी फैली हुई किंवदन्ती महाराज राम के कानों तक पहुँचे, तो बड़ा अनर्थ होगा। इस प्रकार एक सम्भावित अनर्थ के प्रति पाठकों या दर्शकों के मन को पहले ही साशंक, अतः समुत्सुक कर दिया जाता है। यह आशंका कहीं ऐसी न हो कि उसमें राम और सीता का अमंगल प्रतिबिम्बित होने लगे, इसके लिए भी कवि पूर्णतः सचेष्ट है—जब नट कहता है कि देवता तथा ऋषि लोग सब प्रकार से मंगल करेंगे, तो इस कथन से नाटक के सुखान्त मांगलिक रूप की सूक्ष्म झलक भी मिल जाती है।

प्रस्तावना का अन्त जिस श्लोक[1] से होता है उसकी नाटकीय संगति एवं व्यंजकता द्रष्टव्य है। मिलन एवं वियोग, उत्सव एवं शोक तथा विषण्णता एवं परिसान्त्वना जैसे द्वन्द्वाविष्ट भाव कुछ ऐसी सांकेतिकता के साथ यहाँ बीज-रूप में निक्षिप्त किये गये हैं कि वे भावी नाटकीय भाव-धारा एवं मनोवैज्ञानिक संवेगों के समर्थ पृष्ठाधार सिद्ध होते हैं। अपने स्नेही पिता राजर्षि जनक के वियोग में अवसन्न देवी को आश्वस्त करने के लिए नरेन्द्र अपने धर्मासन से उठ कर वासगृह की ओर जा रहे हैं। सहृदय सामाजिकों या पाठकों का ध्यान यहाँ 'देवी', 'नरेन्द्र' एवं 'धर्मासन' जैसे पदों की ओर स्वतः ही आकृष्ट हो जाता है। कवि इनके बदले क्रमशः सीता, राम तथा सिंहासन जैसे शब्दों का प्रयोग कर सकता था। किन्तु कुछ ही समय के पश्चात् वह जिस धर्म या न्याय (=धर्मासन) के नाम पर लोकाराधक (=नरेन्द्र) द्वारा तीर्थोदक एवं वह्नि जैसी पवित्र सीता (=देवी) का त्याग कराता है, उस सन्दर्भ में उक्त पदों की सटीकता दर्शनीय है। व्यक्ति-मानव के मोहक स्वप्नों एवं तरल आनन्द-भावों के इन्द्रधनुष पर चट्टान की तरह दृढ़ खड़े निर्वैयक्तिक लोक-धर्म की अजेयता का मन्त्रोच्चार, वियोग-जन्य वेदना की सान्द्रता तथा उसके कलात्मक एवं मनोवैज्ञानिक परिहार पर केन्द्रित

---

१. स्नेहात्सभाजयितुमेत्य दिनान्यमूनि नीत्वोत्सवेन जनकोऽद्य गतो विदेहान्।
देव्यास्ततो विमनसः परिसान्त्वनाय धर्मासनाद्विशति वासगृहं नरेन्द्रः॥
—उ० च० : १ : ७।

नाटक की विषयवस्तु के समारम्भ के लिए इससे अच्छे सांकेतिक भाव-स्फुरण की कल्पना नहीं की जा सकती। नाट्यशास्त्र की शब्दावली में प्रस्तावना का अंगभूत यह प्रयोगातिशय[1] निश्चय ही महावीरचरित एवं मालतीमाधव के अत्यन्त सामान्य से दीखने-वाले आमुखों के गठन पर एक कलात्मक एवं भावात्मक विकास है[2]।

सीता को निर्वासित करने से पूर्व राम की कतिपय परिस्थितियों को प्रस्तावना की उक्त चार प्रतिज्ञाओं में व्यंजित किया गया है। तिस पर अष्टावक्र के द्वारा गुरु वसिष्ठ का जो आदेश उन्हें मिलता है—प्रजा की सेवा में सर्वदा जुटे रहना—वह अपने गुरुजनों से दूर पड़े हुए, नये कार्यभार के संवहन के प्रति जागरूक, धर्मपरायण महाराज राम के कर्तव्यभाव को मानो और भी तीव्र बना देता है। गुरु के इस आदेश को शिरोधार्य कर लेने के पश्चात् अपनी नयी परिस्थिति में राम प्रजा के अनुरंजन के निमित्त बड़ा से बड़ा त्याग कर देने के लिए कृतसंकल्प हो जाते हैं।[3] यह भी स्पष्ट हो जाता है कि राम प्रजा को प्रसन्न करने की दिशा में कोई भी निर्णय लेने को सर्वथा स्वच्छन्द तो हैं ही, उनका मार्गदर्शन कराने के लिए कोई भी गुरुजन उनके सन्निकट नहीं, अतः अपने कर्तव्य-निधारण में वे सर्वथा एकाकी हैं।

यह तो हुई नये राजा राम की मानसिक अवस्था तथा उसमें उनके कतिपय बाह्य परिवेशों की एक झलक जिनके प्रभाव से वे दुर्मुख के मुख से जनापवाद की चर्चा को सुनते ही सीता-परित्याग के लिए अविलम्ब तैयार हो जाते हैं। किन्तु केवल इतनी-सी स्थिति को मोटे तौर पर निरूपित करने के तुरत बाद सीता जैसी पत्नी का त्याग करा देना नाटकीय कला की दृष्टि से बहुत सामान्य हो जाता। भवभूति का सजग कलाकार, इसीलिए, परित्याग से पूर्व राम एवं सीता के अन्तस् में मनोवैज्ञानिक संवेग भरकर उनकी बाह्य परिस्थितियों को और भी नाटकीय महत्त्व प्रदान करता है। राम और सीता दोनों में से कोई नहीं जानते कि वे शीघ्र ही एक दूसरे से वियुक्त होने वाले

---

१. प्रयोगेऽत्र प्रयोगं तु सूत्रधारः प्रयोजयेत्।
ततश्च प्रविशेत् पात्रं प्रयोगातिशयो हि तत्॥
—ना० शा० : २२ : ३३।

२. तुल०—
(क) निमन्त्रितस्तेन विदेहनाथः स प्राहिणोद्भ्रातरमात्तदीक्षः।
कुशध्वजो नाम स एष राजा सीतोर्मिलाभ्यां सहितोऽभ्युपैति॥
—म० च० : १ : ९।

सूत्रधारः—
(ख) × × × ×
सूत्रधारः—बाढम्। एषोऽस्मि कामन्दकी संवृत्तः।
नटः—अहमप्यवलोकिता।
—मा० मा०, पृ० १०।

३. उ० च० : १ : १२।

ही साथ कई नाटकीय अर्थों की सिद्धि कराई है। ये चित्र या तो नाट्यवस्तु के गठन में सहायक होते हैं, या नाटक के मनोविज्ञान अथवा रस की दृष्टि से महत्त्व रखते हैं। पहला चित्र जृम्भकास्त्रों के दिव्य रूपों का है जिनसे नाटक के आदि में ही अद्‌भुतत्त्व की सृष्टि की जाती है। नाटकीय विषयवस्तु के कलात्मक विन्यास में अद्‌भुत तत्त्वों का अपना वैशिष्ट्य है, इसीलिए भारतीय नाटकों की अन्तिम सन्धि 'निर्वहण' में अद्‌भुत का समावेश अनिवार्य माना गया है। भवभूति की विशेषता यहाँ इसमें दीखती है कि उन्होंने अपने नाटक के आरम्भ में ही अद्‌भुत, विप्रलम्भ एवं करुण की भावात्मक संसक्ति के द्वारा जिस नाटकीय भाव-धारा का उन्नयन किया है, नाटक के अन्त में उसकी कलात्मक परिणति भी इन्हीं तीन तत्त्वों के माध्यम से कराई है। आदि और अन्त का यह अपूर्व समवाय उत्तररामचरित के वैयक्तिक स्वरों में से एक है जो इस नाटक को भाव-संगठन की दृष्टि से महत्तर प्रतिष्ठा प्रदान करता है।

इसके समारम्भ की नाटकीय प्रखरता दर्शनीय है जहाँ लक्ष्मण के मुख से सीता की अग्नि-विशुद्धि के उच्चारण मात्र से राम की आत्मा तिलमिला जाती है—उनकी दृष्टि में सीता अग्नि एवं तीर्थजल की भाँति हैं जो किसी भी अन्य पदार्थ से अपनी शुद्धि की अपेक्षा नहीं रखते।[२] चित्रदर्शन के आरम्भ में यह अग्नि-शुद्धि का प्रसंग जो इस प्रकार अनायास आ पहुँचा है, उससे एक ही साथ कई भावात्मक कार्य सिद्ध होते हैं—परित्याग से पूर्व राम के हृदय में सीता के प्रति उदात्त प्रीतिभाव को परा कोटि पर पहुँचाने के नाटकीय उद्देश्य में त्वरा प्राप्त होती है, दर्शकों के मन से ऐसी कोई भी शंका तत्क्षण नष्ट हो जाती है कि सम्भवतः राम भी अपने अन्तरतम में सीता के चरित्र को लेकर शंकालु हो चले थे, राम के हृदय में पहले ही सीता को लेकर एक ऐसी सजल करुणा पनप जाती है[३] जो आगे के कारुणिक प्रसंगों के लिए एक सहज पृष्ठभूमि सिद्ध होती है।

चित्र में जैसे-जैसे अतीत के पृष्ठ खुलते जाते हैं, सीता के प्रति राम का प्रणय-संवेग पराकाष्ठा की ओर बढ़ता जाता है। नाटककार ने यहाँ स्पष्ट कारणों से सीता के प्रति राम के प्रीतिभाव को जितना उच्छलित किया है, उतना राम के प्रति सीता की अनुरक्ति को स्वर प्रदान नहीं किया है। वस्तुतः यहाँ नाटककार का प्रधान उद्देश्य **राम के चरित्र को बचाना है**; सीता तो पीड़िता रही हैं—उनके सुविदित विशुद्ध चरित्र एवं पतिपरायणता पर प्रश्नचिह्न उठाने का न तो कोई अवकाश है, न प्रयोजन। हाँ, जहाँ

वृत्तान्त, (३) भगवान् भार्गव, (४) अयोध्या-आगमन, (५) मंथरा, (६) इंगुदीवृक्ष, (७) जटासंयमन, (८) भगवती भागीरथी, (९) श्याम वट, (१०) विराध-संरोध, (११) दक्षिणारण्य-प्रवेश, (१२) प्रस्रवण गिरि, (१३) पंचवटी में शूर्पणखा, (१४) गृध्रराज जटायु, (१५) चित्रकुंजवान्, मतंग का आश्रम, श्रमणा तथा पंपासरोवर, (१६) हनूमान् और (१७) माल्यवान् पर्वत।

२. वही : १ : १३।

३. वही : १ : १४।

तक सीता की अपने पति के प्रति दिव्य-सी दीखने वाली अनुरक्ति को मानवीय धरातल पर लाने का प्रश्न है, कवि ने उत्तररामचरित के तृतीय अंक में इसके लिए मौलिक प्रयास किया है और अपने इस कार्य में आशातीत सफलता भी पायी है। प्रथम अंक के चित्र-दर्शन में नाटककार की उच्च कलात्मकता वहाँ झलकती है जहाँ उसने अपने पति के प्रति सीता के अगाध निष्ठाभाव को अतीत वियोग की जीवन्त कल्पना के द्वारा वर्तमान-से दीखने वाले पति-विप्रयोग की दुसह वेदना में परिणत कर दिया है।[१] इस सन्दर्भ का कारुणिक व्यंग्य प्रत्यक्ष है। सीता को क्या पता कि वे सचमुच ही पहले से भी अधिक कठोर वियोगाग्नि की तीखी ज्वालाओं में झुलसने जा रही हैं।

लक्ष्मण के कथनानुसार राम के अतीत वृत्त पर आधृत चित्रों का अंकन सीता की अग्नि-परीक्षा तक हुआ था, किन्तु नाटककार ने बड़ी ही कुशलता तथा मार्मिकता के साथ इस सन्दर्भ को माल्यवान् पर्वत के चित्र तक लाकर ही समाप्त कर दिया है। सीता के अतीत विरह के आर्द्र भावों से अप्यायित राम का हृदय नये मेघों से समाच्छन्न माल्यवान् पर्वत के चित्र को देखते ही शोक-विह्वल हो उठता है।[२] इस प्रकार अपने अपने ढंग से राम तथा सीता दोनों के हृदय वर्तमान के सुखमय क्षणों में भी अतीत विरह को प्रत्यक्ष-सा अनुभव करने लगते हैं। उनके मन को इस अशान्त स्थिति तक पहुँचाकर कवि वस्तुतः उन्हें भावी अशान्ति को ग्रहण करने के लिए तैयार कर रहा है। इस बिन्दु तक आते-आते वृत्त-प्रवाह में एक दूसरा मोड़ आता है—चित्रदर्शन के क्लेशों से थकी-माँदी सीता राम की भुजा का अवलम्ब लेकर सो जाती हैं। उस सुलाने तथा शयन करने के ढंग में कितनी बड़ी तन्मयता, दो हृदयों का अटूट विश्वास और निश्छल अनुराग तरंगित होने लगते हैं! निद्रित सीता को लक्ष्य करके राम ने अपने सुखी दाम्पत्य-प्रेम के जो स्नेह-पगे भावोद्गार व्यक्त किये हैं, वे भावी वियोग-क्लेश के सर्वथा विरोध में जा पड़ते हैं; आमने-सामने खड़ी दो विरोधी परिस्थितियों का यह व्यंग्य उत्तररामचरित की नाट्यकला का एक आदर्श निदर्शन है। इस व्यंग्य की तीव्रता वहाँ और भी मूर्त हो जाती है जहाँ पत्नी-प्रेम की शीतल ऊष्मा में निमज्जित राम के हृदय को अचानक दुर्मुख की वाणी से अप्रत्याशित एवं अनिर्वचनीय आघात पहुँचता है और वे अपनी ही भुजा पर परम विश्वास, अनुराग एवं शान्ति से सोई हुई सीता का परित्याग कर देते हैं। जिस सीता को राम इतना पवित्र, राममयजीवित तथा अपने सुख का एकमात्र आधार मानते हैं, उसी को तृणवत् त्याग देने में उनके धैर्य तथा कर्तव्यशक्ति की पराकाष्ठा दृष्टिगत होती है। वास्तव में जिस प्रकार सीता के प्रति राम का स्निग्ध प्रेम रामसदृश है, उसी प्रकार उन्हीं के द्वारा उसी सीता का कठोर परित्याग भी रामसदृश ही है।

---

१. **"हद्धी हद्धी। अहं वि अदिभूमिं गदेण रणरणएण अज्जउत्तसुण्णं विअ अत्ताणं पेक्खामि।"**

—वही, पृ० १९।

२. वही : १ : ३३।

संक्षेप में, राम द्वारा सीता-निर्वासन के औचित्य को कवि ने कई प्रकार से सिद्ध करने की चेष्टा की है—राम नये राजा हैं, अतः अपने राजधर्म के पालन में स्वभावतः ही उनका किसी पुराने राजा की अपेक्षा बहुत अधिक उत्साह है; गुरुजनों के व्यवहित होने के कारण वे अपने कर्तव्याकर्तव्य के निर्धारण करने में सर्वथा स्वतन्त्र हैं; गुरु वसिष्ठ का अष्टावक्र के द्वारा भेजा हुआ सन्देश उनकी कर्तव्य-बुद्धि को और भी जागरूक बना देता है। राम की स्थिति के इसी बहुत कुछ स्थूल पक्ष को चित्र-दर्शन की योजना द्वारा एक मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया गया है। इस प्रकार नाट्य-कला के किसी भी दृष्टिबिन्दु से विचार करें, उत्तररामचरित का प्रथम अंक सुगठित, सुविचारित एवं सुस्थित नाटकीय पार्श्वभूमि का काम करता है।

प्रथम अंक एवं द्वितीय अंक की घटनाओं के बीच बारह वर्षों का सुदीर्घ व्यवधान होता है। यह व्यवधान ऊपर-ऊपर नाटकीय कार्य-व्यापार की एकान्वित निर्बाध गति की दृष्टि से एक खटकने वाली वस्तु हो जाता है। निश्चय ही सीता-निर्वासन के पश्चात् इन बारह वर्षों की दीर्घ अवधि में राम एवं सीता दोनों के जीवन में कुछ ऐसी बातें भी घटित हुई होंगी जो दोनों के व्यक्तित्व के निर्माण एवं गठन में परम सहायक रही होंगी। नाटक के वर्तमान सन्दर्भ की दृष्टि से भी उनमें से कई बातों का विशिष्ट महत्त्व रहा होगा। अतः इस दीर्घकाल की ऐसी कुछ घटनाओं को भवभूति प्रत्यक्षतः मंच पर उपस्थित कर सकते थे, लेकिन उन्होंने ऐसा कुछ नहीं किया है। यदि ध्यान से विचार किया जाय तो इसके पीछे भी उनकी कलादृष्टि का वैशिष्ट्य ही प्रकट होता है। कोई आवश्यक नहीं कि सभी प्रकार की घटनाओं तथा उनके अनुक्रम में विविध काल-खण्डों को एक सूत्र में पिरोने के निमित्त मंच पर उनके प्रत्यक्ष चित्र प्रस्तुत किये जायँ। मंच पर उनके प्रत्यक्षीकरण के बिना भी वांछित नाटकीय प्रभाव की सृष्टि सम्भव है, कवि ने इस सत्य को प्रथम अंक के चित्र-दर्शन में ही सिद्ध कर दिया है। चित्र-दर्शन में राम का सुदीर्घ अतीत मंच पर प्रत्यक्षतः सन्निविष्ट न होकर भी वर्तमान का अंगभूत होकर प्रेक्षकों के मन-प्राणों पर छा जाता है; उसमें कहीं भी व्यवधान दृष्टिगत नहीं होता। द्वितीय अंक में भी यत्र-तत्र कुछ कलात्मक चित्रों के स्फुरण को अतीत काल के कतिपय मार्मिक अंशों पर इस कलात्मकता तथा भावान्विति के साथ प्रक्षिप्त किया गया है कि कालिक व्यवधान की चेतना ही नष्ट हो जाती है। इनमें से बारह वर्षों के विशाल अन्तर को पाटनेवाले कुछ चित्र तो द्वितीय अंक के आरम्भ में ही कलात्मक विष्कम्भक की योजना द्वारा सूचित कर दिए जाते हैं—यथा, लव एवं कुश की बारहवीं वर्षगाँठ, ऋष्यशृंग के द्वादशवार्षिक यज्ञ की समाप्ति, लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु द्वारा राम के मेध्य अश्व का संरक्षण[1], इतने दीर्घ काल में परित्यक्ता सीता का कोई पता नहीं मिलने से लोकजीवन में धीरे-धीरे उनका विस्मरण तथा उनका **नामशेषा**[2]

१. स्मरणीय है कि प्रथम अंक में राम या उनके किसी भाई को कोई सन्तान नहीं हुई है, बालक चन्द्रकेतु की अवस्था इस समय लगभग ग्यारह वर्षों की हो चुकी होगी।

२. उ० च०, पृ० ३८।

मात्र रह जाना आदि। इनके अतिरिक्त भी आगे कई ऐसे छोटे-बड़े परिवर्तनों की ओर इंगित किया गया है जो काल की इस लम्बी खाई को भरने में समर्थ हैं : ऐसे परिवर्तन प्रकृति, मानव आदि सबमें लक्षित दिखाये गये हैं। राम जब दण्डकारण्य में प्रवेश करते हैं, तो पाते हैं कि पहले जहाँ स्रोत था, अब वहाँ नदियों का पुलिन दीख रहा है, वनवृक्षों की सघनता एवं विरलता में भी हेरफेर हो गया है। किन्तु इन सारे भौतिक परिवर्तनों के बीच भी वस्तुओं का कुछ ऐसा ध्रुव स्वरूप है जो पूर्ववत् संस्थित है, जैसे पर्वतों की अटल स्थिति—यही स्थिति राम को पूर्व स्थानों से पुनः परिचित कराने में सहायक होती है।[1] ये तो कुछ सामान्य परिवर्तन हुए जिनका राम या सीता के भावात्मक जीवन के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहा; किन्तु, कुछ रूपान्तर ऐसे भी हैं जो उन दोनों की भावनाओं के साथ संपृक्त रहे हैं, या जो उनकी अनुभूतियों को प्रत्यक्षतः प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए पंचवटी का **गजपोत, मयूर-शावक और कदम्ब** का पौधा जिन्हें सीता ने बड़े स्नेह से पाला-पोसा था, अब काफी बड़े हो चले हैं।[2] इतना ही नहीं, महाराज जनक भी, जो सीता-शोक से उद्विग्न होकर कई वर्षों तक राजकार्य से निवृत्त हो गये थे और आरण्यक की तरह जीवनयापन कर रहे थे लौटकर आ गये हैं।[3] जिस लवण के उत्पात की चर्चा प्रथम अंक में आयी है[4], शत्रुघ्न के द्वारा उसका भी उन्मूलन हो चुका है और नाटक के अन्त में लगभग बारह वर्षों के पश्चात् विजयी होकर वे पुनः राम के पास आ जाते हैं।[5]

ध्यातव्य है कि ऊपर बारह वर्षों के लम्बे अन्तर को पाटनेवाले जो विविध साधन प्रयुक्त हुए हैं, उनका संयोजन किसी एक ही स्थल पर नहीं किया गया है—दूसरे अंक से सातवें अंक तक उपयुक्त स्थानों पर वे नाटकीय वृत्त के स्वाभाविक अंग बनकर आते हैं। कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि जानबूझकर कहीं ऊपर से उनका समारोप किया गया हो। यदि किसी एक ही स्थान पर ऐसे परिवर्तन दिखाये जाते, तो निश्चय ही कथाभाग के साथ उनकी स्वाभाविकता बनाये रखने में कठिनाई होती; ऐसी स्थिति में उनका कृत्रिम आरोप स्पष्ट हो जाता। पाश्चात्त्य नाट्यशास्त्रीय पद्धति से भी देखें तो भवभूति ने बड़ी बारीकी से यहाँ **कालान्विति** (Unity of Time) की रक्षा की है, यों पाश्चात्त्य नाटककार भी प्रायः ऐसी अन्विति की उपेक्षा ही करते रहे हैं।[6]

उत्तररामचरित के प्रथम अंक के पश्चात् दूसरे अंक में प्रवेश करने पर ऐसा प्रतीत होता है, मानो कवि अपने लक्ष्य की ओर बड़ी तेजी से दौड़ा आ रहा हो। प्रथम अंक में सीता-निर्वासन को राम की आभ्यन्तरिक एवं बाह्य स्थितियों का एक स्वाभाविक परिणाम

१. वही : २ : २७।
२. वही : ३ : ६, १५, १८, २०।
३. वही, पृ० ८८।
४. वही : १ : ५०।
५. वही, पृ० १५६।
६. ए० बु०, पृ० २७०-७१।

सिद्ध कर लेने के बाद नाटककार के सामने समस्या है उक्त दोनों का स्वाभाविक मिलन कराना—इस मिलन में दोनों के विशिष्ट चरित्रों—विशेषतः राम के उदात्त चरित्र—की रक्षा भी हो, तथा उसे अधिक से अधिक मानवीय संवेग भी प्रदान किये जा सकें, कवि इसके लिए नाटक के आरम्भ से ही प्रयत्नशील रहा है। बारह वर्षों की लम्बी वियोगावधि के पश्चात् राम एवं सीता का दो बार, दो अवसरों पर, मिलन कराया जाता है—पहला तृतीय अंक में तथा दूसरा और अन्तिम सप्तम अंक में। पहला मिलन वस्तुतः मिलन न होकर एकपक्षीय दर्शन मात्र है, चूँकि राम तो अदृश्य सीता को देख नहीं पाते; हाँ, सीता उन्हें अवश्य देखती हैं और एक बार तो दाम्पत्य प्रेम के तीव्र उफान में राम के साथ होने पर वे अपने को, क्षण मात्र के लिए ही सही, संसारिणी-सा अनुभव करने लग जाती हैं।[1] यह मिलन चाहे कितना भी अपूर्ण क्यों न हो, सप्तम अंक के पूर्ण मिलन से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण, भावपूर्ण एवं नाटकीय तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी कलापूर्ण है। सप्तम अंक का चरम मिलन वस्तुतः इसी मिलन का एक सहज एवं स्वाभाविक विकास मात्र है। प्रथम अंक के बाद कवि का प्राप्य तृतीय अंक ही है जिसकी ओर वह प्रथम एवं द्वितीय अंकों में स्फूर्त होकर बढ़ता आया है। किन्तु उसकी यह कलात्मक स्फूर्ति कहीं भी 'जल्दबाजी' के घटिया स्तर पर नहीं उतरी है। उसे अपने गंतव्य का सही दृष्टिकोण प्राप्त है—वह जानता है कि अहने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए किस मार्ग का त्याग तथा किसकी स्वीकृति अपेक्षित है। प्रथम एवं द्वितीय अंकों का कालिक व्यवधान एक ओर उसकी कलात्मक स्फूर्ति तथा दूसरी ओर सुगम नाटकीय मार्ग के साथ उसकी विलक्षण परिचिति का ही मापक है। अतः, इस सन्दर्भ में, यह व्यवधान न केवल नाटकीय दृष्टि से अपरिहार्य दीखता है, वरन् भावात्मक दृष्टि से अलंघनीय भी प्रतीत होता है।

राम द्वारा सीता-निर्वासन का औचित्य ऐसा नहीं जो एक झटके के साथ सिद्ध किया जा सके। इसके लिए एक ऐसी कलात्मक प्रक्रिया की आवश्यकता है जिसमें राम के 'अनिर्भिन्न' व्यक्तित्व की बारीक रेखाओं का **सहज विस्तरण, मूल्यांकन,** एवं **स्पष्टीकरण** किया जा सके। तृतीय अंक कवि की इसी कला-प्रक्रिया का एक परिणत रूप है जहाँ विधुर-से बने हुए राम की सीता-विषयक भावनाओं का स्वयं सीता द्वारा भावात्मक परीक्षण कराया जाता है। राम के राजधर्म के लिए चाहे सीता का निर्वासन कितना भी उचित क्यों न दीखे, सीता की दृष्टि से वह एक घोर अधिक्षेप तथा अन्याय के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं था। उनकी जैसी पतिपरायणा साध्वी पत्नी खुलकर अपने ऊपर किये गये इस अन्याय का विरोध न करें, यह दूसरी बात है; किन्तु उनके मन में उस महा अपमान की किंचित् मात्र भी आग न सुलगाती होगी, ऐसा सोचना मानव प्रकृति की स्वाभाविक वृत्तियों का निषेध करना है। सीता की परिस्थिति में रहकर कोई अलौकिक चरित्र या अपप्रकृत (abnormal) मानव ही अपने भीतर

१. उ० च०, पृ० ६४।

और बाहर से संतुष्ट बैठा रह सकता है। भवभूति सीता के भारतीय नारीत्व के समग्र आदर्शों की रक्षा करते हुए भी उन्हें मानवीय धरातल पर लाते हैं और उनके सुख-दुख की वैयक्तिक भावनाओं में हमारी निर्वैयक्तिक भावनाओं को प्रतिबिम्बित करते हैं। तृतीय अंक में राम के अन्तरतम में अपनी प्रियतमा भार्या के प्रति प्रणयानुभूतियों का वहीं संवेग वर्तमान है जिसका अभिव्यंजन प्रथम अंक में हुआ था, हाँ विषम परि-स्थितियों ने सीता को अपने पूर्व स्थान से अवश्य कुछ पृथक् कर दिया है। अतः नाटककार ने अपने सारे नाटकीय प्रयोग यहाँ सीता के दृष्टिकोण को सामने रखकर ही किए हैं, यही उसका परम उद्देश्य भी रहा है। अर्थात् यहाँ छायादृश्य में सीता के मानसिक क्षितिज का ही एक विशिष्ट दिशा में परिणमन या विकास दिखाया गया है, अतः राम यहाँ यदि स्वतः प्रकाशित स्थिर केन्द्र हैं, तो सीता उसी केन्द्र के इर्द-गिर्द चक्कर काटनेवाली कोई वृत्त जो उस केन्द्र के साथ अपना संतुलन बनाये रखने के लिए आदि से अन्त तक गतिशील दीखती हैं।

जिस स्थान पर छाया-सीता एवं राम को एकत्र दिखाया जाता है, नाटकीय एवं भावात्मक दृष्टि से वह भवभूति की एक विलक्षण सूझ एवं सर्जना है। जिसे हम जड़ प्रकृति कहते हैं, वह भी विशिष्ट मानवीय सम्पर्कों के कारण मधुर चेतना की संगीत बनकर लहरा उठती है। पंचवटी के पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, नदी-निर्झर, पर्वत आदि दूसरों के लिए चाहे जितने तटस्थ या मूक प्रतीत हों, राम एवं सीता के तो वे अन्तरंग सह-चर हैं जो बारह वर्षों के सुदीर्घ व्यवधान के पश्चात् भी आज भी उतने ही मधुर, मुखर एवं संगीतमय हैं जितने कि वे पहले कभी थे। कवि राम के साथ सीता के मिलन के लिए कोई दूसरा स्थान भी चुन सकता था, किन्तु ऐसा करके वह अपने नाटक को भावों की अभीष्ट ऊँचाई तक निश्चय ही नहीं ले जा सकता था। पंचवटी यहाँ कोई जड़ स्थान नहीं, प्रत्युत नाटक की सप्राण पात्री की भाँति प्रयुक्त हुई है जो राम एवं सीता के भावात्मक मिलन में सर्वाधिक सहायक सिद्ध होती है। यह उसकी भावोद्बोधी भंगिमाओं का ही प्रसाद है कि भवभूति तृतीय अंक में करुणा की वेगवान् धारा प्रवाहित कर सके, प्रस्तरहृदय को भी विगलित करने में समर्थ हो सके। सम्पूर्ण उत्तररामचरित का यह वह मर्मस्थल है जहाँ नाटकीय कार्य-व्यापार एक नई वाणी, एक नई शक्ति एवं एक नई चेतना से प्रोद्दीपित एवं समन्वित होता है। कोई भी हाड़-मांस की नारी अथवा पुरुष वह कार्य नहीं कर सकता था, जिसे पंचवटी ने कर दिखाया है। एक ओर वह राम एवं सीता की अतीत स्मृतियों को संदीपित करके उनके हृदयगत व्रणों को हरा बनाती है, और दूसरी ओर उनके सहृदय उद्गारों में अमृत की मिठास भरकर उन व्रणों की मरहम-पट्टी भी करती जाती है—भावों की इस खींचतान की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक सीता के सारे मानसिक विकार धुल नहीं जाते, जब तक दैववशात् पृथक् पड़ी हुई तथा समानान्तर चलती हुई राम एवं सीता के जीवन की दो धाराएँ एक ही प्रवाह में पूर्णतः अन्त-

भावित नहीं हो जातीं। यह सब कुछ तथा इससे भी अधिक बहुत कुछ उत्तररामचरित में पंचवटी के चिन्मय सत्त्व का ही एक स्वाभाविक परिणाम है।

सीता को त्याग देने के बाद रामायण में भी शूद्र तपस्वी शम्बूक को निहत करने के लिए राम पंचवटी-प्रदेश में जाते हैं;[1] किन्तु वहाँ राम के लिए उस प्रदेश का जो महान् भावात्मक मूल्य है, इस पर वाल्मीकि सर्वथा मौन रहते हैं। भवभूति की कला-दृष्टि पहली बार राम-कथा के इस मर्मस्थल के महत्त्व को ग्रहण करती है और उसे उत्तररामचरित की करुण भावभूमि का जीवन्त पृष्ठाधार बनाने में आशातीत सफलता प्राप्त करती है। प्रकृति के प्रकृत रंगों से सजे हुए इस स्थान का कलात्मक मूल्य और भी बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि यहाँ राम एवं सीता के सहायक जितने दूसरे प्राणियों की अवतारणा की गई है, वे सभी जड़ या चेतन प्रकृति के ही मानवीकृत रूप हैं—वासन्ती, तमसा, मुरला, गंगा आदि पात्रियाँ इसी कोटि की हैं जो यहाँ राम एवं सीता के भावात्मक मिलन के लिए अप्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायक सिद्ध होती हैं।

पंचवटी के सुपरिचित आंचलिक परिवेश में विरही राम के आकुल हृदय को सीता द्वारा अपनी अदृश्य उपस्थिति से आश्वस्त करना ही इस छाया-अंक का स्फुट प्रयोजन है;[2] किन्तु इस प्रयोजन के अन्तस् में जाने पर वास्तविकता कुछ दूसरी ही दृष्टिगोचर होती है। जब से राम ने सीता का त्याग किया, सीता अपने प्रति राम के कठोर व्यवहार को एक प्रश्नचिह्न के रूप में ग्रहण करती रही हैं, यदि उनके प्रति राम का प्रेम-भाव सच्चा होता, तो राम उन्हें निर्दोष जानकर भी इतनी निष्ठुरता से निर्वासित नहीं करते—सीता के अन्तर्मन में इस विश्वास ने जड़ जमा ली है। कवि सीता के मन से संताप एवं अधिक्षेप की इसी जड़ को उखाड़ फेंकना चाहता है। सीता तो अबतक यही सोचती रही हैं कि दुख एवं वेदना की तेज आँच में झुलसनेवाली केवल वे ही हैं; राम तो उनका परित्याग करके प्रसन्न हो जीवनयापन कर रहे होंगे। अब यदि राम प्रत्यक्ष रूप से सीता को अपने दुख की बात कहते, तो न तो यह व्यावहारिक होता और न स्वयं सीता के मन पर इसका वांछित प्रभाव पड़ता। सीता ने अपमान के जो कड़वे घूँट पीये हैं, उसके प्रकाश में अब उनके प्रति राम का कोई भी प्रत्यक्ष प्रणय-निवेदन चाटूक्ति-सा प्रतीत हो सकता था। इस सम्भावित भाव-संकट से राम और सीता दोनों को बचाने के लिए ही कवि ने इस छाया अंक का प्रयोग किया है। इसमें एक ओर तो राम के मन में यह विश्वास बद्धमूल-सा दिखाया गया है कि सीता अब इस असार संसार में नहीं रहीं, और दूसरी ओर सीता को अदृश्य रूप प्रदान करके उनके अजाने ही उन्हें उस स्थान पर पुष्प-चयन करने को भेजा जाता है जहाँ राम पंचवटी के सीतामय प्रदेशों को देख-देखकर अधीर हो रहे हैं—सीता को

---

१. रामा० : ७ : सर्ग ७५ ७६।

२. उ० च०, पृ० ५१-५२।

दिवंगता समझकर उनकी सजल स्मृतियों से उद्दीपित राम की करुण स्थिति सँभाल के बाहर हो रही है। ऐसी स्थिति में सीता के प्रति राम के जो उद्गार व्यक्त हो रहे हैं उनमें सीता जैसी पत्नी के लिए आशंका की कोई बात नहीं रहती। राम का सीतामय व्यक्तित्व वहाँ पंचवटी के प्रशान्त पट्ट पर मानो स्वच्छ दर्पण की नाईं फैल जाता है जिसमें सीता राम के हृदय में स्वयं अपनी मूर्तियों की सचाई की परख साफ साफ कर लेती हैं। यह दर्पण इतना निर्मल एवं बिम्बग्राही है कि सीता जिस ओर से भी देखती हैं, उन्हें उसमें अपनी अमलिन प्रतिच्छवि के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं दृष्टिगत होता।

राम के सुस्थित हृदय के साथ सीता के भटके हुए हृदय को संस्थापित करने के निमित्त जिन-जिन सूत्रों तथा युक्तियों का सहारा लिया गया है, वे सभी मन की विकासात्मक एवं संघटनात्मक प्रक्रिया की विविध मनोवैज्ञानिक अवस्थाएँ हैं। राम के अन्तर्मन में वेदना की जैसी सघन परतें वर्षों से जमती रही हैं, उन्हें निर्भिन्न करने का भावात्मक उद्देश्य तभी सिद्ध हो सकता है, यदि सीता का उत्पीड़ित अन्तर भी राम का वेदनात्मक दान ग्रहण करने में समर्थ हो। दान का सम्यक् आदान हो जाने पर ही प्रतिदान का स्वाभाविक उद्बोध सम्भव है। तृतीय अंक में राम यदि पीड़ारूप दान बनकर प्रकट हुए हैं तो सीता सहृदय प्रतिदान बनकर उनके प्रति समर्पित हुई हैं। अतः इस दान की वांछित प्रेषणीयता के लिए कवि पहले आदान की उस चट्टानी आधार-भूमि—सीता के जड़ीभूत अन्तर—को अनुकूल एवं तरल बना लेना चाहता है। निर्वासन के पश्चात् सीता के दारुण शोक की निरंतरता जिस प्रकार उनके कोमल हृदय-कुसुम को जलाती रही है,[१] उससे उनकी इन्द्रियों का नैसर्गिक चैतन्य लुप्त हो जाना सहज स्वाभाविक है। अपमान की कड़वी विषाग्नि ने प्रत्यक्षतः राम की ओर से उनके मन को ऐसा पत्थर बना दिया है जिसमें न तो स्वाभाविक रूप से कुछ देने की क्षमता रह गई है, न कुछ लेने की। ऐसे तटस्थ एवं कठोर मन पर राम के करुण भावोद्गारों का वांछित प्रभाव नहीं डाला जा सकता, कवि इसे अच्छी तरह समझता है। इसीलिए पंचवटी के सहृदय प्राकृतिक अंचल में वह राम से पहले सीता का प्रवेश कराता है।[२] सीता के अन्तर्व्यक्तित्व को राम के प्रति उन्मुख एवं संवेदनशील बनाने के लिए उसने सीता की जिन इन्द्रियों को जिस प्रक्रम में चुना है, वे हैं—(१) मन, (२)श्रोत्र और (३) नेत्र। मन जगेगा, तभी दूसरी इन्द्रियाँ भी अपने प्रकृत व्यापार निभा पायँगी, अतः सीता के प्रसुप्त मन को जगाने के लिए उस पर वात्सल्य के क्षीर का संचार किया जाता है।[३] सीता का भूखा मातृहृदय यदि वात्सल्य के सहृदय संवेग (impetus) से जाग्रत हो जाता है, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। सीता कीप हली मूर्च्छा[४]

१. उ० च० : ३ : ५।

२. वही, पृ० ५४।

३. वही : ३ : ६।

४. वही, पृ० ५४।

इस बात का समर्थ द्योतक है कि उनकी मानसेन्द्रिय संदीपित एवं संवेदनशील हो चली है। मन को उद्दीपित करने के पश्चात् सीता के म्रियमाण कर्णविवर[1] में राम की सजल मेघ की-सी शीतल वाणी का संजीवन दौड़ाया जाता है। सीता के मन का बहिर्मुखी चैतन्य जब उनकी श्रोत्रेन्द्रिय की चेतना के साथ मिलकर तीव्रतर हो जाता है, तब चक्षु की बारी आती है। प्रातः कालीन चन्द्रमा की तरह पीले पड़े हुए राम के क्षीण गात्र पर दृष्टि पड़ते ही सीता जब मूर्च्छित हो जाती हैं,[2] तो उनकी दृष्टिजन्य संवेदना भी स्फूर्त हो उठती है। मन के अनन्तर श्रोत्र एवं चक्षु की इस समन्वित संवेदनीयता का न केवल मनोवैज्ञानिक, प्रत्युत कलात्मक महत्त्व भी है। भरत मुनि पाँच ज्ञानेन्द्रियों में आँख और कान को ही कलाविषयिणी इन्द्रियाँ मानते हैं और इसी आधार पर 'क्रीडनीय' नाट्य के विशेषण के रूप में दृश्यश्रव्य का प्रयोग करते हैं।[3] ये ही ऐसी इन्द्रियाँ हैं जिनके विषयों की अनुभूति एक ही समय में बहुत सारे लोग कर सकते हैं।[4] अतः भवभूति ने सीता की भावोद्‌बुद्धि कराने में इन इन्द्रियों को जो प्राथमिकता प्रदान की है, वह उनकी व्यापक कला-बुद्धि का ही निदर्शन है। सीता की दूसरी मूर्च्छा इस बात की व्यंजक है कि वे अपने जाग्रत व्यक्तित्व के प्रत्येक अणु में राम के प्रदीयमान भावों को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हो गयी हैं। इसके बाद ही कवि राम के करुण विलापों की शृंखला का आरम्भ करता है। कवि की मानव हृदय के असीम अन्तर्विस्तार में कितनी पैठ है तथा उसकी द्वन्द्वात्मक गहन वृत्तियों को अभिव्यक्ति प्रदान करने में वह कितना सक्षम है, छाया-अंक इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

पुष्प-चयन के लिए पंचवटी प्रदेश में समागत सीता के कोमल नारी-हृदय पर जो सबसे पहला मनोवैज्ञानिक आघात दिया जाता है, वह है उन्हीं के द्वारा पुत्रीकृत गजशावक, किन्तु अब तरुण सपत्नीक मातंग, के ऊपर किसी दूसरे उद्दाम गजराज के आकस्मिक आक्रमण की सूचना। कवि ने इसके माध्यम से सीता के सुप्त मातृत्व-भाव को जगाना चाहा है—गजशावक वस्तुतः सीता की सन्तति का प्रतीक होकर आया है। अपनी

---

१. तुल० अम्महे जलभरभरिदमेहमन्थरत्थणिदगम्भीरमंसलो कुदो णु एसो भारदीणिग्घोसो मरन्तकण्णविवरं मं वि मन्दभाइणिं झत्ति उस्सावेदि। —वही, पृ० ५५।

२. तुल० "दिट्ठिआ कहं पहादचन्दमण्डलावाण्डुरपरिक्खामदुब्बलेन आआरेण अअं णिअसोम्मगम्भीराणुभावमेत्तपच्चहिजाणिज्जो अज्जउत्तो जेव्व। भअवदि तमसे धारेहि मं।"

—वही, पृ० ५६।

३. क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं च यद्भवेत्॥ —अभि० ना० : १ : ११।

४. आचार्य अभिनवगुप्त ने भरत मुनि के इसी शास्त्रीय अभिप्राय को दृश्य-श्रव्य की विवृति देते हुए यों प्रकट किया है—लोक इत्येकवचनेन सर्वसाधारणतयैव यद्योग्यं तच्च स्पृश्यादिरूपं न भवति। दृश्यश्रव्ययोस्तु बहुतरसाधारणोपपत्तिः (दे० अभि० ना०, पृ० ११)।

सन्तान को संकटापन्न देखकर कौन ऐसी माता होगी जो उसकी रक्षा के लिए व्याकुल नहीं हो जायगी ? सन्तान-रक्षक के रूप में स्वभावतः ही सबसे पहले उसे अपने पति का स्मरण होगा[1] जो न केवल अपने परिवार का संरक्षक, अपनी भार्या का भर्ता होता है, वरन् अपनी पत्नी के मातृत्व-भाव के निर्माण में उसका भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। मातृत्व और पितृत्व बाह्यतः पृथक् होकर भी एक ही सम्बन्ध-सूत्र—सन्तान—पर आधृत होने के कारण अन्ततः अभिन्न भाव हैं। यही कारण है कि सन्तान-स्नेह में जहाँ उक्त दोनों भाव व्यञ्जित होते हैं, वहीं पत्नीत्व और पतित्व के मधुर भावों का भी उनमें अनिवार्य रूप से उदय होता है। भवभूति ने मातृहृदय एवं पितृहृदय के इस मर्म को जितनी गहरायी से पहचाना है तथा उसे जैसी भाषा प्रदान की है, वैसा सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में कदाचित् दूसरा कोई भी कवि नहीं कर पाया है। उनकी दृष्टि में सन्तान न केवल प्राणि-स्नेह की चरम सीमा होती है, वरन् यह मातापिता को परस्पर आबद्ध रखनेवाला परम बन्धन भी है—माता और पिता के अन्तरतम को जोड़नेवाली यह वह आनन्दग्रन्थि है जो उन दोनों के स्नेह-भावों का संयुक्त आधार होती है।[2] इस परिवेश में देखने पर पञ्चवटी-प्रविष्ट सीता के पति-क्षुब्ध हृदय पर संकटापन्न गजशावक के प्रति जो मातृसुलभ करुणा जगाई जाती है, राम एवं सीता के हृदय-संश्लेषण की दृष्टि से उसका बड़ा ही अनुकूल मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। स्वभावतः ही गजपोत के प्रति उमड़ा हुआ सीता का मातृस्नेह अन्ततोगत्वा कुश एवं लव के प्रति प्रगाढ़ स्नेह में परिणत हो जाता है।[3] उनके पुत्र-स्नेह का यह परिणाम राम के विरुद्ध वर्षों पहले से जमते चले आते हुए उनके मानसिक विकारों को प्रक्षालित करने में एक विशिष्ट साधन बन जाता है। इस स्नेह का प्रकर्ष वहाँ दीखता है जहाँ अपने दोनों बच्चों के स्मरण से न केवल सीता की छाती दूध से भर उठती है, प्रत्युत अपने पति राम के सान्निध्य के कारण वे अपने को क्षणमात्र के लिए संसारिणी-सी अनुभव करने लगती हैं।[4] सीता के मन की गति जब उन्हें खींचकर संसारिणी की अवस्था तक पहुँचा देती है, तो निश्चय ही इस अनुभूति का उनके विकृत चित्त पर बड़ा ही प्रशमनकारी प्रभाव पड़ता है—राम अब न केवल सीता के पति मात्र हैं, अपितु उनके दो बच्चों के पिता भी हैं। कौन ऐसी पत्नी होगी जो अपने प्यारे बच्चों के कोमल मुखड़े को अपने स्नेही पति द्वारा चूमे जाते हुए देखकर अपार प्रीति एवं हर्ष

---

१. **उज्जउत्त परित्ताहि परित्ताहि मह तं पुत्तअम्**—वही, पृ० ५४।

२. **प्रसवः खलु प्रकर्षपर्यन्तः स्नेहस्य। परं चैतदन्योन्यसंश्लेषणं पित्रोः।**

अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्॥
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति बध्यते॥

उ० च० : ३ : १७।

३. **भअवदि तमसे अयं दाव ईरिसो जादो। दे उण ण आणामि कुसलवा एत्तिएण कालेण केरिसा संवुत्तेत्ति**

—वही, पृ० ६३।

४. वही, पृ० ६४।

का बोध नहीं करेगी ? किन्तु पुत्रवती सीता को अभी यह सौभाग्य मिला कहाँ है ! सीता की यह अतृप्त मधुर कांक्षा उन्हें उनके पति की ओर आवेगपूर्वक खींचने में सक्षम होती है। इस प्रकार गजपोत का जो प्रसंग ऊपर-ऊपर सामान्य-सा प्रतीत होता है, वह अन्ततः सीता की उद्दीपित अन्तः वृत्तियों को वहाँ तक मोड़ देता है जहाँ वे संसारिणी की मधुर अनुभूति में डूब जाती हैं। इसी कारण इस मातृत्व-संवेदक चित्र को सीता की विकासात्मक मानसिक प्रक्रिया में प्राथमिकता प्रदान की गयी है।

इस प्रकार सीता के अन्तर्विस्तार में मातृभाव के क्षीर का संचार करके तथा इसी क्रम में उस क्षीर में प्राणरूप से प्रतिष्ठित पुत्र-संरक्षक राम की सजल स्मृतियों का अमन्द दीप जलाकर, नाटककार अपने दूसरे मनोवैज्ञानिक चरण में, नेपथ्य से राम की सहृदय वाणी को सीता के म्रियमाण कर्णविवर में संप्रेषित करता है। यदि वह चाहता तो सीता के कर्ण-पथ में राम के शब्दों के बदले उनके दृष्टि-पथ पर स्वयं राम को ही उपस्थित कर देता। किन्तु एकाएक राम के दर्शन के झटके से सीता के मन की ग्रन्थियाँ उलझ भी सकती थीं, इसीलिए उस मन की बन्द पंखुड़ियों को खोलने में वह शीघ्रता दिखाना नहीं चाहता। राम की चिरपरिचित गम्भीर एवं मांसल ध्वनि जब सीता के मुरझाए कर्णविवर में अपनी संजीवनी बिखेर देती है, तो सीता स्वभावतः ही अतिशय उत्कण्ठित होकर अपनी सजल दृष्टि राम के दर्शन-पथ पर बिछा देती हैं। किन्तु विश्लेषित मन के संयोजन की प्रक्रिया बड़ी जटिल होती है—दूसरे ही क्षण तमसा के मुख से यह सुनकर कि तपस्वी शूद्र को दण्डित करने के लिए राम जनस्थान में आये हुए हैं, सीता राजा राम के **अपरिहीनधर्मत्व** की प्रशंसा करती हैं।[1] यहाँ 'राजा' तथा 'अपरिहीनधर्म' इन दोनों पदों में जो व्यंग्य है, वह बड़ा ही तीखा चोट करने वाला है। सीता-निर्वासन भी तो इसी 'राजा' राम का 'धर्म' था ! सीता के मन की यह भाव-स्थिति भी अधिक देर तक नहीं ठहरती। जैसे ही उनकी उत्सुक दृष्टि लगभग बारह वर्षों के पश्चात् राम पर जाती है, राम के अप्रत्याशित दुर्बल पीले शरीर को देखकर वे सन्न रह जाती हैं। इस आघात के लिए उन्होंने स्वप्न में भी अपने मन को तैयार नहीं किया था; उनके अन्तःकरण में कहीं यह विश्वास जम-सा गया था कि राम उन्हें त्याग देने के पश्चात् बड़े प्रसन्न होंगे। राम की क्षीण आकृति से उनकी कराहती हुई आत्मा झाँक रही थी जिसे सीता की कुशल पत्नी-दृष्टि क्षण मात्र में भाँप लेती है। सीता के मन का यह संघर्षण विश्वास और अविश्वास, प्रणय एवं आक्रोश का होता है; प्रणय एवं विश्वास का तेज आक्रोश तथा अविश्वास के अन्धकार को देखते ही देखते पी जाता है—सीता तमसा का अवलम्ब लेकर मूर्च्छित हो जाती हैं। समाश्वस्त होने के बाद जब पहली बार वे राम के मुख से उनकी **अन्तर्लीन दुखाग्नि के उद्दाम ज्वलन**[2] की बात सुनती हैं, तो जैसे उन्हें विश्वास ही नहीं होता—**'हा कहं एदं'**[3]

---

१. **दिट्ठिआ अपरिहीणधम्मो क्खु सो राआ**—वही, पृ० ५५।

२. वही : ३ : ७।

३. वही, पृ० ५६।

उनके इसी आश्चर्यभाव का द्योतक है। किन्तु जब राम सीता के ही नाम का करुण जाप करते हुए उन्हीं के सामने अचेत हो जाते हैं, तो उन्हें 'कहं एद'पर और अधिक सोचने का अवकाश नहीं मिलता--उनके हृदय में अतवक बलात् दवी हुई प्रणय की उद्दाम लहरें एक आकस्मिक ज्वार में उछल पड़ती हैं, वे अपने प्राणेश्वर की जीवन-रक्षा के लिए दौड़कर उनके शीतल ललाट का पुण्यस्पर्श करती हैं। इस स्पर्श तक सीता का मन अपने पति की ओर से बहुत कुछ साफ हो जाता है—एक वेदना दूसरी वेदना से मिलकर सजल आह्लाद में परिणत हो जाती है। सीता के चिर-परिचित अमृत-स्पर्श से राम की संज्ञा लौट आती है और वे अपने प्रणयोद्गार के रूप में उस स्पर्श से भी अधिक शीतल तथा उच्छ्वासपूर्ण पीयूष सीता के चिर पिपासु हृदय के कोने-कोने में बिखेर देते हैं। कौन ऐसी सहृदय पत्नी होगी जिसका कठिन से कठिन अभिमान भी पति के ऐसे स्निग्ध उद्गारों के सामने ढह नहीं जायगा ?

सीता के स्पर्श से उच्छ्वसित राम जब उन्हें प्रत्यक्ष पाने की अभिलाषा करते हैं, तो सीता के स्वत्व की चेतना जैसे लौट आती है—कहीं राम उन्हें खोजेंगे तो नहीं ! पुरानी आशंका का रंग एक बार पुनः सीता के मन पर चढ़कर बोलता है और वे 'राजा' राम के सम्भावित कोप से आशंकित होकर तमसा से उस स्थान से कहीं अन्यन्त्र चलने का निवेदन करती हैं।[१] किन्तु यथार्थतः वहाँ से हट जाना सीता के लिए आसान नहीं, उनका अन्तःकरण इसे अच्छी तरह जानता है। और जब राम पुनः **'हा प्रिये जानकि'** कहकर विलाप कर उठते हैं, तो सीता फिर अपने विशुद्ध स्वत्व में लौटकर पति की वेदना से तड़प उठती हैं और पति के ऊपर अपने निरनुक्रोश होने की सोचकर पश्चात्ताप करती हैं। यहाँ तक आते आते राम के हृदय के साथ सीता के हृदय को संश्लेषित करने की प्रक्रिया पूरी हो जाती है।[२] इसके बाद विविध चित्रों की सहायता से सीता के मातृत्व-भाव को समुद्दीपित करके किस प्रकार उन्हें 'संसारिणी' के भाव तक पहुँचा दिया जाता है, इसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। अतः अबतक सीता क्रमशः **एक तटस्थ मूर्ति से करुणामयी नारी, करुणामयी नारी से सहृदय पत्नी, सहृदय पत्नी से स्नेहशीला जननी और स्नेहशीला जननी से गृहस्थ संसारिणी के रूप में परिणत हो जाती हैं।** नारी-हृदय के विकास की विविध अवस्थाओं का इतना मनोवैज्ञानिक तथा कलात्मक चित्र संपूर्ण विश्ववाङ्मय की एक दुर्लभ विभूति है।

किन्तु इतना हो जाने पर भी सीता के मन का एक और महत्त्वपूर्ण विकास अभी शेष है—अभी उनके दुख की आग का पृथक् अस्तित्व बचा हुआ है। उनके स्वार्थिक दुखों का उदात्तीकरण करके उन्हें परार्थिक रूप देने की विशिष्ट प्रक्रिया का आरम्भ राम

---

१. **भअवद तमसे ओसरह्म दाव। मं पेक्खिअ अणब्भणुण्णादेण संणिहाणेण राआ अहिअं कुप्पिस्सदि।** —वही, पृ० ५८।

२. **अहं एदस्स हिअअं जाणामि ममावि एसो।** —वही, पृ० ५९।

के प्रति वासन्ती के आक्रोश-भाव से होता है। जब वासन्ती सीता का पक्ष लेकर राम को कठोरतापूर्वक धिक्कारने लगती है,[1] तो सीता से यह नहीं देखा जाता। राम भीतर से कितने पीड़ित हैं, इसकी प्रतीति उन्हें अच्छी तरह हो चुकी है; अब वासन्ती के कठोर शब्दों से राम के विक्षत हृदय पर जो नमक पड़ता है उसकी वेदना की तीव्रता स्वयं सीता के मन पर छा जाती है। पति के प्राणों की मर्मान्तक टीस के आगे वे भूल जाती हैं कि उनकी भी कोई निजी पीड़ा है और सहृदय संवेदना के तीव्र आवेग में वासन्ती को ही कठोर एवं दारुण कह पड़ती हैं,[2] जिसने स्वयं उन्हीं के लिए राम को बुरा-भला कहने का साहस किया था। सीता के मनोभाव का यह उन्नयन एक ही साथ उनके उदार नारीत्व एवं पत्नीत्व का समन्वित प्रकर्ष है। अब तक उनके रोने के लिए मात्र अपने ही दुख थे, चिन्ता के लिए अपने ही दुर्वह जीवन की करुण परिस्थितियाँ थीं; अब दुख एवं चिन्ता के ये ही भाव दुखी पति राम के प्रति आर्द्र संवेदना में इस प्रकार अन्तर्भूत हो जाते हैं कि उनका सीतात्व उन्नीत होकर रामत्व बन जाता है। सीता तब भूल जाती हैं कि उन्हें भी कोई कष्ट है, कोई चुभन है; अब तो जो है वह राम का ही दुख-संक्षोभ है।[3] अङ्क की समाप्ति के कुछ पहले राम एक बार और मूर्च्छित होते हैं। इस बार भी आकुल सीता उनकी रक्षा को दौड़ आती हैं और अपने शीतल पाणि-स्पर्श से उन्हें सचेत करती हैं। इस प्रकार राम को अपनी मूर्च्छा के क्रम में दो बार सीता का स्पर्श-सुख प्राप्त होता है। राम के लिए तो यह सुख जैसा पहले लगा था, वैसा इस बार भी प्रतीत हुआ। किन्तु सीता के मन पर राम की अन्तिम मूर्च्छा के क्रम में मिले गात्र-स्पर्श से जो सुखानुभूति हुई, वह पहले स्पर्श की अनुभूति से भिन्न प्रकृति की थी। नाटककार ने उनकी अनुभूतियों के इस विभेद को बड़ी बारीकी के साथ दिखाया है। पहली बार भी सीता ने राम की करुण एवं चिन्ताजनक स्थिति से पसीजकर ही अपना सञ्जीवनरूप स्पर्श प्रदान किया था; किन्तु राम के विरुद्ध उनके मन का क्षोभ एवं अभिमान अभी गया नहीं था। नाटककार इसीलिए अपने अभिनय-निर्देश में सीता के लिए **'किञ्चित्सहर्षम्'** का प्रयोग करता है;[4] यहाँ सहर्ष के पहले किञ्चित् का प्रयोग सीता की क्षुब्ध मनःस्थिति

---

१. अयि कठोर यशः किल ते प्रियं
किमयशो ननु घोरमतः परम्।
किमभवद्विपिने हरिणीदृशः
कथय नाथ कथं बत मन्यसे॥ —वही : ३ : २७।

२. तुमं जेव्व सहि वासन्दि दारुण।
कठोरा अ जा एव्वं अज्जउत्तं पलित्त पदीवेसि। —वही, पृ० ६९।

३. एदिणा अज्जउत्तस्स दुव्वारदारुणारम्भेण दुक्खसंखोएण परिमुसिअणिअदुक्खं किंपि पमुद्धं मे हिअअं।—वही, पृ० ७३।

४. वही, पृ० ५७।

को प्रकट करने के उद्देश्य से ही किया गया है। जब राम की संज्ञा लौट आती है, तो सीता **"जाणे उण पच्चाअदं विअ जीविअं तेल्लोअस्स"**[1] कहकर ही सन्तुष्ट हो जाती है। यह वस्तुतः आत्मानन्द का स्वर नहीं, आत्मधर्म का स्वर है—सीता स्वयं दुखी भले रहें, किन्तु राम को किसी भी कष्ट में देखना उनका अभीष्ट नहीं। सीता के मधुर स्पर्श के क्षणों में राम अपने जो उद्गार व्यक्त करते हैं,[2] उनके लिए भी सीता बड़ी कृपणता से केवल इतने शब्द बोल पाती हैं—**"एत्तिअ जेव्व दाणिं मे बहुदरं।"** और इसी के साथ राम के पास से खिसककर तमसा से कहीं अन्यत्र चलने का निवेदन भी कर बैठती हैं। उनके अवसन्न मन की प्रारम्भिक अवस्था इन विविध चित्रों के माध्यम से स्पष्टतः हृदयङ्गम हो जाती है। इस क्रम में प्रयुक्त एक-एक शब्द नाटककार की कलागत अवधानता एवं प्रतिबोध का साक्षी है। अन्त में जब विविध विकासात्मक अवस्थाओं से होता हुआ सीता का मन राम के मन के साथ अपना तादात्म्य कर लेता है, तो राम का वही गात्र-स्पर्श सीता के निरतिशय आह्लाद का कारण बन जाता है। इस बार राम को मूर्च्छित होते देखकर वे स्वयं भी मूर्च्छित हो जाती हैं[3]—सीता की यह मूर्च्छा वास्तव में उनकी तद्भावभावित होने, राम के कष्टों को सर्वांशतः अपनाकर अपने निजी क्लेशों को सर्वांशतः भूल जाने की चरम अवस्था का सूचक है। और जब पुनः स्वयं समाश्वस्त होकर वे मूर्च्छित राम को अपने सम्मोहक कर-स्पर्श से सञ्जीवित करती हैं, तो उनके तत्कालीन परितोष एवं सौख्यभाव पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं। प्रथम स्पर्श के विरोध में इस स्पर्श में निहित सीता की तन्मयता एवं आत्मानन्द की मधुर उद्दीति द्रष्टव्य है।[4]

इस प्रकार सम्पूर्ण तृतीय अङ्क राम के साथ सीता के हार्दिक संश्लेषण की विविध मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का अप्रतिम कलात्मक निदर्शन है। कवि मानव हृदय की जटिल भाव-ग्रन्थियों के सर्वथा अनुरूप प्रथमतः सीता के हृदय की बहुविध सुप्त भावनाओं को उभारता है। अन्ततोगत्वा उनके अन्तर्मन में राम के प्रति आकर्षण एवं विकर्षण की अनुभूतियों के सङ्घर्षण से एक ऐसा सहज ममत्व उद्दीप्त कर दिया जाता है जिसमें राम के साथ पार्थक्य का कोई भी भाव शेष नहीं रह जाता—उनके हृदय से उनके परित्याग रूपी लज्जा का शल्य सम्पूर्णतः उन्मूलित हो जाता है।[5] सीता की मानसिक अवस्था का यहाँ तक विकास दिखा लेने के पश्चात् कवि की वास्तविक नाटकीय

---

१. वही, पृ० ५७।

२. वही : ३ : ११, १२।

३. वही, पृ० ७४।

४. **एसो उण चिरसंभावसोम्मसीदलण अज्जउत्तप्फंसेण दीहदारुणं वि झत्ति सन्दावं हरन्तेण वज्जलेवोवणिवद्धो विअ सिज्जन्तणीसहविवलहत्थो वेअणसीलो अवसो विअ में हत्थो।** —वही, पृ० ७५-७६।

५. **अम्महे उक्खाणिदं दाणिं मे परिच्चाअलज्जासल्लं अज्जउत्तेण।** —वही, पृ० ८१।

समस्या का एक बड़ी सीमा तक समाधान हो जाता है; इसके उपरान्त वह चतुर्थ अङ्क से राम एवं सीता का वास्तविक मिलन कराने के उद्देश्य से उपयुक्त स्थल, परिस्थिति एवं वातावरण के निर्माण में सक्रिय हो जाता है।

ऊपर उत्तररामचरित की नाटकीय भावधारा के सन्दर्भ में उसके तृतीय अङ्क के कुछ मनोवैज्ञानिक वैशिष्ट्यों का विवेचन किया गया। इससे इतना स्पष्ट हुआ कि राम-सीता का भावात्मक मिलन-रूप साध्य इस छाया अङ्क के साधनभूत हो जाने से कितना स्वाभाविक, सन्निकट एवं सरल हो गया है। यदि इस अङ्क को निकालकर देखें, तो सप्तम अङ्क के गर्भनाटक के अनन्तर सीता राम को मिलकर भी नहीं मिल पातीं; न तो वैसा मिलन सीता की दृष्टि से ही न्याय्य, स्वाभाविक या प्रत्याशित कहा जाता और न इससे दर्शकों की तत्सम्बन्धी जिज्ञासाओं को ही पूर्ण परितोष प्राप्त होता। गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर उत्तररामचरित एक मनोवैज्ञानिक समस्यामूलक नाटक है जिसकी समस्याओं की भित्ति प्रथम अङ्क है, निदान तृतीय अङ्क तथा समाधान सप्तम अङ्क। भवभूति ने यहाँ जिस अङ्गी रस—करुण—की निष्पत्ति करानी चाही है, उसकी दृष्टि से भी यह अङ्क सर्वोपरि महत्त्व रखता है। किन्तु इन सारे भावात्मक मूल्यों से समन्वित होने पर भी नाटकीय कार्य-व्यापार की सङ्घटनात्मक गति को लेकर कुछ विद्वानों को इस अङ्क से बड़ी निराशा भी होती है। कारण यह है कि यहाँ पूरे अङ्क में नाटकीय वृत्त प्रायः जहाँ का तहाँ ठप पड़ा रह जाता है, उसमें आगे सरकने की न तो शक्ति दिखाई देती है, न उत्साह। प्रथम अङ्क में जो कार्य-व्यापार काफी तेजी से आगे बढ़ा था, वह दूसरे अङ्क में किञ्चित् मन्द और तृतीय अङ्क में प्रायः पंगु हो जाता है। पूरा अङ्क राम के विरहोद्गारों तथा सीता के मन पर उनकी विविध प्रतिक्रियाओं को दिखाने में ही लगा दिया गया है; यदि इसके साथ ही वृत्त के विकास पर भी कुछ ध्यान दिया गया होता, तो कदाचित् कथा-प्रवाह में इतनी शिथिलता नहीं आ पाती। अतः इस अङ्क का काव्यात्मक मूल्य चाहे जो माना जाय, इसकी नाटकीय शक्ति अत्यन्त क्षीण है।

यहाँ तृतीय अङ्क के ऊपर आधुनिक आलोचकों की कुछ सामान्य धारणाओं का पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया गया। विशेषतः नाटकीय आलोचना के जिस निकष पर तृतीय अङ्क को चढ़ाकर देखा गया है, वह प्रायः अरस्तू द्वारा प्रतिपादित पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र का नाटकीय कार्यव्यापार का सिद्धान्त ही है। हमारी निश्चित धारणा है कि भवभूति जैसे कवि एवं नाटककार की कृतियों के सम्यक् अवबोध के लिए साहित्यशास्त्र के किसी वैदेशिक सिद्धान्त के चश्मे की आवश्यकता नहीं; जब तक उन्हें उन्हीं के देश की साहित्य-परम्परा तथा चिन्ताधारा के बीच खड़ा करके नहीं देखा जायगा, तब तक उनकी प्रतिभा के विशिष्ट संस्पर्शों का सम्यक् अभिज्ञान नहीं हो पायगा। फिर भी, विश्व साहित्यशास्त्र की बहुविध मान्यताओं के बीच कई स्थल ऐसे भी हैं जहाँ कला-प्रक्रिया सम्बन्धी समानताएँ दृष्टिगत होती हैं। अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में जिस **ऐक्शन** (कार्यव्यापार) पर इतना बल दिया है, उसका हमारे

नाटकों में अभाव हो, ऐसी बात नहीं है। यह दूसरी चीज है कि हमारे नाटकों का प्रधान नाट्यतत्त्व 'रस' हुआ करता है, और यह रस कभी कभी स्थूल कार्यव्यापार के अभाव में भी बड़ी शक्तिमत्ता के साथ अभिव्यक्त होता है। उत्तररामचरित का तृतीय अङ्क इसी सत्य को निदर्शित करता है। किन्तु यदि ध्यान से देखें तो यहाँ पूरे अङ्क में, भावों के आरोह-अवरोह के क्रम में, नाटकीय कार्यव्यापार सूक्ष्म रूप से निरन्तर गतिशील रहा है। किसी भी नाटक के वृत्त का विकास दो प्रकार से होता है—(क) बाह्य घटनाओं की स्थूल गति में तथा (ख) पात्रों के अन्तर्जीवन के सूक्ष्म भावात्मक प्रवाह में। यदि हम इनमें से पहले विकास को ही वृत्त या कार्यव्यापार की इयत्ता मान लें, तो यह हमारी बड़ी भूल होगी। वास्तविक महत्त्व तो वृत्त के अन्तरङ्ग के विकास को ही दिया जाना चाहिए जो नाटकीय पात्रों के भावात्मक जीवन की गतिशीलता का ही पर्याय होता है। अरस्तू द्वारा प्रतिपादित कार्यव्यापार की सीमा भी भौतिक घटनाओं का बहिरङ्ग ही नहीं, प्रत्युत उनके भीतर निविष्ट मनोगत संवेगों की उत्तरोत्तर विकास-प्रक्रिया भी है।[1] यदि इस दृष्टि से विचार करें तो उत्तररामचरित के तृतीय अङ्क में कार्यव्यापार की कोई क्षति हुई है, ऐसा हम मान ही नहीं सकते। यह वस्तुतः हमारा दृष्टिभ्रम ही होगा। यह सही है कि पूरे अङ्क में राम एवं सीता के परस्पर भावोद्गारों के अतिरिक्त कोई पार्थिव घटना यहाँ जन्म नहीं लेती। किन्तु यहाँ ऊपर ऊपर राम और सीता की कहानी का शरीर मात्र विरमित प्रतीत होता है; उसकी आत्मा में तो एक ऐसी प्राणवन्त गति है जो अन्ततोगत्वा सीता के तटस्थ बने हृदय के कठिन पत्थरों को तोड़ तोड़कर उन्हीं में से राम के प्रति सहानुभूति, संवेदना एवं प्रणय की उज्ज्वल भावधारा प्रवाहित करने में समर्थ होती है। अङ्क के प्रारम्भ में राम और सीता जहाँ खड़े दिखाई देते हैं, अङ्क का अन्त होते होते वे वहीं संस्थित रहकर भी अपने भावी मिलन की दिशा में एक विशाल दूरी

---

१. अरस्तू के काव्यशास्त्र के सुप्रसिद्ध टीकाकार एवं व्याख्याता श्री एस० एच० बुचर अरस्तू के कार्यव्यापार सम्बन्धी इसी अभिप्राय को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

The word 'action', as is evident from what has been said, requires to be interpreted with much latitude of meaning. It embraces not only the deeds, the incidents, the situations, but also the mental processes, and the motives which underlie the outward events or which result from them. —ए० बु०, पृ० 337।

श्री बुचर ने इस प्रसङ्ग में अपने उक्त अभिमत के अतिरिक्त ड्राइडन का तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण भी इन शब्दों में उद्धृत किया है :—

"Every alteration or crossing of a design, every new-sprung passion, and turn of it, is a part of the action, and much the noblest, except we conceive nothing to be action till they come to blows."

—वही, पृ० वही।

तय कर लेते हैं। इसे किसी भी दृष्टि से वृत्त की जड़ता नहीं कह सकते। अतः इस अङ्क का न केवल काव्यात्मक मूल्य है, वरन् उच्च नाटकीय मूल्यों—कार्यव्यापार के सूक्ष्म तत्वों—से भी यह पूर्णतः समन्वित है।

प्रथम अङ्क तथा तृतीय अङ्क के अनन्तर उत्तररामचरित के जो अङ्क भवभूति के नाट्यशिल्प के उत्तम निदर्शन हैं, वे हैं चतुर्थ, षष्ठ एवं सप्तम अङ्क। 'कौसल्याजनक-योग' को निदर्शित करनेवाला चतुर्थ अङ्क, राम एवं सीता के पुनर्मिलन की जो भूमि छाया-अङ्क में तैयार की जा चुकी है, उसमें और अधिक सम्भाव्यता लेकर अवतरित होता है। राम ने जब सीता को निर्वासित किया था, तो उस समय उनके कोई भी गुरुजन उनके पास नहीं रह गए थे। अर्थात् सीता-निर्वासन के दो मुख्य हेतुओं—लोकापवाद तथा प्रजा को किसी भी मूल्य पर सन्तुष्ट एवं सुखी रखने का राम-सङ्कल्प—के बाद यदि कोई तीसरा हेतु प्रबल माना जाय तो वह निर्वासन के समय अयोध्या में राम के गुरुजनों की अनुपस्थिति ही है। कौसल्या आदि के नहीं रहने से सीता का दारुण निर्वासन फलित हुआ, तो सीता की पुनः प्राप्ति तथा राम के साथ उनके भावात्मक मिलन के लिए उनके सहयोग एवं सहानुभूति की बड़ी अपेक्षा है। इसी महत्त्वपूर्ण उद्देश्य की सिद्धि के लिए चतुर्थ अङ्क की सर्जना हुई है। इसमें लव आदि कुछ पात्रों को छोड़कर शेष सभी पात्र ऐसे हैं जो राम एवं सीता के हितचिन्तक हैं; साथ ही, सीता के निर्वासन में उनकी अनुपस्थिति का भी अप्रत्यक्ष हाथ रहा है। एक और चीज जो इस अङ्क के ऐसे पात्रों को परस्पर मिलाती है, राम द्वारा सीता के क्रूर निर्वासन पर उन सब का प्रायः समान रूप से पीड़ित एवं दुखी होना भी है। सीता-निर्वासन से स्वयं राम कितने पीड़ित एवं आकुल हैं, इसे कवि ने छाया-अङ्क में चित्रित किया; अब यहाँ उसने सीता एवं राम के स्वजनों के तत्सम्बन्धी मानसिक क्लेशों को उभारकर सीता के प्रति उन सबकी सजल सहानुभूति का मार्ग प्रशस्त किया है। वस्तुतः राम एवं सीता का यह आरोपित वियोग कोई वैयक्तिक चीज नहीं, वह समाज या लोकमत का ही सहज प्रतिप्रसव है। इस अङ्क में जनक, अरुन्धती, कौसल्या आदि न केवल राम एवं सीता के सगे सम्बन्धी या गुरुजन हैं, अपितु तत्कालीन समाज के भी विशिष्ट प्रतिनिधि हैं। अतः राम के दैवदुर्योग[1] तथा सीता के विशुद्धि-उत्कर्ष[2] के प्रति उनके प्रबल मनोभावों को जगाकर, सप्तम अङ्क में सीता के पक्ष में जिस लोकमत का निर्माण किया गया है, उसकी नींव यहीं डाल दी गई है। सीता-वियोग से समान रूप से दुखी जनक एवं कौसल्या के परितापों तथा एक दूसरे से मिलते समय उनके मानसिक संक्षोभों एवं सङ्घर्षों का बड़ा ही मोहक मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार बालक लव को देखकर इन दोनों के मन में एक सहज वात्सल्य के जो मसृण भाव उमड़ते हैं, वे इस अङ्क की विभूति हैं।

---

१. उ० च०, पृ० ९२।

२. वही : ४ : ११।

निर्वासन के पश्चात् राम के मन में सीता-भावना के क्रमिक विकास को कवि ने बड़ी कलात्मकता के साथ दिखाया है। वह सीता या सीता से सम्बद्ध किसी अन्य वस्तु की संवेदना पुटपाकप्रतीकाश राम के प्राणों में एकाएक भरना नहीं चाहता। जिस प्रकार निर्वासिता सीता के मन में संवेदन या प्रीति के भावों को आकस्मिक रूप से नहीं बढ़ाया जाता, उसी प्रकार सीता के सम्बन्ध में राम की जानकारी भी क्रमशः बढ़ाई जाती है। इसका प्रथम नाटकीय लाभ तो यह दीखता है कि आरम्भ से लेकर अन्त तक वृत्त के प्रति पाठकों या दर्शकों की उत्सुकता बनी रहती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका महत्त्व इसमें है कि उस कठोर तथा सर्वथा अप्रत्याशित निर्वासन के पश्चात् राम एवं सीता को अनायास मिला देने से जो आघात मिलता वह उनके मानसिक सन्तुलन को नष्ट कर सकता था; चूँकि इस मिलन के लिए न तो राम मानसिक रूप से तैयार रहते, न सीता। इस सन्दर्भ में सीता के मानसिक विकास की प्रक्रिया छाया-अङ्क में ही लगभग पूरी हो जाती है। स्वयं राम के लिए इस अङ्क का महत्त्व इसमें है कि वर्षों पीछे से उनके एकाकी प्राणों में घुलती हुई अन्तर्मुखी वेदना को पञ्चवटी की सुपरिचित तथा सीता की मीठी स्मृतियों से लदी हुई रम्य वनस्थली के सान्निध्य में बहिर्गत होने का अवकाश प्राप्त होता है। उनके मन के भीतर सुलगती हुई आग जब अनुकूल उद्दीपन पाकर बाहर निकलती है, तो इससे उनके शोक-धूमिल मन का विशोधन एवं संस्कार होता जाता है। जब तक पीड़ा की वह मर्मान्तक टीस राम के प्राणों के भीतर ही भीतर अपने जाल फैलाती रहती, तब तक राम सीता को सहज ढंग से स्वीकार नहीं कर पाते। वेदना के इस मार्मिक उद्गीरण के ही क्रम में राम के मन में सीता के भौतिक अस्तित्व की स्वप्निल चेतना जाग्रत कर दी जाती है—अदृश्य सीता जब अपनी संवेदनशील उँगलियों से राम के ललाट आदि का अमृत स्पर्श करती हैं, तो राम के मन के कोने में कहीं यह विश्वास जड़ जमा लेता है कि सीता जीवित हैं। सीता के सम्बन्ध में राम के मन में जगी हुई आशा की यह क्षीण ज्योति कुछ और दृढ़ होती हुई प्रतीत होती है जब वे षष्ठ अङ्क में सीता की आकृति से मिलते-जुलते कुश एवं लव को देखते हैं तथा उन दोनों बच्चों के प्रति अपार प्रीति का अनुभव करते हैं।[1] उनके प्रति राम का समाकर्षण जिस प्रकार पनपता है तथा कुछ ही क्षणों के अनन्तर कुश की तटस्थता को लक्ष्य करके जिस प्रकार वे पुनः निराश-से हो जाते हैं[2], वह सब कुछ भवभूति की जिज्ञासा एवं औत्सुक्य के भावों को अन्त अन्त तक बनाए रखने की कला का उत्कृष्ट निदर्शन है। वे इस विषय बहुत सावधान एवं जागरूक दीखते हैं कि राम के मन में सीता के अस्तित्व सम्बन्धी सत्य की अनुभूति तो भर दी जाय, किन्तु उस सत्य को प्रत्यक्ष तब तक नहीं किया जाय जब तक राम सप्तम अङ्क के गर्भनाटक को देखकर सीता-मिलन की चरम अनुभूति पर नहीं पहुँचें। कवि जानता है कि वस्तु का मर्मस्थान एवं मूलतत्त्व

---

१. उ० च० : ६ : २६, २७।

२. वही, पृ० १३६।

भाव ही होता है—भाव की सम्पुष्टि हो जाय तो वस्तु स्वयमेव आकर ग्रहण कर लेती है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर उसने अपने इस नाटकीय वृत्त में बड़े कौशल के साथ राम एवं सीता के मनोगत भावों के विकास पर सर्वाधिक बल दिया है जो अन्ततोगत्वा उनके मिलनरूप वस्तु में परिणमित हो जाता है।

तृतीय अंक की करुणा के सागर में गोते लगाकर जब हम चतुर्थ अंक तथा उसके बाद के अंकों की भावभूमि पर उतरते हैं, हमारा ध्यान भवभूति की हृदय-संश्लेषणी भाव-वृत्ति की एक दूसरी भंगिमा की ओर सहज ही आकृष्ट हो जाता है। प्रथम अंक में राम और सीता के जिस 'अद्वैत' सम्बन्ध को कवि ने दाम्पत्य के भाव-भीने उद्गारों से सँवारा है, परिपुष्ट किया है, सप्तम अंक में गर्भांक के अभिनीत होने तक वही सम्बन्ध 'द्वैत' बनकर प्रकट होता है। कवि ने इस द्वैत का आभास न केवल छाया-अंक में राम एवं सीता की व्यवहित भाव-स्थितियों के चित्रण द्वारा प्रकट किया है, आगामी अंकों में भी भाव-भेद व व्यक्ति-भेद से इसे प्रकाशित करने का कलात्मक आयास दीखता है। छाया-अंक के आरम्भिक अंशों में सीता यदि किंचित् भावात्मक कारणों से अपने को राम से पृथक् अनुभूत करती हैं, तो राम के मन में पार्थक्य का भाव सीता की भौतिक अनुपस्थिति से सम्भूत होता है। इस प्रकार मानसिक एवं भौतिक खींच-तान के बीच अद्वैत का वह द्वैत अंक के अन्त तक किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है।

चतुर्थ अंक में इस द्वैत की अनुभूति कराने में जनक एवं कौसल्या प्रधान रूप से सहायक होते हैं। वहाँ इन दोनों के परस्पर अद्वैत का एक ही प्रमुख आधार है—दोनों के हृदयों में सीता के दारुण वियोग की समान अनुभूति। किन्तु बाह्यतः राजर्षि जनक यदि अपनी आन्तरिक पीड़ाओं में परित्यक्ता सीता का प्रतिनिधित्व करते हैं[१], तो कौसल्या स्पष्टतः राम से रुष्ट होकर भी जनक के क्रोध एवं शाप से सीता-निर्वासक राम का संरक्षण करती हैं। तृतीय अंक में परस्पर वियुक्त राम एवं सीता के प्रणयोच्छ्वासों को अनुभावित कराने एवं उन्हें उनके मूल रूप—अद्वैत—की ओर खींच ले जाने में तमसा एवं वासन्ती का अप्रतिम भावात्मक सहयोग लक्षित होता है। चतुर्थ अंक में भी जनक एवं कौसल्या की एकत्व-सिद्धि में अरुन्धती की विशिष्ट भूमिका दर्शनीय है। पंचम एवं षष्ठ अंकों में द्वैत का यह संक्रमण एक ओर कुश एवं लव तथा दूसरी ओर चन्द्रकेतु की उपस्थिति से सिद्ध होता है; इन तीनों को भावात्मक रूप से एक बनाने में सुमन्त्र एवं राम के स्नेह-संभारों का महत्त्व है। पुनः, अन्तिम बार,

---

१. महाराज जनक के आक्रोश-भाव में सीता का ही भावावेग मूर्त हुआ-सा लगता है।

तुल०—

सीता—दिट्ठिआ अपरिहीणधम्मो क्खु सो राआ। —उ० च०, पृ० ५५।

जनकः—आर्ये गृष्टे अप्यनामयमस्याः प्रजापालकस्य मातुः।—उ० च०, पृ० ९२।

सप्तम अंक में जब सीता की करुणामयी जननी वसुन्धरा सीता का पक्ष लेकर राम को धिक्कारती हैं, द्वैत की यह प्रक्रिया अपने नाटकीय चमत्कार में यहाँ भी सामने आती है। इस बार राम की ओर से बोलने तथा वसुन्धरा एवं राम को एकत्व की ओर ले जाने में भागीरथी का सहृदय योगदान लक्षित होता है। इस सन्दर्भ में दुःखिनी सीता का सम्पूर्ण परिवार—उनके पिता जनक, उनके पुत्र कुश एवं लव तथा उनकी माता वसुन्धरा—लगभग एक-सी ही भावात्मक प्रक्रिया से समन्वित होता हुआ सीता एवं राम के मिलन रूप अद्वैत की ओर गतिशील होता है। राम के विरुद्ध उनके मन में जो कलुष जमता रहा है, अरुन्धती, भागीरथी आदि के करुणा-भीने भावोद्गारों के द्वारा उसका विशोधन हो जाता है।

सीता के मन पर आरोपित द्वैत को समूल नष्ट करने तथा उसे पुनः 'अद्वैतं सुख-दुःखयोः' में परावर्तित करने के लिए कवि जिन उपकरणों का उपयोग करता है, उनमें उसकी सम्पूर्ण सामाजिक एवं पारिवारिक चेतना झलकती है। कवि सीता या राम के वैयक्तिक सुख या दुख को जनक या कौसल्या जैसे गुरुजनों के सुख-दुख से छाँटकर नहीं देखना चाहता। राम और सीता तो मिल जायँ, किन्तु जनक और कौसल्या जैसे लोग नहीं मिलें, यह उसे अभीष्ट नहीं। राम और सीता पति-पत्नी ही नहीं, अपने स्नेह-सम्बन्धों की विशालता में अन्य कई महानुभावों से जुड़े हुए हैं। अतः राम द्वारा सीता का त्याग वस्तुतः उन सभी सम्बन्धों के लिए एक चुनौती है जिनके स्नेह के केन्द्रीय बिन्दु वे दोनों हैं। यों कवि ने तृतीय अंक में राम एवं सीता के बीच खड़ी आरोपित दीवार को भावात्मक एवं मनोवैज्ञानिक उपायों से बहुत कुछ तोड़ दिया है, उनके मिलन-मार्ग के सबसे बड़े अवरोध को नष्ट कर दिया है। किन्तु वस्तुतः यह दीवार टूटी हुई तभी प्रतीत होगी जब इसके लिए उन सभी गुरुजनों एवं मित्रों का अपेक्षित सहयोग राम को प्राप्त होगा जिनकी अनुपस्थिति का संकेत कवि ने चित्र-दर्शन के प्रारम्भ में किया है। चतुर्थ अंक से लेकर सप्तम अंक तक कवि ने राम के पक्ष में इसी सहयोग की प्राप्ति का, दूसरे शब्दों में, लोकमत के निर्माण का अपेक्षित प्रयास किया है।

तृतीय अंक की समाप्ति के पश्चात् कवि ने अपने भावात्मक चमत्कार को केवल दो बिन्दुओं पर केन्द्रित किया है--(१) राम एवं सीता के दाम्पत्य की आनन्द-ग्रन्थि जो कुश एवं लव की प्रसूति में मूर्त हुई और (२) गर्भांक की अनुपम योजना के द्वारा नाटक के शरीर में यत्र-तत्र बिखरे हुए सारे द्वैतों की प्रसन्न एवं सुखद अद्वैत-सिद्धि। वस्तुतः यदि पहले तीन अंकों तक उत्तररामचरित दाम्पत्य के उदात्त भावों की संगमनी है तो वह अपने शेष अंकों में वात्सल्य के स्निग्ध भावों का अद्वितीय मूर्ति-विधायक है। भवभूति का जीवन-दर्शन जिस दाम्पत्य की कल्पना करता है, वात्सल्य उसका पूरक ही नहीं, संस्कर्ता एवं सम्मोहन भी है। वह पति-पत्नी के धर्म-प्राण व्यक्तित्व का ही उदात्तीकृत प्रक्षेपण, उनके सात्त्विक मिलन की आधार-भूमि एवं उनके दाम्पत्य-आदर्शों की रसमय मूर्तिमत्ता है। फलतः किसी भी कारण से परस्पर वियुक्त

मिथुनों को पुनः जोड़ने में, उनकी दुखाग्नि को बुझाकर उसके बदले अपने शीतल स्नेह का क्षीर-संचार करने में यह सन्तानरूपी आनन्द-ग्रन्थि अचूक औषध है, कवि इसे अच्छी तरह जानता है। वाल्मीकि इस ग्रन्थि से रामायण-पाठ कराकर सन्तोष कर लेते हैं[1], पद्मपुराण कुछ दूर और आगे जाकर राम की विकट सैन्य-शक्ति के साथ उसका अद्‌भुत एवं चमत्कारी संघर्ष दिखाने में ही अपना गौरव मान लेता है[2]; किन्तु भवभूति सम्भवतः पहली बार टूटे हुए दाम्पत्य के संयोजन में इस ग्रन्थि का इतना सफल प्रयोग करते हैं। युद्ध यहाँ भी होता है, रामायण-पाठ का कार्यक्रम भी चलता है, किन्तु यह सब बिछुड़े हुए राम एवं सीता के भावात्मक मिलन रूप साध्य का अपरिहार्य उपकरण बन जाता है। सम्पूर्ण नाटक को यदि हम ध्यान से देखें तो राम एवं सीता को एकत्र करने तथा उनके मिलन की भावात्मक सिद्धि कराने में जितने उपकरण प्रयुक्त हुए हैं, उन सबमें प्रथमतः पञ्चवटी एवं द्वितीयतः इस आनन्द-ग्रन्थि की भूमिका सर्वाधिक महत्त्व रखती है। पञ्चवटी की 'प्रकृति' यदि वासन्ती एवं तमसा के रूपों में अपनी उपयुक्त अभिव्यक्ति खोज लेती है, तो राम एवं सीता की दाम्पत्य-ग्रन्थि कुश एवं लव के 'पुरुषात्मक' अस्तित्व में मूर्तिमान् होती है। प्रकृति और पुरुष के ये सम्मिलित भाव अन्ततः सीता एवं राम के संयोगात्मक आनन्द-भावों में परिणत होते हुए दीखते हैं।

ऊपर जिस द्वैत की चर्चा आयी है, भारतीय जीवन-दर्शन की वह मूलभूत इकाई है। यदि उसे दार्शनिक दृष्टि से न भी देखें, तो भी जीवन या समाज का कोई ऐसा भाव नहीं जो द्वैत से छनकर नहीं आता हो, जिसका परिष्कार अथवा रूप संस्कार द्वन्द्वात्मक जगत् की भट्टी में तपाकर नहीं किया जाता हो। इतना ही क्यों, जो भाव द्वैत के संघातों से जितना ही टूटेगा, अद्वैत के रूप में उसका उतना ही सुदृढ़ एवं स्वस्थ अभ्युदय होगा। अपने वनवास-काल में भी राम और सीता ने जानें कितने संघात झेले थे, कितनी चोटें खायी थीं। लंका में अपने मिलन से पहले तक उन्हें द्वैत की जानें कितनी कठिन परीक्षाओं में उतरना पड़ा था। तब जाकर वे 'मिल' पाये थे। किन्तु अयोध्या वापस आकर, कुछ ही समय के पश्चात्, वे एक बार पुनः द्वैत की जिस विषम चपेट में पड़ते हैं, उससे वे जैसे सर्वांशतः टूट जाते हैं, अपने एकात्मक अस्तित्व के प्रत्येक स्तर पर जैसे 'दो' हो जाते हैं। भवभूति राम एवं सीता के ऐसे सारे द्वन्द्वों या द्वैतों को जीवन का निषेध नहीं मानते, प्रत्युत उसका अस्तिवाची स्वरूप समझते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपने नायक एवं नायिका को जीवन के तीव्रतम द्वन्द्वों में मुक्त छोड़ दिया है। इसका परिणाम बड़ा ही सुखकर होता है। सप्तम अंक में, इसीके फलस्वरूप, राम और सीता इस प्रकार मिलते हैं, जैसा इसके पहले वे कभी नहीं मिले थे। अद्वैत के इस सहज उत्कर्ष के पीछे द्वैत की वह विकट शृङ्खला है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

---

१. रामा० : ७ : ९४।

२. पद्म० : ४ : ६०-६५।

उत्तररामचरित के द्वितीयांश में कुश एवं लव ऐसे केन्द्र-विन्दु हैं जिनकी प्रबल आकृष्टि में दूसरे सारे भाव बँधे हुए-से दीखते हैं।[1] चाहे वह जनक का क्रोध हो या कौसल्या की मातृसुलभ करुणा, चन्द्रकेतु का वीरोचित उत्साह हो अथवा सुमन्त्र, राम या सीता की सहृदय वत्सलता, वे दोनों इन समग्र भावों के अन्तर्वर्ती स्वरूप हैं। क्रोध एवं उत्साह भी उनके सहृदय सम्पर्क में आते ही अपना विकृत आवरण त्याग देते हैं,[2] उस ग्रन्थि के ऐकान्तिक आनन्द-भाव में पर्य्यवसित हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे इस आनन्द-ग्रन्थि ने अपने समाकर्षण का अदृश्य जाल नाटक के दूसरे सभी पात्रों के ऊपर फैला दिया हो और धीरे-धीरे उन सबको नाटक के केन्द्रीय आनन्द-भाव की ओर समेटता हुआ अपने जीवन्त सम्मोहन में बाँधता जा रहा हो। भौतिक विकर्षणों के बीच आत्मिक आकर्षण की ऐसी कलात्मक योजना भवभूति का एक ऐसा मौलिक स्वर है जो सम्पूर्ण संस्कृत नाट्य-साहित्य में बेजोड़ है। यों कालिदास ने भी अभिज्ञानशकुन्तल के सप्तम अंक में भरत के रूप में दुष्यन्त एवं शकुन्तला की मूर्त भावान्विति दर्शाई है। वहाँ भी वे दोनों वात्सल्य की गहन अनुभूति के द्वारा ही अपने टूटे हुए दाम्पत्य की कड़ियाँ जोड़ पाते हैं। इस अर्थ में भरत तथा लव-कुश की भावात्मक भूमिकाएँ एक ही स्तर, अतः एक ही महत्त्व की सिद्ध होती हैं। किन्तु, यदि ध्यान से देखा जाय, तो कुश एवं लव भरत की छाया लेकर भी भवभूति की मौलिक सृष्टि हैं। भवभूति ने इस कुमार-युगल की भूमिका को जो नाटकीय व्यापकता प्रदान की है, उसका भरत में नितान्त अभाव है। जैसा कि ऊपर व्याख्यात हो चुका है, कुश एवं लव न केवल अपने माता-पिता के वियुक्त हृदयों का संश्लेषण करते हैं, प्रत्युत इसी क्रम में, उनके बृहत्तर परिवार के दूसरे सदस्यों के एकत्व की भी सिद्धि करते हैं। केवल नाटकीय दृष्टि से भी देखें तो लगभग चार अंकों में बहुविध भावों एवं परिस्थितियों के बीच अपने मधुर अस्तित्व की अविच्छिन्न चेतना जगाये रखनेवाले, बालक, ब्रह्मचारी, वीर, सहृदय, सुपुत्र आदि कई रूपों में सम्बद्ध जनों के मन-प्राणों को विमुग्ध करनेवाले तथा भवभूति के **अद्वैत-आनन्द** को परा अभिव्यक्ति प्रदान

---

१. राजर्षि जनक ने इस आकर्षण की बड़ी समर्थ व्यंजना इन शब्दों में की है—

× × ×

मनो मे संमोहस्थिरममि हरत्येष बलवानयोधातुं यद्वत्परिलघुरयस्कान्तशकलः॥

—उ० च० : ४ : २१।

२. दे०

(क) जनकः—**शान्तं वा रघुनन्दने तदुभयं यत्पुत्रभाण्डं हि मे।**
भूयिष्ठद्विजबालवृद्धविकलस्त्रैणश्च पौरो जनः॥

—वही : ४ : २४।

(ख) **चन्द्रकेतुः—कुशलमत्यद्भुतक्रियस्य प्रियदर्शनस्य लवस्य लाभाभ्युदयेन। तद्विज्ञापयामि मामिव विशेषेण वा मत्तः स्निग्धेन चक्षुषा पश्यत्वमुं वीरमनरालसाहसं तातः।**

—वही, पृ० १२६।

करनेवाले कुश एवं लव की तुलना भरत की अत्यन्त सीमित भूमिका से नहीं की जा सकती। भरत के अस्तित्व की सूचना हमें पहले पहल अभिज्ञानशकुन्तल के सप्तम अंक के अन्तिम भाग में उपलब्ध होती है; उसके पहले भरत का न तो नाटकीय दृष्टि से कोई प्रयोजन है, न भावात्मक दृष्टि से। इधर उत्तररामचरित के प्रथम अंक से ही सीता की प्रसूति की स्पष्ट चर्चा शुरू हो जाती है;[1] द्वितीय अंक में आत्रेयी **'सर्वप्रकाराद्‌भुतं दारकद्वयम्'**[2] का प्रसंग चलाकर राम एवं सीता की मिलन-भूमि की सम्भावनाएँ तैयार करती है; तृतीय अंक में वे सम्भावनाएँ यथार्थ हो जाती हैं—अपने बच्चों की वर्षगाँठ के अवसर के निमित्त ही सीता पंचवटी में पुष्प-चयन के लिए उपस्थित होती हैं। स्वयं राम तो शूद्र तपस्वी की हत्या करने के लिए वहाँ आते हैं, किन्तु सीता वहाँ अपने बच्चों के स्नेह से खिंचकर आती हैं। यदि बच्चे न होते तो सीता का वहाँ आना सम्भव नहीं होता और यदि सीता नहीं आतीं तो एकाकी राम के अरण्य-रुदन से वाञ्छित हृदय-संश्लेषण की प्रक्रिया पूरी नहीं होती। सीता केवल पत्नी ही होतीं तो कदाचित् राम को वे इतना शीघ्र क्षमा नहीं कर पातीं। किन्तु पत्नी के अतिरिक्त वे अपने दो बच्चों की जननी भी हैं। प्रथमतः ही उनके मातृभाव को जगाकर किस प्रकार उसे राम के पितृभाव में संगमित कर दिया जाता है और किस प्रकार सीता अपनी छलकती हुई वात्सल्य की करुणा में गृहस्थ संसारिणी के रूप में राम के साथ अपना तादात्म्य कर लेती हैं, इसका विवेचन हम कर आये हैं। वस्तुतः जिस प्रकार राम की दुःख-पीड़ाओं से सीता को प्रत्यक्षतः अवगत कराकर सीता एवं राम के भावात्मक ऐक्य की सम्पुष्टि के लिए छाया-अंक का महत्त्व है, उसी प्रकार स्वयं उस भावात्मक एकता के निर्माण के लिए कुश एवं लव का तरल वात्सल्य महत्त्व रखता है। यदि कुश और लव को निकाल कर देखें तो तृतीय अंक निष्प्राण हो जायगा और यदि तृतीय अंक को निकाल दें तो सम्पूर्ण उत्तररामचरित का मूल भाव ही ढहता हुआ-सा प्रतीत होगा। कालिदास की दृष्टि के सामने वात्सल्य का न तो इतना व्यापक चित्र था और न उसकी ऐसी नाटकीय उपयोगिता ही थी। यदि वे बालक भरत के प्रसंग को अभिज्ञानशकुन्तल की विषयवस्तु से हटा भी लेते तो इससे उनके नाटक के 'मूल भाव' की कोई क्षति नहीं होती। दुष्यन्त एवं शकुन्तला के मिलन के लिए भी भरत का प्रसंग 'अपरिहार्य' नहीं लगता; हाँ, निश्चय ही वह उस मिलन का 'अलंकरण' बनकर प्रकट होता है। इधर सम्पूर्ण उत्तररामचरित का वैशिष्ट्य यदि दाम्पत्य के महनीय भावों का संयोजन एवं उत्कर्षण है, तो उसका दाम्पत्य अपने स्वरूप एवं संवर्धन के लिए इस अद्वितीय आनन्द-ग्रन्थि पर ही आश्रित है। इसीलिए कुश एवं लव की जीवन्त सत्ता न केवल उत्तररामचरित की विशिष्ट भावभूमि के लिए अनिवार्य

---

१. तुल० **सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति।** —वही, पृ० १२।

२. वही, पृ० ३४।

है, वरन् उसके नाटकीय सौन्दर्य का भी मूल स्रोत है। दाम्पत्य एवं वात्सल्य की ऐसी सम्मिलिति नाटकीय योजना भवभूति के नाट्य-दर्शन एवं जीवन-दर्शन का मूल उत्स है, भवभूति की कला के स्वरूप की परख उसके जाने बिना असम्भव है। कालिदास को उनके नाटकों में उद्भावित दाम्पत्य या वात्सल्य के चित्रों के बिना भी समझा जा सकता है, उनके उदात्त सौन्दर्य-दर्शन की बारीकियों को हृदयंगम किया जा सकता है।

उत्तररामचरित के षष्ठ अङ्क की समाप्ति होने तक नाटक के समग्र द्वैत भाव, जो अब तक नाटक के प्रधान भाव-प्रवाह के इर्द-गिर्द जगते रहे हैं, इतना तरल अवश्य हो जाते हैं कि वे सहज ही राम एवं सीता के 'अद्वैतं सुखदुःखयोः' में अपने को ढाल सकें। अब तक नाटकीय भाव-धारा के साथ परस्पर संपृक्त होते हुए भी उनके पृथक् अस्तित्व की चेतना लुप्त नहीं हो पाई है—सीता एवं राम की तरह ही नाटक के दूसरे सभी पात्र नाटकीय भावान्विति के अंगभूत होकर भी अपने स्व और पर का भेद पूर्णतः मिटा नहीं पाये हैं। गर्भ-नाटक के आरम्भ होने से पहले तक कवि अपने दो नाटकीय लक्ष्यों की प्राप्ति में पूर्ण रूप से सफल हो जाता है—(१) राम एवं सीता तथा उनके अन्तरंग स्वजनों को द्वैत की विषम अग्नि में तपा-तपाकर इतना तरल कर देना कि उनकी वैयक्तिकता एकात्मकता में रूपान्तरित होने के लिए मचल उठे, (२) एकात्म रूप होने के लिए आकुल वैयक्तिकताओं का दिक् एवं काल की दृष्टि से केन्द्रीकरण कर देना।

सप्तम अङ्क के गर्भ-नाटक को उक्त दोनों भाव-स्थितियों का एक अतिशय कलात्मक उपबृंहण एवं उपसंहार माना जा सकता है। एक ही स्थान पर जीवन के विविध क्षेत्रों से आये हुए विविध स्तरों के इतने सारे पात्रों को लाकर उनके स्व-भावों को इतनी संक्षिप्ति, व्यंजकता एवं कलात्मकता के साथ राम एवं सीता की अद्वैत-सिद्धि के एक ही भाव-बिन्दु पर समर्पित करा देना वस्तुतः एक ऐसा भावात्मक एवं नाटकीय चमत्कार है जो सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में अतुलनीय है।

प्रथम अङ्क एवं सप्तम अङ्क की नाटकीय तकनीक में बड़ी समानता है। चित्र-दर्शन की प्रक्रिया, अपने अपने ढंग से दोनों में चलती है। अन्तर यही है कि एक स्थान पर चित्र पट्टगत हैं, तो दूसरी जगह मञ्चगत। दोनों में ही राम अपने अतीत वृत्तों के कतिपय मार्मिक स्थलों का अवलोकन करते हैं; हाँ, एक स्थान पर इस दर्शनक्रिया में सीता भी उनका साथ देती हैं, जबकि अन्यत्र वे सीता-विरहित होकर सीता के ही निर्वासन पर आधृत नाट्य-चित्रों की झलक पाते हैं। प्रथम अङ्क के चित्र सीता-निर्वासन की उपयुक्त पार्श्वभूमि बनकर राम के प्राणों में सीता के भावी वियोग के संवेग भरते हैं[१]—संक्षेप में, इन चित्रों के माध्यम से सीता को निर्वासित करने से

---

१. **विरम विरमातः परं न क्षमोऽस्मि।**
प्रत्यावृत्तः पुनरिव स मे जानकीविप्रयोगः॥

—उ० च० : १ : ३३।

पूर्व राम की मानसिक तैयारी कराई जाती है। किन्तु सप्तम अङ्क का गर्भनाटक तथा उसमें समुपस्थापित किए गए चित्र, ठीक इसके विपरीत, निर्वासन के उपरान्त सीता को पुनः ग्रहण करने से पूर्व राम के मन में अनुकूल संवेग भरकर उन्हें उसके लिए मानसिक रूप से तत्पर करने के निमित्त प्रयुक्त हुए हैं। आदि और अन्त के ये भावात्मक चित्र अपने प्रयोग एवं प्रभाव में परस्पर विरोधी दीखते हुए भी अन्ततः एक दूसरे के पूरक हैं; उत्तररामचरित के वृत्त-प्रवाह की उद्भूति के लिए प्रथम अङ्क यदि हिमालय है, तो उसकी परिणति एवं गन्तव्य की दृष्टि से सप्तम अङ्क महासागर है। इस हिमालय तथा महासागर की मध्यवर्तिनी सारी लहरें अपने आगे-पीछे की गतिशील जीवन-प्रक्रिया से इस प्रकार जुड़ी हुई हैं कि वे मूल-प्रवाह की अविभाज्य अभिव्यक्तियों-सी प्रतीत होती हैं। नाटकीय घटनाओं की इस कुशल योजना के पीछे नाटककार की कला-चेतना अपनी चरम संविद् में विद्यमान दीखती है। सम्पूर्ण संस्कृत नाट्य वाङ्मय में उत्तररामचरित ऐसा अकेला नाटक है जिसमें गहनतम मानव अनुभूतियाँ नाट्य-शिल्प की अप्रतिम विधाओं में प्रकट हुई हैं।

——

अध्याय ३

भवभूति के राम : चरित्र-विश्लेषण

उत्तररामचरित लिखने की प्रेरणा भवभूति को कहाँ से मिली, इस पर पहले भी कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। भवभूति के साहित्य के परीक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि वे (१) आदर्शवादी, (२) लोक-धर्म की उज्ज्वल मर्यादा के संरक्षक, (३) राम के परम भक्त, (४) साहित्य में नवीन सर्जनात्मक प्रयोगों के समर्थक, (५) दाम्पत्य प्रणय के औदात्त्य के उद्गाता, (६) भावुक हृदय की तीव्रतम अनुभूतियों एवं संवेगों के गायक और (७) प्रकृति से ही गम्भीर और अन्तर्मुख कवि हैं। उनके साहित्यिक वैशिष्ट्यों की ये भंगिमाएँ न केवल उत्तररामचरित में, प्रत्युत उनके अन्य दोनों रूपकों में सरलता से खोजी जा सकती हैं। किसी साहित्यकार का साहित्य जीवन एवं समाज के प्रति उसकी निजी प्रवृत्तियों, स्वप्नों और आस्थाओं का ही प्रतिफलन या प्रतिबिम्बन होता है, इत तथ्य का सम्यक् मूल्याङ्कन किसी साहित्यकार के जीवन-दर्शन का सम्बोध कराता है। यह जीवन-दर्शन साहित्यकार की विशिष्ट वस्तु के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति खोज लेता है। कालिदास ने अपनी नाट्य-प्रतिभा के स्फुरण के लिए अभिज्ञानशाकुन्तल आदि नाटकों की वस्तुओं को ही चुना, इसमें कोई साहित्यिक आकस्मिकता की बात नहीं। उनकी सौन्दर्य-ग्राहिणी प्रतिभा स्वतः ही उन्हें ऐसी वस्तुओं की ओर खींचकर ले गयी जिनमें वह सहज ढंग से रूपायित हो सकती थी। भाव-शक्ति का पता वस्तु के अनुरूप संभार से, भाव की रूपात्मक अभिव्यक्ति की शक्तिमत्ता से लग पाता है। जो भाव वस्तु के अन्वेषण में ही खो जाते हैं, उनकी वस्तु या तो पंगु दीखती है या गूँगी या अन्धी। प्रायः अभिव्यक्ति की वेदना से भरे हुए समर्थ भाव अपने रूप की स्वयमेव सिद्धि कर लेते हैं, उनका रूप स्वयं उन्हीं के संदर्शन से महिमान्वित होता है। भवभूति के तीनों नाटकों की वस्तु उनकी विशिष्ट भाव-प्रकृति का ही स्वाभाविक बोध है, वह कवि की आकस्मिक खोज नहीं मानी जा सकती।

ऊपर भवभूति की साहित्यिक प्रवृत्तियों के जो सूत्र रखे गये हैं, उनके प्रकाश में देखने पर, भवभूति की नाट्यकृतियों का वस्तु-बोध सरल हो जाता है। ऐसी जीवन-दृष्टि को स्वर देने के लिए भवभूति को राम-कथा से महत्तर शायद ही कोई दूसरी वस्तु मिल पाती। उनके चरित-नायक राम में वह सब कुछ वर्तमान है जो भवभूति का परम अभीष्ट है, चाहे इसे उनकी साहित्य की दृष्टि से देखा जाय या जीवन की दृष्टि से। राम के चरितांकन में भवभूति को एक ही स्थल पर अपने आदर्श, धार्मिक मर्यादा, भक्ति, सर्जनात्मक प्रयोग, दाम्पत्य की महिमा, भावुकता तथा गम्भीरता की निष्पत्ति के लिए अपना स्वाभाविक 'रूप' मिल जाता है। यों कवि का यह जीवनगत

या साहित्यगत दृष्टिकोण माधव आदि के चरित्रों के माध्यम से भी अभिव्यक्त होता हुआ दीखता है, किन्तु उसका पूर्णतम परिपाक उत्तररामचरित के राम का ही लोकोत्तर चरित है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। महावीरचरित में भी राम आये हैं, किन्तु वे राम भवभूति के समग्र नहीं माने जा सकते; उनमें आंशिक रूप से ही भवभूति के स्वत्व का उद्घाटन हो पाता है। अतः उत्तररामचरित भवभूति की कृतियों में सर्वोत्तम है, इसका मुख्य कारण यही है कि वह कवि के भावों का सर्वस्व है, उनके साहित्यिक एवं आत्मिक आदर्शों का प्राणवन्त रूपायण है।

उक्त सन्दर्भ में जब हम उत्तररामचरित के राम के चरित का मूल्यांकन करते हैं तो यह वस्तुतः उन समग्र मूल्यों का परीक्षण होता है जो उनका भवभूतित्व है। दूसरे शब्दों में, भवभूति अपने जिन विचारों या स्थापनाओं को लेकर चलते हैं, लोक-नायक राम उन्हीं के मूर्त रूप हैं। फलतः राम के चरित में यदि कोई विसंगति दीखती है तो यह मूलतः भवभूति के ही दृष्टि-दोष का एक पक्ष है। भवभूति जभी वाल्मीकि के राम को अपना नायक बनाते हैं, वाल्मीकि का दायित्व समाप्त हो जाता है; राम के चरित के उत्कर्ष या अपकर्ष के उत्तरदायी केवल भवभूति रह जाते हैं। हाँ, भवभूति के राम के अध्ययन में वाल्मीकि का महत्त्व इसलिए होता है कि वे रामचरित के मौलिक आख्याता और निर्माता हैं। निश्चय ही रामचरित के कुछ ऐसे पक्ष हैं जो सार्वभौम, अतः सर्वजनहृदयसंवेद्य हैं; उनपर उँगली उठाने का न तो अवकाश है, न प्रयोजन। यही कारण है कि कई स्थानों पर वाल्मीकि और भवभूति की दृष्टि में कोई अन्तर नहीं दीखता, वहाँ भवभूति किंचित् बदले हुए शब्दों में वाल्मीकि की ही बात दुहरा देते हैं। ऐसा इसलिए नहीं होता कि भवभूति को कहने के लिए कोई अपनी बात नहीं, कोई निजी आविष्कृति नहीं। वस्तुतः यह सब दृष्टि-साम्य का निदर्शन है जो विश्व के किसी भी बड़े साहित्यकार में देखा जा सकता है। जुलियस सीजर को जब शेक्सपीयर अपनी नाट्य वस्तु का आधार बनाता है तो ऐसा नहीं कि वह सर्वत्र इतिहास को तोड़ देता है; कई जगह उसकी साहित्यिक दृष्टि ऐतिहासिक दृष्टि के समानान्तर चलती है। इसका कारण वही है जो ऊपर निवेदित किया जा चुका है। दृष्टि-भेद का एक प्रमुख कारण रचना-भेद भी है—वस्तु के सर्वसम्मत आधार भी प्रायः रचना-भेद से भिन्न रूपों में व्यक्त होते हैं। इसे हमें किसी कला विशेष की विशिष्ट प्रक्रिया की सहज आवश्यकता मानकर चलना होगा। महावीरचरित में माल्यवान् या परशुराम की भूमिका में वाल्मीकि से जो दृष्टि-भेद दीखता है, उसका मुख्य कारण है महावीरचरित का नाटकत्व और रामायण का महाकाव्यत्व। महावीरचरित की नाटकीय वस्तु के निर्माण के लिए मूल प्रबन्धवृत्त के कुछ वैसे अंशों में भी परिवर्तन लाना अनिवार्य हो जाता है जहाँ भवभूति की वैचारिक सहमति है। हाँ, भवभूति के कर्तृत्व के विवेचन के प्रसंग में आदिकवि के साथ न केवल उनके दृष्टि-भेद, प्रत्युत उनके दृष्टिसाम्य का परीक्षण भी आवश्यक हो जाता है। यह भी कोई आवश्यक नहीं कि किसी वस्तु के स्वीकृत मूल्यों के प्रति सभी की समान सहमति पाई जाय। जिसे हम

'सार्वभौम' या 'सार्वजनीन' कहते हैं, वह सापेक्ष शब्द है। उसका भी देश, काल एवं दृष्टि के भेद से अलग-अलग रूपों में व्याख्यान सम्भव है; अतः, इस परिप्रेक्ष्य में, सार्वभौम तथ्य यदि कुछ रह जाता है तो यही कि वस्तुओं के रूप या भाव का कोई स्थायित्व नहीं। विश्व की सत्ता का प्रत्येक अंश प्रवहमान है। इस प्रवाह में चाहे राम हों, या बुद्ध, या ईसा, या उनकी तरह का कोई भी दूसरा व्यक्ति, सभी बह रहे हैं। यही कारण है कि आधुनिक दृष्टि से सर्वथा निरपराध शम्बूक को वाल्मीकि पुरुषोत्तम राम के हाथों बिना किसी झिझक या दुविधा के मरवा देते हैं। यही क्यों, वे शूद्र तपस्वी को अपनी पूरी बात बोलने का भी अधिकार नहीं देते[1]। राम के इस स्तुत्य कार्य का स्वागत देवता भी पुष्प-वृष्टि करके करते हैं। वाल्मीकि के युग में शूद्रों के प्रति बरते गये इस 'न्याय' पर किसी को विचिकित्सा नहीं हो सकती थी—वह तत्कालीन युग-धर्म था, राम चूँकि युग-पुरुष थे, अतः युग-धर्म उन्हें निभाना ही था। किन्तु यही युग-धर्म भवभूति के भारत के लिए सर्वथा नहीं तो एक बड़ी सीमा तक अमान्य हो चुका था। यों उस समय भी उच्च वर्णों में ऐसे परम्परावादी एवं रूढ़िवादी लोगों की कमी नहीं रही होगी जो निम्न वर्णों को घोर उपेक्षा की दृष्टि से देखते होंगे। स्वयं भवभूति का परिवार ही ब्राह्मणों में भी पंक्तिपावन था[2], अतः वह इतर वर्णों, विशेषतः शूद्रों के प्रति कितना उदार था, इसके सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ भी कह पाना अत्यन्त कठिन है। चाहे वह समाज में पिछड़े लोगों के प्रति अनुदारवादी ही क्यों न हो, तत्कालीन भारत की सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थिति ऐसी संकीर्ण भावना के विरुद्ध हो चली थी। बौद्ध धर्म हीनतर वर्णों को स्वाभिमान एवं समता का मन्त्र दे चुका था, वह उच्च वर्णों की संकीर्ण मनोवृत्तियों के विरुद्ध क्रान्ति बनकर फूट चुका था। भवभूति जैसे पंक्तिपावन ब्राह्मण भी अपने मालतीमाधव में कामन्दकी जैसी बौद्ध संन्यासिनी के प्रति बड़ी श्रद्धा दिखाते हैं। इससे स्वयं भवभूति की युगीन उदार मनोवृत्ति का स्पष्ट आभास मिल जाता है। अपने उदारतावादी दृष्टिकोण के कारण जब वे राम-भक्त होकर भी अपने आराध्य को शूद्र तपस्वी का हनन करते हुए देखते हैं, उनका युग-बोध तिलमिला जाता है। संस्कारवश इस घटना का औचित्य सिद्ध करने के लिए राम को दण्डकारण्य में अवश्य ले जाते हैं और उनसे शम्बूक पर खड्ग-प्रहार भी करा देते हैं। किन्तु यहाँ प्रहार करने से पूर्व राम जिन शब्दों में अपने दाहिने हाथ को सम्बोधित करते हैं, उनमें भवभूति का उदारतावादी युग-स्वर मूर्त हो जाता है। शम्बूक वाल्मीकि के राम के लिए किसी भी दृष्टि से दया का पात्र नहीं था, उसे मारने से पूर्व राम के हृदय में ननु-नच का कोई प्रश्न ही न था। किन्तु भवभूति के राम का संवेदनशील हृदय शम्बूक की निष्ठुर हत्या करने से पहले बेतरह काँप जाता

---

१. **भाषतस्तस्य शूद्रस्य खड्गं सुरुचिरप्रभम्।**
निष्कृष्य कोशाद् विमलं शिरश्चिच्छेद राघवः॥ —रामा० : ७ : ७६ : ४।

२. तुल०—"**तत्र ब्राह्मणाः केचित्तैत्तिरीयाः पङ्क्तिपावनाः काश्यपाः पञ्चाग्नयः सोमपीथिनो धृतव्रता उदुम्बरनामानो ब्रह्मवादिनः प्रतिवसन्ति।**" —मा० मा०, पृ० ७।

है, अनायास ही करुणा एवं दया के भावों से भर उठता है।[१] यह करुणा ही भवभूति के राम को वाल्मीकि के राम से पृथक् कर देती है, यों ऊपर-ऊपर दोनों महाकवियों की दृष्टि में कोई स्फुट पार्थक्य नहीं प्रतीत होता।

संक्षेप में, उत्तररामचरित के राम भवभूति के न केवल इष्टदेव, वरन् उनके नाटकों के सर्वोत्तम नायक हैं। नायक राम भवभूति के उन युगीन स्वरों एवं भावों के मूर्त आधार हैं जो भवभूति की आदर्शवादी कला के प्राण-तत्त्व माने जा सकते हैं। यही कारण है कि भवभूति के पात्रों में हमने यहाँ केवल राम को ही अपने अध्ययन का विषय बनाया है। जहाँ तक नायिकाओं का सम्बन्ध है, सीता या मालती के चारित्रिक ऐश्वर्यों की किंचित् सूक्ष्म रेखाएँ हम भवभूति की नाट्यकृतियों के सामान्य विवेचन के क्रम में ही खींच आए हैं। हमारा विश्वास है, भवभूति का वह आदर्श जिसे वे भारतीय नारियों में मूर्त देखना चाहते हैं, उन बारीक रेखाओं की विवृति से ही स्पष्ट हो गया है।

यहाँ हम उत्तररामचरित के राम को उनकी चारित्रिक विभूतियों की समग्रता में ग्रहण करना नहीं चाहते। यह हमारा उद्देश्य भी नहीं है। यहाँ हमारे अध्ययन के प्रधान विन्दु राम-चरित के वैसे ही पक्ष हैं जो परम्परा से ही विवादास्पद रहे हैं। भवभूति का इस परम्परित विवाद के प्रति क्या दृष्टिकोण है, उनका ऐसी शंकाओं के निमित्त क्या समाधान है, हम इसी पर बल देना चाहेंगे। हमारी समझ से उनके दृष्टिकोण या समाधान ही ऐसे आधार-बिन्दु हैं जो भवभूति के साहित्य-दर्शन एवं जीवन-दर्शन की वैयक्तिकता का उद्घोष करते हैं।

जैसा कि उत्तररामचरित के अध्ययन के क्रम में कहा जा चुका है, इस नाटक को लिखने की मूल प्रेरणा भवभूति को सीता-निर्वासन के रूप में राम के यशःकाय पर खड़े प्रश्नचिह्न से ही मिली थी। सीता-निर्वासन का प्रसंग ही वह जटिल ग्रन्थि है जिसे खोलने में कवि आरम्भ से अन्त तक यत्नशील रहा है। वाल्मीकि ने अपने राम से यह कार्य अपेक्षाकृत सरलता से निष्पन्न करा दिया है। वाल्मीकि के अनुसार भी सीता-निर्वासन सम्राट् राम का निर्णय है, 'व्यक्ति' राम का नहीं। उनके राम चूँकि नरेश के पद पर समासीन हैं, अतः प्रजा के कल्याण के लिए वे कोई भी निर्णय लेने को सर्वथा स्वतन्त्र हैं—उस निर्णय के सामने गुरु, माता-पिता, भाई-बन्धु आदि किसी का कोई बन्धन काम नहीं कर सकता।[२] राजा के लिए अपनी कीर्ति से बढ़कर कोई

---

१. तुल० (ततः प्रविशति पुष्पकस्थः सदयोत्खातखड्गो रामः रामः।)—
हे हस्त दक्षिण मृतस्य शिशोर्द्विजस्य जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्।
रामस्य गात्रमसि दुर्वहगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते॥
—उ० च० : २ : १०।

२. तुल०—आश्रमो दिव्यसंकाशस्तमसातीरमाश्रितः।
तत्रैतां विजने देशे विसृज्य रघुनन्दन॥
शीघ्रमागच्छ सौमित्रे कुरुष्व वचनं मम।
न चास्मि प्रतिवक्तव्यः सीतां प्रति कथंचन॥ —रामा० : ७ : ४५ : १८, १९।

सम्पदा नहीं होती, अकीर्ति से बड़ा कोई दुख नहीं होता। अपनी कीर्ति के विस्तार के मार्ग में बड़े से बड़े स्नेह-सम्बन्धों की भी बलि दी जा सकती है। इस कीर्ति का अपरिहार्य सम्बन्ध प्रजा या लोक के अनुरंजन से है, उसे शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक रूप से परितुष्ट रखने से है। अतः, इस अर्थ में, कीर्ति सेवा का ही पर्याय हो जाती है—निःस्वार्थ लोक-सेवा ही राजकीर्ति का वास्तविक आधार है। वाल्मीकि, पद्मपुराण एवं भवभूति के राम एक स्वर से इस सेवा-परायण कीर्ति को ही राजधर्म का सर्वस्व स्वीकारते हैं और अपने उज्ज्वल कीर्ति-ध्वज को बड़े से बड़े वैयक्तिक सुखों की तिलांजलि देकर भी फहराते रहने के लिए कृतसंकल्प हैं।[१] यहाँ तक वाल्मीकि, पद्मपुराण एवं भवभूति की दृष्टि में कोई अन्तर नहीं दीखता। तीनों ही अलग-अलग शब्दों में एक ही धार्मिक सत्य की प्रतीति कराते हैं—समष्टि के समाराधन के लिए 'व्यक्ति' के सर्वस्व तक को होम कर देने की उद्घोषणा करते हैं। यहीं, इसी बिन्दु पर, राम के शील या चरित्र को लेकर पाठकों किंवा प्रेक्षकों का मन सैकड़ों वर्षों से अनेक शंकाओं से ग्रस्त रहा है—क्या धीरोदात्त राम के लिए यह उचित था कि वे सामान्य जनों की दुष्टतापूर्ण बातों को सुनकर ही निरपराध सीता को घर से निकाल दें? क्या सीता को ऐसा क्रूर दण्ड देने से पूर्व राम उनके ज्ञात या अज्ञात अपराधों की न्यायोचित सुनवाई नहीं कर सकते थे? यदि निर्दोष सीता राम की महिषी न होकर

---

१. तुल०—अकीर्तिर्यस्य गीयेत लोके भूतस्य कस्यचित्।
पतत्येवाधमाँल्लोकान् यावच्छब्दः प्रकीर्त्यते।
अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुषर्षभाः।
अपवादभयाद् भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम्।

—रामा० : ७ : ४५ : १२½, १४½।

कथं तु मां ब्रवीषि त्वं मा त्यजैनामनिन्दिताम्।
लोकापवादात्त्यक्ष्येऽहं जानन्नपि विपापिनीम्॥
स्वयशःकारणेऽहं स्वं देहं त्यक्ष्यामि शोभनम्।
त्वामपि भ्रातरं त्यक्ष्ये लोकापवादाद्विगर्हितम्॥
किमुतान्ये गृहाः पुत्रा मित्राणि वसु शोभनम्।
स्वयशःकारणे सर्वं त्यजामि किमु मैथिलीम्॥
न तथा मे प्रियो भ्राता न कलत्रं न बान्धवाः।
यथा मे विमला कीर्तिर्वल्लभा लोकविश्रुता॥

—पद्म० : ४ : ५८ : ३४–३७।

जामातृयज्ञेन वयं निरुद्धास्त्वं बाल एवासि नवं च राज्यम्।
युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्यास्तस्माद्यशो यत्परमं धनं वः॥
स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥
सतां केनापि कार्येण लोकस्याराधनं व्रतम्।
यत्पूरितं हि तातेन मां च प्राणांश्च मुञ्चता॥

—उ० च० : १ : ११, १२, ४१।

प्रजा-वर्ग की ही कोई सामान्य सदस्या होतीं, तो भी क्या राम उन्हें ऐसा ही दण्ड देते? धर्म-प्राण राम की यदि सीता के निष्कलंक चरित्र में अटूट आस्था थी तो उन्होंने ऐसे लोगों को ही दण्ड क्यों नहीं दिया जो समाज में ऐसा पापपूर्ण परिवाद प्रचारित कर रहे थे? राजा का काम न्याय करना, दुष्टों को दण्डित करना तथा पुण्यात्माओं का संरक्षण करना है—क्या, इस अर्थ में, राम ने सीता के साथ उचित राज-व्यवहार किया? यदि नहीं, तो राम स्वयं दण्डनीय हैं, वे पुरुषोत्तम नहीं; वे झूठ-मूठ ही अपने राजधर्म या कीर्ति का उद्घोष करते हैं, वस्तुतः उनकी गणना तृतीय श्रेणी के ऐसे कायर नरेशों में की जानी चाहिये जो अनुचित लोक-निन्दा से भी डरकर अपने झूठे पद की झूठी मर्यादा के लिए अत्यन्त गर्हित कार्यों को भी सुकर्म की संज्ञा प्रदान करते हैं।

उक्त प्रश्नों या शंकाओं का कोई स्पष्ट उत्तर वाल्मीकि या भवभूति में नहीं मिलेगा। दोनों ने ही लोकनिन्दा, लोकाराधन या राज-कीर्ति के नाम पर राम से सीता-निर्वासन करा दिया है; दोनों ही यह स्वीकार करके चलते हैं कि राजधर्म को बचाने के लिए ही राम ने निरपराध सीता का त्याग कर दिया। वे स्वयं अपनी इस स्वीकृति के प्रति शंकालु न हों, ऐसी बात नहीं है। यदा कदा अपने पात्रों के मुख से राम के इस कार्य के विरुद्ध वे जो उद्गार व्यक्त कराते हैं[1], वे स्वयं उनके मन से उठनेवाली आवाजों के व्यंजक माने जा सकते हैं। किन्तु ऐसी शंकाएँ यदि उठाई भी गयी हैं तो उनका कोई स्पष्ट निराकरण नहीं किया गया है। वाल्मीकि तो राम के इस कार्य के लिए दैव को ही कारण मानकर आगे बढ़ जाते हैं[2]; हाँ, भवभूति दैव के अतिरिक्त दूसरी कई ऐसी परिस्थितियों का उल्लेख करते हैं जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सीता-निर्वासन के निमित्त रही हैं।[3] परन्तु, प्रश्न है, क्या भवभूति राम के चरित्र को बचाना चाहकर भी बचा सके हैं, उनके कार्य को न्यायसंगत सिद्ध कर सके हैं?

---

१. तुल०—ततो दुःखतरं भूयः सीताया विप्रवासनम्।
पौराणां वचनं श्रुत्वा नृशंसं प्रतिभाति मे॥
को नु धर्माश्रयः सूत कर्मण्यस्मिन् यशोहरे।
मैथिलीं समनुप्राप्तः पौरैर्हीनार्थवादिभिः॥
—रामा० : ७ : ५० : ७, ८।

अयि कठोर यशः किल ते प्रियं
किमयशो ननु घोरमतः परम्।
किमभवद्विपिने हरिणीदृशः
कथय नाथ कथं बत मन्यसे॥
—उ० च० : ३ : २७।

२. दे० रामा० : ७ : ५१।

३. दे० उ० च० : प्रस्तावना; १ : ११; ७ : ४, ६।

सीता को लेकर राम की जैसी मानसिक अवस्था हो गयी थी उसमें उनके सामने केवल चार मार्ग खुले पड़े थे—राम को इनमें से किसी एक मार्ग का चुनाव करना था। इस प्रकार राम (१) अपनी अपकीर्ति पर ध्यान ही न देकर सीता के साथ सुखी जीवन बिता सकते थे, (२) अपने को राजकलंक से बचाने के लिए लोक-दृष्टि से कलंकिनी सीता का ही त्याग कर सकते थे[१], (३) ऐसा दुष्प्रचार करनेवाले पापियों को कड़ा दण्ड देकर अपने राजधर्म का निर्वाह कर सकते थे और (४) सीता तथा प्रजा दोनों के प्रति अपना सदाशय बनाये रखने के लिए राजपद का ही त्याग करके सामान्य व्यक्ति की तरह जीवन व्यतीत कर सकते थे। इनमें पहला मार्ग राम जैसे धर्म-प्राण सम्राट् के लिए सबसे निकृष्ट मार्ग था। राजा के रूप में उनका यह पावन कर्तव्य होता था कि वे अपनी प्रजा की भावनाओं का आदर करें, प्रजा की ओर से आँखें मूँदकर वे बैठ नहीं सकते थे। आजीवन अपने यशःकाय के संवर्धन में लगे राम ने यदि इस मार्ग पर ध्यान नहीं दिया, तो यह उनके त्यागमय कीर्तिशाली चरित्र के लिए सर्वथा प्रत्याशित ही था। जहाँ तक सीता के सम्बन्ध में फैले हुए लोकापवाद का प्रश्न है, उसे पापियों का दुष्प्रचार कहना उचित नहीं कहा जा सकता। आधुनिक दृष्टि से भी सोचें तो उस परिस्थिति में सीता के चरित्र के सम्बन्ध में वैसी भ्रान्ति सर्वथा स्वाभाविक कही जायगी। सीता कोई सामान्य नारी नहीं थीं। वे रघुकुल-तिलक पुरुषोत्तम राम की प्रियतमा भार्या ही नहीं, कीर्तिशाली कोसल साम्राज्य की यशस्विनी सम्राज्ञी थीं। राम के राज्याभिषेक हो जाने के पश्चात् वे अब किसी व्यक्ति की पत्नी ही नहीं, अपने सम्पूर्ण राज्य की रानी थीं। उनके चरित्र का महत्त्व न केवल राम के लिए, प्रत्युत अपनी समग्र प्रजा के लिए भी था। लोक-भाव से कतराकर वे अब केवल राम के लिए नहीं जी सकती थीं। राजमहिषी के रूप में उनका जीवन अपने साम्राज्य के विशालतर जीवन की आशा-आकांक्षा का स्वभावतः ही अंगभूत हो चला था। कोसल की प्रजा की एक आँख यदि अपने राजा राम पर लगी हुई थी, तो दूसरी आँख अपनी रानी सीता पर टिकी हुई थी। दूर लंका में एक अनार्य एवं आततायी के घर अपने पति तथा दूसरे स्वजनों से वियुक्त एकाकिनी सीता ने दीर्घ काल तक निवास किया, यह अयोध्या की सामान्य प्रजा के लिए सहज ही शंका का विषय हो गया। यदि सीता कोई सामान्य स्त्री होतीं तो शायद उन पर किसी का ध्यान नहीं जाता, किन्तु अपने राज्य की रानी के चरित्र के इस शंकनीय पक्ष पर साधारण बुद्धिवाली प्रजा का ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। यह लोक-निन्दा दो-चार मुखों की ही बात रहती, तो कदाचित् राम की समस्या उतनी जटिल नहीं हो पाती। वास्तव में राम के अनजाने सम्पूर्ण प्रजा-वर्ग में उसका प्रचार हो

---

१. महाकवि कालिदास ने राम के इस द्वन्द्व को इस प्रकार व्यक्त किया है—

किमात्मनिर्वादकथामुपेक्षे जायामदोषामुत सन्त्यजामि।
इत्येकपक्षाश्रयविक्लवत्वादासीत्स दोलाचलचित्तवृत्तिः॥

—रघु० : १४ : ३४।

चुका था।[1] अच्छी बातें देर से फैलती हैं, किन्तु बुरी बातों का प्रचार बड़ी तेजी से होता है, यह सामान्य सत्य है। अतः महाराज राम के लिए ऐसा कोई विकल्प नहीं बचा था कि वे सीता की चरित्र-रक्षा तथा अपने राजपद की प्रतिष्ठा के लिए दो-चार लोगों को बुलाकर समझा सकें, अथवा उन्हें न्यायोचित दण्ड देकर चैन की साँस ले सकें। यदि सीता कोई साधारण स्त्री होतीं तो राम के न्याय का मार्ग कदाचित् कुछ दूसरा ही होता, उनके धर्मासन के सामने कोई बड़ी कठिनाई नहीं आती। ऐसी स्थिति में वे सीता या दूसरे सम्बद्ध व्यक्तियों की सुनवाई लेकर सीता को बचा लेते, दूसरों को उनके कदर्थित कृत्यों के लिए अपेक्षित दण्ड दे देते। किन्तु यहाँ तो संकट यह था कि सीता राम की ही देवी थीं। सीता के सम्बन्ध में कोई भी न्यायोचित सुनवाई लेकर उनके पक्ष में निर्णय देने के कितने गलत अर्थ लगाये जाते। जिस लोक-निन्दा के शमन की दिशा में राम ऐसा कुछ करते, वह और भी भड़क उठती; राम और सीता दोनों ही जानें और कितनी गर्हणा, और कितनी चर्चा के विषय हो जाते। अतः अपने उज्ज्वल राजपद को निष्कलंक रखने तथा सीता के प्रति भी सर्व-सुलभ न्याय बरतने के लिए राम के सामने एक ही सरल मार्ग था—राम सिंहासन का त्याग कर देते और अपनी पत्नी सीता के साथ एक सामान्य नागरिक की तरह जीवन-यापन करते। आधुनिक काल में भी लगभग ऐसी ही परिस्थिति में पड़े हुए एक दूसरे महापुरुष का उदाहरण हमारे सामने है। १९३६ ई० में ब्रिटेन के सम्राट् अष्टम एडवर्ड ने सम्भावित लोक-निन्दा से सम्राट्-पद को बचाने तथा उसकी मर्यादा की रक्षा के लिए सिंहासन का त्याग कर दिया।[2] राम की तरह वे भी अपनी प्रेयसी का त्याग करके राज-पद पर बने रह सकते थे; किन्तु उन्होंने दूसरे मार्ग को अपने, अपनी प्रेयसी तथा अपनी प्रजा के लिए अधिक अच्छा समझा, उसे ही स्वीकार किया। इस प्रकार अपने-अपने ढंग से उक्त दोनों महापुरुषों ने प्रजा के हित अथवा लोकमत को ध्यान में रखकर अपने स्व-भाव को पर-भाव की वेदी पर उत्सर्ग कर दिया। इस उत्सर्ग का लक्ष्य एक ही रहा; हाँ, उसकी प्रक्रिया में कुछ अन्तर अवश्य आ गया। राम समष्टि के लिए अपनी प्रिया का त्याग करके व्यक्ति के ऊपर समष्टि-रूप हो गये, जब कि अष्टम एडवर्ड अपनी प्रिया को स्वीकार करके समष्टि के नीचे व्यक्ति मात्र रह गये। यदि ध्यान से देखा जाय तो दूसरे की अपेक्षा पहले का संकल्प कठिनतर ही नहीं, महत्तर भी था। व्यक्ति की जो सुविधाएँ और सुख हैं, वे कई अवसरों पर समष्टि की कठिनाइयाँ और दुख हो जाते हैं। व्यक्ति बनकर जी लेने में न केवल सुस्थता है, प्रत्युत आसानी भी; उधर लोकरूप होने में जितनी ही परेशानियाँ हैं, उतनी ही कठिनाइयाँ भी। सीता को त्याग देने के पश्चात् राम का व्यक्ति अपने अन्तरतम में कितनी पीड़ा झेलता रहा, यह तो अनुमान का ही विषय है। राम ने वनवास की अवधि में भी कम दुख नहीं झेले; किन्तु, लक्ष्मण के ही शब्दों में, सीता-त्याग से बड़ा दुख

१. रामा० : ७ : ४३ : १६–२०।

२. भव०, पृ० ६६, ६७।

राम को कभी नहीं हुआ।[1] आदिकवि ने सीता-निर्वासन के समय राम की मर्मान्तक किन्तु आत्मभोग्या वेदना को जो मार्मिक स्वर प्रदान दिया है, वह रामायण के कारुणिक प्रसंगों में महत्त्व रखता है।[2]

वाल्मीकि की दृष्टि से राम ने लोकमत के पक्ष में सीता-निर्वासन जैसा कठोर निर्णय लिया, इसके उत्तरदायी वे स्वयं थे। प्रभुसत्ता-सम्पन्न धर्म-परायण राजा के रूप में प्रजा के कल्याण के लिए कोई योजना तैयार करना या कोई निर्णय लेना स्वयं उनका काम था। वे अपने सुहृद्वर्ग या बन्धुओं के ऊपर अपने आदेशों या निर्णयों के लिए अवलम्बित नहीं रह सकते थे। राम ने स्वयं सोच-समझकर देख लिया[3] कि उस लोकव्यापी अपकीर्ति से बचने का एक ही रास्ता है—अपनी प्रियतमा भार्या का त्याग। सीता-त्याग की बात जो वे अपने भाइयों से करते हैं, वह इसलिए नहीं कि वे राम का मार्ग-दर्शन करायें या उनके निर्णय के औचित्य पर अपनी राय व्यक्त करें। वस्तुतः अग्रज के रूप में नहीं, राजा के रूप में वे अपने भाइयों को बुलाते हैं और उन्हें इसीलिए बुलाते हैं कि वे उनके आदेश का अविलम्ब पालन करें।[4] राम का रामत्व जिस अनुपात में अपनी वचन-पूर्ति कराने में हैं, उसी अनुपात में अपनी आत्मभोग्या वेदना को धारण करने में भी लक्षित होता है। सीता से वियुक्त होकर भी लगभग बारह वर्षों तक विधुर की तरह रह जाना तथा अपने दाम्पत्य स्नेह के अमन्द दीप को अक्षुण्ण भाव से हृदय में जलाये रखना जितने सम्मान एवं श्रद्धा का विषय है, प्रजा को सन्तुष्ट करने के लिए सीता जैसी पत्नी का त्याग भी उतने ही गौरव एवं पूजा का विषय है। सीता-निर्वासन राम की उस अप्रतिम सहिष्णुता, त्यागशीलता, विशालहृदयता एवं धर्मपरायणता का द्योतक है जो केवल राम में ही हैं; अतः इस परिप्रेक्ष्य में, सीता का त्याग राम के पुरुषोत्तमत्व का ही संपोषक एवं उसकी अतुलनीयता का ही उज्ज्वल चरण है।

भवभूति अपने उत्तररामचरित में पुरुषोत्तम राम के व्यक्तित्व की इन सारी विभूतियों को स्वीकार करके चलते हैं। उनमें जहाँ कहीं वाल्मीकि से कुछ भेद दीखता है उसके लिए मुख्य रूप से दो उत्तरदायी तत्त्व हैं—(१) भवभूति की काव्यविधा और (२) भवभूति का जीवन-दर्शन। हम इन दोनों तत्त्वों के प्रकाश में उत्तररामचरित में निरूपित राम-चरित की किंचित् विशेषताओं का परीक्षण करेंगे तथा देखना चाहेंगे कि भवभूति का 'द्रष्टा' कवि अपनी मूर्तिविधायिनी दर्शन-क्रिया में किस सीमा तक सफल रहा है।

---

१. **ततो दुःखतरं किं नु राघवस्य भविष्यति।**
पत्नीं शुद्धसमाचारां विसृज्य जनकात्मजाम्॥

—रामा० : ७ : ५० : ३।

२. वही : ७ : ४४ : १५½, १६।

३. वही : ७ : ४४ : १।

४. वही : ७ : ४४ : १९।

वाल्मीकि एवं भवभूति दोनों ही इस मूल तथ्य से सहमत हैं कि राम ने अपने राजधर्म की मर्यादा निभाने, जनापवाद का मूलोच्छेद करने तथा अपनी यशस्विनी राजसत्ता को अमलिन बनाये रखने के अभिप्राय से ही सीता को निर्वासित कर दिया। किन्तु संकल्पशक्ति की सारी वर्चस्विता से उपेत होकर भी वाल्मीकि के राम अपने सीता-त्याग में केवल 'राजधर्म' की याद दिलाते हैं। भवभूति के राम के सामने भी इस राजधर्म का अनुल्लंघनीय प्रकर्ष है। किन्तु वे इस धर्म को खींचकर लोकधर्म या समाज-धर्म के निकट इस प्रकार ला देते हैं कि राम का त्याग अधिक लौकिक एवं अधिक सामाजिक हो जाता है, उसके छूँछे धार्मिक स्वरूप में यह नया भावात्मक विकास एक अभिनव पूर्ति बनकर प्रकट होता है। यही कारण है कि वाल्मीकि के राम अपने गुरुजनों के बीच रहकर भी निस्संकोच और निर्भीक होकर लक्ष्मण से अपने आदेश का पालन करा लेते हैं—उनका राजकीय आदेश उनके आत्मीय जनों की कोई अपेक्षा नहीं रखता। राम का यह स्वरूप चाहे उनके चट्टान की तरह दृढ़ राजधर्म की जितनी व्यञ्जना करे, उनके सामाजिक रूप का निषेध कर देता है। समाज से हमारा अभिप्राय यहाँ उस बृहत्तर परिवार से है जिसमें राम के सारे मित्र, बन्धु, गुरुजन, सम्बन्धी आदि समाविष्ट थे। उसमें यदि लंका-युद्ध के साथी सुग्रीव, विभीषण आदि थे, तो जनक की तरह सम्बन्धी, वसिष्ठ के समान गुरु, अरुन्धती की नाईं गुरुपत्नी तथा कौसल्या आदि की तरह जननी का भी समाहार था। ऐसा नहीं कि वाल्मीकि ने अपने राम के इस परिवार का महत्त्व नहीं दर्शाया है, अथवा उसका मूल्य कम कूता है। वास्तव में अलग-अलग सन्दर्भों में रामायण में भी इस परिवार का प्रकर्ष दिखाया गया है। किन्तु राम सीता-त्याग जैसा महत्त्वपूर्ण संकल्प करें और उनका सम्पूर्ण परिवार बहरे या गूँगे की तरह उनके इस कार्य की स्वीकृति दे दे, यह वाल्मीकि ही कर सकते थे, भवभूति नहीं। वाल्मीकि के राम की तरह भवभूति के राम के सामने भी अपने निर्णय के मार्ग में कोई पारिवारिक या सामाजिक अवरोध उत्पन्न नहीं होता। किन्तु एक के लिए इस अवरोध का प्रश्न इसलिए नहीं उठता कि वे अपने संकल्प के लिए अपने मित्रों, गुरुजनों आदि की अपेक्षा नहीं रखते; और दूसरे के सामने यह बाधा इसलिए नहीं आती कि उनके सारे गुरुजन, सम्बन्धी आदि उनसे दूर हैं। इसका मतलब यह हुआ कि यदि भवभूति के राम के गुरुजन सीता-निर्वासन के समय अयोध्या में वर्तमान होते तो अवश्य ही वे राम को अपने निर्णय पर दुबारा सोचने के लिए बाध्य करते। राम का यह सम्भावित धर्म-संकट भवभूति के लिए एक ऐसा सत्य था जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इसीलिए उन्होंने कलात्मक चातुरी से इस संकट को आने ही नहीं दिया है, राम को गुरुजनों एवं मित्रों से व्यवहित दिखाकर उन्हें अपने कर्तव्य-निर्धारण के लिए सर्वथा स्वतन्त्र छोड़ दिया है।

उत्तररामचरित के राम को समझने के लिए भवभूति के पारिवारिक आदर्श को सामने रखना होगा। राम भले ही अभिषिक्त होकर राजपद पर प्रतिष्ठित हो जायँ,

किन्तु उनका राजत्व उनके बन्धुत्व से निरपेक्ष नहीं रह सकता था। वे किसी के पति हैं, किसी के पुत्र; किसी के शिष्य हैं, किसी के जामाता और किसी के मित्र। नये पद-गौरव के आवेश में आकर तथा गुरु वसिष्ठ द्वारा उपदिष्ट प्रजानुरंजन-व्रत के पालन में सर्वस्व-त्याग के लिए पहले ही कृतसंकल्प होकर[1] वे भले ही सीता-त्याग के लिए स्वयं सीता से कोई परामर्श नहीं लें, किन्तु जिन गुरुजनों का सत्परामर्श उन्हें सर्वदा सुलभ रहा है, उनकी वे जान-बूझकर उपेक्षा कर दें, यह भवभूति के पारिवारिक आदर्श के लिए खटकनेवाली बात थी। यों राम की तरह सद्‌बुद्धिसम्पन्न राजा अपने राज्य के कल्याण की दिशा में कोई भी निर्णय लेने के लिए स्वतन्त्र है, किन्तु सीता-निर्वासन का संकल्प राम के राज्य-काल का असामान्य तथा अद्वितीय निर्णय है। इस संकल्प के द्वारा राम अपने राजधर्म को निभा लें, किन्तु अपने पारिवारिक सुख, अपने घर की लक्ष्मी को जभी वे धर्म के नाम पर उत्सर्ग करेंगे, उनका परिवार इससे अवश्य ही प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होगा। ऐसी स्थिति में परिवार के कनिष्ठ सदस्य भले कुछ न बोलें, किन्तु वैसे लोग जो स्नेह-सम्बन्ध में राम से बड़े हैं, ऐसे अवसर पर मौन नहीं बैठ सकते। अतः ऊपर-ऊपर भवभूति ने भी राम से वही कराया है जो वाल्मीकि का इष्ट रहा है, किन्तु रामायण में राम अपने जीवन के महत्तम संकल्प के क्षणों में गुरुजनों से घिरे रहकर भी सर्वथा एकाकी दीखते हैं; उधर उत्तररामचरित के राम ऐसे समय एकाकी इसलिए हैं कि उनके गुरुजन उनसे काफी दूर हैं। पारिवारिक चेतना का यह आग्रह भवभूति के राम को न केवल रघुवंशी सम्राट् के रूप में उन्नीत करता है, प्रत्युत उनके शिष्यत्व, पुत्रत्व और मित्रत्व को भी संरक्षण प्रदान करता है—राम को इन सारे भावों के बीच खड़ा करके उन्हें परिवार एवं राज्य दोनों के लिए ही काम्य बना देता है।

उत्तररामचरित न केवल शास्त्रीय अर्थ में नाटक है, प्रत्युत सामान्य अर्थ में यह संस्कृत साहित्य का सर्वोत्तम **पारिवारिक नाटक** है। अपने पारिवारिक आदर्शों की स्थापना के लिए भवभूति नाटक के आरम्भ में ही उन आदर्शों की चेतना जाग्रत कर देते हैं। भवभूति की दृष्टि में दम्पती पारिवारिक जीवन की मूल धुरी हैं और दाम्पत्य उस जीवन का मूल भाव है। और सारे भाव जीवन के खड्ड-मड्ड मार्ग में टूट जा सकते हैं, किन्तु यही एक भाव है जो जीवन की सम-विषम अवस्थाओं में न केवल नहीं टूटता, बल्कि उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ स्नेह के स्थिरांश में परिणत हो जाता है।[2] उत्तररामचरित के राम एवं सीता इसी पारिवारिक परा भावना के जीवन्त

---

१. उ० च० : १ : ८, ११, १३।

२. तुल०—**अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु य-**
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥
—उ० च० : १ : ३९।

रूप हैं। नाटक में आद्यन्त इस पवित्र भाव की मांसलता एवं मसृणता दर्शनीय है। आदिकवि का दाम्पत्य-आदर्श एक तो सम्पूर्ण रामायण में यत्र तत्र बिखरा हुआ है, दूसरे, उसे वह संवेग या वह स्वर नहीं प्राप्त हो सका है जो उत्तररामचरित के कलात्मक भाव-संगठन का मर्मस्थल है। दाम्पत्य का यह मर्म उत्तररामचरित का न केवल केन्द्रीय, वरन् सर्वोपरि भाव है। नाटक के आरम्भ में राम के जो गुरुजन ऋष्यशृंग के आश्रम में दूर पड़े हुए हैं, अगले अंकों में उन सबकी तथा जनक एवं वाल्मीकि जैसे कुछ दूसरे व्यक्तियों की भी उपस्थिति मूलतः इसी मूल भाव के परीक्षण, सन्दीपन एवं सम्पोषण के लिए प्रयुक्त हुई है। कुश एवं लव, जिनकी जीवन्त सत्ता से उत्तररामचरित का द्वितीयांश अनुप्राणित है, उसी भाव की **आनन्द-ग्रन्थि**[१] हैं, उसी के उदात्त के पक्षधर हैं।

रामायण में सीता-निर्वासन के समय अपनी उज्ज्वल कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने तथा अपने ध्रुव वचन की सिद्धि के लिए राम जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं, वे प्रस्तुत सन्दर्भ में स्मरणीय हैं।[२] राम यहाँ सर्वाधिक महत्त्व अपने प्राणों को ही प्रदान करते हैं और सीता का सबसे कम महत्त्व आँकते हैं—'**किं पुनर्जनकात्मजाम्**' में यही सत्य स्पष्टतः व्यंजित हुआ है। पद्मपुराण भी आदिकवि द्वारा स्थापित इसी सत्य को शब्दों में थोड़ा हेरफेर करके प्रकाशित करता है।[३] बल्कि यहाँ तो राम के लिए सीता के जीवन का महत्त्व भौतिक ऐश्वर्यों से भी न्यून करके आँका गया गया है। महाकवि कालिदास भी सीता को 'इन्द्रियार्थ' की तुच्छ कोटि प्रदान करके उन्हें राम के शरीर या जीवन से हीनतर घोषित करते हैं। उनकी दृष्टि में राम के लिए सीता का वही महत्त्व है जो शरीरी के लिए माला, चन्दन, स्त्री जैसे ऐन्द्रिय विषयों का है।[४] रामायण, पद्मपुराण तथा रघुवंश की तुलना में उत्तररामचरित का वह प्रसिद्ध श्लोक ध्यातव्य है जिसमें राम लोकाराधन के लिए जानकी तक को भी (जानकीमपि) त्यागने का पुनीत व्रत लेते हुए दिखाये गये हैं।[५] वस्तुतः भवभूति का यही वह मूल स्वर है जिसे लेकर

---

१. वही : ३ : १७।

२. **अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुषर्षभाः।**
अपवादभयाद् भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम्॥

—रामा० : ७ : ४५ : १४½।

३. **किमुतान्ये गृहाः पुत्रा मित्राणि वसु शोभनम्।**
स्वयशःकारणे सर्वं त्यजामि किमु मैथिलीम्॥

—पद्म० : ४ : ५८ : ३६।

४. **निश्चित्य चानन्यनिवृत्ति वाच्यं त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छत्।**
अपि स्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीयः॥

—रघु० : १४ : ३५।

५. **स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।**
आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

—उ० च० : १ : १२।

आग में तपाते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल के दुर्वासा तथा रामायण के भृगु के शापों की तरह वे स्वयं भी सीता-त्याग के पीछे किसी अलौकिक शाप की अवतारणा करके राम के चरित्र को बचा सकते थे। किन्तु भवभूति वास्तववादी ही नहीं, मानवतावादी कवि हैं; इसीलिए वे राम या सीता के दैवी कार्यकलापों का न केवल मानवीय आदर्शों से संस्कार करते हैं, प्रत्युत उन्हें मानव के कर्मसंकुल जीवन के उद्वेग, संघर्ष एवं आशा-निराशा के लोकसुलभ यथार्थवादी स्वर प्रदान करते हैं। किन्तु उनका यथार्थवाद इस तथ्य को भी स्वीकार करके चलता है कि राम के दिव्य जीवन को सर्वांशतः लौकिक कर देने से सदियों से भारतीय जन-मानस पर अंकित राम के पूजनीय चरित के प्रति अन्याय हो सकता है। सम्भवतः इसीलिए शम्बूक-वध के प्रसंग में राम को कुछ क्षणों के लिए दिव्य रूप में कल्पित किया गया है।[१] किन्तु इससे नाटक की मूल यथार्थवादी एवं मानवतावादी धारा में कोई विकृति उत्पन्न नहीं होती। जहाँ कहीं भी मानवेतर पात्रों—जैसे, वासन्ती, तमसा, भागीरथी, वसुन्धरा आदि—की सर्जना हुई है, उन पात्रों का लक्ष्य भी मानवीय मूल्यों की ही स्थापना है; वे दिव्य होकर भी लौकिक जीवन की सिद्धि एवं प्रकर्ष के लिए प्रयुक्त हुए हैं। संक्षेप में, किसी भी मानव पात्र के द्वारा लोक-जीवन की आशा या आकांक्षा, हर्ष या शोक की वैसी निष्पत्ति सम्भव नहीं होती। अतः उन पात्रों या वैसे दृश्यों का परिकल्पन भवभूति की मानववादी नाट्यकला का ही कलात्मक निदर्शन है। स्वयं कालिदास ने भी अभिज्ञानशाकुन्तल में सानुमती, मातलि आदि पात्रों का प्रयोग कुछ इसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर किया है।

वाल्मीकि एवं भवभूति के तुलनात्मक अध्ययन के इस क्रम में एक मुख्य शंका और रह गई। रामायण में राम ने सीता-त्याग के समय अपनी आन्तरिक पीड़ाओं को जिस रूप में भी प्रकाशित किया हो, बाद में वे कहीं भी अपने किसी सीता-सम्बन्धी शोक का प्रकाश नहीं करते। राम के चरित्रोत्कर्ष के लिए यह उचित भी प्रतीत होता है। यदि राजधर्म की मर्यादा को बचाने के लिए सीता-निर्वासन अनिवार्य था, तो फिर उसी के लिए सम्राट् राम अपने को दुखी बनाएँ, यह कहाँ तक शोभन है! यदि सीता का त्याग राम के लोकसेवा-व्रत के महत्तम लक्ष्य की महनीय उपलब्धि बनकर प्रकट होता है, तो उसके लिए उनका रुदन या शोकाविष्ट होना उस व्रत को बीच में ही तोड़ देना है अथवा उसके पावन उद्देश्य को धूमिल बना देना है। भवभूति के राम की अन्त-र्वेदना का वह स्वतः प्रकाशित हाहाकार ही तो है जो उनके अंगी रस करुण का पृष्ठाधार है। जिस करुण की व्यंजना ही असंगत, अधार्मिक एवं अवांछित हो, उसका औचित्य क्या रह जाता है? और यदि औचित्य नहीं है तो उसे रसाभास क्यों नहीं मानें?

उत्तरकाण्ड में निबद्ध पुरुषोत्तम राम के चरित-विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ अभिषेक के अनन्तर राम का उत्तर चरित उत्तररामचरित की तुलना में बृहत्तर पटभूमि में अंकित हुआ है। यहाँ 'उत्तर' पद की सार्थकता राम के अभिषिक्त होने के

---

१. उ० च० : २ : १२, १३।

पश्चात् घटित होनेवाले उन समस्त कार्यों में दीखती है जिनका राम की राजकीय प्रतिष्ठा से दूर या निकट का सम्बन्ध रहा है। वस्तुतः सीता-निर्वासन यहाँ राम के उत्तर चरित का केवल एक अंश है, भले ही वह सर्वोत्तम हो। इधर उत्तररामचरित में रामचरित का यही अंश राम के 'उत्तर' चरित का सर्वस्व है। अतः यदि उत्तरकाण्ड में प्रयुक्त 'उत्तर' पद अनुवर्ती या उपसंहारात्मक जैसे अर्थ को व्यंजित करता है, तो उत्तररामचरित में वही पद मुख्य रूप से उच्चतर अर्थ की निष्पत्ति कराता है। प्रबन्धकार वाल्मीकि की दृष्टि में सीता-निर्वासन की तरह राम-चरित के कितने ऐसे पक्ष हैं जिन्हें 'उत्तरता' की कोटि प्रदान की जा सकती है। इधर भवभूति अपने नाट्य-संविधान की केन्द्रीकृत एकाग्रता में सीता-निर्वासन मात्र को राम के धर्म-बोध की दिशा में 'उत्तर' (= महत्तर) प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। अपनी-अपनी कथावस्तु के प्रति वाल्मीकि एवं भवभूति का यह दृष्टिकोण राम-चरित के इस कथा-खण्ड को अलग-अलग मनोविज्ञान से ग्रहण कराने में उत्तरदायी दीखता है।

उत्तरकाण्ड के राम के लिए राज-धर्म ही सब कुछ है। भगवान् नारद के शब्दों में, धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करता हुआ राजा प्रजा द्वारा उपार्जित तप के षष्ठांश को प्राप्त कर लेता है, प्रजा के षड्भाग का उपभोक्ता राजा उसकी रक्षा न करे, यह कैसे सम्भव है ![1] अर्थात् धर्म ही वह मूल भाव है जिस पर प्रजा एवं राजा का पारस्परिक सम्बन्ध टिका हुआ है—अपने-अपने ढंग से इन दोनों के धर्मों का परस्पर आदान-प्रदान चलता रहता है। राज-धर्म के मार्ग में व्यक्ति का सुख-दुख कोई महत्त्व नहीं रखता। व्यक्ति जभी 'राजा' होगा, वह प्रकृतिरंजक मात्र रह जायगा। वाल्मीकि के राम का जीवन राज-धर्म के इसी भाष्य का पोषक है। फलतः सीता-निर्वासन या सीता की पुनः प्राप्ति के समय राम एवं सीता दोनों ही धार्मिक भावों की विशालता में खड़े दीखते हैं, उन दोनों का 'लौकिक' व्यक्ति जैसे इन भावों के नीचे दुबका हुआ रह जाता है। इधर भवभूति भी राम के जीवन के इस धार्मिक मूल्य को स्वीकार करके चलते हैं, किन्तु उनमें उसकी अभिव्यक्ति का ढंग बदल जाता है। धर्म की निष्पत्ति कराने में वाल्मीकि व्यक्ति का जितना ही निषेध करते हैं, भवभूति उसे उतनी ही स्वीकृति प्रदान करते हैं। पहले व्यक्ति को धर्म के रास्ते पर इसलिए मान्यता नहीं देते कि इससे धर्म की पवित्रता नष्ट हो जायगी और दूसरे व्यक्ति को आगे करके इसलिए चलते हैं कि इससे सामूहिक धर्म पवित्रतर हो जायगा। अतः रामायण में राम के राजधर्म की धुरी यदि समाज या लोक है तो उत्तररामचरित में उनका वही धर्म व्यक्ति के सुख-दुख के संवेगों से संदीपित होकर समाज के विशालतर जीवन को मर्यादित करता है।

---

१. अधीतस्य च तप्तस्य कर्मणः सुकृतस्य च।
षष्ठं भजति भागं तु प्रजा धर्मेण पालयन्॥
षड्भागस्य च भोक्तासौ रक्षते न प्रजाः कथम्। —रामा० : ७ : ७४ : ३१, ३२।

उक्त कारणों से ही रामायण में सीता-निर्वासन के समय राम के हृदय का उद्दाम शोकावेग, कुछ ही समय पश्चात्, जैसे सदा के लिए सो जाता है या विलीन हो जाता है। आदिकवि के लिए अपने राजधर्म के पवित्र अनुष्ठान में जुटे हुए राम के अन्तर्मन की इतनी-सी व्यंजना ही पर्याप्त है। सीता के मन पर उस कठोर निर्वासन की कोई 'लौकिक' प्रतिक्रिया भी हो सकती है, वाल्मीकि इस पर ध्यान नहीं देते। परित्याग-शल्य की दारुण पीड़ा को सीता इसलिए झेलती हैं कि वह सब उनके 'देवता' का आदेश है, अपने देवता के विरुद्ध कुछ भी सोचना उनका अधर्म है।[1] भवभूति को राम एवं सीता का यह अलौकिक धार्मिक स्वरूप स्पष्टतः स्वीकार्य नहीं।

लौकिक दृष्टि से विचार करने पर यहाँ न केवल सीता के नारीत्व के प्रति वरन् राम के मनुष्यत्व के प्रति भी अन्याय हुआ है। राम के प्राणों में भीतर ही भीतर घुटनेवाली वेदना जब तक अभिव्यक्त नहीं होती, तब तक व्यक्ति के रूप में सीता के प्रति किये गये अन्याय का प्रक्षालन सम्भव नहीं। और जब तक यह अन्याय समाप्त नहीं हो जाता, राम के लोक-धर्म की मर्यादा भी पूर्णतः स्थापित नहीं हो सकती। हम राम की अन्तर्मुखी वेदना के प्रकाशन के औचित्य की मीमांसा पहले ही कर चुके हैं। अतः पंचवटी में राम के पीड़ित अन्तर को खोलकर भवभूति उनके राजधर्म पर कोई कलंक नहीं लगाते। हाँ, यदि राम धर्मासन पर आरूढ़ होकर सीता के लिए आँसू बहाते तो इससे उनका राजपद किंवा धर्मनीति कलुषित मानी जा सकती थी। लौकिक दृष्टि से भी राम जैसे सुधी एवं धर्मवीर सम्राट् का चारित्रिक ऐश्वर्य इसी में है कि वे अपने वचन पर तो दृढ़ रहें ही, अपने **व्यक्ति** के सुख-दुख या आशा-निराशा की आँच अपनी **समष्टि** पर नहीं लगने दें। भवभूति ने राम के व्यक्तित्व के इन दोनों पक्षों के साथ न्याय किया है। जब तक राम राज-कार्य में संलग्न रहते हैं, उनकी **'अन्तरगूढ-घनव्यथा'** अनिर्भिन्न रहती है, अव्यक्त रहती है। यहाँ उनके कर्मठ जीवन की गरिमा अपनी पीड़ाओं को इस असाधारण सहिष्णुता के साथ पीने में परिलक्षित होती है। किन्तु वही राम जब अनजाने ही अपनी राजधानी से दूर पंचवटी के सुपरिचित अंचल में एकाकी पहुँचते हैं, वहाँ का एक-एक तिनका स्पष्ट कारणों से उनके व्यक्ति को खोद-खोदकर जगाता है। फलतः पंचवटी में आकर राम केवल व्यक्ति रह जाते हैं, राजा नहीं। इस सन्दर्भ में सीता की सजल स्मृतियों में भीने हुए उनके करुण उद्गारों का औचित्य स्वतः सिद्ध हो जाता है।

---

१. (क) पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः ॥
प्राणैरपि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः।
—रामा० : ७ : ४८ : १७, १८।

(ख) दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ॥
वही : २ : ११७ : २४।

राम की गूढ़ मनोव्यथा को बाहर लाने में कवि के दो स्पष्ट उद्देश्य हैं—(१) सीता-वियोग से अन्ततः क्लिष्ट पड़े हुए राम के क्षुब्ध मानस का प्रसादन और (२) राम की अन्तर्वेदना से सीता का साक्षात्कार। पहले उद्देश्य की सिद्धि के लिए कवि का यह निश्चित मत है कि राम जिस तीव्रतम पीड़ा के विषाक्त आवेगों को बारह वर्षों से अपने मन-प्राणों पर ढोते रहे हैं, उसे बहिर्मुख करके जब तक प्रवाहित नहीं किया जायगा, राम के व्यक्तित्व में वांछित सन्तुलन नहीं लाया जा सकता।[१] मनोवैज्ञानिक एवं नाटकीय दृष्टि से कवि की इस धारणा का अपना महत्त्व है, जिसका परीक्षण हम पहले ही कर चुके हैं। कवि का दूसरा उद्देश्य उसके प्रथम उद्देश्य से अन्तःसम्बद्ध है। भवभूति की सीता के लिए भी राम देवता हैं, सर्वस्व हैं; किन्तु इस सीता को मानवी हृदय प्राप्त है, अतः ये न केवल पतिव्रता, वरन् स्वाभिमानिनी भी हैं। उत्तररामचरित की सीता का स्वाभिमान ही उन्हें रामायण की सीता से विशिष्टता प्रदान करता है और उन्हें नाटकीय दृष्टि से भी स्पृहणीय बनाता है; उनका यह मानवसुलभ स्वाभिमान ही है जो उन्हें राम के अच्छे या बुरे कृत्यों को आँख मूँदकर ग्रहण करने से रोकता है। अतः पति का आदेश मात्र पाकर रामायण में सीता राम द्वारा अपमानित होकर भी बेहिचक पुनः उनसे मिलने आ जाती हैं।[२] भवभूति की सीता ऐसा नहीं कर सकतीं। राम के बार-बार विलाप करने पर भी उनकी चोट खाई हुई आत्मा राम के प्रति उन्मुख होने में झिझक अनुभव करती है। हाँ, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि अन्ततोगत्वा सीता के मानसिक क्षोभ को धोने में राम के आँसू समर्थ हो जाते हैं। तृतीय अंक की इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के महत्त्व का विवेचन हम कर चुके हैं।

संक्षेप में, भवभूति आदिकवि के राम के प्रबन्धात्मक व्यक्तित्व की समग्र मूल रेखाओं को स्वीकार करते हैं, किन्तु उन रेखाओं को अपने दृश्यात्मक रंगों से सजाते हैं, अपनी नाटकीय सृष्टि की धड़कनों से सँवारते हैं। भवभूति के जीवन-दर्शन के जितने वैशिष्ट्य—शील, गाम्भीर्य, सदाचार, मानवता, कर्तव्यपरायणता एवं करुणा—हैं, राम के धीरोदात्त व्यक्तित्व में वे सभी साकार हो उठे हैं। यह राम भवभूति के 'अपने' राम हैं, उनके जीवन-प्रत्यय एवं स्वर के पूर्णतम प्रतिनिधि हैं।

---

१. तुल० पूरोत्पीडे तटाकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते॥
—उ० च० : ३ : २९।

२. एवं भवतु भद्रं वो यथा वदति राघवः।
तथा करिष्यते सीता दैवतं हि पतिः स्त्रियाः॥
—रामा० : ७ : ९५ : १०।

अध्याय ४

मालतीमाधव

नाटकीय वस्तु

प्रथम अंक

दृश्य १, प्रस्तावना (स्थान—कालप्रियनाथ के यात्रा-महोत्सव में निर्मित [illegible])—नांदी पाठ के बाद सूत्रधार स्वयं कवि का तथा उसके कीर्तिशाली वंश का परिचय देता है। वह कवि के प्रकाण्ड वैदुष्य को नाटकीय मर्यादा के बाहर की वस्तु मानता है और नाटकों के लिए वाणी की प्रौढ़ि, उदारता एवं अर्थगौरव नामक गुणों को ही अलम् समझता है (१ : ८)। प्ररोचना के पश्चात् माननीय सभ्यजनों की सेवा करने को उद्यत सूत्रधार एवं नट क्रमशः कामन्दकी एवं अवलोकिता की भूमिका ग्रहण करने की बात कहकर प्रस्थान करते हैं।

दृश्य २, विष्कंभक (स्थान—कामन्दकी का विहार)—कामन्दकी एवं अवलोकिता अपनी बातचीत के क्रम में मालती एवं माधव के अभीष्ट पाणिग्रहण की योजना पर विचार करती हैं। मालती के पिता भूरिवसु सम्प्रति पद्मावतीश्वर के मन्त्री हैं और माधव के पिता देवरात विदर्भराज के मन्त्रिपद पर समासीन हैं। अपने अध्ययन-काल में उक्त दोनों मित्रों की अपनी सतीर्थ कामन्दकी एवं सौदामिनी के सामने ही ऐसी प्रतिज्ञा हुई थी कि यदि उनमें से किसी एक के कन्या तथा दूसरे के कोई पुत्र हुआ तो वे उन दोनों को परस्पर वैवाहिक सूत्र में आवद्ध करेंगे। कामन्दकी को मालती एवं माधव के विवाह-सम्बन्ध को सफल बनाने के लिए गुप्त निर्देश मिल चुके हैं। लवंगिका से यह जानकर कि मालती पहले से ही अपने भवन के सामने माधव को आते-जाते देखकर उसके प्रति आकृष्ट हो गयी है (१ : १६), यहाँ तक कि प्रेम विह्वल होकर मालती ने माधव का एक चित्र भी टाँक लिया है, कामन्दकी अपनी योजना की पूर्ति के लिए अधिक विश्वास एवं साहस का अनुभव करने लगती है। मालती के अनुराग से माधव को अवगत कराने के उद्देश्य से मालती की धाय की पुत्री लवंगिका इस चित्र को माधव के सेवक कलहंस की प्रेयसी मन्दारिका को दे देती है, ताकि यह चित्र स्वयं माधव तक आसानी से पहुँच जाय। अवलोकिता कामन्दकी को बताती है कि उसकी इच्छा को ध्यान में रखकर उसने भी माधव को मदनोद्यान के उत्सव में भाग लेने के लिए भेज दिया है जहाँ वह मालती का साक्षात्कार कर सकेगा। उन दोनों की बातचीत अब कामन्दकी की पूर्व शिष्या सौदामिनी की यौगिक उपलब्धियों के सम्बन्ध में होने लगती है। अवलोकिता माधव के प्रिय सहचर मकरन्द के साथ पद्मावतीश्वर के नर्मसचिव नन्दन की बहन मदयन्तिका के विवाह की सम्भावना भी प्रकट करती है।

कामन्दकी सूचित करती है कि उसने मकरन्द एवं मदयन्तिका के बीच प्रेम अंकुरित करने के उद्देश्य से अपनी प्रियसखी बुद्धरक्षिता को पहले ही नियुक्त कर दिया है। मालती एवं माधव के पारस्परिक अनुराग को सफल बनाने के लिए स्वयं कामन्दकी दूती की कार्य-पद्धति को स्वीकार करती है ताकि उन सुयोग्य प्रेमियों को कृतार्थ किया जा सके (१ : १७)।

दृश्य ३ (स्थान—मदनोद्यान)—माधव का सेवक कलहंस अपनी प्रेमिका मन्दारिका से मालती द्वारा निर्मित चित्र को लेकर अपने स्वामी को खोजता हुआ मदनोद्यान में पहुँच जाता है और वहाँ माधव एवं मकरन्द की प्रतीक्षा करता हुआ एक जगह बैठ जाता है। मकरन्द भी अपने मित्र माधव को खोजता हुआ उसी उद्यान में आ जाता है और अपने मित्र के बदले हुए चेहरे को देखकर (१ : १८) उसके कारणों पर विचार करने लगता है। माधव से मिलकर वह उसकी चिन्ता का कारण पूछता है। माधव उसके सामने स्वीकार कर लेता है कि वह मालती के प्रति आकृष्ट हो गया है। वह मकरन्द के सामने मदनोत्सव की वह झाँकी प्रस्तुत करता है जहाँ वह बकुल वृक्ष के नीचे बैठकर एक पुष्पहार बनाने में तन्मय था। उसी समय सुन्दरी मालती अनेक अनुचरों एवं सहेलियों से घिरी हुई एक हथिनी पर सवार होकर वहाँ उपस्थित हुई। मालती के अनुपम सौंदर्य को इतने निकट से देखकर माधव का हृदय अनायास ही उसमें आसक्त हो गया। उधर मालती ने भी जब अपने प्रिय को वहाँ देखा तो उसका प्रेम-भाव स्तम्भ, स्वेद, रोमांच आदि सात्त्विक भावों के माध्यम से छलक पड़ा (१ : २७)। कुछ देर बाद मालती अपने अनुचरों के साथ पुनः अपने भवन की ओर चल पड़ी। उसकी प्रिय सखी लवंगिका माधव के पास खिंच आयी और उसने अत्यन्त विनीत शब्दों में उससे अपनी सखी मालती के निमित्त उस पुष्प-हार की याचना की जिसे माधव ने गूँथकर तैयार किया था। माधव ने सहज ही उसे वह माला अर्पित कर दी थी। माधव के मुख से इस प्रेम-वार्ता को सुनकर मकरन्द अपने मित्र को आश्वस्त करता है कि यह सब मालती के पूर्वराग का प्रकाश है, इससे माधव को अपनी प्रिया के लिए आशान्वित होना चाहिए। कलहंस, जो अब तक उन दोनों मित्रों के वार्तालाप को छिपकर सुन रहा था, उनके सामने आकर उन्हें मालती द्वारा अंकित माधव का चित्र अर्पित करता है। इस चित्र को देखकर मालती के प्रेम के सम्बन्ध में दोनों मित्रों की रही-सही शंका भी मिट जाती है। मकरन्द अपने मित्र से उसी चित्र की बगल में मालती का चित्र अंकित करने के लिए कहता है। माधव न केवल चित्र बनाता है, प्रत्युत मालती के प्रति अपना गहन अनुराग निवेदित करता हुआ चित्र के नीचे एक सुन्दर श्लोक भी लिख देता है (१ : ३७)। ठीक इसी समय अपने प्रेमी कलहंस को खोजती हुई मन्दारिका वहाँ आ जाती है और उससे चित्रफलक ले लेती है। फलक में मालती के चित्र को भी निबद्ध देखकर वह चकित हो जाती है। पीछे वास्तविकता से अवगत होकर वह प्रसन्न हो जाती है और 'मदन के उस सुचरित' को अपनी सखी लवंगिका से निवेदित करने के लिए मकरन्द से आदेश प्राप्त

करती है। इसके बाद वह कलहंस के साथ परिभ्रमण करने चल देती है। इधर माधव अपनी प्रेयसी के प्रति अपने प्रणयावेगों को अभिव्यक्त करता हुआ मकरन्द के साथ प्रस्थान करता है।

द्वितीय अंक

दृश्य १, प्रवेशक (स्थान—मालती का भवन)—मालती की दो चेटियाँ आकर सूचित करती हैं कि मकरन्द ने मदनोद्यान के वृत्तान्त से कामन्दकी को अवगत करा दिया है। कामन्दकी ने समाचार जानने के लिए अवलोकिता को मालती के पास भेज दिया है। उधर लवंगिका मालती को साथ लेकर भवन के एकान्त स्थान में चली गयी है जहाँ मालती माधव की चर्चा से मन को बहला रही है। दूसरी चेटी बताती है कि पद्मावतीश्वर ने अपने नर्मसचिव नन्दन के लिए भूरिवसु से मालती की याचना की है। ऐसी स्थिति में कामन्दकी ही मालती के कल्याण के लिए कुछ कर सकती है, चेटियों का यही विचार है।

दृश्य २ (स्थान–वही)—लवंगिका के साथ बैठी हुई उत्कण्ठिता मालती का प्रवश होता है। मालती लवंगिका से माधव द्वारा गुंफित बकुलमाला ग्रहण करती है। लवंगिका अपनी सखी को बताती है कि माधव भी उसके प्रेम में डूबे हुए हैं। माधव के अनुराग के साक्षी-स्वरूप वह अपनी सखी को माधव का वह चित्र दिखाती है जिसकी बगल में माधव ने मालती का चित्र भी अंकित कर दिया है। अपने प्रिय द्वारा निर्मित उस छवि को देखकर तथा नीचे प्रणय-भाव में भीने हुए श्लोक को बाँचकर मालती का हृदय और भी उत्कंठित हो जाता है। लवंगिका मालती को प्रेम-विवाह के लिए उत्प्रेरित करती है, किन्तु माधव के प्रति अपने हृदय के सम्पूर्ण भाव-कोषों को समर्पित करके भी मालती अपने पारिवारिक बन्धनों में अटूट आस्था व्यक्त करती है, स्वार्थ-सिद्धि के लिए अपने प्रणय-जीवन को सर्वथा निर्बन्ध नहीं बनाना चाहती और अपने वंश की पवित्र मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रतिश्रुत होती है। (२ : २)।

दृश्य ३ (स्थान—वही)—मालती के उक्त साहसपूर्ण संकल्प के लगे बाद अवलोकिता को साथ लेकर कामन्दकी प्रवेश करती है। मालती की दुरवस्था को देखकर कामन्दकी चिन्ता व्यक्त करती है—मालती की इष्ट-सिद्धि के लिए वह जो निःश्वास छोड़ती है, लवंगिका उसे 'कपटनाटक की प्रस्तावना' कहकर संज्ञित करती है। कामन्दकी नन्दन के विरुद्ध मालती को उकसाती है और इसके लिए खेद व्यक्त करती है कि यदि भूरिवसु को अपनी मालती के भविष्य की कुछ भी चिन्ता होती तो वे उसे नन्दन जैसे अयोग्य वर को देने के लिए प्रतिबद्ध नहीं होते (२ : ७) नन्दन के प्रति मालती की वितृष्णा जगा देने के बाद कामन्दकी शकुन्तला, उर्वशी एवं वासवदत्ता के आदर्श प्रेम-प्रसंगों को उदाहृत करके मालती के मन में अपने प्रेमी माधव के साथ गंधर्व-विवाह करने के लिए आवश्यक संवेदना एवं विद्रोह अंकुरित करती है। माधव का प्रसंग आने पर वह उसके उच्च वंश, अनवद्य विद्या एवं कला, अप्रतिम सौन्दर्य (२ : ११) तथा देवरात एवं भूरिवसु की मैत्री की चर्चा करके मालती के मन को

माधव की ओर अधिकाधिक खींच लेती है। मालती के मन में अपेक्षित संवेदना जगा देने के बाद कामन्दकी को स्वयं भी संतोष होता है। संध्या हो जाने पर वह अवलोकिता के साथ प्रस्थान करती है। मालती एवं लवंगिका भी प्रस्थान करती हैं।

तृतीय अंक

दृश्य १, प्रवेशक (स्थान—भूरिवसु का भवन)—बुद्धरक्षिता एवं अवलोकिता के बीच वार्तालाप के क्रम में ज्ञात होता है कि कामन्दकी ने माधव को शिवालय के निकट मदनोद्यान में जाने का आदेश दिया है। कामन्दकी स्वयं भी लवंगिका के साथ मालती को साथ लेकर उसी उद्यान में जानेवाली हैं। मदयन्तिका ने बुद्धरक्षिता को वहीं शिवालय में मिलने के लिए बुलाया है। कामन्दकी के आदेशानुसार बुद्धरक्षिता ने अब तक मदयन्तिका के हृदय में मकरन्द के प्रति प्रेम-भाव अंकुरित कर दिया है—मदयन्तिका मकरन्द को देखने के लिए उत्कण्ठित हो गयी है।

दृश्य २ (स्थान—मदनोद्यान)—कामन्दकी उद्यान में प्रवेश करती हैं और अपने स्वगत भाषण में अपने प्रति मालती के मधुर सख्य-भाव का बखान करती है (३ : २)। उसने शकुन्तला आदि की प्रेम-कथाएँ सुना-सुनाकर अब तक मालती को वर-रूप में माधव को ग्रहण करने के अनुकूल बना लिया है। मालती एवं लवंगिका प्रविष्ट होती हैं। लवंगिका उद्यान के एक अत्यन्त कामोद्दीपक अंचल में मालती का संचरण कराती है। माधव का प्रवेश होता है। वह छिपकर दोनों सखियों के संचरण एवं पुष्प-चयन का आनन्द लेता है। उसका हृदय अपनी प्रेयसी के मधुर हाव-भाव को देखकर अत्यन्त उद्दीप्त हो जाता है। जब मालती पुष्प-चयन से थक जाती है, कामन्दकी उससे बैठ जाने का आग्रह करती है। सबके बैठ जाने पर कामन्दकी मदनोद्यान की यात्रा के दिन से अत्यन्त संतप्त और दुर्बल पड़े माधव की चर्चा बड़े ही सम्मोहक शब्दों में करती है (३ : ९)। वह माधव के इस कामोन्माद का कारण मालती को ही बताती है। उसे भय है कि मालती के दारुण वियोग में पड़कर माधव कुछ अनर्थ न कर बैठे (३ : १२)। माधव की इस करुण दशा के लिए अपने को ही निमित्त माननेवाली मालती अतिशय खिन्न और चिन्तातुर हो जाती है। माधव के वियोग में स्वयं मालती की जो करुण दशा हो गयी है, उसका बड़ा ही विशद एवं आकर्षक वर्णन लवंगिका करती है। वह कामन्दकी को माधव की छवि से युक्त वह चित्रफलक भी दिखाती है जिसे मालती सर्वदा अपने पास रखती थी; और मालती के वक्ष-प्रदेश से उस बकुल माला को भी खींचकर प्रत्यक्ष कराती है जिसे वह मालती के लिए माधव से माँग लायी थी। माधव यह सब देख-सुनकर परम प्रीति और प्रसन्नता का बोध करता है। इसी समय नेपथ्य से एक घोषणा सुनाई देती है—शिवालय के निकट रहनेवाले नागरिको, एक भयंकर बाघ अपना पिंजड़ा तोड़कर निकल पड़ा है, उससे आप अपनी जीवन-रक्षा करें। इस घोषणा के लगे बाद घबड़ाई हुई बुद्धरक्षिता प्रवेश करती है और अपनी प्रिय सखी नन्दन की बहन मदयन्तिका को बाघ के आसन्न आक्रमण से बचाने के लिए प्रार्थना करती है। बुद्धरक्षिता के आर्त स्वर को सुनकर एकाएक माधव भी

उनके बीच आ जाता है। इस अप्रत्याशित रूप से माधव को सामने पाकर मालती हर्ष एवं भय का बोध करती है। माधव भी हृष्ट मालती के आंगिक विलासों को देखकर अपने को धन्य मानता है (३ : १६)। उपस्थित सभी मदयन्तिका के प्राणों की रक्षा के लिए बेचैन हो उठते हैं। किन्तु इस आवेग एवं भय के क्षणों में माधव एवं कामन्दकी यह देखकर मुग्ध हो उठते हैं कि मकरन्द ने अकस्मात् वहाँ उपस्थित होकर बाघ के हिंस्र आक्रमण से मदयन्तिका को बचा लिया है, उसने स्वयं बुरी तरह आहत होकर भी बाघ का काम तमाम कर दिया है। मदयन्तिका के हाथों का सहृदय सहारा पाकर भी बाघ के निर्मम प्रहार से मकरन्द मूर्च्छित होते हुए दीखते हैं। अपने मित्र की ऐसी दशा देखकर माधव शोकाकुल हो जाता है। कामन्दकी उसे आश्वस्त करती हुई सबको साथ लेकर मकरन्द के पास चल देती है।

चतुर्थ अंक

दृश्य १ (स्थान—पूर्ववत्)—मूर्च्छित पड़े हुए मकरन्द एवं माधव को सहारा देती हुई मदयन्तिका एवं मालती के साथ घबड़ाई हुई कामन्दकी, बुद्धरक्षिता एवं लवंगिका का प्रवेश होता है। कुछ क्षणों में कामन्दकी आदि के सहृदय उपचार से माधव एवं मकरन्द दोनों मित्र संज्ञा प्राप्त करते हैं और प्रेमपूर्वक एक-दूसरे के गले लगते हैं। इन दोनों के होश में आ जाने से उपस्थित सभी स्त्रियाँ, विशेषतः मालती एवं मदयन्तिका अपना अहोभाग्य मानती हैं। मदयन्तिका मकरन्द की वीरता, त्याग आदि गुणों से उसके प्रति आसक्त हो जाती है। इन चारो प्रेमियों का भावात्मक आदान-प्रदान चल ही रहा है कि एक दूत प्रविष्ट होता है। वह मदयन्तिका को सूचित करता है कि पद्मावतीश्वर ने भूरिवसु की सहमति से मालती को नन्दन के लिए दे दिया है, अतः मदयन्तिका को अपने भाई की इस खुशी में भाग लेने चलना चाहिए। यह जानकर कि मालती उसकी भाभी होने जा रही है, मदयन्तिका प्रसन्न होकर अपनी सखी मालती का आलिंगन करती है। अब तक मकरन्द एवं मदयन्तिका जिस प्रकार एक-दूसरे को अतिशय स्निग्ध दृष्टि से निहारते रहे हैं, उससे उनका परस्पर मनोराग स्पष्ट हो जाता है (४ : २)। कुछ देर में मदयन्तिका अपने भाई के वैवाहिक अनुष्ठान में भाग लेने के लिए वहाँ से प्रस्थान करती है। इधर मालती के इस विवाह के समाचार से माधव की आशा का तन्तु टूट जाता है, उसकी मनोव्यथा चरम सीमा को पहुँच जाती है (४ : ३)। खिन्न पड़े माधव एवं मालती को कामन्दकी आश्वस्त करती है और भूरिवसु के वचन-दान के वास्तविक अभिप्राय को प्रकट करती है—पद्मावतीश्वर का 'अपनी' कन्या पर प्रभुत्व है, न कि भूरिवसु की। वे अपने प्राण देकर भी मालती एवं माधव का समागम करा देने के लिए यत्नशील होती है (४ : ५)। इसी बीच नेपथ्य के स्वर में मालती को साथ लेकर कामन्दकी के रानी के पास जाने की घोषणा होती है। मालती माधव से अत्यन्त करुण एवं नैराश्यपूर्ण स्वर में बोलती है—'महानुभाव, अब इससे आगे मैं आपको नहीं देख सकूँगी!' लवंगिका को अपनी सखी के जीवन पर ही कोई भरोसा नहीं रह जाता। इधर माधव कामन्दकी के आश्वासनों को उसके कोरे

स्नेह-दान के अर्थ में ग्रहण करता है। अब अपनी इष्ट-सिद्धि के लिए उसे केवल एक ही उपाय सूझता है—श्मशान में जाकर नर-मांस बेचना। मकरन्द एवं माधव वरदा एवं सिन्धु के संगम में स्नान करके नगरी में प्रवेश करने के लिए तत्पर होते हैं। सभी प्रस्थान करते हैं।

पंचम अंक

दृश्य १, विष्कम्भक (स्थान—श्मशान और उसके पार्श्ववर्ती प्रदेश)—आकाश-यान से भीषण उज्ज्वल वेश धारण करनेवाली कपालकुण्डला प्रवेश करती है। वह श्रीपर्वत से करालायतन तक की अपनी आकाश-यात्रा का तान्त्रिक शब्दावली में वर्णन करती है। श्मशान के निकटस्थ करालायतन (कराला नाम की भगवती) का मन्दिर स्थित है जहाँ कपालकुण्डला के गुरुदेव अघोरघण्ट अपना तान्त्रिक अनुष्ठान कर रहे हैं। उन्होंने अपनी पूजा-सामग्री के रूप में कपालकुण्डला से एक स्त्री-रत्न प्रस्तुत करने की याचना की है। ऐसी स्त्री उसी नगर (पद्मावती) में विद्यमान है। उस स्त्री की खोज में जाने से पूर्व कपालकुण्डला की दृष्टि बायें हाथ में महामांस लिए हुए माधव पर जाती है जो श्मशान की ओर बढ़ा जा रहा है (५ : ५)। कपालकुण्डला अपने गुरु के आदेश को पूरा करने के लिए प्रस्थान करती है।

दृश्य २ (स्थान—पूर्ववत्)—यथानिर्दिष्ट माधव का प्रवेश होता है। वह अपने स्वगत भाषण में मालती के प्रति अपनी गहन आसक्ति व्यक्त करता है, अपने चित्त में मालती के रागात्मक विलयन की बात करता है (५ : १०)। उसके बाद वह श्मशान के पिशाचों को नर-मांस बेचने की घोषणा करता है। महामांस के विक्रय के क्रम में जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, वह अनेक प्रकार के भीषण पिशाचों के रूप, क्रीड़ा, भोजन, आभूषण आदि का लोमहर्षक वर्णन प्रस्तुत करता है (५ : १६, १८)। अन्त में वह नदी-तट से संलग्न श्मशान-भूमि पर उतरता है, जहाँ से उसके कानों में किसी के आर्त स्वर सुनाई पड़ते हैं—'हा निर्दय पिताजी! यह जन जिसे आपने राजा के चित्त को प्रसन्न करने का साधन बनाया था, संकट में पड़ा हुआ है!'

दृश्य ३ (स्थान—कराला देवी का मन्दिर)—वध्यचिह्न से युक्त मालती के साथ कपालकुण्डला एवं अघोरघण्ट का प्रवेश होता है। मालती अपने बन्धुजनों के नाम ले-लेकर करुण स्वर में विलाप कर रही है। उक्त दोनों कापालिक देवी के सामने मालती की बलि देने से पूर्व देवी कराला की भयंकर स्तुति करते हैं (५ : २३)। इधर मालती को पहचानकर माधव उसकी प्राण-रक्षा करने को व्यग्र हो उठता है। अपने वध से पूर्व मालती को अपने प्रियजन को स्मरण करने के लिए कहा जाता है। मालती अपने प्रिय माधव का करुण स्मरण करती है। जैसे ही अघोरघण्ट अपने मंत्र-साधन के लिए संकल्पित मालती का वध करने को शस्त्र उठाता है, माधव नंगी तलवार लेकर दोनों के बीच में कूद पड़ता है और कापालिक को ललकारता है। कापालिक और माधव दोनों एक-दूसरे को लक्ष्य करके कटूक्ति सुनाते हैं और एक-दूसरे पर प्रहार करने को सन्नद्ध होते हैं। इसी बीच नेपथ्य से कामन्दकी का स्वर सुनाई पड़ता है—वह सिपाहियों

को करालायतन घेर लेने का आदेश देती है, चूँकि उसकी आशंका है कि अघोरघण्ट ने ही मालती का हरण किया है (५ : ३३) । अघोरघण्ट और कपालकुण्डला अपने को इस अप्रत्याशित रूप से घिरे हुए पाकर विस्मित हो उठते हैं। अघोरघण्ट एवं माधव दूने उत्साह और शक्ति से द्वन्द्व युद्ध के लिए तैयार हो जाते हैं (५ : ३४) । सभी प्रस्थान करते हैं ।

षष्ठ अंक

दृश्य १, विष्कम्भक (स्थान—भूरिवसु के भवन के निकट कोई एकान्त स्थान)—कपालकुण्डला का प्रवेश होता है। वह अपने गुरु (अघोरघण्ट) की हत्या करनेवाले माधव से बदला लेने के लिए अपना दृढ़ संकल्प प्रकट करती है (६ : १)। इसी बीच नेपथ्य से मालती के विवाह की घोषणा की जाती है, सम्बद्ध जनों से बारात के स्वागत के लिए तैयार रहने को कहा जाता है। जब तक बारात नहीं आती, मालती अपने विघ्ननाश के लिए नगरदेवता के मन्दिर में जाकर पूजा कर आये—कामन्दकी के इस आदेश को भी सुनाया जाता है। कपालकुण्डला इसे सुनकर प्रसन्न होती है, चूँकि उसे बारात के इस कोलाहल में माधव के अपकार करने का अवसर सुलभ होगा। वह निर्दिष्ट अपकार के लिए प्रस्थान करती है।

दृश्य २ (स्थान—नगरदेवता का मन्दिर)—कलहंस से यह सूचना पाकर कि मालती देव-पूजन को आ रही है, माधव और मकरन्द मन्दिर के झरोखे से वैवाहिक महोत्सव के सभी उपकरणों से युक्त मालती तथा उसके अनुचरों को मन्दिर की ओर आते हुए देखने लगते हैं। माधव, मकरन्द एवं कलहंस भूरिवसु के विशाल ऐश्वर्य का कीर्तन करते हैं जो मालती तथा उसके अनुचरों के मूल्यवान वस्त्र, अलंकार, वाहन आदि के सौन्दर्य एवं गरिमा में व्यक्त हो रहा है। मालती सजी-सजाई हथिनी से उतरकर कामन्दकी तथा लवंगिका के साथ मन्दिर की ओर चल देती है। तीनों ही अपने-अपने मनोभावों को प्रकाशित करती हैं। कुछ ही क्षणों में मालती के निमित्त वैवाहिक वस्त्र एवं आभूषणों के पात्र लिए हुई प्रतिहारी का प्रवेश होता है। प्रतिहारी इस पात्र को कामन्दकी को सौंप देती है और उन्हें भूरिवसु का वह आदेश सुना देती है जिसके अनुसार कामन्दकी इन वस्त्रों एवं अलंकारों से देवता के सम्मुख मालती का प्रसाधन करेगी। प्रतिहारी प्रस्थान करती है। कामन्दकी स्वयं तो इन वस्त्राभूषणों के परीक्षण करने का बहाना बनाकर बाहर रह जाती है और मालती एवं लवंगिका को मन्दिर के गर्भगृह में जाने का आदेश देती है। इधर माधव एवं मकरन्द मन्दिर के भीतर स्तम्भ की ओट से मालती के क्रिया-कलापों को देखने लगते हैं। लवंगिका मालती से देव-पूजा करने का अनुरोध करती है। अपने जीवन से निराश मालती लवंगिका को आलिंगन में बाँध लेती है और उससे एक बार, किसी भी उपाय से, माधव का श्रीमुख दिखा देने के लिए करुण याचना करती है। वह माधव के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा एवं अटूट प्रणय-भाव प्रकट करती है, वर्तमान परिस्थिति में माधव से

मिलने का कोई उपाय न देखकर वहीं अपने प्राणान्त कर देने को तत्पर हो जाती है तथा अपने इस निश्चय की पूर्ति में आवश्यक सहयोग देने के लिए लवंगिका के पैरों पर गिर पड़ती है। लवंगिका इशारे से माधव को समीप बुलाती है और उसे अपनी जगह पर खड़े हो जाने का संकेत देती है। माधव धीरे से लवंगिका का स्थान ग्रहण कर लेता है। अब माधव अपने पैरों पर पड़ी प्रिया को सान्त्वना देता है और उसे अपना आलिंगन करने को प्रेरित करता है (६ : ११)। मालती समझती है कि लवंगिका उसकी इच्छा-पूर्ति करने को तत्पर हो गयी है। उसकी आँखें आँसुओं से रुद्ध हो जाती हैं और वह उठ कर लवंगिका के भ्रम से माधव को ही अपने प्रेमोच्छ्वसित आश्लेष में बाँध लेती है। उसी स्थिति में पड़ी हुई वह लवंगिका (माधव) से माधव के प्रति अपनी गहन अनुरक्ति निवेदित करती है। अपने इस तरल प्रणयोद्गार के अन्त में वह माधव के हाथों से निर्मित बकुलमाला को भी अपने प्रणय के प्रतीक के रूप में लवंगिका (माधव) को अर्पित करना चाहती है। जैसे ही वह इस बकुलमाला को अपने गले से उतारकर लवंगिका (माधव) के गले में पहनाती है, उसका भ्रम दूर हो जाता है—वह सहसा माधव से अलग सरककर एक विचित्र भय एवं घबड़ाहट से आविष्ट हो जाती है। पास खड़ा माधव उसे अपने विश्वास में लेता हुआ बताता है कि मालती के विरह से स्वयं उसका सन्ताप भी मालती की अपेक्षा कम नहीं रहा है; मालती भी उसे प्यार करती है—यही जानकर वह किसी प्रकार अबतक अपने जीवन को धारण करता रहा है (६ : १३)। इस मधुर प्रेम-प्रसंग का लाभ उठाकर मकरन्द एवं लवंगिका उन दोनों के प्रेम-विवाह का प्रस्ताव करते हैं। मालती इसे 'कन्यकाजन-विरुद्ध' मानकर अपने भीतर अपेक्षित साहस का अभाव पाती है। इसी बीच कामन्दकी का प्रवेश होता है। वह मालती की भावनाओं को उद्दीपित करके उसे माधव को पति-रूप में स्वीकार कर लेने की प्रेरणा देती है (६ : १५)। शीघ्र ही वह मालती का हाथ माधव को देने में सफल होती है और दोनों प्रेमियों को वैवाहिक आदर्श का उपदेश करती है (६ : १८)। इसके पश्चात् वह मकरन्द को मालती के वस्त्राभूषण धारण करके, वधू मालती के वेश में, नन्दन के साथ विवाहित होने का आदेश देती है। माधव एवं मालती को वह गहन वृक्षावलियों से होते हुए एक उद्यान विशेष में चले जाने को कहती है जहाँ अवलोकिता ने पहले से ही उन दोनों के वैवाहिक मंगल की तैयारी की है। सभी अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रस्थान करते हैं।

सप्तम अंक

दृश्य १, प्रवेशक (स्थान—नन्दन का भवन)—बुद्धरक्षिता का प्रवेश होता है। वह मालतीवेशधारी चतुर मकरन्द के द्वारा नन्दन के ठगे जाने, उसके नन्दन के साथ विवाहित होने तथा पति-गृह (नन्दन के घर) आने की सूचना देती है। नन्दन के घर नववधू के गृह-प्रवेश के समय किये गये कौमुदीमहोत्सव के कारण सभी परिजन असावधान एवं प्रमत्त हो गये हैं। रात्रि का प्रथम प्रहर है। बुद्धरक्षिता इसे मदयन्तिका एवं

मकरन्द के विवाह के लिए सर्वथा अनुकूल मानती है। उसकी सूचना के अनुसार कामान्ध नन्दन अपनी नवोढा से मिलने आया, किन्तु मालती (मकरन्द) ने बड़ी निष्ठुरता से उसे ठुकरा दिया; इस पर नन्दन अपनी नवपरिणीता को जली-कटी सुना कर बाहर चला गया।

दृश्य २ (स्थान—पूर्ववत्)—शय्यागत मकरन्द एवं लवंगिका का प्रवेश होता है। लवंगिका मकरन्द को उत्तरीय से शरीर ढककर सोये रहने का निर्देश देती है, चूँकि अपनी भाभी मालती को प्रबोध देने के बहाने बुद्धरक्षिता मदयन्तिका को वहीं ला रही है। मकरन्द सावधान होकर सोने का बहाना करता है। मदयन्तिका एवं बुद्धरक्षिता प्रविष्ट होती हैं। मदयन्तिका अपने भाई नन्दन के प्रति निष्ठुरता बरतनेवाली मालती की भर्त्सना करने आयी है। किन्तु लवंगिका उसे धीरे से वहीं बिस्तर पर बैठ जाने को कहती है, चूँकि मालती (मकरन्द) सोई हुई है। मदयन्तिका सोये हुए मकरन्द की बगल में बैठ जाती है और अपने भाई के प्रति किये गये बर्ताव के लिए मालती को उपालम्भ देना चाहती है। इस पर बुद्धरक्षिता और लवंगिका बड़ी चतुराई से सारा दोष उसके भाई नन्दन के सिर पर ही मढ़ देती हैं। मदयन्तिका यह कहकर अपने भाई की रक्षा करना चाहती है कि अपनी भार्या के प्रति नन्दन के इस प्रतिकूल आचरण की जड़ में वस्तुतः माधव एवं मालती के प्रेम का प्रचलित लोकापवाद है। इस पर लवंगिका एवं बुद्धरक्षिता बातचीत के इस मोड़ को बड़ी चतुराई से बदलकर उसे स्वयं मदयन्तिका एवं मकरन्द के प्रेम-भाव पर केन्द्रित कर देती हैं। मकरन्द के नामोच्चारण मात्र से मदयन्तिका को रोमांच हो जाता है। धीरे-धीरे वह अपनी सखियों के विश्वास में आ जाती है और उनसे मकरन्द के अभाव में अपने दुखते प्राणों का अत्यन्त रागात्मक वर्णन प्रस्तुत करती है। दोनों सखियाँ उससे मकरन्द के साथ गन्धर्व-विवाह कर लेने का अनुरोध करती हैं। मदयन्तिका भी बड़ी शालीनता से इस प्रस्ताव का समर्थन कर देती है। इसी बीच रात्रि के द्वितीय प्रहर बीतने का संकेत देता हुआ नगाड़ा बजता है। मदयन्तिका अपने भाई के प्रति मालती को अनुकूल बनाने के लिए तत्पर होती है। इसी समय मकरन्द अपना मुख अनावृत करके उसका हाथ पकड़ लेता है। मकरन्द को देखकर वह विस्मित हो जाती है। मकरन्द अपने मधुर वचन एवं व्यवहार से उसे और भी सम्मोहित कर देता है (७ : २)। इसके बाद लवंगिका उन दोनों प्रेमियों को रात्रि के अन्धकार में भवन से बाहर निकलकर उसी स्थान पर जाने को कहती है जहाँ मालती एवं माधव पहले ही भेजे जा चुके हैं। भवन के पार्श्वद्वार से सभी प्रस्थान करते हैं।

अष्टम अंक

दृश्य १, प्रवेशक (स्थान—कामन्दकी के विहार का निकटवर्ती उद्यान)—अवलोकिता का प्रवेश होता है। वह नन्दन के भवन से लौटी हुई कामन्दकी का अभिवादन करके यहाँ आयी है। अब वह मालती एवं माधव से मिलने चल देती है जो ग्रीष्मऋतु में सायंकालिक स्नान करके वापीतट के शिलातल पर बैठे हुए दीख रहे हैं।

दृश्य २ (स्थान—वही)—मालती, माधव और अवलोकिता प्रवेश करते हैं। माधव अपनी प्रेममयी मधुर वाणी से मालती को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता है (८ : २, ३), ताकि वह भी माधव के प्रेम का प्रतिदान दे। किन्तु मालती संकोचवश चुप्पी साधे रहती है। इस पर अवलोकिता मालती पर व्यंग्य कसती है जो कुछ ही देर पहले माधव से मिलने के लिए छटपटाती थी, किन्तु अब सामने पड़े अपने प्रियतम से बात तक करना नहीं चाहती। धीरे-धीरे बातचीत का क्रम मकरन्द एवं मदयन्तिका तक आ जाता है। माधव को सन्देह है कि मदयन्तिका के प्रति बुद्धरक्षिता का प्रयत्न कभी सफल भी होगा। अवलोकिता उसके सन्देह को दूर करती हुई पूछती है कि यदि मदयन्तिका की सम्प्राप्ति हो जाय तो उसे क्या पुरस्कार मिलेगा? वे कुछ इस प्रकार बातें कर ही रहे हैं कि किन्हीं की निकट आती हुई पगध्वनियाँ सुनायी पड़ती हैं। शीघ्र ही वहाँ घबड़ाये हुए कलहंसके साथ सन्त्रस्त बुद्धरक्षिता, लवंगिका एवं मद-यन्तिका का प्रवेश होता है। उनसे माधव को ज्ञात होता है कि नन्दन के भवन से बाहर निकलते समय नगर के रक्षक पुरुषों के साथ मकरन्द की मुठभेड़ हो गयी है; वह कलहंस के साथ सम्बद्ध स्त्रियों को तो यहाँ भेजने में सफल हो गया, किन्तु अब वहाँ अकेले ही सैनिकों के साथ युद्ध कर रहा है। इस सूचना से माधव तनिक भी नहीं घबड़ाता। वह सन्त्रस्त मदयन्तिका को आश्वासन देकर (८ : ७) स्वयं भी कलहंस के साथ अपने मित्र की सहायता करने चल देता है। इसके बाद मालती सैनिकों के साथ मकरन्द के इस संघर्ष की सूचना देने के लिए अवलोकिता एवं बुद्धरक्षिता को कामन्दकी के पास भेज देती है। फिर वह अपनी सखी लवंगिका को माधव के पास उसे युद्ध से सावधान करने के लिए भेजती है। इस प्रकार मालती एवं मदयन्तिका को छोड़कर वहाँ से शेष सभी प्रस्थान करते हैं।

दृश्य ३ (स्थान—वही)—मालती जब माधव की चिन्ता में मदयन्तिका से अलग हटकर उद्यान में बिलकुल अकेली पड़ जाती है तो कपालकुण्डला का प्रवेश होता है। वह मालती को जबरन पकड़कर उसे श्रीपर्वत पर मारने के लिए ले जाती है। असहाय विलाप करती हुई मालती एवं कपालकुण्डला प्रस्थान करती हैं। इधर मदयन्तिका मालती को खोजने के क्रम में लवंगिका से मिलती है जो माधव एवं मकरन्द के भीषण संघर्ष की सूचना देकर मदयन्तिका को और भी आकुल बना देती है। ये दोनों मिलकर मालती को खोज ही रही होती हैं कि कलहंस प्रवेश करता है। वह माधव एवं मकरन्द की विजय की सूचना देता है तथा यह भी बताता है कि महाराज ने इन दोनों की वीरता से प्रसन्न होकर उन्हें अपनी-अपनी प्रणयिनी से परिणय-सम्बन्ध कर लेने की सहर्ष स्वीकृति प्रदान कर दी है। माधव एवं मकरन्द प्रवेश करते हैं। पद्मावतीश्वर द्वारा सम्मानित होकर वे दोनों अपनी प्रेयसियों को शुभ संवाद सुनाने आते हैं। मालती की खोज में लगी हुई लवंगिका एवं मदयन्तिका से जब उन दोनों की भेंट होती है तो मालती के नहीं मिलने के समाचार से वे दोनों,

विशेषतः माधव, बेचैन हो जाते हैं (८ : १२)। मकरन्द मालती के कामन्दकी के निकट जाने की सम्भावना व्यक्त करता है। इस पर सभी वहाँ से कामन्दकी के पास जाने के लिए प्रस्थान करते हैं।

नवम अंक

दृश्य १, विष्कम्भक (स्थान—पद्मावती और उसके उपान्त-प्रदेश)—श्रीपर्वत से आयी हुई सौदामिनी का प्रवेश होता है। वह सूचित करती है कि अपनी प्रिया मालती के विरह में अधीर बना हुआ माधव अपना घर-बार छोड़कर मकरन्द आदि मित्रों के साथ घोर जंगल में चला गया है। सौदामिनी उसी से मिलने आयी है। वह अपने सामने फैली हुई पद्मावती नगरी की नैसर्गिक एवं लौकिक शोभा का वर्णन करती है। इसी क्रम में वह मधुमती एवं सिन्धु नामक नदियों के संगम पर स्थित 'सुवर्णबिन्दु' नामक महादेव को प्रणाम करती है (९ : ४)। अन्त में, प्रस्तुत कार्य के अनुसार, अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए वह माधव एवं मकरन्द की खोज में प्रस्थान करती है।

दृश्य २ (स्थान—वही)—माधव और मकरन्द प्रवेश करते हैं। मकरन्द मालती की प्राप्ति की आशा एवं निराशा के बीच दोलायित अन्तःकरण एवं प्रतिकूल भाग्य की मीमांसा करता है (९ : ८)। माधव अपनी प्रिया मालती की वियोगाग्नि में दग्ध होता हुआ अपने मार्मिक उद्गार व्यक्त करता है (९ : ९, १२)। मकरन्द अपने मित्र माधव के मन को अन्यत्र आकृष्ट करने की कोशिश करता है। वन्य प्रकृति की सुषमा के वर्णन द्वारा वह माधव के अधीर चित्त को शान्त करना चाहता है, किन्तु माधव का विरही मन इससे इतना उद्दीप्त एवं आकुल हो जाता है (९ : १८) कि कुछ ही देर में वह मूर्च्छित हो जाता है। अपने प्रिय मित्र की ऐसी करुण दशा देखकर निराश मकरन्द मालती तथा माधव को सम्बोधित करके अपना गहन शोक अभिव्यक्त करता है (९ : १९, २३)। माधव होश में तो आ जाता है, किन्तु उसकी हालत विक्षिप्त जैसी हो जाती है। अपने मन की ऐसी ही विक्षिप्तता में वह आकाश में उड़ते हुए बादलों से मर्मस्पर्शी शब्दों में अपनी प्रिया को सन्देश भेजने लगता है—मेघ से अपनी प्रिया को आश्वासन देने तथा स्वयं अपनी दुखभरी कहानी कहने का निवेदन करता है (९ : २६)। वह मालती की कान्ति, गति, नम्रता आदि गुणों को वनांचल के विविध उपादानों में बिखरा हुआ पाता है। अपनी विक्षिप्तावस्था के दूसरे चरण में वह जंगल में रहनेवाले प्राणियों—मोर, कोयल, बन्दर, हाथी आदि—से अपनी प्रेयसी के समाचार बताने की प्रार्थना करता है और इन सबको अपनी ओर से विमुख देखकर खिन्नता का अनुभव करता है। अन्त में सब तरफ से निराश हुआ माधव मकरन्द से अपना आलिंगन देने की याचना करता है और, इसके दूसरे ही क्षण, अपनी संज्ञा खो देता है। अपने मित्र की ऐसी हालत देखकर मकरन्द के लिए जीवन भार बन जाता है, संसार में अन्धकार ही अन्धकार दीखने लगता है (९ : ३७)। वह अत्यन्त करुण शब्दों में विलाप करता हुआ अपने मित्र की मृत्यु से पूर्व ही पहाड़ की

चोटी से पाटलावती नामक नदी में कूदकर अपने प्राण-त्याग का निश्चय करता है। किन्तु जैसे ही वह कूदना चाहता है, सौदामिनी वहाँ एकाएक पहुँचकर उसे ऐसा करने से रोकती है तथा उसे मालती की कुशलता एवं अनुराग की सूचक बकुलमाला भी दिखाती है। मकरन्द मालती के जीवन-धारण की सूचना से आश्वस्त हो जाता है और सौदामिनी को लेकर माधव को बचाने चल देता है। माधव उनके पहुँचने के पहले ही चैतन्य-लाभ कर चुका है। वह हाथ जोड़ कर वायुदेव से मालती के अंग-स्पर्श से शीतल कोई वस्तु देने की प्रार्थना करता है (९ : ४४)। इसी समय सौदामिनी उसकी अञ्जलि में बकुलमाला अर्पित कर देती है। माधव पहले तो बकुल-माला की प्राप्ति से प्रसन्न हो जाता है, किन्तु पीछे उसे अपनी छाती से लगाकर मूर्च्छित हो जाता है। मकरन्द उसे समाश्वस्त करता है और मालती का शुभ समाचार लानेवाली सौदामिनी को उसे दिखाता है। इसके बाद कपालकुण्डला के चंगुल में पड़ी हुई मालती की रक्षा सौदामिनी ने किस प्रकार की, इसकी पूरी कहानी सुनाकर सौदामिनी दोनों मित्रों को आश्वस्त कर देती है। अन्त में वह माधव को साथ लेकर अपनी 'आकर्षिणी सिद्धि' (९ : ५३) के द्वारा आकाश में उड़ जाती है। इधर मकरन्द कामन्दकी को यह सारा वृत्तान्त सुनाने के लिए उसकी खोज में प्रस्थान करता है।

दशम अंक

दृश्य १ (स्थान—पद्मावती का निकटवर्ती वनांचल)—कामन्दकी, दमयन्तिका एवं लवंगिका प्रवेश करती हैं। तीनों ही बारी-बारी से मालती के वियोग में अपने प्राणों की दारुण पीड़ा व्यक्त करती हैं और विरहजन्य वेदना को सहने में असमर्थ होकर मधुमती नदी से संलग्न पर्वत के शिरोभाग से कूदकर अपने जीवन का अन्त कर देने के लिए प्रस्तुत होती हैं। इसी समय उनके सामने अन्धकार एवं विद्युत् के सम्पर्क की तरह कोई तेज स्फुरित होता है और इसके लगे बाद मकरन्द प्रविष्ट होकर इस तेज को योगीश्वरी की महिमा बताता है (१० : ८)। इसी समय नेपथ्य से घोषित किया जाता है कि अपनी पुत्री के दारुण वियोग के कारण मन्त्री भूरिवसु अग्नि में प्रवेश करने के लिए सुवर्णबिन्दु नामक महादेव के सामने आ रहे हैं। एक ओर मालती एवं माधव के दर्शनोत्सव तथा दूसरी ओर भूरिवसु के इस दारुण संकल्प के कारण कामन्दकी, मकरन्द आदि स्तब्ध-से हो जाते हैं। इसी समय नेपथ्य से मालती का आर्तनाद सुनायी पड़ता है जो अपने पिता से ऐसा अकार्य न करने के लिए प्रार्थना करती है। इसके पश्चात् मूर्च्छित मालती को लिए हुए माधव का प्रवेश होता है। वह योगिनी (सौदामिनी) के साथ अपने श्रीपर्वत से आने का वृत्तान्त सुनाता है (१० : १४)। कामन्दकी एवं मकरन्द उस अज्ञात एवं अदृश्य योगिनी से पुनः प्रकट होने तथा उन सबकी रक्षा करने का विनीत निवेदन करते हैं। मालती की मूर्च्छा से सभी बेचैन होकर अन्ततः स्वयं भी संज्ञाहीन हो जाते हैं, किन्तु मेघ की अनायास वृष्टि से पुनः चैतन्य को प्राप्त होते हैं। मालती की मूर्च्छा भी भंग हो जाती है। इसी

समय नेपथ्य से सौदामिनी घोषित करती है कि अग्नि-प्रवेश के लिए उद्यत भूरिवसु को उसने अपने शब्दों से रोक लिया, वे अब सुरक्षित हैं (१० : १६)। अपनी इस घोषणा के अन्त में आकाशपथ से बादलों को चीरती हुई सौदामिनी नीचे आती हुई दीखती है जिससे सभी प्रसन्न हो जाते हैं। कामन्दकी अपने चरणों में गिरी हुई मालती को उठाकर अपने बाहु-पाश में बाँध लेती है। मदयन्तिका एवं लवंगिका भी मालती का प्रेमपूर्वक आलिंगन करती हैं। तब तक कामन्दकी की पूर्व शिष्या सौदामिनी भी प्रविष्ट होकर कामन्दकी को अपना प्रणाम निवेदित करती है। माधव एवं मकरन्द को यह जानकर आश्चर्यमिश्रित आनन्द होता है कि उनका कल्याण करनेवाली योगिनी कामन्दकी की ही अन्तेवासी सौदामिनी है। कामन्दकी सौदामिनी के कार्यों की सराहना करती है और उसके वन्दनीय व्यक्तित्व का बखान करती है (१० : २१)। सौदामिनी कामन्दकी को भूरिवसु के समक्ष लिखा गया पद्मावतीश्वर का एक पत्र देती है। माधव के नाम लिखे गये इस पत्र में राजा ने उसके सद्वंश, महत्ता आदि को अभिशंसित करते हुए मालती के साथ उसके परिणय-सम्बन्ध पर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की है तथा माधव की प्रीति के लिए उसके मित्र मकरन्द के निमित्त मदयन्तिका को अर्पित किया है (१० : २३)। उपस्थित सभी इस पत्र को सुनकर आनन्द मना ही रहे हैं कि वहाँ खुशी से झूमते हुए अवलोकिता, बुद्धरक्षिता एवं कलहंस प्रवेश करते हैं। कामन्दकी सुख-पर्यवसायी घटनाओं पर प्रसन्नता व्यक्त करती है। सौदामिनी मालती एवं माधव के इस सम्बन्ध को काफी अरसे से भूरिवसु एवं देवरात के मन में सँजोई हुई कामनाओं की आनन्ददायिनी सम्पूर्ति बताती है। सौदामिनी के इस कथन से मालती, माधव एवं मकरन्द आश्चर्य प्रकट करते हैं, किन्तु कामन्दकी अपने सतीर्थ भूरिवसु एवं देवरात की पुरानी मैत्री एवं प्रतिज्ञा के भेद खोलकर उनके आश्चर्यभाव का शमन करती है। प्रसन्न माधव द्वारा भरतवाक्य के पाठ (१० : २५) के पश्चात् प्रकरण की समाप्ति होती है। सभी प्रस्थान करते हैं।

वृत्तगत तथा भावगत विशेषताएँ

भवभूति की अन्य दो नाट्यकृतियों से पृथक् मालतीमाधव का अध्ययन अपेक्षित है, इस पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं। विधा एवं अन्तस्तत्त्व दोनों ही दृष्टियों से मालतीमाधव भवभूति के शेष नाटकों से पृथक् जा पड़ता है। यह संस्कृत नाटक की उस परम्परा को पुनरुज्जीवित करने का एक ऐतिहासिक प्रयत्न है जो शूद्रक के मृच्छकटिक के बाद म्रियमाण-सी होने लगी थी। इस अर्थ में इस प्रकरण का साहित्यिक महत्त्व भवभूति के दोनों नाटकों से कम नहीं, कुछ अधिक ही कहा जा सकता है। भास और कालिदास के पश्चात् संस्कृत नाटक के क्षेत्र में तो अनेक वरिष्ठ प्रयोग हुए, किन्तु संस्कृत रूपक की दूसरी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विधा **प्रकरण** की जो उर्वर परम्परा मृच्छकटिक से आरम्भ हुई, उस पर भारतीय नाटककारों ने कदाचित् अपेक्षित ध्यान नहीं दिया। प्रकरण के प्रति इस उदासीनता के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी सम्भवतः

तत्कालीन राजसंस्कृति ही कही जा सकती है। 'नाटक', जो इस संस्कृति की कलात्मक अभिव्यक्ति का लोकप्रिय माध्यम बन गया था, स्वभावतः ही राजसभाओं में सर्वदा प्रोत्साहित होता आया। जो कार्य श्रव्यकाव्य के क्षेत्र में 'महाकाव्यों' ने किया, वही दृश्यकाव्य की परिधि में 'नाटकों' ने किया, अर्थात् इन दोनों सर्वाधिक शंसित काव्य-रूपों में **धीरोदात्त राजर्षि**—चाहे तटस्थ दृष्टि से सोचने पर वे कितने ही **सामान्य**, यहाँ तक कि **घृणित** व्यक्ति क्यों न हों—**नायक** के रूप में प्रतिष्ठित किये जाते रहे। उनके या उनके जैसे अन्य अभिजात श्रीमन्तों को छोड़कर समाज के दूसरे वर्गों को अधिकार ही नहीं दिया गया कि वे भी नाटक के नायक हो सकते हैं।[1] इन नाटकों में ऐसे राजनायकों की कार्यकुशलता की सीमा भी बहुधा उनके प्रणयजीवन की दक्षता ही मानी गई। संस्कृत काव्य की इस प्रवृत्ति के लिए प्रायः तत्कालीन दरबारी वातावरण एक बड़ी दूरी तक सहायक रहा—बड़े नाटककारों या कवियों ने अपने आश्रयदाता नरेशों को प्रसन्न करना अपना प्रथम कर्तव्य समझा।[2]

उक्त अभिजातवर्गीय नाट्यपरम्परा की प्रकृति से कुछ भिन्न, अतः कुछ सीमा तक उससे विद्रोह करनेवाली परम्परा **प्रकरण** के रूप में प्रतिफलित हुई। दशरूपकों में यत्र तत्र सामाजिक तत्त्व के रूप में जो कुछ भी प्राप्य था, इस परम्परा ने उसका एकत्र समाहार किया और कालक्रम से मृच्छकटिक जैसी उज्ज्वल नाटकीय विभूति को प्रस्तुत किया। कुछ समालोचकों ने मृच्छकटिक को संस्कृत का एकमात्र **'सामाजिक नाटक'** माना है, हम उनकी इस स्थापना से असहमत हैं। मृच्छकटिक के नाटककार के सामने कोई ऐसी 'सामाजिक' समस्या नहीं जिसे वे अपने पात्रों की भूमिका में महत्त्व देना चाहते हों। वस्तुतः उनके नायक चारुदत्त एवं नायिका वसन्तसेना कोई राजा या रानी न होकर भी श्रीमन्तवर्ग के ही प्रतिनिधि हैं[3], और यह प्रकरण प्रधान रूप से

---

१. तुल० **प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान्।**
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः॥
—सा० द० : ६ : ९।

२. यहाँ हमारा यह अभिप्राय कभी नहीं कि राजसंस्कृति को प्रतिनिधित्व देनेवाले नाटक साहित्यिक या कलात्मक दृष्टि से हीन कोटि के हैं। ऐसा मान लेना हमारा सबसे बड़ा भ्रम होगा, चूँकि भारतीय दृश्यकाव्य के उदात्त को गति एवं वाणी प्रदान करनेवाले ये 'नाटक' ही हैं। हमारा उद्देश्य यहाँ यही दिखाना है कि जिस जीवन को लेकर ये नाटक चलते हैं, उसमें लोक-जीवन की सामान्य प्रक्रियाओं के प्रतिबिम्ब नहीं; उसका अभिजातवर्गीय रंग ही सर्वातिशायी होकर प्रकट हुआ है। हाँ, राम-कथा पर आधृत जो नाटक धार्मिक भाव से लिखे गये, उनकी कोटि कुछ भिन्न है—राम के उदात्त चरित्र के माध्यम से मानव कर्तव्य, धर्म आदि की ही चेतना जगाई गई है; वहाँ न तो अन्तःपुर का रोमानी कोलाहल है, न प्रेम के दरबारी भावों की स्फीति।

३. चारुदत्त की 'दरिद्रता' वस्तुतः उसकी उदारता एवं दानशीलता का ही एक सहज परिणाम है; अतः दरिद्र चारुदत्त को समाज के उस दरिद्र वर्ग का प्रतिनिधि कदापि नहीं माना जा सकता जो सामाजिक अन्यायों का शिकार होता है।

उन्हीं के 'रोमांस' की कहानी है। अतः जहाँ तक नायक या नायिका का प्रश्न है, इस प्रकरण तथा किसी नाटक के वातावरण में अधिक अन्तर नहीं माना जा सकता। हाँ, इस प्रकरण की सामाजिक विशिष्टता इसी बात में है कि उसने मैत्रेय, शर्विलक, संवाहक, दर्दुरक, माथुर आदि जैसे जीवन्त पात्रों को संस्कृत मंच पर लाने का साहस किया। ये पात्र निश्चित रूप से समाज के सामान्य या निम्न वर्ग के प्रतिनिधि माने जा सकते हैं। मृच्छकटिक जैसे प्रकरण की सामाजिकता इसी सीमा में है कि वह अपने रोमांटिक वृत्त-प्रवाह के अन्तराल में बड़ी गति एवं स्वाभाविकता के साथ कुछ ऐसे प्राणियों को भी चलते-फिरते दिखाता है जो सर्वदा संस्कृत 'नाटक' की उपेक्षा के पात्र बने रहे। अतः मोटे तौर पर 'नाटक' की प्रकृति से अपने प्रकरण की संगति बनाये रखकर भी शूद्रक ने तत्कालीन भारतीय समाज के निम्नवर्गीय लोगों को भी उसमें प्रतिष्ठित किया अथवा उन्हें प्राणवन्त भूमिका प्रदान की। उस समय के लिए यही बहुत बड़े साहस तथा कलात्मक दूरदर्शिता की बात थी; अतः, इस अर्थ में, शूद्रक निर्भ्रान्त रूप से संस्कृत दृश्यकाव्य के एक नवोन्मेष के प्रवर्तक माने जा सकते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकरण के आविर्भाव की पार्श्वभूमि में कुछ ऐसे ही सामाजिक तत्त्वों को मंचीय रूप प्रदान करने की प्रवृत्ति थी। कहना न होगा कि इस प्रवृत्ति को कदाचित् पहली और अन्तिम बार सम्यक् अभिव्यक्ति शूद्रक में ही मिल पाई। कई कारणों से संस्कृत नाटककार शूद्रक द्वारा प्रवर्तित, नाटकीय रूढ़ियोंसे अपेक्षाकृत मुक्त तथा समाजोन्मुख नाट्यपरम्परा को आगे नहीं ले जा सके। इसके हेतु की व्याख्या में डा० कीथ का यह कहना है कि परवर्ती नाटककारों को उस बड़ी कठिनाई की प्रतीति हो गई थी कि वे मृच्छकटिक की अनुकृति करके असफल ही होंगे; कारण, उस उत्तम कृति के समानान्तर वैसी कोई दूसरी चीज वे दे नहीं पायेंगे।[१] सम्भव है, डा० कीथ का अनुमान ठीक हो, किन्तु हमें तो उनके इस अनुमान में शंका मालूम होती है। कालिदास के अभिज्ञानशकुन्तल तथा भवभूति के उत्तररामचरित जैसे नाटकरत्नों की अनुकृति भी उक्त अनुकृति से कुछ कम कठिन नहीं मानी जा सकती। फिर भी परवर्ती नाटककारों ने इसके डर से 'नाटक' लिखना कभी नहीं छोड़ा— भवभूति के अनुकरण में तो आगे कई नाटक लिखे गये, भले ही वे ओछे ही सिद्ध हुए। अतः शूद्रक के अनुकरण नहीं होने के पीछे भावी नाटककारों की किसी वैसी कठिनाई का बोध नहीं होता जिसकी कल्पना डा० कीथ ने की है। अधिक स्पष्ट कारण तो यही प्रतीत होता है कि मृच्छकटिक का किंचित् विद्रोही स्वर तत्कालीन राजसंस्कृति के अनुकूल नहीं पड़ा; फलतः यदि राजसभाओं में उसकी उपेक्षा हुई हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। इस उपेक्षा का एक रूप तो हमें संस्कृत नाटक के लक्षणग्रन्थों में मिलता है जहाँ लक्षणकारों ने जहाँ दूसरे नाटकों या प्रकरणों से भरपूर उद्धरण दिये हैं, वहाँ इस क्रान्तिकारी प्रकरण के प्रति आश्चर्यजनक उदासीनता बरती है। कारण चाहे जो भी

---

१. सं० ड्रा०, पृ० २५७।

रहा हो, किन्तु इतना तय है कि मृच्छकटिक की लीक पर आगे कोई भी प्रकरण नहीं लिखा जा सका।

शूद्रक और भवभूति के बीच कितने काल का व्यवधान है, इसका निश्चय करना अत्यन्त कठिन है; किन्तु यदि यह सत्य है कि शूद्रक कालिदास से भी पूर्व हुए, तो निश्चय ही उनके तथा भवभूति के बीच एक बहुत लम्बे काल-खण्ड की स्थिति माननी होगी। इस बीच दूसरे प्रकरण नहीं लिखे गये होंगे, ऐसा सोचना ही गलत है। डा० वी० राघवन ने अपने एक पाण्डित्यपूर्ण शोध-निबन्ध में लक्षणग्रन्थों में आये हुए उद्धरणों आदि के आधार पर शूद्रक के परवर्ती युगों में भवभूति के अतिरिक्त **विशाख-दत्त, ब्रह्मयशस्विन्** आदि कई समर्थ प्रकरणकारों तथा उनकी कृतियों का उल्लेख किया है जो दुर्भाग्यवश कालकवलित हो चुके हैं।[1] किन्तु इस निबन्ध से कई अन्य प्रकरणों का पता भले मिले, इतना स्पष्ट है कि शूद्रक के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रकरणकार के रूप में भवभूति का ही नाम आता है। जिस प्रकार शूद्रक ने प्रकरण को अपनी विशिष्ट नाटकीय अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया, उसी प्रकार भवभूति ने भी अपनी युगीन परिस्थितियों के अनुकूल उसे ढालने में एक नई कलात्मक चेतना से काम लिया। शूद्रक ने नाटक और प्रकरण के बीच जो व्यवधान बना दिया था, विविध नाट्य-तत्त्वों को समन्वित करनेवाली तथा मध्य मार्ग का अवलम्बन लेनेवाली भवभूति की कला-बुद्धि ने मालतीमाधव की सृष्टि करके उसे बहुत कुछ पाट दिया। फल यह हुआ कि इस प्रकरण को प्रायः वही सम्मान प्राप्त हुआ जो अब तक नाटकों को ही मिलता रहा था। भवभूति के बाद कितने प्रकरण लिखे गये, यह स्पष्ट नहीं है; किन्तु नमूने के तौर पर उपलब्ध कुछ प्रकरणों में मालतीमाधव की स्पष्ट अनुकृति पाई जाती है।[2] भवभूति के लिए सचमुच गौरव की बात है कि वे अपने पीछे नाटक एवं प्रकरण दोनों ही क्षेत्रों में अपने बहुत सारे अनुकर्ताओं को छोड़ गये हैं।

मालतीमाधव एक प्रकरण है और भारतीय नाट्यशास्त्र प्रकरण के वृत्त को **उत्पाद्य** अर्थात् कवि-कल्पना-प्रसूत मानता है।[3] प्राकरणिक वृत्त की दूसरी मुख्य विशेषता है उसका **लोकसंश्रय** अथवा **लौकिक** होना। आचार्य धनिक ने अपनी वृत्ति में 'लोक-

१. दे० 'द सोसल प्ले इन संस्कृत' : वी० राघवन (दि इण्डियन इन्स्टीच्यूट ऑव कल्चर, बासवन-गुडी, बंगलोर)।

२. सत्रहवीं सदी के मध्य में कालीकट के उद्दण्डिन या उद्दण्डनाथ ने 'मल्लिकामारुत' प्रकरण लिखा। इसमें मालतीमाधव के ही भावों को यथावत् ग्रहण करने की चेष्टा की गई है (दे० सं० ड्रा०, पृ० २५७)।

३. **(क) यत्र कविरात्मबुद्ध्या वस्तु शरीरञ्च नाटकञ्चैव।**
औत्पत्तिकं प्रकुरुते प्रकरणमेतद् बुधैर्ज्ञेयम्॥—ना० शा० : २० : ४९।
(ख) अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम्। —द० रू० : ३ : ३९
(ग) भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्॥ —सा० द० : ६ : २२४।

संश्रय' का अर्थ अनुदात्त लगाया है।[१] अर्थात् नाटक की उदात्त या असामान्य वस्तु से भिन्न प्रकरण की वस्तु लोक के चलते-फिरते सामान्य जीवन के चित्र प्रस्तुत करती है। किन्तु इस सामान्य लौकिक जीवन की भी एक शास्त्रीय मर्यादा निश्चित कर दी गई है। प्रकरण में धीरप्रशान्त[२] कोटि के विप्र, अमात्य, अथवा वणिक् नायक[३] अमर्यादित एवं उच्छृंखल लोक-जीवन का निषेध करते हैं। हाँ, लोक-संश्रित वस्तु के वैशिष्ट्य के रूप में गतिशील लोकजीवन के कुछ रूढि-मुक्त सामाजिक चित्रों का भी कलात्मक अंकन होता है, किन्तु यह विशेषता प्राप्य प्रकरणों में केवल मृच्छकटिक की ही है। प्रकरण की विषयवस्तु को 'उत्पाद्य' मानने का यह अर्थ नहीं कि उसमें कथा, इतिहास आदि की वस्तुओं का अन्तर्भाव होता ही नहीं। यदि इस दृष्टि से सोचें तो मृच्छकटिक एवं मालतीमाधव दोनों में से किसी को प्रकरण की संज्ञा नहीं दी जा सकती। मृच्छकटिक में जिस गोपाल एवं पालक की चर्चा आई है, वे लगभग ५०० ई० पू० के ऐतिहासिक पुरुष माने गये हैं;[४] चारुदत्त एवं वसन्तसेना के प्रणय-जीवन पर भी बृहत्कथा में निबद्ध कुमुदिका एवं रूपणिका की कहानी की छाया लक्षित होती है।[५] मालतीमाधव की कथावस्तु के परीक्षण से भी स्पष्ट होगा कि इसकी कहानी के रचना-विधान पर बृहत्कथा की किंचित् कथाओं की स्पष्ट तस्वीर दिखाई देती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि (१) प्रकरण की 'आधिकारिक' वस्तु रामायण, महाभारत आदि की प्रसिद्ध या ऐतिहासिक कथाओं को उपजीव्य नहीं बना सकती, (२) वह बृहत्कथा जैसी कथापुस्तकों से अपने विषय ग्रहण करने में स्वतन्त्र है, चूँकि ऐसी पुस्तकों की कहानियाँ कल्पित होने से इतिहास या प्रसिद्ध की कोटि में नहीं आतीं और (३) उसके वस्तु-कल्पन में प्रधान रूप से कवि की निजी कल्पना का चमत्कार होता है। नाट्यदर्पणकार ने प्रकरण की निरुक्ति देते हुए इसी सत्य को इन शब्दों में व्यंजित किया है—**'प्रकर्षेण क्रियते कल्प्यते नेता फलं वस्तु वा समस्तव्यस्ततयाऽत्रेति प्रकरणम्।'**[६] अतः नेता, फल या वस्तु के इस प्रकृष्ट रूप से किये गये कल्पन का अभिप्राय यही है कि प्रकरण की मूल प्रकृति का वैशिष्ट्य उसका प्रकल्पित स्वरूप ही है, भले ही उसमें प्राचीन कथाओं की किंचित् छाया दिखाई दे। अर्थात् जिस अनुपात में नाटकों की प्रख्यात वस्तु उत्पाद्य को ग्रहण करती रही है, उसी अनुपात में प्रकरण की उत्पाद्य या कल्पित वस्तु में भी प्रख्यात का अन्तर्भाव होता आया है—इसे कहीं भी 'अशास्त्रीय' अथवा नाटकीय मर्यादा का अतिक्रमण नहीं माना गया।

---

१. द० रू० : ३ : ३९ (वृत्ति)।

२. नाट्यदर्पणकार प्रकरण में नायक के रूप में निबद्ध सेनापति एवं अमात्य को **'धीरोदात्त'** तथा विप्र एवं वणिक् को **'धीरप्रशांत'** की कोटि प्रदान करते हैं (दे० ना० द०, पृ० २०३-२०४)।

३. **शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्।** —सा० द० : ६ : २२५।

४. दे० मृच्छ०, प्राक्कथन, पृ० १२।

५. वही, पृ० ११।

६. ना० द० : २ : २ (वृत्ति)।

प्रकरण की दूसरी मुख्य विशेषता है उसका **'क्लेशाढ्य'** या क्लेश-प्रधान होना ।[१] यों नाटकों की उदात्त भावभूमि भी क्लेशों से सर्वथा रिक्त नहीं होती, किन्तु वहाँ के क्लेश प्रायः सहज या सरल होते हैं, सुखों की संगति में चलते हैं। दूसरे शब्दों में, यदि नाटकों में आनन्दभाव की प्रधानता होती है तो प्रकरणों में दुखभाव की । प्रकरण के सुख-भाव पर उसका दुख-भाव ही हावी होता हुआ दीखता है । चारुदत्त और माधव, अथवा वसन्तसेना और मालती के प्रणय-जीवन में जो आद्यन्त विघ्नों की उद्दाम शृंखला दिखाई देती है, वह इसी क्लेश की व्यंजक है ।

ऊपर प्रकरण की वस्तु-प्रकृति का जो संक्षिप्त निरूपण किया गया, उससे हमें नाटक एवं प्रकरण के वस्तुगत आधार-तत्त्वों का सामान्य परिचय उपलब्ध हुआ । निश्चय ही प्रकरण नाटकीय उदात्त की रूढ़िबद्धता से मुक्त होकर हमारे सामने अन्तःपुर के रोमांस से दूर पड़े हुए लोक-जीवन के कुछ वैसे चित्र प्रस्तुत करता है जहाँ भारतीय जीवन का अकृत्रिम स्पन्दन सुनाई देता है । इस मानी में प्रकरण के पात्र आधुनिक पाठकों या प्रेक्षकों के अधिक निकट पड़ते हैं; अपनी शास्त्रीय मर्यादा की रक्षा करते हुए भी वे लोकजीवन की विश्वसनीय गरिमा से विभूषित हैं । ऐसे पात्र भले ही वास्तविक अर्थ में 'सामाजिक' नहीं कहे जा सकते, फिर भी वे सामाजिक भावों के निषेध भी नहीं माने जा सकते । दुष्यन्त एवं माधव दोनों ही अपने-अपने ढंग से क्रमशः शकुन्तला एवं मालती से प्रणय-निवेदन करते हैं, किन्तु एक की प्रार्थना में यदि मुख्य रूप से तत्कालीन भारतीय समाज के उच्चतम वर्ग का दिखावापन, कपट एवं व्यभिचार लक्षित होता है, तो दूसरे की प्रार्थना में सामान्य लोक-जीवन की सचाई, निश्छलता एवं उदारता जैसे भावों की सहज व्यञ्जना होती है । माधव के रोमांटिक जीवन की यह बहुविध सहजता ही है जो उसे हमारे मन के निकटतर लाती है ।

मालतीमाधव के भाव एवं शिल्प के परीक्षण से पूर्व हम उसके वृत्तात्मक स्वरूप पर भी किंचित् विचार कर लेना चाहेंगे । भवभूति ने इस प्रकरण की प्रस्तावना में अपने **अपूर्ववस्तुप्रयोग'**[२] की बात कही है । कामन्दकी के मुख से एक जगह और भी उनका निजी उद्गार यों व्यक्त हुआ है—**अस्ति वा कुतश्चिदेवंभूतमद्भुतं विचित्ररमणीयोज्ज्वलं प्रकरणम्** ।[३] यहाँ इस दूसरे वाक्य में कवि प्रत्यक्षतः 'प्रकरण' शब्द से घटना या कार्य-व्यापार का अर्थ-बोध तो कराता ही है, शास्त्रीय अर्थ में भी वह अपने प्रकरण की विशेषताओं को व्यञ्जित कराता है । अतः उसकी अपनी शब्दावली में प्रस्तुत प्रकरण की वस्तु के लिए जो विशेषण दिये गये हैं, वे हैं—**अपूर्व, अद्भुत, विचित्र, रमणीय एवं उज्ज्वल** । जहाँ तक 'अपूर्वता' का प्रश्न है, यह सापेक्ष पद है । मालतीमाधव की कथावस्तु में सर्वथा नवीनता है, ऐसा नहीं माना जा सकता । वस्तुतः इसकी आधिका-

---

१. **दासश्रेष्ठिविटैर्युक्तं क्लेशाढ्यं तच्च सप्तधा ।** —ना० द० : २ : २ ।

२. मा० मा०, पृ० ५ ।

३. वही, पृ० २४३ ।

रिक एवं प्रासंगिक दोनों ही प्रेमकथाओं के सुस्पष्ट बीज गुणाढ्य की बृहत्कथा में प्राप्य हैं। बृहत्कथा का मूल रूप तो कालकवलित हो चुका है, किन्तु उसकी कथाओं के जो सार-संग्रह क्षेमेन्द्र एवं सोमदेव ने क्रमशः अपनी बृहत्कथामंजरी तथा कथासरित्सागर में किये हैं, उनमें मालतीमाधव की कथावस्तु के कई सूत्र परिलक्षित होते हैं। कथासरित्सागर एवं बृहत्कथामंजरी की दो कहानियाँ ऐसी हैं जो मालतीमाधव की कथावस्तु को बड़ी दूरी तक प्रभावित करती हुई प्रतीत होती हैं।[1] इनमें पहली कहानी शोभावती नगरी के यशस्कर नामक ब्राह्मण के पुत्र तथा विजयसेन नामक क्षत्रिय युवक की बहन मदिरावती के परस्पर अनुराग को आधार बनाकर चलती है। यह कहानी माधव एवं मालती की प्रेमकथा का स्पष्ट आधार मानी जा सकती है। यशस्कर के पुत्र का विशाला नगरी में एक आचार्य के घर अध्ययन करना, उसके प्रेम में दीवानी मदिरावती का अपने प्रणय के प्रथम प्रतीक के रूप में अपनी धात्री के द्वारा अपने प्रेमी को मालती-पुष्पों की माला अर्पित करना[2], मदिरावती के पिता का एक दूसरे क्षत्रिय युवक के साथ अपनी पुत्री के विवाह के लिए प्रतिश्रुत होना, निराश प्रेमी का आत्महत्या के लिए तत्पर होना, विवाह से पूर्व मदिरावती का कामदेव के मन्दिर में आना, मन्दिर की मूर्ति के पीछे छिपे हुए प्रेमी का आत्महत्या करने को उद्यत मदिरावती के सामने एकाएक प्रकट होना[3] और उसे लेकर मन्दिर के पिछले दरवाजे से निकल भागना, प्रेमी के मित्र का मदिरावती के ही वैवाहिक परिधान पहनकर सन्ध्या के झुटपुटे में मदिरावती के घर पहुँचना और वहाँ अकस्मात् मदिरावती को विदाई देने आई हुई उसकी एक ऐसी सखी से उसका साक्षात्कार होना जिसे उसने कुछ ही समय पूर्व शंखपुर नामक नगर में एक हाथी के आक्रमण से बचाया था और इसी क्रम में दोनों का एक दूसरे के प्रति प्रेम हो चला था, एक दूसरे से परिचित होकर इन दोनों का भी गुप्त द्वार से नगर से कुछ ही दूरी पर अवस्थित जंगल में भाग जाना और किसी अग्रहार या मठ में विवाहित हो जाना[4]—यशस्कर-पुत्र तथा उसके मित्र की कहानी की ये सारी रेखाएँ माधव एवं मकरन्द तथा मालती एवं मदयन्तिका के प्रेमजीवन की कितनी निकटता में खड़ी हैं, इसे समझना कठिन नहीं है।

कथासरित्सागर की एक दूसरी कहानी मालतीमाधव के पंचम अंक की आधारभूमि मानी जा सकती है। यह कहानी विदूषक नामक एक ऐसे साहसी ब्राह्मण युवक के

---

१. दे० (क) कथा० : ३ : ४ : १०५–२०३; १३ : १ : १७–२१४।
(ख) बृ० मं० : ३ : १९४–२३०; ११ : ९–८०।

२. इत्युक्त्वा सार्पिता मह्यं माला चतुरया तया।
सपञ्चफलकर्पूरैर्नागवल्लीदलैर्युता॥
प्रियास्वहस्तरचितां कण्ठे कृत्वा च तामहम्।
सुखं किमपि संप्रापं तत्तदालिङ्गनाधिकम्॥ —कथा : १३ : १ : ४६, ४७।

३. वही : १३ : १ : १२८–१४२।

४. वही : १३ : १ : १६७, १९३–२००, २१४।

जीवन से सम्बन्ध रखती है जो शक्ति-परीक्षा के लिए आधी रात के समय अकेले श्मशान में जाता है।[1] वहाँ कात्यायनी के मन्दिर में जब वह एक दिव्यशक्ति-सम्पन्न प्रव्राजक (कापालिक) द्वारा राजा आदित्यसेन की राजकुमारी को बलि चढ़ते हुए देखता है तो झपटकर कापालिक को अपनी तलवार का शिकार बनाता है।[2] देवी की कृपा से वह एक जीवित शव पर राजकुमारी के साथ चढ़ जाता है और कुछ ही क्षणों में अपने को राजकुमारी के अन्तःपुर में पाता है। राजा को जब विदूषक की वीरता की बात मालूम होती है, वह प्रसन्न होकर दोनों को वैवाहिक सम्बन्ध में आबद्ध कर देता है।[3]

अपनी इष्ट-सिद्धि के लिए पिशाचों के बीच महामांस बेचने का प्रसंग भी कथा-सरित्सागर में आया है।[4] इस प्रकार मालतीमाधव की कथावस्तु के तीन विशिष्ट तत्त्वों—प्रेमियों का देवालय में मिलन, उनका छद्मवेष में विवाहित होना तथा बलिरूप में प्रदान

---

१. (क) इत्येवाख्याप्य समयं प्राप्तायां रजनौ च तान्।
आमन्त्र्य विप्रान्प्रययौ श्मशानं स विदूषकः॥
प्रविवेश च तद्वीरो निजं कर्मेव भीषणम्।
चिन्तितोपस्थिताऽनेयकृपाणैकपरिग्रहः॥
डाकिनीनादसंवृद्धगृध्रवायसवाशिते।
उल्कामुखमुखोल्काग्निविस्फारितचितानले॥—वही : ३ : ४ : १४५–४७।

(ख) बृ० मं० में श्मशान का वर्णन और भी आकर्षक एवं लोमहर्षक है (दे० बृ० मं० ३ : १ : २०९–१४)।

२. हा तात हाम्बेति च तां क्रन्दन्तीं कन्यकां वहन्।
तत्रैव देवीभवने सोऽन्तरिक्षादवातरत्॥
तत्र यावन्निहन्तुं तां राजपुत्रीमियेष सः।
तावदाकृष्टखड्गोऽत्र प्रविवेश विदूषकः॥
आः पाप मालतीपुष्पमश्मना हन्तुमीहसे।
यदस्यामाकृतौ शस्त्रं व्यापारयितुमिच्छसि॥
इत्युक्त्वाकृष्य केशेषु शिरस्तस्य विवेल्लतः।
प्रव्राजकस्य चिच्छेद खड्गेन स विदूषकः॥ —वही : ३ : ४ : १७०, १७२–७४।

३. वही : ३ : ४ : २०२, २०३।

४. तुल० (क) अपश्यन्पूर्वदृष्टां तां स्त्रियं तन्नूपुरास्तये।
उपायमेकं बुबुधे स महामांसविक्रयम्॥
तरुपाशाद्गृहीत्वाथ शवं बभ्राम तत्र सः।
विक्रीणानो महामांसं गृह्यतामिति घोषयन्॥
—वही : ५ : २ : १८२–३।

(ख) स कूपादुद्गतोऽपश्यंस्तर्थप्राप्तिमन्यथा।
पणायितुं महामांसं श्मशानं प्राविशन्निशि॥
तत्कालं तिष्ठता तत्र स दृष्टः कितवो मया।
गृह्णातु कश्चिद्विक्रीणे महामांसमिति ब्रुवन्॥
—वही : १८ : २ : ५३, ५४।

की जानेवाली प्रेमिका का उद्धार—के अतिरिक्त भी जंगली पशु के हिंसक आक्रमण से प्रेमिका की प्राण-रक्षा[१], श्मशान में भूत-प्रेतों को महामांस चढ़ाना तथा उनसे साहाय्य की याचना करना, नायिका का अपहरण तथा उसकी पुनः प्राप्ति आदि संस्कृत कथा-साहित्य के लिए अजाने नहीं हैं। इसी प्रकार दो प्रेमियों के सन्देशों को एक दूसरे के पास पहुँचाने तथा उनकी मिलन-आकांक्षा को तुष्ट करने में बौद्ध संन्यासिनियों का प्रयोग भवभूति के बहुत पहले से ही संस्कृत कथासाहित्य में होता रहा था।

कथासरित्सागर एवं बृहत्कथामंजरी में आये हुए उक्त कथानकों, कथाखण्डों अथवा संवादांशों के पर्य्यालोचन से स्पष्ट है कि मालतीमाधव की वस्तु-रचना में उनका किसी न किसी सन्दर्भ में उपयोग किया गया है। यशस्कर का युवा पुत्र यहाँ माधव हो जाता है, मदिरावती माधवी हो जाती है; निषध देश के निवासी शीलश्रुत नामक ब्राह्मण का पुत्र, जो मदिरावती का वेश धारण करके स्वयं वधू बनकर मदिरावती तथा उसके प्रणयी को कामदेव के मन्दिर से भगाने में सहायक होता है,[२] मकरन्द की भूमिका में तथा उसके द्वारा शंखह्रद के निकट पागल हाथी के आक्रमण से बचाई गई तरुणी[३] मदयन्तिका की भूमिका में आती है।

अपने कतिपय पात्रों के नाम के चुनाव में भी भवभूति बृहत्कथा से प्रभावित प्रतीत होते हैं। मदिरावती एवं मदयन्तिका में जो ध्वनि-साम्य एवं अर्थ-साम्य है, वह स्पष्ट ही है। कथासरित्सागर की जिन दो प्रेम-कहानियों को मालतीमाधव की कथावस्तु का आधार बताया गया है, उन दोनों में यद्यपि मालती नाम की कोई पात्री नहीं आती, फिर भी

१. मालतीमाधव के तृतीय अंक में माधव का मित्र मकरन्द हिंस्र व्याघ्र के घातक आक्रमण से अपनी प्रियतमा मदयन्तिका के प्राणों की रक्षा करता है। इसके पहले संस्कृत की कथा-परम्परा में, ऐसी स्थितियों में, कई जगह हाथी के आक्रमण के चित्र उपलब्ध होते हैं। कथासरित्सागर एवं बृहत्कथामंजरी में निबद्ध एक ऐसे आक्रमण की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं। स्वयं भास ने भी अपने अविमारक तथा चारुदत्त नामक नाटकों में हाथी के आक्रमण की ही योजना की है (दे०, भास०, पृ० १११–११४ तथा २२०–२२३)।

२. **दिनक्षयाप्रकाशेऽस्मिन्काले निर्गत्य याम्यहम्।**
वेषेण मदिरावत्या एतत्परिजनैः सह॥
आवयोरुत्तरीयाभ्यां संवीतां त्वमिमां वधूम्।
आदायागच्छ निर्गत्य द्वितीयद्वारवर्त्मना॥
याहि देशान्तरं रात्रौ यथाकाममलक्षितः।
मच्चिन्तां मा कृथा दैवं शिवं मम विधास्यति॥—कथा० : १३ : १ : १४४–४६।

३. एवं यावत्स्थितावावामन्योन्यालोकिनौ क्षणम्।
तावत्तत्रोदभूत्त्रस्यज्जनहाहारवो महान्॥
आगाद्वन्येभगन्धान्धो धावन्दलितशृङ्खलः।
मत्तहस्ती धुतारोहकर्णान्तलुलिताङ्कुशः॥
तं दृष्टवैव प्रधाव्याहं वित्रस्तां विद्रुतानुगाम्।
जनमध्यमनैषं तामुत्सङ्गारोपितां प्रियाम्॥—वही : १३ : १ : १००–१०२।

पुष्प के रूप में 'मालती' का उल्लेख दोनों ही कथाओं में प्राप्य है। विदूषक की कथा में राजा आदित्यसेन की पुत्री की उपमा मालतीपुष्प से दी गई है और यशस्कर-पुत्र की कथा में नायिका मदिरावती अपने प्रणयी को मालतीपुष्प की माला अर्पित करती हुई दिखाई गई है।[१] मालती-पुष्प का इन दोनों ही कथा-प्रसंगों में अपना महत्त्व है, अतः कोई आश्चर्य नहीं यदि मालतीमाधव की नायिका के नामकरण के पीछे उसी की प्रेरणा रही हो। सोमदेव ग्यारहवीं शताब्दी में अवतीर्ण होने के कारण[२] भवभूति से पीछे अवश्य हुए, किन्तु बृहत्कथामें प्रयुक्त 'मालती' को ही उन्होंने अपने कथासरित्सागर में अपना लिया है, इसी की सम्भावना अधिक है।[३]

किन्तु कथासरित्सागर के इन प्रेमियों के सामने न तो कोई पारिवारिक आदर्श है, न ही वैवाहिक, न आत्मिक। वे सब के सब केवल दैहिक आकर्षण की आग में तपते हैं और इसी प्रक्रिया में अपने घरों से चोरी-छिपे भागकर समाज के सामने अपने प्रेम का घृणित उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। भवभूति की कल्पना का पहला चमत्कार इस कथा के मनोविज्ञान को पूर्णतः बदल देने में है, कथा के असंस्कृत शरीर में हृदय एवं आत्मा के प्राण-तन्तु दौड़ा देने में है। अपने इस परिष्कृत रूप में मालती एवं माधव के आदर्शोन्मुख यथार्थवादी चरित्र की कोई भी संगति वासना के गर्त में गिरी हुई मदयन्तिका एवं उसके प्रणयी के जीवन में नहीं खोजी जा सकती। भवभूति के निर्माण की दूसरी चमत्कृति है उक्त बिखरे हुए लक्ष्यहीन कथानक को सोद्देश्य बनाना तथा उसके निर्बल तन्तुओं को जोड़कर उनसे कलात्मक समन्वय एवं शक्ति के आदर्श प्रस्तुत करना। माधव के चरित्र में न केवल मदिरावती के प्रेमी ब्राह्मण युवक के रोमांस तथा विदूषक के वीरोचित कृत्यों का समाहार हुआ है, प्रत्युत यह समाहार सोद्देश्य, प्रखर, एकान्वित एवं कलात्मक सर्जना बनकर प्रकट होता है। दूसरे चरित्रों के सम्बन्ध में भी यही सत्य लागू होता है। भवभूति की कृति की तीसरी विशेषता है अपने पात्रों के चरित्र-विकास के लिए सम्यक् पृष्ठभूमि का निर्माण तथा अपने चरितनायकों के जीवन में उपयुक्त संवेग एवं नाटकीय अर्थवत्ता प्रदान करना। इसकी उदाहृति में कथा-सरित्सागर एवं मालतीमाधव के एक ही प्रसंग का तुलनात्मक परीक्षण अलम् होगा। शंखह्रद के निकट पागल हाथी के आक्रमण से एक अज्ञात तरुणी के प्राणों की रक्षा करनेवाला ब्राह्मण युवक अपनी भूमिका में सभी तरह से एकाकी दीखता है। न तो

---

१. (क) आः पाप मालतीपुष्पमश्मना हन्तुमीहसे।
यदस्यामाकृतौ शस्त्रं व्यापारयितुमिच्छसि॥
(ख) भर्तृदारिकयास्माकमुद्याने भर्तृदारक।
विवृद्धिं मदिरावत्या नीता या मालतीलता॥
—वही : ३ : ४ : १७३; १३ : १ : ४२।

२. कृ० हि० लि०, पृ० ४१९

३. तुल०—यथा मूलं तथैवेतन्न मनागप्यतिक्रमः।
ग्रन्थविस्तरसंक्षेपमात्रं भाषा च भिद्यते॥—कथा० : १ : १ : १०।

मदिरावती वहाँ वर्तमान है, नहीं उसका प्रेमी, न इन दोनों के दूसरे मित्र या परिजन। किन्तु मकरन्द जब व्याघ्र के आक्रमण से मदयन्तिका को बचा लेता है, तो अपनी इस वीरता से वह एक ही साथ कई अर्थों की सिद्धि करता है—अपने प्रति मदयन्तिका की अनुरक्ति का सर्जन, माधव के प्रति मालती के प्रेमभाव का पल्लवन, अपने सुख-दुख का उक्त सभी पात्रों के सुख-दुख के साथ एकान्वयन आदि।[1] जहाँ तक नाटकीय संवेग एवं कलात्मक चातुरी की बात है, मालतीमाधव के षष्ठ अंक में निबद्ध देवीमन्दिर का प्रसंग परीक्षणीय है। इस प्रसंग का कथासरित्सागर की उक्त कहानी में आये हुए कामदेव के मन्दिर के साथ काफी साम्य है। किन्तु भवभूति ने लवंगिका के चरणों पर गिरी हुई मालती के द्वारा जिस कलात्मकता एवं कौशल के साथ माधव का हो आलिंगन कराकर उसके गले में बकुलमाला अर्पित करा दी है,[2] वह नाटकीय चातुरी का उत्कृष्ट निदर्शन है। मालती के मन-प्राणों पर अपने अज्ञान में घटित हुई इस बात की जो प्रतिक्रिया दिखाई गई है, वह नाटकीय संवेग से पूर्ण है। इसकी तुलना में कथासरित्सागर में कामदेव का मन्दिर प्रेमियों के परस्पर मिलन का एक साधारण-सा चित्र ही प्रस्तुत कर सका है।

जिस प्रकार रामायण एवं महाभारत संस्कृत नाटकों एवं महाकाव्यों की प्रख्यात वस्तुओं के लिए अक्षय स्रोत रहे हैं, उसी प्रकार बृहत्कथा की रोचक कहानियाँ संस्कृत के 'कथा-साहित्य' एवं प्रकरणों के उत्पाद्य वृत्तों के लिए जीवन्त आधार बनी हैं। बृहत्कथा के ऐसे अनमोल कथारत्नों की ही महिमा है कि हम कादम्बरी जैसी प्रौढ़ एवं अप्रतिम गद्यकृति तथा मालतीमाधव जैसा कलात्मक एवं महान् प्रकरण पा सके। मालतीमाधव के वस्तु-तत्त्व में चाहे संस्कृत कथा-साहित्य की परम्परासम्मत रेखाओं का जितना बाहुल्य दिखाई दे, इन रेखाओं में अपनी उदात्त कल्पना के मोहक रंग भरकर उन्हें संजीवित चित्र बना देना भवभूति का ही कार्य है। भवभूति ने परम्परा से चले आते हुए कथा-प्रसंगों को एक सच्चे कलाकार की दृष्टि से ग्रहण किया है। अलग-अलग बिखरी हुई कहानियों को एकान्विति प्रदान करके, उनका उचित परिमार्जन एवं नवीकरण कर लेने के बाद, उन्हें नाटकीय प्रभावान्विति के लिए साभिप्राय बनाया है। उनका महत्त्व जितना कहानी कहने में नहीं, उतना उसे उपस्थित करने में है; जितना कहानी के वैचित्र्य-भाव की निष्पत्ति कराने में नहीं, उतना उसे आस्वादनीय बनाने में है। अतः कवि की इस कथासृष्टि में उसकी अतलस्पर्शी काव्यदृष्टि एवं रमणीय कल्पना का अपूर्व समन्वय दीखता है। वस्तु की यही नवीनता या उत्पाद्यता है जो मालतीमाधव के प्रकरणत्व की सिद्धि करने में सहायक हुई है। बृहत्कथा आदि की तुलना में मालती-माधव का नाटकीय वृत्त कवि की भावात्मक एवं संघटनात्मक कल्पना द्वारा एक अभिनव परिवेश में खड़ा किया गया है, इसीलिए वह भवभूति का बिल्कुल 'अपना' हो गया है। संस्कृत नाटक भाव के आगे वस्तु को सर्वदा गौण स्थान देता आया है।

---

१. मा० मा०, पृ० ८९–९७।

२. वही, पृ० १५२–५५।

वह भाव के समंजन में वस्तु को ढालता है, न कि वस्तु की संगति में भाव को। मालतीमाधव का कथ्य ही रमणीयता, उदारता, वैचित्र्य आदि गुणों से पूरित है, अतः उसकी कथा में भी ये सारे गुण स्वयमेव आ गये हैं। कथ्य की यह नवीनता एवं कौमार्य वस्तु को भी नवीन बना देता है। संस्कृत नाटककारों की इस भाव-शक्ति का ही परिणाम है कि एक ही राम-कथा पर आधृत कितने नाटक लिखे गये, इन सबका अपना-अपना नया रंग एवं नया ढंग था। राम की लोक-विदित कहानी पर ही खड़े किये गये उत्तररामचरित जैसे नाटकों की मौलिकता पर कौन अविश्वास कर सकता है! अतः मालतीमाधव के कथासूत्र कहाँ-कहाँ बिखरे पड़े हैं, इस पर अधिक बल न देकर हमें यह देखना है कि इसके भाव-प्रवाह को अक्षुण्ण बनाये रखने तथा उसकी संगति देने में इस प्रकरण की वस्तु कहाँ तक सहायक हुई है। भवभूति ने अपनी वस्तु के लिए अपूर्व, अद्भुत आदि जिन विशेषणों का प्रयोग किया है, उनका विश्लेषण भी मालतीमाधव के भाव-विवेचन से स्वतःसिद्ध हो जायगा।

नाटकीय विशेषताएँ

मालतीमाधव की नाटकीय विशेषताओं के परीक्षण के क्रम में हमारा ध्यान सबसे पहले इसके वृत्त की अपूर्व योजना पर केन्द्रित हो जाता है। कवि के सामने एक निर्दिष्ट लक्ष्य है[1] और उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह अनुकूल मार्ग बनाने की चेष्टा करता है। उसे एक ही जगह उन समग्र तत्त्वों को तो निबद्ध करना ही है जिनका उल्लेख वह प्रस्तुत श्लोक में करता है; साथ ही, उनके माध्यम से वह अपनी वाणी के प्रौढित्व, उदारता तथा अर्थगौरव को भी व्यक्त करने की प्रतिज्ञा करता है।[2] अपने पाण्डित्य एवं वैदग्ध्य के इन सारे निर्दिष्ट लक्षणों को किसी एक स्थान पर एक ही वस्तु में निबद्ध करना वास्तव में एक कठिन कार्य है--कवि मानो ऐसे अपूर्व कलात्मक साहस की चुनौती को स्वीकार करता है और अपने विचित्र एवं विविध भावों की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए नाटकीय वृत्त का एक शक्तिशाली प्रासाद खड़ा करता है। कवि की यह प्रबल धारणा है कि उसके वृत्त का यह विराट् प्रासाद तथा उसके भीतर रमण करनेवाली काव्यात्मा—जिन पर वह "एष यत्नः" कहकर बल देना चाहता है—मात्र रसिकों या विदग्धों के निमित्त संस्थापित हैं।[3] तात्पर्य यह कि कवि अपनी नाटकीय दक्षता के प्रायः प्रत्येक मूल्य को तो अपनी इस कृति में सम्पुष्ट करना ही चाहता है, साथ ही, इस प्रयास को वह अपने समकालीन तथा परवर्ती विदग्ध-समाज के निकष पर भी खरा उतारना चाहता है। एक साथ इतनी प्रतिज्ञाएँ,

---

१. भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः सौहार्दहृद्यानि विचेष्टितानि।
औद्धत्यमायोजितकामसूत्रं चित्राः कथा वाचि विदग्धता च॥—मा० मा०: १ : ४।

× × ×

२. यत्प्रौढित्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवं
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः॥—वही : १ : ७।

३. वही : १ : ६।

कला-रूपों के संस्थापन की इतनी साहसपूर्ण आकांक्षाएँ, इस बात की प्रबल साक्षी हैं कि कवि अपनी वस्तु एवं भाव की अप्रतिम भित्ति के निर्माण में कितना जागरूक है।

और उसकी प्रतिज्ञाओं के प्रकाश में जब हम मालतीमाधव को देखते हैं, तो वास्तव में इसके विलक्षण वृत्त पर मुग्ध होना पड़ता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संस्कृत नाटकों में 'कहानी कहने' पर जितना बल नहीं दिया गया है, उतना किसी भाव विशेष के सम्पोषण पर; किन्तु इसके अपवाद में मृच्छकटिक तथा मालतीमाधव के कथानकों को रखा जा सकता है; इनमें न केवल नाटकीय भावों की सम्पुष्टि दीखती है, वरन् उन भावों को धारण करनेवाली कहानी भी काफी आकर्षक है। अतः इस दृष्टि से मालतीमाधव की वस्तु-योजना भवभूति के अन्य दो नाटकों की वस्तु-योजना से विलक्षण, वैविध्यपूर्ण तथा अधिक शक्तिशाली है। अपने दोनों 'नाटकों' में भवभूति जितना अपने भावों के पल्लवन में व्यस्त दीखते हैं, उतना कहानी की 'पार्थिव' गति पर उनका ध्यान नहीं जा पाया है।

मालतीमाधव के वृत्त-भाग पर मृच्छकटिक की वस्तुयोजना का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। जिस प्रकार उसमें चारुदत्त एवं वसन्तसेना की मूल प्रेम-कथा के समानान्तर राज्यक्रान्ति से सम्बद्ध एक अन्य गौण वृत्त चलता है, उसी प्रकार यहाँ भी मालती एवं माधव की मूल प्रेम-कहानी के सम्पोषण के लिए एक अन्य समानान्तर वृत्त—मकरन्द एवं मदयन्तिका की प्रणय-लीला का सहारा लिया गया है। किन्तु इन दोनों प्रकरणों की वस्तु-योजना भले ही एक जैसी दीखे, उनकी वस्तुओं की प्रकृति में बहुत भेद है। सबसे पहला भेद तो इनके नायक एवं नायिकाओं के सामाजिक एवं मानसिक स्तर में ही परिलक्षित होता है। माधव और मालती दोनों ही चारुदत्त एवं वसन्तसेना की अपेक्षा अधिक गम्भीर, शीलवान् तथा चरित्रनिष्ठ व्यक्ति हैं—स्वभावतः ही उनके प्रणय-जीवन का धरातल बहुपत्नीवादी चारुदत्त तथा उसकी वेश्या प्रणयिनी वसन्तसेना के अनुराग से बहुत ऊँचा है। भवभूति प्रणय के उद्दाम क्षणों में भी प्रेम का आदर्श नहीं त्यागते; राम और सीता की तो बात ही क्या, माल्ती और माधव जैसे रोमांसप्रिय पात्र भी प्रणय के उच्च आदर्शों पर चलते हैं। उक्त प्रकरणों में दूसरा बड़ा भेद उनके उपकथानक में लक्षित होता है। वस्तुतः यही वह वस्तु है जो शूद्रक तथा भवभूति को नाट्य-रीति के दो अलग-अलग किनारों पर खड़ा कर देती है। शूद्रक अपनी कृति में समाज के निम्नतम वर्ग को भी प्रतिनिधित्व प्रदान करते हैं, किन्तु भवभूति प्रकरण के **'लोक-संश्रय'** होने का अभिप्राय अधिक से अधिक समाज की मध्यम श्रेणी तक जाना ही समझते हैं। इस अर्थ में शूद्रक का 'लोक' जहाँ अधिक व्यापक एवं संवेदनशील है, भवभूति का लोक अधिक संकीर्ण एवं आत्मनिष्ठ है। शूद्रक के लोक में चलते-फिरते सामाजिक जीवन की प्रकृत आभा है, किन्तु भवभूति के लोक में गतानुगतिक श्रीमन्त जीवन की गरिमा है। भवभूति में शूद्रक की तुलना में जो ये भेद दीख पड़ते हैं, इसके पीछे उनका निजी

जीवन-दर्शन तथा तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियाँ सहायक मानी जा सकती हैं। वे स्वभाव से ही अधिक गम्भीर, आत्मनिष्ठ एवं आचारवान् व्यक्ति थे; हास्य या विनोद के प्रति, या सरल एवं सुबोध के प्रति जो उनकी स्वाभाविक उदासीनता है उसका प्रतिफलन रौद्र, भयानक, वीर एवं बीभत्स में तथा जटिल एवं संग्रथित में हुआ है। प्रायः आभ्यन्तर भाव अपने अनुरूप ही मानव व्यक्तित्व को ढाल लेते हैं; दूसरे शब्दों में, व्यक्तित्व की पार्थिव रेखाएँ आत्मा के विशिष्ट गुणों एवं धर्मों की भौतिक अभिव्यक्ति बन जाती हैं। कला या साहित्य के क्षेत्र में भी यही सत्य दृष्टिगोचर होता है—कलाकार या साहित्यकार के अन्तर्भावों के सामंजस्य में ही उनके कलारूपों या साहित्यरूपों का आधान होता है। वृत्त, शैली आदि साहित्य के पार्थिव तत्त्व हैं और उन्हें देखकर ही हम प्रायः किसी साहित्यकार के विशिष्ट भावानुबन्धों की गन्ध पा लेते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर भवभूति की जिन भावगत प्रवृत्तियों का ऊपर उल्लेख किया गया, उनकी प्रबलतम अभिव्यक्ति मालतीमाधव के ही वृत्त आदि से हुई है। भवभूति के शेष दो नाटकों की वस्तु प्रख्यात है, अतः वहाँ उन्हें मनचाहा करने की पूरी छूट नहीं मिल पाई है। इसकी कसर उन्होंने मालतीमाधव के अपूर्व वस्तु-निर्माण में निकाली है, चूँकि यहाँ वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपने 'स्व' को आकार देने में समर्थ हुए हैं। इसीलिए भवभूति तथा उनके काव्य दर्शन को समझने के लिए मालतीमाधव सर्वाधिक सहायक सिद्ध होता है।

मालतीमाधव का वस्तु-संगठन कदाचित् उतना सफल नहीं हो सका है, जितना मृच्छकटिक का। इसका मुख्य हेतु यही प्रतीत होता है कि शूद्रक अपने नाटकीय 'स्व' को ही अधिक से अधिक रूपायित करने में सचेष्ट दीखते हैं—उनकी वस्तु में आरम्भ से अन्त तक उनके जागरूक नाटककार का संयम तिरता हुआ-सा प्रतीत होता है। इसके ठीक विपरीत, भवभूति में एक ही स्थान पर अपने कई साहित्यिक गुणों—जिनका स्पष्ट ख्यापन वे मालतीमाधव की प्रस्तावना में पहले ही कर देते हैं—को प्रकट करने का 'आग्रह' दीख पड़ता है। उनके ख्यापित गुणों में से या तो कुछ गुण ऐसे हैं जिनकी दृश्यकाव्य के लिए अधिक उपयोगिता नहीं है, या उनको नाटकीय आकार देने में सन्तुलन की कमी रह गई है। भवभूति शूद्रक की अपेक्षा अधिक वैविध्य लाना चाहते हैं, किन्तु उसे अपने वृत्त में बारीकी से पिरो नहीं पाते, उसे नाटकीय अन्विति एवं प्रवाह देने में कहीं-कहीं कलात्मक संयम तथा दूरदर्शिता से काम नहीं लेते। फलतः उनके वृत्त के भव्य प्रासाद में कुछ स्थानों पर ईंटें खिसकी हुई-सी प्रतीत होती हैं और उनके कुछ कक्ष प्रासाद के मुख्य प्रकोष्ठ से या तो व्यवहित दीखते हैं, या उनसे होकर मुख्य भवन में प्रवेश पाने में कठिनाई प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए पंचम अंक में अघोरघण्ट तथा कपालकुण्डला के वामाचार-प्रसंग पर जो इतना बल दिया गया है तथा उसी क्रम में श्मशान का जो भीषण चित्र खींचा गया है, वह सब निश्चय ही रौद्र, बीभत्स आदि रसों की दृष्टि से काफी सफल उतरा है; किन्तु नाटकीय वृत्त के साथ उसकी कोई अपरिहार्य संगति नहीं

प्रतीत होती। ऐसा लगता है, मानो चतुर्थ अंक के पश्चात् वृत्त के ऋजु प्रवाह को उसके स्वाभाविक मार्ग से मोड़कर कहीं दूर खींचकर ले जाया गया है। यहाँ प्रकरण के मूल वृत्त में जो अप्रत्याशित वक्रता तथा तनाव की स्थिति आ गई है, वह उसकी गतिशील आत्मा पर एक बोझ-सी मालूम होती है। इसी प्रकार अष्टम अंक की समाप्ति पर प्रकरण का स्वाभाविक अन्त हो जाना चाहिये था। कारण, मालती और माधव के परस्पर प्रेम के बीच राजबाधा के रूप में जो वास्तविक अड़चन है, वह यहाँ समाप्त हो जाती है।[१] फिर भी कथानक को खींचकर और दो अंकों का विस्तार दे दिया जाता है और इस अनावश्यक विस्तार के बीच कवि को माधव की विरह-दशा, विन्ध्य के वनांचल की प्रकृति-श्री आदि के वर्णन के लिए बहाना मिल जाता है। विशुद्ध काव्य की दृष्टि से सोचें तो पंचम अंक की तरह नवम अंक की भागवत सुषमा सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में अद्वितीय है, किन्तु नाटकीय 'अपरिहार्य' के भीतर वे अंक जैसे-तैसे ही अँट पाते हैं।

प्रस्तुत प्रकरण में भवभूति की वस्तुगत सीमाओं के जो किंचित् निर्देश ऊपर दिये गये, उनकी अपेक्षा भवभूति की नाटकीय उपलब्धियाँ तत्ता एवं इयत्ता दोनों ही दृष्टियों से बहुत अधिक हैं। प्रायः दो भिन्न वृत्तों को एक अन्विति में लाने तथा गौण वृत्त की विरोधी एवं समानान्तर स्थितियों के द्वारा प्रधान वस्तु के सम्पोषण की कला से वे भली भाँति परिचित हैं। प्रकरण के नाटकीय बीज का सम्बन्ध किसी विद्यापीठ के दो सतीर्थों—देवरात एवं भूरिवसु—के इस वचन-दान से है कि यदि भविष्य में उनमें से किसी के कोई कन्या तथा दूसरे किसी के कोई पुत्र होगा तो वे उन दोनों का परस्पर परिणय-सम्बन्ध करायेंगे। दोनों मित्रों की यह बातचीत एवं प्रतिज्ञा उनकी एक अन्य सहाध्यायी कामन्दकी तथा उसकी शिष्या सौदामिनी के सामने ही होती है। कामन्दकी आगे चलकर बौद्ध सन्यासिनी हो जाती है। कालक्रम से देवरात विदर्भनरेश तथा भूरिवसु पद्मावतीश्वर के मन्त्रिपद पर नियुक्त होते हैं। इन दोनों में से पहले के एक पुत्र (माधव) तथा दूसरे के एक कन्या (मालती) उत्पन्न होती है। जब दोनों बच्चे तरुण वयस् को प्राप्त होते हैं, तो देवरात माधव को पद्मावती में ही विशेष अध्ययन के लिए भेज देते हैं; यहाँ देवरात का वास्तविक प्रयोजन यह है कि मालती के सन्निकट माधव को भेज देने से भूरिवसु को अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने में आसानी होगी। भूरिवसु वस्तुतः अपने वाग्दान को भूले नहीं हैं, वे स्वयं भी चाहते हैं कि माधव का वैवाहिक सम्बन्ध उनकी पुत्री मालती के साथ ही सम्पन्न हो। किन्तु आगे चलकर उनका यह निश्चय विकट धर्मसंकट में पड़ जाता है जब स्वयं उनके मान्य राजा मालती का परिणय-सम्बन्ध अपने नर्मसचिव नन्दन के साथ कराने की इच्छा प्रकट करते हैं। कामन्दकी की नाटकीय भूमिका का महत्त्व इसी में है कि वह अपनी कुशल नीति से अपने दोनों पुराने मित्रों की प्रतिज्ञा को

---

१. मा० मा०, पृ० १९७–९८।

सफल कर देती है तथा बीच में राजबाधा के आ टपकने से एक असम्भव-सी स्थिति को सम्भव बना देती है। मालतीमाधव का गौण वृत्त माधव के परम स्नेही मित्र मकरन्द तथा नन्दन की बहन मदयन्तिका के प्रणय-सम्बन्ध का आधार लेकर चलता है। इन दोनों वृत्तों के तन्तुओं को जोड़ने तथा उन्हें एकात्मभाव में परिणत करने के उद्देश्य से ही कवि ने कामन्दकी को अवतरित किया है, जो आरम्भ से अन्त तक नाटकीय वृत्त एवं भाव पर छाई रहती है। कामन्दकी स्वयं तो माधव एवं मालती को प्रणय-सूत्र में आबद्ध करने के लिए आद्योपान्त यत्नशील रहती है और पद्मावतीश्वर के नर्मसचिव नन्दन की बहन मदयन्तिका के चित्त को मकरन्द की ओर आकृष्ट करने के उद्देश्य से अपनी सखी बुद्धरक्षिता को मदयन्तिका के पास छोड़ देती है।

वृत्त के अन्तरंग एवं बहिरंग के परीक्षण से स्पष्ट होता है कि नाटककार ने अपने वस्तु-तत्त्व के अपेक्षाकृत सरल रूप को अधिकाधिक जटिल बनाकर नाटकीय संवेग प्रदान करने में बड़ी सफलता प्राप्त की है। सम्पूर्ण प्रकरण में तीन बड़े नाटकीय मोड़ आये हैं जो घटनाचक्र की दिशा मोड़कर दर्शकों के औत्सुक्यभाव की सृष्टि में परम सहायक सिद्ध होते हैं। इनमें पहला मोड़ वहाँ दीखता है जहाँ चतुर्थ अंक में माधव एवं मालती के परस्पर अनुरक्त हृदय को नन्दन के साथ मालती के भावी विवाह की सूचना से गहरी ठेस पहुँचती है।[१] दूसरा मोड़ वहाँ आता है जहाँ षष्ठ अंक में कामन्दकी मालती और माधव को परिणय-सूत्र में बाँधने में समर्थ होती है और मकरन्द को मालती का वेश धारण करके नन्दन के घर जाने का आदेश देती है।[२] तीसरा मोड़ वहाँ द्रष्टव्य है जहाँ अष्टम अंक में अघोरघण्ट की शिष्या कपालकुण्डला मालती को अकेली पाकर उसका अपहरण करती है।[३] ये तीनों ही नाटकीय कार्यव्यापार के विकास की दृष्टि से बड़े महत्त्व के मोड़ सिद्ध होते हैं। दूसरे मोड़ के बाद ही गौण वृत्त को मूल वृत्त के साथ नाटकीय सूत्र में आबद्ध होने का अवकाश प्राप्त होता है—छद्मरूपधारी मकरन्द स्वयं तो मदयन्तिका को प्राप्त करता ही है, माधव को भी मालती के साथ विवाहित कराने की महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान करता है। इसके पूर्व मुख्य वृत्त के साथ मकरन्द एवं मदयन्तिका के प्रणय-प्रसंग की कोई अनिवार्य संगति नहीं बैठती।

ऐसा प्रतीत होता है कि भवभूति ने मालतीमाधव में अपने महावीरचरित के माल्यवान् को ही कामन्दकी के अभिनव परिवेश में खड़ा किया है। महावीरचरित के घटना-चक्र को संचालित करने में जिस प्रकार माल्यवान् मुख्य रूप से सहायक रहा है, मालतीमाधव के कार्यव्यापार की सूत्रधारी भी कामन्दकी ही है। दोनों की भूमिकाएँ

---

१. मा० मा० : ४ : ३, तथा वही, पृ० १०५–१०६।

२. वही, पृ० १५८, १६०।

३. वही : ८ : ८।

अपने-अपने स्थान पर काफी महत्त्व रखती हैं, किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर कामन्दकी में माल्यवान् के व्यक्तित्व का सशक्त विकास हुआ है; अर्थात् कामन्दकी की कार्यदक्षता एवं नीतिपटुता जहाँ व्यावहारिक, सक्रिय एवं आशावादी है, वहाँ माल्यवान् की कार्यक्षमता तथा नीतिपरायणता प्रायः शिथिल, सैद्धान्तिक एवं भाग्यवादी है। माल्यवान् अपने नीतिनैपुण्य पर प्रायः व्याख्यान-सा देता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु उसका निजी व्यक्तित्व स्थिर तथा गतिहीन-सा लगता है; उधर कामन्दकी अपनी नीतिकुशलता पर किसी प्रकार का अभिभाषण प्रस्तुत नहीं करती, फिर भी उसकी नीतियाँ बड़ी प्रवीणता एवं शक्ति के साथ घटना-चक्र के प्रायः प्रत्येक सन्दर्भ में गतिशील रहती हैं। इस प्रक्रम में कामन्दकी का निजी चरित्र भी कहीं भी तटस्थ नहीं दीखता, वह स्वयं भी प्रकरण के किसी भी दूसरे पात्र की अपेक्षा अधिक सक्रिय रहती है। यों उक्त दोनों की नीतियों के क्षेत्र में भी बहुत बड़ा भेद हो जाता है—एक का कार्य-क्षेत्र यदि राजनीतिं है तो दूसरे की विशेषज्ञता का क्षेत्र प्रेम-नीति है।

जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं, मालतीमाधव की स्थिति महावीरचरित तथा उत्तररामचरित की मध्यवर्तिनी रही होगी। कुछ अपवादों को छोड़कर महावीरचरित की अपेक्षा मालतीमाधव में कथ्य, शैली, भाव आदि का निश्चित उत्कर्ष हुआ है। मालतीमाधव की विशिष्ट नाटकीय विधा का महत्त्व इसलिए भी विशेष हो जाता है कि वह प्रकरण के क्षेत्र में शूद्रक के मृच्छकटिक के बाद एक नई क्रान्ति है, कुछ नये नाटकीय मूल्यों को स्थापित करने का एक नया साहस है। महावीरचरित की एक महती उपलब्धि राम-कथा के परस्पर विच्छिन्न कथांशों को नाटकीय अन्विति प्रदान करना है, कवि मूलतः इसी उद्देश्य से राम-कथा को तथा उसके कतिपय विवादास्पद चरित्रों को एक नई नाटकीय सरणी में ढालने में सचेष्ट रहा है। किन्तु ऐसा लगता है, उसकी नाट्यकला का अधिकांश उस सरणी की व्यवस्था करने में ही खर्च हो गया है। इधर मालतीमाधव में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं करनी है जिसका आधार कोई सुदृढ़ पुरानी परम्परा हो, फलतः कवि ने अपने कार्य को अधिक मुक्तता के साथ ग्रहण किया है। इस कलागत 'खुली दृष्टि' का स्वस्थ प्रभाव मालतीमाधव के वृत्त, चरित्र, भाव आदि सबमें एक नवीन आस्वादनीयता एवं स्फूर्ति उत्पन्न करता है। यों कामन्दकी जैसी बौद्ध पात्रियों के दर्शन हमें संस्कृत की पुरानी कथा-पुस्तकों में भी होते हैं, किन्तु यहाँ इसे जिस महत्त्वपूर्ण भूमिका में उतारा जाता है, वह सर्वथा अपूर्व है। यह सही है कि कामन्दकी मालतीमाधव की प्रत्येक घटना पर अपना स्वत्व नहीं रख पाती; पंचम अंक में चामुण्डा को बलिरूप में दी जानेवाली मालती का माधव के द्वारा उद्धार जैसी घटना दैवात् ही घटित हो जाती है, यहाँ कामन्दकी की कोई नीति काम नहीं आती। किन्तु इतना मानना ही होगा कि इस प्रकरण के कम से कम सात

रहती है। नवम एवं दशम अंकों के घटनाचक्र पर यद्यपि उसका प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं रहता, फिर भी यहाँ कपालकुण्डला के चंगुल से मालती की मुक्ति तथा पुनः उसके माधव आदि के साथ मिलन के मूल में कामन्दकी की पूर्वशिष्या सौदामिनी का ही हाथ है। अतः यहाँ उसकी स्वयं की बुद्धि भले ही काम न आई हो, सौदामिनी की सदाशयता के पीछे उसी के व्यक्तित्व की सत्प्रेरणा रही है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। संस्कृत के सम्पूर्ण नाटक-साहित्य में किसी नारी-चरित्र को इतने महत्त्व की भूमिका नहीं दी गई है, इस दृष्टि से भी कामन्दकी की सृष्टि भवभूति की अनुपम उपलब्धि है।

जहाँ तक मालतीमाधव के भावात्मक सौन्दर्य का सम्बन्ध है, यहाँ भी भवभूति की नई दृष्टि प्राप्त होती है। इस प्रकरण के दोनों समानन्तर वृत्तों में मूल भाव रति ही है। प्रेम के आवेगों तथा उसके मनोविज्ञान को प्रकट करने में भवभूति की भाषा उतनी ही समर्थ दीखती है जितनी उनकी पैनी जीवन-दृष्टि। प्रेम के आदर्शों तथा गार्हस्थ्य सुख के रहस्यों की जितनी पकड़ भवभूति को है, उतनी कदाचित् संस्कृत के किसी दूसरे कवि को नहीं। उनका शृङ्गार प्रणय की मर्यादा तथा सामाजिक आदर्शों से कतराकर कभी नहीं चलता। वे शृङ्गार के चरम रूपों की पृष्ठभूमि में भी पुरुष एवं नारी के सामाजिक दायित्वों को नहीं भुलाते।[१] किन्तु सामाजिक नियमों का भी वहीं तक महत्त्व है जहाँ तक वे मानव हृदय की स्वाभाविक वृत्तियों के संयमक भले हों, विरोधी नहीं होते। प्रेम जीवन की स्वस्थ परम्परा को गतिशील रखने तथा दो हृदयों के मर्म-तन्तुओं को एकीभूत बनाने के लिए एक स्वर्गीय वरदान की तरह होता है; किन्तु यही प्रेम यदि सामाजिक आदर्शों की अवहेलना करता है, तो उच्छृङ्खल की कोटि में चला जाता है। अतः इन दोनों छोरों के बीच प्रेम की काम्य स्थिति उसे मानेंगे जिस पर समाज का न तो कोई अनावश्यक प्रतिबन्ध हो और न वह स्वयं सामाजिक दायित्वों एवं कर्तव्यों के प्रति निरपेक्ष हो। भवभूति प्रेम के इसी सन्तुलन में विश्वास करते हैं।

भवभूति के पावन प्रेम-दर्शन की एक दूसरी विशेषता है अनन्य एवं एकनिष्ठ अनुराग। राम एवं सीता तो परम्परा से ही दाम्पत्य अनुराग की इस महनीयता के आदर्श माने जाते रहे हैं, अतः उत्तररामचरित में उस आदर्श की अनुपम अभिव्यक्ति का ही विशेष महत्त्व है, उसकी वस्तु की मूल रेखाएँ तो परम्परासम्मत ही रही हैं। इस दृष्टि से माधव एवं मालती का प्रणय-जीवन वस्तु एवं अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से कवि की मौलिक एवं भव्य सृष्टि है। भवभूति से पूर्व शूद्रक एवं कालिदास ने चारु-

---

१. भवभूति की सुधी पात्री कामन्दकी ने प्रेम का यथार्थ उत्कर्ष दाम्पत्य में ही माना है और उसके महनीय भावों को यों अभिव्यक्त किया है—

प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा।
स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसा मित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु॥—वही : ६ : १८।

दत्त, अग्निमित्र, पुरूरवस् एवं दुष्यन्त की बहुपत्नीवादी प्रेम-दृष्टि को भी दाम्पत्य की पवित्रता, मर्यादा एवं शालीनता देनी चाही है। माधव एवं मालती के माध्यम से भवभूति ने उक्त सभी चरित्रों की प्रेम-दृष्टि पर गहरा व्यंग्य किया है। सच्चे प्रेम के भाव विकेन्द्रित नहीं हो सकते; वे एक ही केन्द्र की रागात्मक सत्ता के प्रति समर्पित होते हैं; उनकी सचाई एवं औदात्त्य का निकष समर्पण की यही एकनिष्ठ संचेतना होती है—भवभूति अपनी कलाकृतियों में आद्यन्त इसी भाव को रूपायित करते हैं। मालती एवं माधव के परस्पर अनुराग का एक वैशिष्ट्य तो उनका यह भावात्मक संयम है जो उनके प्रेमभाव को एकनिष्ठता प्रदान करता है और दूसरा वैशिष्ट्य उसकी सामाजिक या पारिवारिक चेतना है जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। पारिवारिक आदर्श एवं परा एकायनता के उभय तटों के बीच अनन्य भाव से प्रवाहित होने वाली माधव एवं मालती के जीवन की यह एकीकृत संचेतना भवभूति के प्रेम-दर्शन का मंगलमय रूप है। कालिदास ने अपने नायकों के प्रेम-जीवन में जो द्वन्द्व उपस्थित किया है, उसके मूल में नायकों के विकेन्द्रित प्रणय-भावों का बिखराव है, उनकी अन्य पत्नियों या रानियों के रूप में भावावरोध का भौतिक कोलाहल है। किन्तु मालती एवं माधव के प्रणय-द्वन्द्व में एकीकरण की प्रसव-वेदना से सम्भूत आत्मिक छटपटाहट है। मृच्छकटिक का चरित-नायक भी प्रणय-द्वन्द्व की कालिदासीय पद्धति से सर्वथा मुक्त है, ऐसा नहीं माना जा सकता। एक जगह तो वह वसन्तसेना के आभरणों को अपने अन्तःपुर में इसलिए नहीं जाने देना चाहता, चूँकि वे 'प्रकाशनारीधृत'[1] (वेश्या द्वारा उपभुक्त) हैं और अन्यत्र अपनी धर्मपत्नी धूता के चरित्र की प्रशंसा में अपने प्रणय की गहन भक्ति प्रकट करता है।[2] अतः वसन्तसेना के प्रति चारुदत्त के प्रणय-संवेगों की चाहे जितनी उच्छलता व्यक्त हुई हो, यह उच्छलता चारुदत्त की एक ऐसी 'निर्बन्धता' का पर्याय हो गयी है जिसमें भवभूति के प्रेम-दर्शन में सन्निविष्ट दो हृदयों के ऐकान्तिक आत्म-बन्धन का अभाव है। यह प्रेम रोमांटिक है, किन्तु धर्म की वास्तविक दीप्ति से खाली है; हार्दिक है, किन्तु आत्मा की सहज आभा से रहित है; प्रेय है, किन्तु श्रेय की गरिमा इसे नहीं दी जा सकती। अतः माधव एवं मालती का प्रेम-सम्बन्ध शूद्रक एवं कालिदास के उक्त पात्रों के प्रणय-जीवन का एक स्पष्ट विकास है, कमनीय परिमार्जन है। भवभूति अपने पात्रों के परस्पर रागात्मक आकर्षण को इतना ऊँचा उठाना भी नहीं चाहते कि वह अलौकिक-सा दीखने लगे। उनकी कलात्मक विशेषता इसमें है कि उनके प्रेम के सभी आदर्श माननीय संस्पर्शों से स्फुरित हुए हैं, वे धर्म, परिवार एवं समाज इन सबके साथ अपने सहज संतुलन की रक्षा करते हुए दाम्पत्य के औदात्त्य में पर्यवसित हुए हैं। इस प्रक्रिया में प्रेम का स्वरूप इतना मँज जाता है कि वह लोकजीवन की सीमाओं में

---

१. मृच्छ० : २ : ७।

२. तुल० न महीतलस्थितिसहानि भवच्चरितानि चारुचरिते यदपि।
उचितं तथापि परलोकसुखं न पतिव्रते तव विहाय पतिम्॥

आबद्ध होकर भी निखर उठता है। शरीर और आत्मा, भाव और रूप तथा लोक एवं परलोक के बीच एक सहज समन्वय की स्थिति ही भवभूति के प्रेममूलक जीवन-दर्शन को इतना काम्य बना देती है। न तो यहाँ कोई शकुन्तला किसी दुष्यन्त के चक्कर में पड़कर किसी कण्व की उपेक्षा करके गन्धर्व विवाह करती है, न कोई धूता अपनी आँखों के सामने ही अपने प्रिय को किसी वसन्तसेना में बुरी तरह आसक्त देखकर भी उसके लिए अपने जीवन की आहुति देने को तत्पर दीखती है,[१] न ही कोई सीता किसी राम के द्वारा कठोरतापूर्वक निर्वासित होकर भी प्रसन्न मन से राम के गुणों का कीर्तन करती है।[२]

मालती का विवाह उसके गुरुजन नन्दन नामक एक ऐसे व्यक्ति के साथ निश्चित करते हैं जिसके प्रति मालती का रंचमात्र भी प्रेमभाव नहीं है। भवभूति की दृष्टि में मालती के प्रति उसके पिता (वस्तुतः राजा) का यह सरासर अन्याय है। वर और वधू में यदि पहले से ही एक दूसरे के प्रति प्रणय-भाव रहे, तो यह वैवाहिक मंगल के उत्कर्ष का सूचक होता है।[३] इसी प्रकार किसी प्रणयी के मोहन समाकर्षण का वास्तविक हेतु उसका संयमित व्यक्तित्व होता है। कामन्दकी अपने **'कपटनाटक'** के द्वारा सरल हृदया मालती को माधव के पक्ष में लाने के लिए अनेक यत्न करती है; एक स्थल पर वह मालती के सामने शकुन्तला, उर्वशी एवं वासवदत्ता के प्रेम का भी उद्धरण देती है।[४] यहाँ कदाचित् उसका मन्तव्य यही है कि मालती को भी अपने पिता आदि की परवा न करके उक्त नारियों की तरह ही अपने प्रणयी के प्रति स्वयं को समर्पित कर देना चाहिये। किन्तु हम देखते हैं कि माधव के प्रति प्रबल आकर्षण होते हुए भी मालती अन्त तक अपने को संयमित किये रहती है—यही उसके ऋजु नारीत्व की उदात्त मोहिनी है जिसकी सृष्टि में भवभूति अधिक जागरूक रहे हैं। मालती के इस भावात्मक संयम के ठीक विपरीत मदयन्तिका का चरित्र निरूपित हुआ है। मालती-वेशधारी मकरन्द से परिचित हो जाने पर मदयन्तिका तुरत उसके प्रणय-प्रस्ताव को, बिना कुछ विशेष सोचे-बूझे, सहर्ष स्वीकार कर लेती है—यहाँ तक कि अपने कौटुम्बिक

---

१. तुल० 'एसा अज्जचालुदत्तस्स वहुआ अज्जा धूदा पदे वसणञ्चले
विलग्गन्तं दारअं आक्खिवन्ती बाप्फभरिदणअणेहिं जणेहिं
णिवारिज्जमाणा पज्जलिदे पावए पविसदि।' —वही, पृ० ३३१

२. अहं त्यक्ता च ते वीर अयशोभीरुणा जने।
यच्च ते वचनीयं स्यादपवादः समुत्थितः॥
मया च परिहर्तव्यं त्वं हि मे परमा गतिः।
— रामा० : ७ : ४८ : १३, १४।

३. इतरेतरानुरागो हि विवाहकर्मणि परार्ध्यं मङ्गलम्। गीतश्चायमर्थोऽङ्गिरसा यस्यां मनश्चक्षुषोर्निर्बन्धस्तस्यामृद्धिरिति।
— मा० मा०, पृ० ५९।

जीवन की मर्यादा को लाँघकर उसके साथ चोरी-चोरी भाग निकलती है। ऐसे पात्रों तथा जीवन की विषम परिस्थितियों के ऐसे तीव्र विरोधों के बीच खड़ी मालती और भी उन्नीत दीखने लगती है; प्रेम के उद्दाम आवेगों से आविष्ट रहने पर भी उसके सलज्ज, धर्मभीरु एवं संयमपरायण नारी-व्यक्तित्व का जादू प्रकारण के दूसरे सभी भावों पर हावी हो जाती है।

परम्परागत चरित्रों की कतिपय रूढ़ियों से मुक्त होकर मालतीमाधव में ही भवभूति पुरुष एवं नारी के रागात्मक सम्बन्धों के विषय में खुली हुई दृष्टि से विचार कर सके हैं। यों उत्तररामचरित में सीता और राम के दाम्पत्य अनुराग के जो उदात्त चित्र वे प्रस्तुत करते हैं, उनमें भी प्रेम के उच्च आदर्शों के प्रति उनकी व्यक्तिगत आस्था साफ-साफ झलक जाती है। उत्तररामचरित तो उनके परिणत जीवन-दर्शन की महान् उपलब्धि ही है। किन्तु महावीरचरित में या तो कवि को प्रेम के आदर्शों को निबद्ध करने का उपयुक्त अवसर नहीं मिलता, या इस सम्बन्ध में उसने अपने विचार व्यक्त ही नहीं किये हैं। मालतीमाधव की मालती अपने भावुक प्रेम के सारे उद्दीपनों के बीच भी संयत एवं गम्भीर है। अपने बन्धुजनों की उपेक्षा का साहस न करनेवाली, दुर्दान्त प्रणय की रोमानियत में अपने कौटुम्बिक आदर्शों एवं यथार्थों को नहीं भूलने वाली तथा दाम्पत्य को ही प्रेम सम्बन्धों की परिणति माननेवाली मालती भारतीय नारी-चरित्र की प्रभविष्णुता एवं महिमा से मण्डित दीखती है।

———

चतुर्थ प्रकरण

अध्याय १

भवभूति और प्रकृति

हमारे लिए असन्दिग्ध रूप से साहित्य—विशेषतः उसके ललित पक्ष—के अभ्युदय के मौलिक कारणों का लक्षण प्रस्तुत करना अत्यन्त ही कठिन है; किन्तु इतना तो निश्चित रूप से माना जा सकता है कि काव्यात्मक परिकल्पना के आदिम स्फुरण में भी जिन भौतिक या आधिभौतिक तत्त्वों ने प्रेरणा प्रदान की होगी, उनमें प्रकृति के मोहक अथवा विस्मयकारी रूपों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा होगा। मानव जीवन स्वयं भी तो प्रकृति के विशाल जीवन का ही अभिन्न अंग है, अतः मानव सभ्यता एवं संस्कृति के आरम्भ से ही यदि प्रकृति ने उसके सामान्य प्रवाह में अपने रंग बिखेरे हैं तथा अपने प्रतिबिम्बों को हृदय के विविध भावों के रूप में मूर्त्त कराया है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? यदि विश्व के अब तक उपलब्ध साहित्य में प्राचीनतम ऋग्वेद के कतिपय काव्यात्मक सन्दर्भों का अवलोकन किया जाय तो उसमें जिज्ञासु तथा श्रद्धालु मानव मन के रागात्मक भावों की महनीय पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति-जीवन के अत्यन्त उदात्त चित्र पग-पग पर मिलेंगे। क्रान्तदर्शी ऋषियों की दृष्टि पहले तो प्रकृति के अनन्त प्रसार में विस्मय तथा रहस्यभरे सौन्दर्य-बिम्बों पर टिकती है तथा उन्हें **'मानवीकरण'** या **'दैवीकरण'** के प्रकृष्ट कलात्मक साँचे में ढालती है। अन्ततः उनकी वही दृष्टि प्रकृति-जीवन के वैविध्य तथा अनैक्य को भेदकर उस परम सौन्दर्य का साक्षात्कार करना चाहती है जो एकता एवं अखण्डता का आधार है, जिससे विश्व के समस्त रूपात्मक तथा अरूपात्मक सौन्दर्य-तरंगों का प्रतिपल अक्षय प्रवहन होता रहता है। संहिता-काल से लेकर उपनिषदों तक के प्रकृति-चित्रांकन के विविध पहलुओं पर विचार करने से यही तथ्य सामने आता है—उषस्, सवितृ, इन्द्र, रुद्र, मरुत् प्रभृति प्रकृति के दैवीकृत रूपों के विकास-क्रम में एक ऐसी सीमा आती है जहाँ ये सभी **'तत्त्वमसि'** के व्यंजक बन जाते हैं।

जैसा कि इस प्रबन्ध के द्वितीय प्रकरण में निवेदित है, संस्कृत की काव्य-परम्परा में नाटकों तथा काव्य के अन्य रूपों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहा है। दूसरे शब्दों में, दृश्यत्व तथा श्रव्यत्व काव्य के ऊपरी आवरण मात्र हैं; वस्तुतः काव्य-रसिकों की सुविधा अथवा प्रवृत्ति विशेष को लक्ष्य करके ही उसके 'दृश्य' एवं 'श्रव्य' नामक दो रूप खड़े कर दिये गये हैं। किन्तु इन दोनों रूपों के भीतर एक ही काव्यात्मा का निवास है जो पाठकों या दर्शकों को दो अलग-अलग—और कभी-कभी अभिन्न—रास्तों से एक ही उद्देश्य—रस-चर्वणा की स्थिति—तक पहुँचाती है। अतः जहाँ तक काव्य के इन दोनों रूपों के मौलिक तथा अभिन्न तत्त्वों का प्रश्न है, एक के लिए जो ग्राह्य या त्याज्य है, वह दूसरे के लिए भी बहुत कुछ वैसा ही है। हाँ, काव्य के 'दृश्य'

व 'श्रव्य' रूपों की अपनी-अपनी कुछ मर्यादाएँ अवश्य हैं, जो अन्ततः भावानुभूति की समान वेदना के दो व्यावहारिक प्रकार मानी जा सकती हैं। फलतः काव्य के सृष्टि-पक्ष से लेकर उसे अभिव्यक्ति के प्रकर्ष तक पहुँचानेवाले जो-जो उपादान रहे हैं, उन सबों ने उसके दृश्य व श्रव्य रूपों के निर्माण में समान रूप से साहाय्य दिया है। यहाँ प्रकृति का एक सामान्य अध्ययन ही अपेक्षित है जो काव्य के रस-प्रवाह को अपनी भंगिमाओं से गतिमान एवं तरंगायित करती रही है।

संस्कृत की काव्य-परम्परा की पार्श्वभूमि में वैदिक वाङ्मय की अनुभूतिमयी वाक्-सर्जना की उपेक्षा नहीं की जा सकती जिसके विशाल पट्ट में प्रकृति के विस्मय-विमुग्धकारी रूप वेल-बूटे की तरह जड़े हुए हैं। कहना न होगा कि प्रकृति के वे चित्र ऋषियों की सहजानुभूति के परिणाम हैं, फलतः उनमें संश्लिष्टता बहुत कम मिलती है—भाषा की सफाई में बँधा हुआ प्रायः प्रकृति का भोला सरल जीवन ही वहाँ लक्षित होता है। प्रकृति का यह रूप यथार्थ के अधिक निकट है और उसमें मानवीय भावों के आरोप-प्रत्यारोप की भी मोहक व्यंजना हुई है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो वेद-गत प्रकृति के रूपों के पीछे ऋषियों की रहस्य-भावना है; दृश्य जगत् की अनन्त ध्वनियों, रंगों एवं रूपों के अजस्र सौन्दर्य-स्रोत में सच्चिदानन्द की अखण्ड सत्ता का व्यापक अन्वेषण है। आगे चलकर लौकिक संस्कृत के आदिकवि वाल्मीकि की प्रकृति का वैदिक प्रकृति से कुछ इसी दृष्टिकोण से अलगाव प्रतीत होता है। अर्थात् महाकवि वाल्मीकि ने जहाँ प्रकृति-जीवन को मूल रूप से कवि-दृष्टि से देखा-परखा है, वहाँ वैदिक ऋषियों के प्राकृतिक सुषमा के संयोजन के पीछे उनकी दार्शनिक या जिज्ञासु दृष्टि की प्रधानता है। रामायण का कवि लौकिक जीवन की सम-विषम भाव-भूमि को अत्यन्त सहृदयता तथा सहानुभूति से अपनाता है; उसकी इसी सहृदयता के दर्शन हमें उसके प्राकृतिक चित्रण की सरल एवं असंश्लिष्ट शैली में भी होते हैं। फलतः रामायण की प्रकृति, चाहे वह मानवीय भावों या जीवन-स्थितियों के उद्दीपन के रूप में प्रयुक्त हुई हो, या इन सबसे स्वतन्त्र आलम्बन के परिवेश में गुम्फित की गयी हो, यथार्थ का आधार लेकर ही उपस्थित हुई है। इस प्रकृति में न तो कल्पना या सादृश्य-विधान की वह आदर्शोन्मुखी उड़ान है जिसके दर्शन हमें कालिदास की काव्य-कृतियों में होते हैं; न चमत्कार, अलंकरण तथा वैचित्र्य का वह आग्रह है जिसके संश्लिष्ट चित्र हमें कालिदासोत्तर कवियों—जैसे भारवि, माघ, बाणभट्ट, श्रीहर्ष आदि—में मिलते हैं। प्रकृति-चित्रों की जो सफाई वाल्मीकि में है, अश्वघोष तथा कालिदास मूलतः उसे ही अपनी सृष्टि का आधार बनाते हैं; हाँ, इन कवियों—विशेषतः कालिदास—ने प्रकृति को अपनी कलात्मकता, शिल्प एवं कल्पना का वह स्पर्श दिया है, जिसका वाल्मीकि में प्रायः अभाव है।

प्रस्तुत प्रबन्ध चूँकि एक कवि विशेष के दृश्यकाव्य पर आधृत है, अतः यहाँ संक्षेप में उन प्रवृत्तियों एवं शैलियों पर दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है जिनकी स्पष्ट छाप भवभूति के पहले काव्य के सामान्य रूपों पर प्रकृति-चित्रण के रूप में दिखाई

पड़ती है। भवभूति से पहले संस्कृत के जो महाकवि असन्दिग्ध रूप से रखे जा सकते हैं, उनमें से कुछ विशिष्ट नाम हैं—वाल्मीकि, भास, अश्वघोष, कालिदास, भारवि एवं बाणभट्ट। इन कवियों में कुछ ऐसे हैं जो महाकाव्यों के प्रणेता हैं, कुछ की ख्याति नाटककार के रूप में है, तो कुछ रूपक एवं महाकाव्य—इन दोनों काव्यरूपों के कृती कवि हैं; इन तीनों प्रकार के कवियों के अतिरिक्त बाणभट्ट जैसे महाकवि भी हैं जिनकी काव्य-प्रतिभा मूलतः उनके गद्यकाव्यों से निःसृत होती है। चाहे ये कवि संस्कृत काव्य की जिस शाखा के प्रतिनिधि कवि हों, उन सबों ने अपने-अपने ढंग से प्रकृति को ग्रहण किया है। इन कवियों की कृतियों में प्रकृति के जो रूप जिस ढंग से पिरोये गये हैं, उनके विश्लेषण से प्रकृति-चित्रण की दो विशिष्ट शैलियाँ हमारे सामने आती हैं—(१) यथार्थ एवं सादृश्य-मूलक सरल भावात्मक शैली और (२) चमत्कार एवं वैचित्र्य-मूलक संश्लिष्ट शैली। भवभूति से पूर्व एक के प्रतिनिधि कवि कालिदास माने जा सकते हैं तो दूसरे के बाणभट्ट। भवभूति ने इन दोनों शैलियों की उर्वर भूमि पर अपनी प्रतिभा को पनपने दिया है। किन्तु काव्य के क्षेत्र में चूँकि वे उसके दृश्य तत्त्व को ही अपनाते हैं, अतः प्रकृति-चित्रांकन की एक विशिष्ट सीमा में उन्हें स्वभावतः ही आबद्ध होना पड़ा है।

भवभूति के तीनों रूपकों में प्रकृति के जो रूप आये हैं, उनके सम्यक् अध्ययन की पूर्वपीठिका के रूप में पहले हमें दो बातों पर संक्षेप में विचार कर लेना होगा—(१) श्रव्य एवं दृश्य काव्यों के प्रकृति-चित्रण में मौलिक अन्तर तथा इसी के प्रकाश में (२) भवभूति से पूर्व रूपकों में प्रकृति-चित्रण की परम्परा। पहले नाट्य-साहित्य तथा महाकाव्य आदि काव्य के अन्य प्रकारों में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक रूप से प्रकृति-चित्रण की जो सीमाएँ निर्धारित की जा सकती हैं, उस पर विचार कर लेना समीचीन होगा। दृश्यकाव्य एवं श्रव्यकाव्य में जो महत्त्वपूर्ण वस्तुगत भेद है, वह उनके कलेवरों से सम्बद्ध है। अर्थात् काव्य के श्रव्य रूप को अपने प्रसार एवं वृद्धि की जितनी छूट है, उसके दृश्य रूप को उतनी नहीं है। साहित्यदर्पणकार ने महाकाव्य के लक्षण प्रस्तुत करते हुए उसके सर्गबद्ध कलेवर के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा है—**'नातिस्वल्पा नीतिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह'**।[1] ध्यान देने की बात यह है कि महाकाव्यों में कम से कम कितने सर्ग अपेक्षित हैं, इस पर तो विश्वनाथ ने अपने विचार प्रकट किये हैं; किन्तु अधिक से अधिक कितने सर्गों को निबद्ध किया जाय, इस पर वे मौन हैं। महाकाव्यों के सीमा-निर्धारण की बात न तो भारतीय आचार्य सोचते हैं और न अरस्तू जैसे पाश्चात्त्य सिद्धान्तकार ही।[2] कारण स्पष्ट है। मेघदूत को यदि

---

१. सा० द० : ६ : ३२०।

२. तुल० "They differ, again, in their length: for Tragedy endeavours, as far as possible, to confine itself to a single revolution of the sun, or but slightly to exceed this limit; whereas the Epic action has no limits of time."—ए० बु०, पृ० २२-२३।

मल्लिनाथ की शब्दावली में महाकाव्य की संज्ञा दी जाय[1] तो सम्भवतः वह संस्कृत के सबसे छोटे महाकाव्यों में एक माना जायगा; किन्तु यदि शतसाहस्री संहिता महाभारत को विशुद्ध महाकाव्य, आर्षमहाकाव्य, या शास्त्रकाव्य की कोटि में रखें[2] (इन सभी नामों में महाभारत का काव्यत्व किसी न किसी रूप में सुरक्षित ही रहता है) तो वह न केवल भारत का, वरन् विश्व का ही सबसे बड़ा काव्य सिद्ध होता है। इस प्रकार कलेवर की मर्यादा का निर्धारण महाकाव्यों तथा श्रव्यकाव्य के अन्य भेदों के लिए सम्भव नहीं था—काव्य के इन रूपों में कवि को अपनी कल्पना शक्ति तथा वर्णना-चमत्कार को चाहे किसी भी सीमा तक पल्लवित करने की पूरी स्वतन्त्रता थी। दृश्यकाव्य में ऐसी कोई स्वतन्त्रता कवि को नहीं मिलती। यहाँ जहाँ 'कम से कम' अंकों की स्थापना का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है, वहाँ 'अधिक से अधिक' अंकों की परिधि भी निश्चित कर दी गयी है। रूपकों के कलेवर के इस निश्चित आयाम के चलते कवि को वहाँ बड़ी संक्षिति के साथ अपने वस्तुगत एवं भावगत चित्रों के अंकन करने पड़ते हैं। वस्तुतः हमारे यहाँ किसी कवि की काव्य-प्रतिभा की वास्तविक कसौटी नाटक ही माना गया है जहाँ उसे कम से कम शब्दों के द्वारा कथावस्तु के परिसीमित आयाम में अपने भावों को अधिक से अधिक मूर्त रूप में रखना पड़ता है। इसलिए **'नाटकान्तं कवित्वम्'** तथा **'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'** इन दोनों का कलात्मक समाहार नाटकीय शैली के रूपाधान में देखा जा सकता है।

नाटकों के सीमित आकार-प्रकार तथा वस्तुगत एवं भावगत संक्षिति के कारण प्रकृति-चित्रण को यहाँ वह उर्वरता नहीं मिल सकती जो उसे श्रव्यकाव्यों में प्राप्त होती है। महाकाव्यों में तो कभी-कभी पूरा का पूरा सर्ग प्रकृति-चित्रों को निबद्ध करने में ही लगा दिया जाता है, किन्तु नाटकों में ऐसे प्रयोगों की बात सोची भी नहीं जा सकती। लक्षण-ग्रन्थों में महाकाव्यों में निबद्ध किये जानेवाले कतिपय प्राकृतिक चित्रों की चर्चा भी की गयी है।[3] किन्तु नाटकों के किसी प्रकार के लिए इस तरह के किसी नियम की व्यवस्था नहीं है। हाँ, रस-प्रकरण में उद्दीपन विभाव के रूप में प्राकृतिक सौन्दर्य की योजनाओं को काफी हद तक स्वीकृति मिली है। कुछ आचार्यों ने चार

---

१. **"अत्र काव्ये नगनगरार्णवादिर्वर्णनासम्भवात् महाकाव्यत्वम्। रसो विप्रलम्भाख्य-शृङ्गारः॥"** - मेघ० : १ : संजीवनी।

२. महाभारत को विश्वनाथ ने **"अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः"** (सा० द० : ६ : ३२५) लिखकर **"आर्षमहाकाव्य"** की संज्ञा दी है, किन्तु ध्वनिकार **"महाभारतेऽपि शास्त्ररूपे काव्यच्छायान्वयिनि"**···(ध्व०, चतुर्थ उद्योत) इत्यादि के द्वारा उसे **"शास्त्र-काव्य"** की कोटि में रखते हैं।

३. **संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः। प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः॥**
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः। रणप्रयाणो······॥

— सा० द० : ६ : ३२२, ३२३।

प्रकार के उद्दीपनों में प्रकृति को **'तटस्थ'** के अन्तर्गत रखा है[1] और पुनः तटस्थ के अन्तर्गत प्रकृति के किंचित् विशिष्ट रूपों का परिगणन किया है। यों तो रस का सम्बन्ध काव्य के सामान्य रूप से ही है, किन्तु नाटकों की चित्रमयता, चाक्षुस प्रत्यक्षता, विभावादि की सम्यक् योजना के कारण उनकी रस-पेशलता की योजना सर्वोपरि है। इस तथ्य की पुष्टि स्वयं भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा भी करती है। आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में ही नहीं, प्रत्युत उसके लिखे जाने के बाद भी काफी अरसे तक रस की स्थिति दृश्यकाव्य में ही सम्भव मानी जाती रही। श्रव्यकाव्य में रस-सिद्धान्त के स्थापन की घटना तो साहित्यशास्त्रियों की अपेक्षाकृत नयी उद्भावना है। अतः उद्दीपन के रूप में प्रकृति का सम्बन्ध नाटकों के साथ कहीं अधिक गहन माना जा सकता है। प्रकृति के आलम्बन रूप की उपेक्षा तो सामान्य रूप से संस्कृत काव्य के प्रत्येक अंग में पायी जाती है। इस उपेक्षा से जो बात स्पष्ट होती है, वह यह है कि हमारे देश में प्रकृति को मानव जीवन के सन्दर्भ में ही अधिक देखा-परखा गया है— उसके रंग-बिरंगे रूपों में यहाँ मानव जीवन के ही विविध चित्र दिखाई पड़ते हैं। प्रकृति के स्वतन्त्र जीवन के कलात्मक अंकन पर न तो हमारे आचार्यों ने ही उचित ध्यान दिया है और न यहाँ के कवियों ने ही। संस्कृत काव्य की यह सामान्य प्रवृत्ति भारतीय नाटकों में भी परिलक्षित होती है, किन्तु सौभाग्य से प्रकृति-जीवन के ऐसे एकांगी चित्रण संस्कृत के कुछ महाकवियों में नहीं मिलते; भवभूति एवं कालिदास के नाटकों में ऐसी कोई कमी नहीं दिखाई देती।

संस्कृत काव्य-धारा के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि उद्दीपन के सीमित क्षेत्र में आयी हुई प्रकृति भी कालक्रम से रूढ़ि का विषय बनती गयी। कवियों को काव्य-रचना में प्रशिक्षित करने के उद्देश्य से ऐसे ग्रन्थों का प्रणयन हुआ जिन्हें 'कवि-शिक्षा' के नाम से अभिहित किया गया। ऐसे ग्रन्थों में कवि के लिए अभिधान, कोश, छन्दः-शास्त्र, कला, कामशास्त्र, शब्दशास्त्र, दण्डनीति प्रभृति विषयों[2] की जानकारी तो अभीष्ट बतायी ही गयी है, प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र में भी एक निश्चित परम्परा का पालन अपरिहार्य माना गया है। राजशेखर सम्भवतः ऐसे पहले आचार्य हैं जिन्होंने अपनी काव्य-मीमांसा में प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी ऐसी रूढ़िवादिता को **'कवि-समय'** की संज्ञा दी है और अपने ग्रन्थ में इसकी विशद विवेचना की है।[3] यद्यपि कवि-समय में प्रकृति-वर्णन के प्रसंग में परम्परा से चली आती हुई अलौकिक बातें प्रकृति-जीवन के बहुत ही सीमित क्षेत्र से सम्बद्ध हैं, फिर भी उनका महत्त्व इसलिए बढ़ जाता है कि संस्कृत के प्रायः सभी महाकवियों ने उनका खुलकर प्रयोग किया है;

---

१. **तटस्थाश्चन्द्रिकाधारागृहचन्द्रोदयावपि। कोकिलालापमाकन्दमन्दमारुतषट्पदाः॥**
लतामण्डपभूगेहदीर्धिकाजलदारवाः। प्रासादगर्भसंगीतक्रीडाद्रिसरिदादयः॥

—र० सु० : प्र० १८८-८९।

२. का० सू० १ : ३ : १–११।

३. का० मी० : १४-१६।

बल्कि कुछ पिछले खेवे के कवियों ने जान-बूझकर ऐसे प्रसंगों को आरोपित किया है जिनसे उनके कवि-समय-विषयक ज्ञान से पाठक या दर्शक परिचित हो सकें, भले ही उनके ज्ञान के ऐसे प्रदर्शनों का विषय-वस्तु के साथ कोई आवश्यक सम्बन्ध न हो। संस्कृत-साहित्य में ऐसी प्रवृत्तियाँ निश्चित रूप से प्रकृति को मुक्त रूप से ग्रहण करने में बाधक सिद्ध हुई हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र एवं काव्य-ग्रन्थों के प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी दृष्टिकोण से दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—(१) हमारे काव्यों में प्रकृति के जो रूप स्वीकृत हैं, वे न केवल प्रकृति-जीवन के सीमित चित्र प्रस्तुत करते हैं, वरन् वे प्रधान रूप से मानवीय भावों की उद्दीप्ति के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं; प्रकृति का कोई अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी है, जो सौन्दर्य तथा शोभा का दिव्य सम्मोहन है तथा जो हमारा शिक्षक या उपदेशक हो सकता है, इस तथ्य की प्रायः उपेक्षा की गयी है; (२) मानवीय भावनाओं के सन्दीपन के लिए प्रयुक्त प्रकृति के चित्र भी कालक्रम से रूढि एवं कुण्ठा-भावों से आविष्ट होते गये हैं तथा उन पर वैचित्र्य एवं अलंकरण की प्रवृत्तियाँ हावी होती गयी हैं। आगे चलकर हम इन्हीं निष्कर्षों के प्रकाश में भवभूति के प्रकृति-चित्रण की विशेषताओं का अध्ययन करेंगे तथा देखेंगे कि वे इस सन्दर्भ में कहाँ तक परम्परावादी हैं और कहाँ तक स्वतन्त्र कला-बुद्धि से काम लेते हैं।

ऊपर नाटकों तथा नाटकेतर काव्य-रूपों के प्रकृति-चित्रण में जो मूलभूत अन्तर है, उसका निर्देश किया गया है। भारतीय काव्य के श्रव्य एवं दृश्य-रूप प्रवाहों में प्रकृति-चित्रों का अपना-अपना वैशिष्ट्य है। जहाँ श्रव्य-काव्यों में प्रयुक्त प्रकृति प्रधान रूप से उनकी भंगिमामयी वर्णनात्मक शैली का आधार है, वहाँ दृश्यकाव्यों में उसका प्रयोग प्रधानतः कथावस्तु एवं कार्यव्यापार के विकास का सहायक होता है। नाटकों में न तो वर्णन के लिए उतना अवकाश होता है और न वहाँ इसकी अधिक उपयोगिता ही है। वर्णनात्मकता हमें कहीं रुककर देखने-परखने या बँधकर सोचने-समझने पर मजबूर करती है; इस अर्थ में वह गति या विकास की विरोधिनी है। किन्तु गति नाटकीय कथानक की आत्मा है; वह भावगत, वस्तुगत एवं शैलीगत हर ऐसी वस्तु से कतराती है जो ठहराने या कहीं अनावश्यक विराम लेने का उपक्रम करे। इस अर्थ में वर्णन का प्रवाह काव्य के ऐसे रूपों के लिए ही अपनी सार्थकता रखता है, जहाँ हमें पूरी छूट होती है कि हम किसी एक ही चित्र या स्थिति में अधिक देर तक उलझे रह सकें, उसकी एक-एक बारीकी को आत्मसात् कर सकें। वहाँ ऐसे विराम काव्यगत रस का प्रवर्तन करते हैं तथा हमारी कला-रुचियों का परिष्कार करने में सहायता देते हैं। इसका प्रधान कारण ऐसे काव्यों का 'श्रव्य'-रूप है और यह श्रव्यता काल के किसी बन्धन से अछूती चलती है। उधर साधारण अर्थ में जो दृष्टि की क्रिया है, वही नाटकीय वस्तु के परिवेश में एक विशिष्ट रूप धारण कर लेती है। सामान्य जीवन में हम अपनी दृष्टि को सौन्दर्य के किसी पहलू पर अधिक देर तक टिकाकर भी प्रायः उकताहट या नीरसता का बोध नहीं करते, किन्तु हमारी वही दृष्टि जब किसी

नाटकीय वृत्त के अभिनीयमान रूप को रंगमंच पर अपना विषय बनाती है, तो वह वृत्तगत सौन्दर्य की गतिशीलता का अभिन्न अंग बन जाती है। यदि यहाँ भी उसे टिकने का अवसर मिले तो यह वस्तुतः नाटक विशेष के अपकर्ष का द्योतक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कृत के कुछ अच्छे नाटकों में भी प्रकृति का रूप यदा-कदा वर्णनात्मक हो गया है। ऐसा जहाँ भी हुआ है, नाटकीय कार्यव्यापार शिथिल पड़ गया है और वहाँ काव्य के श्रव्यत्व की गन्ध फूटने लग गयी है। मृच्छकटिक जैसी सफल नाट्यकृति भी इस दोष से मुक्त नहीं कही जा सकती। इस प्रकरण के पंचम अंक में मेघ को लक्ष्य करके वसन्तसेना और विट जिस प्रकार और जिस मात्रा में अपने भावोद्‌गार व्यक्त करते हैं, वह वास्तव में पावस ऋतु पर आधृत किसी खण्डकाव्य की वर्णनात्मक शैली का रूप ले लेता है।[1] नाटकीय संवाद के किसी भी तत्त्व की दृष्टि से विचार करें प्रकृति के ऐसे अंकन का कोई औचित्य नहीं ठहरता।

प्रकृति-चित्रण के काव्यशास्त्रीय विवेचन से अलग हटकर यदि नाटकों की व्यावहारिकता की दृष्टि से विचार करें तो हमारे सामने प्रकृति-चित्रांकन की नाटकीय शैली का रूप स्पष्ट हो जाता है। प्रकृति का प्रयोग नाटकीय वृत्त के लिए कई रूपों में उपयोगी सिद्ध होता है और संस्कृत के श्रेष्ठ नाटककारों ने उसका भरपूर उपयोग किया भी है। उद्दीपन या आलम्बन के रूप में प्रकृति के चित्रों का विन्यास तो एक आम बात है जो क्या नाटक और क्या नाटकेतर साहित्य, सबमें पाया जा सकता है। किन्तु प्रकृति के इन्हीं आलम्बन तथा उद्दीपन रूपों का दृश्यकाव्य में नाटकीय मूल्य भी हो जाता है—यहाँ इन्हीं मूल्यों की दृष्टि से प्रकृति का अध्ययन अपेक्षित है।

किसी भावविशेष को चित्रित रूप से प्रस्तुत करने की जितनी अपेक्षा नाटकों में है, उतनी काव्य की किसी अन्य विधा में नहीं। इसका कारण मूलतः नाटकों का दृश्य होना है। अर्थात् किसी रूपक के भाव-संविधान में दर्शकों या पाठकों की अन्तः एवं बाह्य दोनों ही दृष्टियों के लिए रूपात्मकता अभीष्ट है। यह भावगत रूपात्मकता प्रकृति के उपकरणों के परिवेश में स्फुरित हो उठती है—प्रकृति के चित्र-विचित्र रंग भावों की अमूर्त रेखाओं को चित्रात्मक स्पर्श देकर उन्हें अधिक-से-अधिक मूर्त एवं प्रत्यक्ष बनाने में बड़ी मदद देते हैं। मेघदूत में यक्ष का विरह-भाव आषाढ़ के उमड़े मेघों में रूपायित होकर जितना मूर्त हो उठता है, उतना किसी अन्य प्रकार से सम्भव नहीं था। मेघ की एक-एक भंगिमा एवं गति में यक्ष-हृदय की टीस साकार होकर हमारे मन-प्राणों पर छा जाती है। कवि ने वहाँ विरह एवं विप्रलम्भ के भाव-अणुओं को प्रकृति के तरल रंगों में बोर-बोरकर एक कुशल चितेरे की तरह भाषा के पट्ट पर चित्रित किया है। नाटकों में भावों के ऐसे चित्रण का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। चूँकि उनमें कवि को वैसी और उतनी स्वतन्त्रता नहीं मिलती जो उसे काव्य के श्रव्य रूप के लिए सहज सुलभ होती है, अतः वहाँ उसे एक कुशल शिल्पी की तरह प्रकृति के वैसे ही

---

१. मृच्छ० : ५ : १३-३५।

चित्रों का चयन करना पड़ता है जिनका अभीष्ट भावों के साथ प्रत्यक्ष एवं गहन सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। उदाहरण के लिए मेघदूत के यक्ष को यदि किसी नाटकीय मंच पर उतरकर अपने विरहभावों की अभिव्यक्ति करनी होती, तो वहाँ निश्चित रूप से उसे इसके लिए प्रकृति की वह विशाल पट्टभूमि प्राप्त नहीं होती जिसके दर्शन हमें मेघदूत के श्रव्य रूप में होते हैं। ऐसी परिस्थिति में यक्ष को अपने भावों को चित्रित तथा नाटकीय दृष्टि से प्रभावोत्पादक बनाने के लिए मेघ तथा उससे सम्बद्ध प्रकृति के अन्य कई चित्रों को छोड़ देना पड़ता; प्रकृति के मात्र उन्हीं उपकरणों को ग्रहण करना होता जो कम-से-कम समय में उसके भावों को अधिक-से-अधिक संवेग दे सकें तथा नाटकीय कार्यव्यापार के विकास की शृङ्खला बन सकें। भावों तथा कार्यव्यापार का ऐसा प्रत्यक्ष आधार बननेवाले प्रकृति-चित्रों का सम्यक् चयन नाटकीय शिल्प का उत्कृष्ट नमूना है। जो नाटककार अपनी इस कला में जितना ही सफल हुआ है, उसके नाटकों की भावभूमि भी उतनी ही उन्नीत हुई है।

यह तो हुआ नाटकों के भावगत चित्र की दृष्टि से प्रकृति-चित्रण का महत्त्व। नाटकीय वस्तु के परिपार्श्व में प्रकृति-रूपों के संयोजन का कहीं अधिक मूल्य तथा अवकाश है। हमारे यहाँ तथा पाश्चात्त्य नाटकों में भी मंचीय विधान नाटकों की कार्य-प्रणाली का एक आवश्यक अंग माना गया है। अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में त्रासदी के छह तत्त्वों में दृश्य-विधान (स्पेक्टेक्ल) को भी परिगणित किया है। दृश्य-विधान, अरस्तू की दृष्टि में, त्रासदी का बाह्य तत्त्व है;[१] अर्थात् कथानक आदि तीन तत्त्वों की तरह इसका सम्बन्ध त्रासदी के आभ्यन्तर संगठन से नहीं है। यह वस्तुतः रंग-प्रभाव उत्पन्न करने की वह विधि विशेष है जिसका सम्बन्ध कवि-कर्म से जितना नहीं उतना मंचशिल्पी की कला से है जो मंचीय व्यवस्था तथा प्रभाव के लिए सीधे उत्तरदायी होता है। हमारी सम्मति में यदि नाटकों को मंच पर उतारना है—वस्तुतः नाटकों की विशिष्ट प्रकृति अभिनयात्मक होने से मंच से अलग नहीं की जा सकती—तो दृश्यविधान की शरण लेनी ही पड़ेगी। चाहे दृश्य-योजना नाटककार का कर्तव्य माना जाय, या मंच-शिल्पी का, नाटकीय कथ्य की प्रभावान्विति के लिए इसके महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। भारतीय नाटकों के लिए भी इसकी उपयोगिता समझी गई है और भरत ने एक पूरा अध्याय प्रेक्षागृह के लक्षण बताने में ही खर्च किया है।[२]

नाटकों के दृश्यविधान में प्रकृति-चित्रों का काफी योगदान रहा है। प्राचीन काल में रंग-विधान की कला उतनी विकसित नहीं थी, जितनी कि आज है। यों आधुनिक

१. "दृश्य-विधान का भी अपना एक भावोत्तेजक आकर्षण होता है पर (त्रासदी के) विविध अंगों में सबसे कम कलात्मक यही है और काव्यकला के साथ इसका सबसे कम सम्बन्ध है। क्योंकि दृश्यविधान और अभिनेताओं से स्वतन्त्र त्रासदी के प्रबल प्रभाव की अनुभूति होती है—यह निश्चित है। इसके अतिरिक्त रंग-प्रभाव उत्पन्न करना कवि की अपेक्षा मंच-शिल्पी की कला पर अधिक निर्भर है ?" – अ० न० (अनुवाद-खण्ड), पृ० २२।

२. ना० शा० : २।

समय में भी देश और काल के सभी दृश्यों को उन्नत से उन्नत मंच पर भी नहीं दिखाया जा सकता—इनमें से कुछ को तो नाटककार एक विशिष्ट वर्णनात्मक पद्धति से अपने पात्रों के मुख से प्रकट करता है तथा कुछ अन्य को एक हल्के संकेत के साथ पाठकों या दर्शकों की कल्पना के लिए छोड़ दिया जाता है। प्राचीन युगों में मंच-कला की सीमित परिधि में तो यह और भी सम्भव नहीं था कि कवि अपनी नाटकीय वस्तु के सभी दृश्यतत्त्वों को रंगमंच पर उपन्यस्त कर सके। फलतः मंच-शिल्पी के बहुत सारे कर्तव्य स्वयं कवियों को अंगीकार करने पड़ते थे और उन्हें अपनी नाटकीय शैली को कुछ ऐसा मोड़ देना आवश्यक हो जाता था जो रंगविधान के अभावों की पूर्ति कर सके तथा, कई दृष्टियों से, उसका पूरक बन सके। भास के स्वप्नवासवदत्त, कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल, भवभूति के उत्तररामचरित जैसी नाट्यकृतियों के वस्तु-संघटन पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत के इन महान् नाटककारों ने देश एवं काल की सर्वतोदृश्य प्राकृतिक सुषमाओं को किस प्रकार अपने शब्द-शिल्प की नपी-तुली नाटकीय रेखाओं में पाठकों एवं दर्शकों के अन्तश्चक्षु के आगे साकार कर दिया है। ऐसे-ऐसे स्थलों पर यदि रंगभूमि के सीमित कार्यक्षेत्र में हमारे बाह्य नेत्रों को देश एवं काल के उचित सन्निवेश न भी प्राप्त हों, तो इन शाब्दिक दृश्य-संयोजनों से हमारा काम चल जाता है। हाँ, इसके लिए जहाँ नाटककारों को अपने वस्तुगत एवं भावगत शिल्प का परिणत रूप देना होता है, सामाजिकों से भी यह अपेक्षा की जाती है कि वे कविनिर्दिष्ट चित्रों को सजगता के साथ ग्रहण करते चलें। यही कारण है कि जैसे सभी कवि नाटककार नहीं हो सकते, वैसे ही सभी पाठक सामाजिक भी नहीं हो सकते। हमारे नाट्य लक्षण-ग्रंथों में सामाजिकों की योग्यता पर जो इतना बल दिया गया है, उसके मूल में यह तथा इसकी जैसी अन्य कई बातें हैं जो नाटकों के रसास्वाद की दिशा में सामाजिकों की सहृदयता, विदग्धता एवं मानस-क्षितिज के विकास की सूचक होती हैं।

चाहे अभिज्ञानशाकुन्तल के तपोवनदृश्य को लें या उत्तररामचरित के **दण्डकारण्य (पंचवटी)** दृश्य को, इनकी विराट् प्राकृतिक पट्टभूमि के जीवन्त निदर्शन हमारे हृदय को सहज ही आकृष्ट करने में समर्थ हैं। प्रकृति के ऐसे महत्त्वी रूपों को किसी भी मंच पर उतारना सम्भव नहीं है। फिर भी देश, काल, ऋतु आदि के स्वाभाविक विस्तार में खींचे गये प्रकृति के ऐसे शाब्दिक चित्र हमारे मन-प्राणों पर अपनी प्रभावोत्पादकता की अमिट छाप छोड़ जाते हैं। उन्हें साक्षात् मंच पर न देखकर भी हम उनकी एक-एक भंगिमा का साक्षात्कार कर सकते हैं। कालिदास और भवभूति ने अपने-अपने ढंग से प्रकृति-जीवन के विविध पक्षों को जिस नाटकीय शैली में प्रस्तुत किया है, उनका न केवल प्राकृतिक चित्रण की दृष्टि से महत्त्व है, वरन् नाटकीय भाव-संविधान के सम-विषम प्रवाह के साथ उनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है; इस दृष्टि से उनका कलागत मूल्य और भी बढ़ जाता है। कोई मंच-निर्देशक प्रकृति के ऐसे उपादानों को अपनी रंगशाला

में चित्रित या उपन्यस्त करने में समर्थ भी हो, तो वह निश्चित रूप से अपने उत्कृष्ट रंग-शिल्प की योजना से भी प्रकृति को वह व्यक्तित्व प्रदान नहीं कर सकता, जो इन कवियों की नाट्यकृतियों से उपलब्ध होता है। अर्थात् यहाँ प्रकृति के सौम्य या गंभीर चित्र मूक नहीं, वाचाल हैं; इन नाटकों के पात्रों की तरह ही उनका अपना व्यक्तित्व है जो अपने मौन में मुखर तथा स्थावरता में गतिमान् है, जो नाटकीय वृत्त की कलात्मक पृष्ठभूमि से कहीं अधिक पात्रों के अन्तः एवं बाह्य जीवन का संवेदनशील प्रतिनिधि है, उनका सच्चा साथी है। प्रकृति के ऐसे जीवन्त रूपों के अभाव में इन नाटकों की शकुन्तला या सीता तथा उनकी तरह कई अन्य पात्र निष्प्राण-से दीखते—उनके चैतन्य की प्रक्रियाओं में गतिरोध उत्पन्न हो जाता। वहाँ प्रकृति का उदात्त जीवन पात्रों की दृश्य-अदृश्य वृत्तियों के साथ इस प्रकार जुड़ा हुआ है कि उसकी उद्दीपन या आलम्बन की सीमित शब्दावली में व्याख्या नहीं की जा सकती।

ऊपर के विवेचन से नाटकों में प्रकृति-चित्रण की एक नई शैली का रूप स्फुटित होता है जो इस प्रकार की दूसरी सभी शैलियों से प्रकृष्ट, उदात्त एवं हृदयग्राही माना जा सकता है। प्राक्कालिदासीय नाटकों में इस शैली की सत्ता कहीं नहीं दीखती, भले ही उनमें मानव जीवन के भावात्मक परिवेश में प्रकृति के कुछ मनोरम चित्र मिल जायँ। इसका अर्थ यह हुआ कि कालिदास प्रकृति-चित्रण की इस विशिष्ट नाटकीय शैली के उद्भावक माने जा सकते हैं और उनकी इस शैली का प्राणवन्त निदर्शन अभिज्ञानशकुन्तल का चतुर्थ अंक है। कालिदासोत्तर नाट्य-साहित्य के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास के प्रकृति-चित्रण की यह उदात्त पद्धति पिछले खेवे के नाटककारों के लिए न तो अनुकरण का विषय बन सकी और न वे अपने नाटकों में प्रकृति का कोई ऐसा रूप दे सके जो स्वतन्त्र रूप से किसी नवीन अभिव्यंजन का द्योतक माना जा सके। नाटकीय वृत्त, नेता तथा रस से सम्बद्ध कुछ नये प्रयोग अवश्य हुए; इनमें से मुद्राराक्षस जैसे कुछ प्रयोग साहित्यिक तथा नाटकीय कला की दृष्टि से काफी अच्छे भी उतरे हैं। किन्तु प्रकृति के इन्द्रधनुषी जीवन को शब्दों की परिसीमित रेखाओं में मूर्त करने तथा मानवीय भावनाओं से आप्यायित करने के लिए जिस संवेदनशीलता, सौन्दर्य-ग्राहिणी दृष्टि तथा काव्य-प्रतिभा की अपेक्षा है, वह निश्चित रूप से कालिदासोत्तर नाटककारों को प्राप्त नहीं थी। हाँ, कालिदास के बाद भारतीय नाट्य-साहित्य की लम्बी परम्परा में केवल एक ही अपवाद है और वे हैं भवभूति। इस प्रकार अभिज्ञानशकुन्तल के अपूर्व वस्तु-संगठन के नाटकीय प्रवाह में अत्यन्त स्वाभाविक रूप से स्फुरित होनेवाली तथा मानव जीवन के समानान्तर चलनेवाली प्रकृति का जो सम्मोहन प्रकट हुआ है, वह लगभग तीन शताब्दियों के बाद एक बार पुनः उत्तर-रामचरित में अपनी अभिनव भंगिमाओं में व्यक्त होकर फिर सदा के लिए तिरोहित-सा हो जाता है। स्पष्ट है कि संस्कृत नाटकों में प्रकृति-चित्रण की इस असामान्य शैली के उन्नायक केवल दो हैं—कालिदास और भवभूति। भवभूति चूँकि कालिदास के बाद आते हैं और कालिदास के द्वारा प्रवर्तित मार्ग पर चलते हैं, अतः अधिक सम्भव था

कि उनमें प्रकृति-चित्रांकन की किसी नवीन सद्भावना के दर्शन न हों, और उनके प्रकृति-चित्र कालिदास की सफल अनुकृति मात्र सिद्ध हों। किन्तु प्रकृति को व्यक्तित्व प्रदान करने में यद्यपि कालिदास के समकक्ष ही भवभूति आते हैं, फिर भी इन दोनों महाकवियों की नाट्यशैलियों में जो अन्तर है, कुछ वैसा ही अन्तर उनके प्राकृतिक चित्रों के कलात्मक रूपाधान में भी परिलक्षित होता है। संक्षेप में, कालिदास ने अपनी कारयित्री प्रतिभा के द्वारा प्रकृति का जो सौम्य-सुकुमार रूप खड़ा किया है, प्रकृति-जीवन की इयत्ता वही नहीं है। भवभूति ने अपनी प्रबल कल्पना-शक्ति एवं गम्भीर जीवन-दर्शन के अनुरूप प्रकृति का जो भव्य वितान खड़ा किया है, वह प्रकृति-जीवन का वस्तुतः एक नवीन पक्ष है; उसकी कोई प्रतिच्छवि कालिदास में नहीं खोजी जा सकती। इस अर्थ में नाट्यकला की दृष्टि से कालिदास एवं भवभूति के प्रकृति-निरूपण की समानधर्मिता में जहाँ किसी विचिकित्सा का स्थान नहीं, उनकी प्रकृति के दो विशिष्ट रूपों में भी किसी मतिभ्रम की गुंजाइश नहीं। इन दोनों ही महाकवियों की नाट्यकला, इस दृष्टि से, जहाँ एक दूसरे की समकक्ष है, वहाँ एक दूसरे की पूरक भी है।

भवभूति से पूर्व संस्कृत काव्य के श्रव्य एवं दृश्य रूपों में आई हुई प्रकृति के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण के बाद अब हम अपना ध्यान भवभूति पर केन्द्रित करेंगे और देखेंगे कि उनके नाट्यशिल्प में प्रकृति का कौन-सा रूप किन रंगों में तथा भावों की कैसी गहराई के साथ अभिव्यक्त हुआ है तथा नाट्यकला की दृष्टि से उसका क्या औचित्य है। प्रकृति-चित्रण की जो प्रवृत्तियाँ उनसे पहले जन्म ले चुकी थीं और परम्परित होकर भवभूति के समय तथा उनके बाद भी काफी समय तक चलती रहीं, उनका भवभूति की नाट्यकला पर क्या प्रभाव रहा तथा इस सन्दर्भ में कौन-सी नई उद्भावनाएँ उनकी निजी सृष्टि मानी जा सकती हैं, इन सारे पहलुओं पर भी विचार करना अभीष्ट होगा।

किसी भी लेखक या कवि की कृतियों के पीछे उसके व्यक्तित्व का रंग बड़ी बारीकी के साथ घुला रहता है। जिस प्रकार भौतिक सृष्टि को देखकर हम उसके निराकार स्रष्टा का चित्र खींचते हैं; उसकी प्रकृति, प्रवृत्ति एवं धर्म को अपनी दार्शनिक भावना या अनुभूति में साकार देखना चाहते हैं, उसी प्रकार **'अपार काव्य-संसार में एकमात्र प्रजापति कवि'** की प्रतिच्छाया उसकी काव्य-सृष्टि के दृश्य-अदृश्य पहलुओं में दृष्टिगत होते हैं। यदि इस छाया को हम उसकी सृष्टि का मूलमन्त्र मानें, तो इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं। साहित्य का शायद ही ऐसा कोई पक्ष होगा जो साहित्यकार के व्यक्तित्व से अछूता रहता हो—कर्ता के अन्तर्जीवन की धड़कन उसकी कृतियों में मुखरित होगी ही, चाहे वह अपने को कितना भी तटस्थ या प्रच्छन्न रखने की चेष्टा करे। दूसरे शब्दों में, साहित्यकार के निजी व्यक्तित्व की रेखाएँ अपने मूल या परिष्कृत रूप में उसके साहित्य-निर्माण की भित्ति होती हैं: किसी साहित्य का अनुशीलन तब तक पूर्ण नहीं माना जा सकता जब तक उसके निर्माता के व्यक्तित्व एवं जीवन-दर्शन की समीक्षा नहीं हो जाती।

प्रकृति-चित्रांकन की विविध शैलियों के मूल में भी हम किसी कवि या लेखक की विशिष्ट प्रवृत्तियों के दर्शन कर सकते हैं जो उसके व्यक्तित्व या अन्तःकरण के साथ अन्तर्भावित होती हैं। कौन कह सकता है कि कालिदास की प्रसन्न, सुकुमार एवं कमनीय प्रकृति के पीछे उनके निजी व्यक्तित्व की प्रसादनीयता, सौम्यता एवं तरलता की मूर्तियाँ नहीं उभरतीं ? उनके प्रकृति-चित्रण का अप्सरा-लोक हमें जीवन के संघर्षों एवं तन्निहित कष्टों तथा द्वन्द्वों से हठात् खींचकर भौतिक जीवन के जिस माधुर्य तथा सौन्दर्य-समृद्धि के दर्शन कराता है, उसमें उनके व्यक्तिगत जीवन की मृदुता, संतृप्ति विलास तथा ऋजुता के चित्र स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। मेघदूत के विरह-दग्ध यक्ष-हृदय से उठे उद्‌गारों में भी प्रकृति का जो रूप उभरा है, उसमें किसी पीड़ित हृदय की आकुलता तथा वेदना की सान्द्रता से कहीं बहुत अधिक विलास की मादकता तथा वासनापरक ऐन्द्रिय आग्रह का स्वर है जो इस काव्य के 'विप्रलम्भ शृङ्गार' के लिए समुचित भूमिका प्रस्तुत करता है। यहाँ जीवन की विभीषिका, निरीह मानव-मन की कातर पुकार तथा संघर्षों से हारे-थके हृदय के क्रुद्ध आक्रोशों के लिए न तो अवकाश है और न कालिदास जैसे कवि से ऐसे चित्रों की अधिक आशा ही की जा सकती है। ठीक इसके विपरीत, भवभूति की प्रकृति में जो रुक्षता, कठोरता तथा गम्भीरता के चित्र खुलते हैं, वे निश्चित रूप से कवि के व्यक्तिगत संघर्षों, स्वानुभूत कष्टों की जलन तथा गम्भीर जीवन-दर्शन की ओर संकेत करते हैं। भवभूति की कृतियों के अन्तःसाक्ष्य तथा वाह्य साक्ष्य के आधार पर उनके व्यक्तित्व या जीवन का जो मानचित्र खींचा जा चुका है, उनकी प्रकृति-चित्रण की पद्धति पर भी उसका गहन प्रभाव देखा जा सकता है। संक्षेप में, संस्कृत-साहित्य के उक्त दोनों महान् नाटककारों की प्रकृति-चित्रण-शैली पर उनके अन्तःकरण तथा वैचारिक मान्यताओं की जो छाप लक्षित होती है, उसे इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है—कालिदास की प्रकृति जहाँ अपने मूल रूप में मृदु है, भवभूति की प्रकृति अपने मूल रूप में कठोर है; एक के चित्रण में यदि प्रकृति की नैसर्गिक मुस्कान, चान्द्र कान्ति एवं मधुर संगीत है, तो दूसरे के चित्रण में प्रकृति का दैष्टिक अट्टहास, सूर्यातप एवं रौद्रस्वर है; एक की प्रकृति में यदि मुग्धा नायिका के सहज संकोच, जिज्ञासु-भाव तथा मोहक भंगिमाएँ हैं तो दूसरे की प्रकृति में किसी प्रौढ़ा नायिका के कठोर अनुभव, अमर्षशीलता तथा तज्जन्य कुटिल भ्रूक्षेप हैं; एक ने यदि प्रकृति के माध्यम से अपने मीठे अनुभवों की बाँसुरी फूँकी है, तो दूसरे ने उसके द्वारा अपने तीखे अनुभवों का पांचजन्य मुखरित किया है; एक की प्रकृति यदि मुख्य रूप से शृङ्गार के लास्य में अंकुरित हुई है, तो दूसरे की प्रकृति वीर एवं करुणा की गम्भीर तथा कठोर भूमि पर प्रस्फुटित हुई है; एक के प्रकृति-चित्र यदि किसी वीचि-भरी नदी के कोमल प्रवाह की तरह अलस, मदिर एवं कलरवप्राय हैं, तो दूसरे के प्रकृति-रूप तरंगान्दोलित समुद्र की नाईं विराट्, विक्षुब्ध एवं प्रखर नाद से आक्रान्त हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि कालिदास तथा भवभूति की प्रकृति-चित्रण-पद्धति में कुछ मौलिक

अन्तर हैं जो इन दोनों कवियों के जीवन के प्रति भिन्न दृष्टिकोणों के स्वाभाविक परिणाम माने जा सकते हैं।

किसी साधारण व्यक्ति के जीवन की तरह ही किसी साहित्यकार या कलाकार के व्यक्तिगत जीवन में उथल-पुथल, अशान्ति एवं विपदाओं की आग जल सकती है; किन्तु, इन दोनों की तज्जन्य अनुभूतियों एवं संवेदनाओं में भारी अन्तर हो जाता है। एक सामान्य मनुष्य या तो अपनी आग को पचा नहीं पाता, या पचाता भी है तो उसका केन्द्र वह स्वयं होता है—इस आग को न तो वह रूपों में ढालने की चेष्टा करता है, और न उसमें उसे मानवता के सामान्य लक्षणों की संवेदनात्मक प्रतीति ही होती है। कला एवं साहित्य के स्रष्टा, ठीक इसके विपरीत, अपनी वैयक्तिक आग को पचाकर उसे जीवन तथा जगत् की व्यापक अनुभूतियों का केन्द्र बनाते हैं, उसे अपनी अभिव्यक्ति के विशिष्ट रूपों में ढालकर उसमें मानव प्रकृति के विश्वात्मभावों की स्थापना करते हैं। इस दृष्टि से उनका व्यक्तिगत विष भी जीवन एवं समाज का अमृत हो जाता है, उनके दुख की तीव्र ज्वालाएँ भी विशोधित होकर जन-मानस के 'आस्वाद' के विषय बन जाती हैं। कोई कवि या कलाकार जितना ही बड़ा होगा, उसकी सृष्टि में उसके 'स्व' का उतना ही विराट् विस्तार एवं सूक्ष्म घुलन दीख पड़ेगा। शेक्सपीयर, कालिदास, भवभूति प्रभृति विश्व वाङ्मय की महान् विभूतियों के वैयक्तिक जीवन के सारे राग-द्वेष, सुख-दुख आदि भाव उनकी रचनाओं में इस प्रकार घुल-मिल गये हैं कि आसानी से उन्हें बिलगाया नहीं जा सकता। कला के माध्यम से उनका जो कुछ निवेदन होता है, उसमें उनके 'अहम्' के समग्र रूप का कलात्मक चैतन्य में उदात्त रूपान्तरण ही लक्षित होता है। वे अपने व्यक्तिगत जीवन में अपने लिए चाहे जितना भी जीएँ, सोचें, समझें; किन्तु अपनी कला-चेतना में वे समष्टि की धुरी बन जाते हैं। उनके जीवन तथा कलागत मूल्यों का यह स्वरूप उनकी प्रकृति-चित्रण की शैलियों में भी खोजा जा सकता है।

महाकवि भवभूति के प्रकृति-चित्रों में उनके व्यक्तित्व का जो अंश फैल गया है, उसकी घुलनशीलता तथा उदात्तता के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। अपने नाटकों की प्रस्तावना में उन्होंने अपने विषय में जो थोड़ा प्रकाश डाला है, उससे इतना निश्चित-सा लगता है कि साहित्य के पारखी उनके कृतित्व का सही मूल्यांकन नहीं कर पाये। उनकी प्रारम्भिक कृतियों की तीव्र आलोचना हुई और इस आलोचना से कवि का व्यक्तित्व तिलमिला-सा गया। सम्भवतः, जैसा कि पिछले प्रकरण में दिखाया जा चुका है, आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से भी कवि को वैसी सुविधा प्राप्त नहीं हो सकी जैसी उनके पूर्ववर्ती कालिदास को मिली थी। भवभूति के वैयक्तिक जीवन की ऐसी सारी कुण्ठाएँ विरासत के रूप में उनके कवि को मिलीं। फलतः जीवन के प्रति कवि के दृष्टिकोण में एक विशिष्ट मोड़ आना स्वाभाविक हो गया। संक्षेप में, भवभूति के जीवन की असफलताएँ एवं कुण्ठाएँ उनके कला-रूप में ढलकर गम्भीरता, साहस, जुगुप्सा, भय, क्रोध, शोक आदि के उदात्तीकृत परिवेश में वीर, बीभत्स, भयानक, रौद्र एवं करुण

रसों में फलीभूत हुई हैं। उनके शृंगारिक प्रकरणों में भी जिस नियम, संयम तथा अनुशासन के दर्शन होते हैं, उनके मूल में भी उनके व्यक्तित्व की वही आभा द्रष्टव्य है।

ऊपर भवभूति की प्रकृति का जो रूप दिखाया गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपनी प्रतिभा के अनुकूल ही अपने नाटकों में प्रकृति-चित्रों को सजाया है। यदि वे कालिदास की तरह प्रकृति के कोमल जीवन को वाणी देना चाहते, तो सम्भवतः उनकी शैली कृत्रिम हो जाती और उनके चित्र पाठकों एवं दर्शकों के मन पर अपने अभीष्ट प्रभाव नहीं डाल पाते। किसी कवि या कलाकार की अभिव्यक्ति उसकी स्वानुभूति के जितनी ही निकट होगी, उसमें उसी मात्रा में स्वाभाविकता एवं प्रेषणीयता की कान्ति उभरेगी। भवभूति का कवि जीवन और समाज की जिस मिट्टी से तैयार हुआ, उसके प्रकृति-चित्रों में उसी की गन्ध भीनी हुई है और यह उसके कवित्व के प्रकर्ष का मूल रहस्य माना जा सकता है। उसमें प्रकृति के किसी ऐसे रूप को अपनी अभिव्यक्ति में ढालने का व्यामोह नहीं दीखता जो उसकी आभ्यन्तर प्रकृति के रंग में डूबा हुआ नहीं है—पर्वत, नदी, निर्झर, कान्तार, कानन आदि उसके सभी वर्ण्य चित्रों में उसके स्वभाव की विलक्षणता, गांभीर्य तथा ऊर्जा प्रतिध्वनित हुई है। प्रकृति के ये रूप उसके 'स्व' के कलात्मक परिपाक के आदर्श प्रतिरूप हैं। उसमें कहीं भी अपने लक्ष्य से फिसलन नहीं, अपनी रीतिको हठात् तोड़ने का दुराग्रह नहीं।

इस तरह भवभूति की नाट्य-कृतियों में विचारों एवं भावों के जिन-जिन बिम्बों को स्वीकृति मिली है, उनकी प्रकृति भी स्वभावतः उन्हीं के ताने-बाने में प्रकट हुई है। उनकी वस्तु-योजना के संदर्भ में प्रकृति का यह वैशिष्ट्य तो मिलता ही है; जहाँ उन्होंने प्रकृति को अपेक्षाकृत स्वतन्त्र रूप से देखा है, वहाँ भी उन्हें वह उसी रूप में दिखायी पड़ी है। वस्तुतः प्रकृति के आलम्बन-रूप का ऐसा कोई भी पक्ष नहीं, जो मानवीय भावों के आवेग से बिलकुल ही कतराकर चलता हो। उसके उद्दीपन-रूप का विशिष्ट भाव-सम्बन्ध तो प्रत्यक्ष ही होता है, किन्तु उसके रूप के तटस्थ चिन्तन में भी मानव-हृदय की वैयक्तिक अथवा समष्टिगत भावनाएँ बीज-रूप में वर्तमान होती हैं। सम्भवतः यही कारण है कि भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रकृति-जीवन के उद्दीपन-पक्ष को ही प्रधानता दी गयी है। कोई भी कवि जीवन और जगत् के अणु-अणु में व्याप्त प्राकृतिक उपादानों के सम्बन्ध में जब भी विचार करेगा, अपने हृदय के किसी-न-किसी भाव में उनके स्फुरण की प्रतीति करेगा ही।[१] काव्य-सृष्टि के ऐसे भावशील

१—तुल० "अधिकतर हम किसी भाव-शून्य स्थिति में प्रकृति के सम्पर्क में नहीं आते। इस विचार-शैली के अनुसार, जब हम प्रकृति को आलम्बन-रूप में ग्रहण करते हैं, उस समय भी हमारी मनःस्थिति सूक्ष्म रूप से किसी न किसी भाव से सम्बन्धित रहती है।...सामाजिक विकास की स्थिति में हमारा वातावरण मानवीय सम्पर्क से इतना सघन हो उठा है कि इसमें भावों के आलम्बन के लिए मानवीय सम्बन्ध ही अधिक प्रत्यक्ष हो उठता है। आलम्बन रूप में प्रकृति की उपेक्षा का एक कारण यह भी है।

—श्री रघुवंशकृत 'प्रकृति और काव्य' (संस्कृत–साहित्य), पृ० ४१–४२।

क्षणों में प्रकृति और मानव जीवन के बीच किसी प्रकार के ताटस्थ्य की परिकल्पना नहीं की जा सकती। यही कारण है कि भवभूति की प्रकृति के आलम्बन रूप में भी वे ही विशेषताएँ विद्यमान हैं जिन्हें हम उसके उद्दीपन-रूप में पाते हैं।

एक अन्य कारण जो भवभूति की प्रकृति-सृष्टि में परोक्ष-रूप से सहायक है, वह है उनके जन्म-स्थान की भौगोलिक स्थिति। उनके नाटकों में दक्षिण के उष्ण-कटि-बन्धीय बीहड़ जंगलों, पहाड़ों, झरनों, नदियों तथा श्वापदों के जैसे यथार्थ चित्र आये हैं, उनसे स्पष्ट है कि कवि को उनके सान्निध्य में रहने तथा उनकी विशेषताओं का प्रत्यक्ष अनुभव करने का पर्याप्त अवसर मिला था। यह उनके विदर्भ तथा दक्षिण के अन्य स्थानों से घनिष्ठ सम्बन्ध का परिचायक है। किन्तु किसी कवि की प्रतिभा को विशिष्ट रूप प्रदान करने में उसके जीवन की भौगोलिक स्थिति एक सीमित भूमिका ही प्रदान करती है। दक्षिण के अन्य कई कवि ऐसे हैं जो लगभग वैसे ही वातावरण में पनपे और विकसित हुए जैसे स्वयं भवभूति। किन्तु प्रकृति की दारुण वृत्तियों तथा प्रचण्ड जीवन के जो यथार्थ अंकन भवभूति में प्राप्त होते हैं, उनका कोई सादृश्य एवं समानान्तर किसी दाक्षिणात्य कवि में नहीं के बराबर है। दक्षिण के अन्य कवियों में यदि कहीं प्रकृति का कोई विकट रूप स्फुटित हुआ है, तो उसकी तुलना में उनकी प्रकृति के कोमल चित्र कहीं अधिक हृदयग्राही एवं भावोत्तेजक हैं—वस्तुतः उन कवियों का वैशिष्ट्य प्रकृति के इन्हीं कोमल रूपों में है। इधर भवभूति की प्रकृति-चित्रांकन की विशिष्ट पद्धति कुछ दूसरी ही है; उनमें जीवन के गंभीर चित्रों के सामंजस्य में प्रकृति के विकट रूपों को चित्रित करने का आग्रह बराबर दीखता है। कहीं-कहीं प्रकृति की कोमलता की ओर भी उनका रुझान अवश्य हुआ है, किन्तु वह उनका मूल स्वर नहीं है—वहाँ भी उनका मनोगत गांभीर्य सूक्ष्म रूप से वर्तमान है। उनके प्रकृति-दर्शन का सहज विकास जीवन की कोमल घड़ियों में नहीं, प्रत्युत जटिल एवं कठोर घड़ियों में है। उनके प्रकृति-सौन्दर्य के प्रायः प्रत्येक बिम्ब में इस दर्शन की स्पष्ट छाया देखी जा सकती है। अतः हमारी सम्मति में किसी कवि विशेष की प्रतिभा को एक विशिष्ट दिशा देने में उसके जीवन की भौगोलिक स्थितियों से कहीं अधिक महत्त्व उसकी संस्कारगत विलक्षणताओं तथा आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों को दिया जाना चाहिये जिनके निर्देशन में उसके व्यक्तित्व तथा कृतित्व को ढलना होता है।

जिस प्रकार भवभूति की नाट्यकृतियों के अध्ययन से उनकी नाट्यकला के विकास के चरण स्पष्ट देखे जा सकते हैं, उसी प्रकार उनके प्रकृति-दर्शन के क्रमिक विकास का भी विधिवत् परीक्षण सम्भव है। वस्तुतः कोई कवि प्रकृति के बहुरंगी दृश्यों के प्रति अपनी काव्य-चेतना के उन्मेष में कितना एवं किस प्रकार संवेदनशील है, इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध उसकी प्रतिभा के विशिष्ट स्तर से होता है। दूसरे शब्दों में, किसी कवि की प्रकृति-चित्रांकन की पद्धति वह दर्पण है जिसमें हमें उसके काव्य के स्वरूपों की

प्रतिच्छवि स्पष्टतः दीख जाती है। इसका कारण है दृश्य-जगत् के संवेदनशील रंगों के साथ कवि के भावुक हृदय का आत्मीय एवं सहज भाव—कवि के कवित्व का अमूर्त रूप प्रकृति की सौन्दर्य-प्राण मूर्तियों में बड़ी तत्परता एवं स्वाभाविकता के साथ रूपायित हो जाता है। फलतः प्रकृति-चित्रण की शैलियों में किसी कवि के भावोन्मेष की रीतियाँ स्पष्टतः स्फुरित हो उठती हैं। ऋतुसंहार की स्थूल प्रकृति की अपेक्षा मेघदूत अथवा अभिज्ञान-शाकुन्तल की सूक्ष्म प्रकृति कालिदास की निरन्तर विकासोन्मुख प्रतिभा की सूचक तो है ही, इसमें उनके सुविकसित जीवन-दर्शन, काव्यरूपों के मर्यादित एवं अन्तःस्पर्श बिम्बों तथा शैलीगत प्रौढ़ि आदि के आयाम भी खुलते हैं। भवभूति के काव्यों के क्रमिक विकास की सूक्ष्म बारीकियों के अनुशीलन के लिए प्रकृति की कोई विशाल पट्टभूमि प्राप्त नहीं होती; कारण, उनकी दृष्टि काव्य के एक परिसीमित क्षेत्र में ही अपना विकास करती है। कालिदास की तरह उसे दृश्य तथा श्रव्य दोनों प्रकार के काव्यों में अपने चमत्कार दिखाने का अवसर नहीं मिलता। जैसा कि ऊपर निवेदित है, दृश्य काव्य में एक निश्चित सीमा तक ही प्रकृति-रूपों का नियोजन किया जा सकता है, उससे आगे बढ़ने पर नाट्य के भाव-संविधान के बिगड़ने का डर बराबर बना रहता है। अतः रंगमंच की सीमाओं में आबद्ध होकर भवभूति ने अपनी तीन नाट्यकृतियों में यदा-कदा प्रकृति की जो भंगिमाएँ व्यक्त की हैं, हमें उसी से सन्तोष करना है। फिर भी, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा, कालिदास के बाद संस्कृत में भवभूति को छोड़कर कदाचित् दूसरा कोई कवि नहीं हुआ जिसने अपने नाटकों में प्रकृति को एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया हो और अपनी मूर्तिविधायिनी प्रतिभा से उसके अभिनव रूपों को सज-सँवारकर खड़ा किया हो। हाँ, अपने श्रव्य काव्यों में इन दोनों महाकवियों के अतिरिक्त भी भारवि, माघ, श्रीहर्ष, प्रवरसेन प्रभृति कितने कवियों ने प्रकृति के एक से एक रमणीय चित्रों की उद्भावभा की। इस दृष्टि से सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में कालिदास और भवभूति ही ऐसे दो कवि हैं जो दृश्यकाव्य के नपे-तुले रूपों में भी बड़ी सफलता तथा मौलिकता के साथ प्रकृति-चित्रों को निबद्ध कर सकते हैं। कालिदास को तो फिर भी इस संदर्भ में कुछ सुविधा प्राप्त है, चूँकि उन्होंने अपने महाकाव्यों एवं गीतिकाव्यों में प्रकृति के जिस रूप की कल्पना की है, उसे ही अपने नाटकों में एक आवश्यक सीमा तक उतार दिया है; तात्पर्य यह कि उनके नाट्यगत प्रकृति-दर्शन को उनके अन्य काव्यों से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। इधर भवभूति को अपने प्रकृति-दर्शन को विकसित करने का इतना व्यापक क्षेत्र कभी नहीं मिला; फिर भी, अपने नाटकों में, नाटकीय शिल्प एवं भाव-संविधान के बन्धन में रहकर भी, उन्होंने प्रकृति को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य के लिए अभूतपूर्व और विलक्षण है। कालिदास की सुकुमार प्रकृति की नवनवोन्मेषशालिनी छटा के तन्तुओं की विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि उसकी परम्परा निश्चित रूप से वाल्मीकि, भास, अश्वघोष आदि कवियों में वर्तमान थी—कालिदास ने उसी परम्परा को अपनी उर्वर कल्पना तथा प्रखर प्रतिभा के संयोग से एक अभिनव रूप प्रदान किया है। किन्तु भवभूति की प्रकृति का जो

वैशिष्ट्य हमारे सामने प्रकट होता है, उसकी कोई निश्चित परम्परा भवभूति से पूर्व प्राप्त नहीं होती—वे स्वयं इस परम्परा के प्रवर्तक माने जा सकते हैं। यह कालिदास एवं भवभूति के प्रकृति-चित्रण की पद्धति में एक मूलभूत अन्तर है जो सिद्ध करता है कि मौलिकता की दृष्टि से भवभूति की प्रकृति कालिदास की अपेक्षा कहीं अधिक आकर्षक है।

अब हम भवभूति की प्रकृति-चित्रण-पद्धति के क्रमिक विकास का अध्ययन उनकी तीन नाट्यकृतियों के प्रकाश में करेंगे। किन्तु, इसके पूर्व कि हम इस विकास की शृंखलाओं को विधिवत् समीक्षित करें, हमारे लिए यह जान लेना अभीप्सित होगा कि प्रकृति-चित्रांकन की वह कौन-सी महनीय भूमि है जो उसका आदर्श मानी जा सकती है। इस सम्बन्ध में मोटे तौर से यही स्थापना सर्वमान्य रही है कि जिस कवि ने प्रकृति को आलम्बन का एक महत्त्वपूर्ण विषय समझा, मानव जीवन के संवेगों से पृथक् उसके स्वतन्त्र जीवन की बहुविध भंगिमाओं को व्यक्त किया तथा मानव हृदय के भावोद्गारों को उसपर आरोपित करके उसके नैसर्गिक सौन्दर्य को परमुखापेक्षी नहीं बनाया, वही वस्तुतः उसके आदर्श रूप को सहृदयतापूर्वक अपने शब्दों में बाँधने में समर्थ हुआ। इस दृष्टि से निहारने पर संस्कृत साहित्य में कालिदास एवं भवभूति जैसे इने-गिने कवि ही ऐसे दीखते हैं जिन्होंने प्रकृति को अपने काव्यों में ऐसा गौरव प्रदान किया है। यह तो हुआ प्रकृति के आदर्श रूप की एक सीधी-सी सूत्रबद्ध परिकल्पना जो 'वस्तु' की सीमा में सन्निविष्ट की जा सकती है। अब उस वस्तु को व्यक्त करने की एक 'विधि' या 'रीति' भी होती है जो हमारे मानस-चक्षु के आगे उसके आकार को अपने ढंग से प्रस्तुत करती है। प्रकृति के उक्त आदर्श सौन्दर्य तक किसी कवि की पैठ ही अलम् नहीं है, वह उसे किन शब्दों तथा बिम्बों में ग्रहण करता है, इसका काव्य-कला की दृष्टि से कहीं अधिक महत्त्व हो जाता है। अतः जहाँ किसी वस्तु के स्वरूप-निर्धारण में किसी कवि की अन्तर्दृष्टि का परिचय मिलता है, वहाँ वस्तु की अभिव्यंजना में उसकी काव्य-प्रतिभा का रूप खुलता है। यह वस्तु चाहे प्रकृति हो या और कोई भी विषय, उसके सम्यक् मूल्यांकन के लिए तद्गत दर्शन एवं अभिव्यंजन दोनों को दृष्टि में रखना होगा। प्रकृतिगत वस्तु एवं उसको शब्दों में बाँधने की विधि के अतिरिक्त कुछ दूसरे भी तथ्य हैं जो भवभूति की प्रकृति की बारीकियों को समझने में साधक होंगे। सबसे पहली बात यह है कि भवभूति एक नाटककार हैं और इस दृष्टि से उनकी प्रकृति का नाटकीय औचित्य क्या है, उन्होंने अपने नाट्यगत भाव एवं शिल्प के सामंजस्य में अपनी प्रकृति को कैसे, कहाँ और क्यों रखा है, इस पर विचार करना भी समीचीन होगा। दूसरी वस्तु भवभूति की प्रकृति के आयाम, उसकी चित्रमयता तथा मौलिकता आदि से सम्बद्ध है। भवभूति के प्रकृति-चित्र किस प्रकार विकास पाते हैं, इस सन्दर्भ में हमें इन सारी बातों को ध्यान में रखकर चलना होगा।

———

अध्याय २

महावीरचरित : भवभूति की प्रकृति का आदिस्वरूप

यों तो पुष्ट प्रमाणों के अभाव में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है, किन्तु कतिपय अन्तः प्रमाणों के आधार पर सत्य यही जान पड़ता है कि महावीरचरित ही भवभूति की प्रथम नाट्यकृति है। इसके सम्बन्ध में पिछले प्रकरण में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है और महावीरचरित के आरम्भिक कृति होने के पक्ष में उसके प्रकृति-चित्रण के स्वरूप को भी एक हेतु स्वीकार किया गया है। वस्तुतः, जैसा कि हम पहले कह आये हैं, प्रकृति के मांसल चित्रों के कलात्मक उभार में जहाँ किसी कवि की परिणत प्रतिभा की झलक मिलती है, वहाँ प्रकृति के प्रति उसके उपेक्षा-भाव अथवा स्थूल प्रयोगों में उसकी प्रतिभा के प्रारम्भिक चरण खोजे जा सकते हैं। लेकिन यदि इस मापदण्ड को मानकर भी चलें तो भवभूति की प्रकृति के अध्ययन में कठिनाई बनी की बनी रहती है। यहाँ समस्या यह है कि भवभूति की तीनों नाट्यकृतियों में प्रकृति-चित्रण की रीति एवं सौन्दर्य-स्तर में कोई स्पष्ट भेद प्रतीत नहीं होता। यदि महावीर-चरित को कवि की प्रथम नाट्य-रचना मान भी लें तो इसमें और इनकी परिणत कृति उत्तररामचरित में वह अन्तर नहीं दिखाई देता जो कालिदास के ऋतुसंहार और मेघदूत अथवा मालविकाग्निमित्र एवं अभिज्ञानशकुन्तल के बीच दीख पड़ता है। भवभूति की तीनों ही नाट्यकृतियाँ उनके परिपक्व मस्तिष्क की सूचना देती हैं; उनमें से कोई ऐसी नहीं जो 'कच्ची' कही जा सके, अथवा नाटकीय प्रौढ़ि के न्यूनतम उत्कर्ष से रहित दिखाई दे। सम्भवतः भवभूति नाटक-रचना में उस समय प्रवृत्त हुए जब उनकी कारयित्री प्रतिभा अपने विकास का एक निश्चित स्तर प्राप्त कर चुकी थी। अतः स्वभावतः ही महावीरचरित में प्रकृति का यत्किंचित् रूप प्राप्त होता है उसमें कलात्मक दृष्टि से किसी प्रकार का घटियापन या कचापन नहीं मिलता। क्या वस्तु और क्या भाव, दोनों ही दृष्टियों से इस नाटक में भवभूति की कुछ निश्चित उपलब्धियाँ दीखती हैं और उन्हीं के समानान्तर यदा-कदा प्रकृति-चित्रों का विन्यास भी किया गया है। यहाँ, इस सन्दर्भ में, एक उदाहरण लिया जा सकता है जो किसी भी मानी में भवभूति की उर्वर कल्पना एवं मौलिक स्वर-संयोग से अस्पृष्ट नहीं माना जा सकता।[1]

---

१. गर्जाजर्जरितासु दिक्षु बधिरे तत्स्फूर्जथुस्फूर्जितै—
व्योम्नि भ्राम्यति दुष्प्रभञ्जनजवादभ्रेऽप्यदभ्रे मुहुः।
आक्षिप्यान्धयति द्रुमान्धतमसे चक्षुः प्रविश्य क्षपा
यत्रासीत्क्षपिता क्षरज्जलधरे स्वक्सारलक्षीकृते॥

—म० च० : ७ : १२।

इस श्लोक में लक्ष्मण ने दण्डकारण्य में आकाशमार्ग से दीखनेवाले बाँसों के झुरमुट से संलग्न उस जीर्णकन्दर की ओर राम का ध्यान आकृष्ट किया है जहाँ सीता-विरहित होकर उन दोनों ने बिजली की कड़क, मेघाच्छन्न आकाश के भयंकर गर्जन, सघन वृक्षों द्वारा आपातित सूचीभेद्य अन्धकार तथा निरन्तर बरसते मेघों से युक्त एक रात बितायी थी। सीता के खो देने के पश्चात् राम के प्राणों में जो तूफान समा गया था, उनके भीतर और बाहर जो आकुलता, सघन आर्द्रता एवं अन्धकार घिर आये थे, उन सबका जीवन्त प्रतिनिधित्व करनेवाला प्रस्तुत श्लोक भवभूति की विराट् एवं संवेदनशील प्रकृति का एक सुन्दर निदर्शन है। यहाँ कन्दरा का सूनापन प्रकृति के उग्र क्षोभ के चित्रों से और भी घनीभूत हुआ-सा लगता है; राम के संतप्त हृदय की मूक एवं अमूर्त ज्वालाएँ सदेह होकर प्रकृति के विराट् स्वरूप में प्रतिध्वनित होती हुई-सी प्रतीत होती हैं। स्पष्ट है कि यहाँ राम या सीता के किसी भाव-विशेष का आरोप प्रकृति पर नहीं किया गया है—प्रकृति की कल्पना उनके जीवन से सर्वथा स्वतन्त्र की गयी है। फिर भी, मानो वह राम के विषाद एवं विरह-शोक के समास में स्थित है, राम के प्रति सहानुभूति एवं प्रीति के मधुर भाव सँजोये हुई है। राम अपनी चिन्ता, व्याकुलता एवं आँसुओं में अकेले नहीं हैं; प्रकृति स्वयं भी उनके शोक से उद्विग्न एवं तरल होकर मानो उनके प्रिया-विरहित जीवन की संवेदनशील सखी है। प्रकृति के इस सख्य-भाव के अतिरिक्त यहाँ राम के विरही हृदय के लिए एक और भावुक संकेत भी है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह मानव मन की एक सहज वृत्ति है कि प्रकृति के ऐसे सारे कुटिल भ्रूक्षेपों के समय उसे अपने बिछुड़े प्रणयी किम्वा प्रणयिनी के सम्बन्ध में अशुभ शंकाएँ होने लग जाती हैं। यहाँ स्थान एवं काल की दृष्टि से राम को जिस विकट स्थिति में चित्रित किया गया है, उसमें स्वभावतः ही उन्हें सीता की मर्मान्तक स्मृति हो रही होगी—सुकुमारी एवं स्वभावभीरु सीता इस भयंकर रात्रि में कहाँ होगी, कैसी होगी? अतः प्रकृति-जीवन के इस दारुण परिपार्श्व में राम के उद्दीप्त विरह-भाव तथा सीता के प्रति उनकी अतिशय अधीरता का सहज ही अनुमान हो जाता है।

इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में एक साथ ही कई ऐसे भावों की सामर्थ्य प्राप्त होती है जो इसमें निरूपित प्रकृति को अत्यन्त उत्कर्ष प्रदान करती है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि अतीत के शोक-प्रसंगों का वर्तमान के सुख एवं हर्ष-भरे क्षणों में स्मरण किया जा रहा है—लक्ष्मण की इस उक्ति के समय राम एवं सीता का पुनर्मिलन हो गया होता है। अतः उक्त श्लोक के राम के अतीत एवं वर्तमान दोनों के लिए दो पृथक् संकेत उपलब्ध होते हैं। अतीत के अर्थ की व्याख्या ऊपर की जा चुकी है; वर्तमान के लिए उससे सर्वथा विपरीत अर्थ की निष्पत्ति होती है। सुख के क्षणों में बीते दिनों के कष्टों एवं पीड़ाओं की स्मृति भी मिश्री की तरह मधुर तथा आह्लादपरक सिद्ध होती है। अतीत की वह तूफानी रात राम एवं सीता के साम्प्रतिक मिलन-सुखों की उष्णता एवं सान्द्रता की पुष्टि करती है। उस तूफान और अशान्ति से वर्तमान की परम शान्ति तथा

प्रसन्नता की झलक मिलती है। संक्षेप में, कवि ने राम तथा सीता के मिलन-सुखों की अतिशयता को उनके अतीत शोक को मूर्त रूप प्रदान करनेवाले प्रस्तुत श्लोक के विरोध (Constral) द्वारा और भी जीवन्त एवं मधुर बना दिया है। वाल्मीकि एवं कालिदास ने भी क्रमशः अपनी रामायण और रघुवंश में एक ऐसे ही प्रसंग की कल्पना की है, जब कि आकाश-मार्ग से दण्डकारण्य आदि पूर्व परिचित प्रदेशों को देखकर राम भाव-विभोर हो जाते हैं।[१] आदिकवि ने अपने चरितनायक के इस कथाभाग को बड़ी ही चित्रमय, सरल तथा प्रभावोत्पादक शैली में व्यक्त किया है—उसके पठन से अयोध्या के मार्ग में पड़नेवाले स्थावर-जंगम दृश्य हमारे मानस-पटल पर चलचित्र की नाईं घूमने लग जाते हैं। रघुवंश के त्रयोदश सर्ग का स्पष्टतः यही उपजीव्य रहा है; कालिदास के उत्कृष्ट काव्य-शिल्प में उसका रूप और भी निखर उठता है। सीता-वियोग से सम्बद्ध जिन चित्रों का वाल्मीकि ने एक हल्का संकेत मात्र किया है, उनका कालिदास की उर्वर कल्पना ने कलात्मक पल्लवन कर दिया है।

राम अपने पास बैठी सीता के प्रति अपने भावोद्गारों को निवेदित करते हुए अपने पूर्व विरह की दुस्सहता को बड़े ही कलात्मक बिम्बों के माध्यम से प्रकट करते हैं। ध्यान से देखा जाय तो प्रसंग में साम्य होते हुए भी कालिदास एवं भवभूति की प्रकृति वहाँ दो रूपों में प्रकट होती है। दोनों में पहला भेद तो यह है कि कालिदास ने जहाँ अपनी भावाभिव्यक्ति को एक पूरे सर्ग का विस्तार दिया है—उनकी महाकाव्य-दृष्टि के लिए यह सर्वथा प्रत्याशित और आवश्यक भी है—वहाँ भवभूति ने बहुत नपे-तुले शब्दों के द्वारा उसी चित्र को अपनी परिमित नाटकीय वस्तु के सन्तुलन में ग्रहण किया है। आकाश-पथ से अपने अतीत जीवन के अत्यन्त संवेदनशील एवं मर्मस्पर्शी पृष्ठों का अवलोकन राम और सीता दोनों के लिए ही काफी भावोत्तेजक है; दोनों कवियों ने इस 'उत्तेजन' को अपने-अपने ढंग से पकड़ा है और अयोध्या-निवर्तन के समय उसकी रसमयी अर्थवत्ता सिद्ध की है। किन्तु दण्डकारण्य की सुपरिचित स्थलियाँ कालिदास के राम के लिए प्रधानतया उद्दीपन होकर आती हैं। पर्वत, कन्दराएँ, मेघ, आसार गर्जन आदि यहाँ भी हैं; किन्तु एक तो वे राम के विरही हृदय में प्रायः सीता के किसी-न-किसी भाव के प्रतीक बनकर टीस उत्पन्न करते हैं; दूसरे, इन सबमें कालिदास की 'कोमल' प्रकृति का रूप ही खड़ा होता है। उधर भवभूति ने प्रकृति की उक्त सभी स्थितियों को एक ही श्लोक में आलम्बन के रूप में ग्रहण तो किया ही है, साथ ही, उनकी प्रकृति का यह आलम्बन कठोर, विषम एवं रुक्ष है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रकृति के इस आलम्बन से नाटकीय वातावरण की सृष्टि में सहयोग मिलता है, क्योंकि प्रकृति का उद्दीपन वातावरण से अधिक मानव मन के विशिष्ट भावों का ही पोषण करता है; अतः श्रव्यकाव्य के लिए चाहे उसका जो मूल्य हो, नाटकों के दृश्यात्मक

---

१. रामा : युद्धकाण्ड : सर्ग १२३।
तथा रघु० : सर्ग १३।

परिवेश के लिए उसका औचित्य कम ही ठहरता है। फिर, सीता-विरहित राम के मानसिक संवेगों की जैसी सशक्त व्यञ्जना भवभूति के उक्त श्लोक से होती है, वैसी कालिदास की कोमल पदावली में बँधी प्रकृति की स्निग्ध वर्णना से प्राप्त नहीं होती। वहाँ अधिक से अधिक राम के सीता-विषयक शोक एवं प्रणय की ही पुष्टि होती है; शोकाकुल राम के मन की आँधी कितनी तीव्र और विकट थी, इसका जीवन्त मापक भवभूति का उक्त श्लोक है। इस सन्दर्भ में भवभूति की भावना से सर्वाधिक निकट सम्भवतः कालिदास का एक ही श्लोक है।[1]

यहाँ भी स्पष्ट है कि उद्दीपक मेघ-गर्जन राम के पूर्वानुभूत सीता-आलिंगन का स्मरण कराता है, वह उनके वियुक्त हृदय में किसी प्रकार की आशंका, विपन्नता अथवा संघर्ष के चित्र नहीं उभार पाता। जो लोग भवभूति पर यह आरोप लगाते हैं कि वे व्यञ्जना से अधिक अभिधा एवं भाव-विस्तार में विश्वास करते हैं, उनके लिए महावीर-चरित के सप्तम अंक का यह अंश द्रष्टव्य है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पंचवटी-दर्शन का यह अंश राम एवं सीता दोनों की भाव-स्थितियों के लिए पर्याप्त उत्तेजक है, किन्तु भवभूति ने बहुत परिमित शब्दों में उन स्थितियों का अंकन किया है। पंचवटी की यही प्रकृति उत्तररामचरित के राम के लिए अपेक्षाकृत काफी विस्तार लेकर आती है, किन्तु वहाँ उस 'विस्तार' का ही नाटकीय औचित्य है, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा। वस्तुतः भवभूति प्रत्येक स्थिति में प्रत्येक भाव की विस्तृति नहीं करते—उनकी विस्तृति प्रायः वहीं दीखती है जहाँ उसकी कलात्मक आवश्यकता या भाव-सौन्दर्य के सम्यक् स्फुटन की दृष्टि से उपादेयता होती है।

कालिदास एवं भवभूति के उक्त प्रकृति-चित्रों की प्रभावशालिता में एक और प्रमुख अन्तर आ जाता है। द्रष्टव्य है कि उक्त श्लोक के पूर्व पंचवटी-दर्शन से प्रत्यक्षतः सन्दीपन प्राप्त करके राम ने कान्तार-भाग के एक विशिष्ट पार्श्व की ओर लक्ष्मण का ध्यान आकृष्ट किया है।[2] राम ने यहाँ **'एता भुवः परिचिनोषि'** कहकर वस्तुतः लक्ष्मण का ध्यान सघन तमालवृक्षों की छाया से अन्धकारमय शीतल निकुञ्जों तथा मलय पर्वत के उत्तुङ्ग शिखरों से प्रवहमान उच्छलित निर्झरों से कहीं दूर खींचना चाहा है। निस्सन्देह दण्डक के ऐसे प्रकृति-चित्र राम के लिए अत्यन्त मनोरम हैं, किन्तु यहाँ प्रकृति की रमणीयता से कहीं अधिक राम का तन्निविष्ट सीता-शोक अभिप्रेत है। राम की भावाविष्ट वाणी का मर्मसंकेत लक्ष्मण तुरत ग्रहण कर लेते हैं—**'आर्य ! ता एवैताः'**[3] में जो बल दिया गया

---

१. **पूर्वानुभूतं स्मरता च यत्र कम्पोत्तरं भीरु तपोपगूढम्।
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथञ्चिद्घनगर्जितानि॥** - रघु० : १३ : २८।

२. **एता भुवः परिचिनोषि मिलत्तमालच्छायान्धकारिततुषारनिकुञ्जपुञ्जाः।
उन्मूर्च्छदच्छमलयाचलतुङ्गशृङ्गप्राग्भारनिष्पतितनिर्झरपूरभाजः॥**

—म० च० : ७ : ११

३. वही, पृ० २४६।

है, वह लक्ष्मण की भाव-परिचिति का सूक्ष्म व्यंजक है। वे तुरत उसी वन-प्रदेश से संलग्न जीर्णकन्दर की चित्रमय, किन्तु दुर्धर्ष वर्णना में लग जाते हैं जो सीता-विरहित राम के कठोर अतीत को मूर्त रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करती है। इस चित्र को हृदयंगम कर लेने के बाद सीता का स्वगत भावोद्गार भी ध्यातव्य है।[१] किन्तु राम लक्ष्मण के द्वारा उत्थापित इन मर्मस्पर्शी चित्रों पर अपना कोई मत-प्रकाश नहीं देते—वस्तुतः यहाँ उनका मुखरित मौन ही उनकी अतीत व्यथा की मार्मिक अभिव्यक्ति बन जाता है; वे मुँह से कहकर अपने भावों को इस सीमा तक प्रकाशित नहीं कर सकते थे। यह भी महत्त्व की वस्तु है कि भवभूति के राम ने महावीरचरित या उत्तररामचरित के अत्यन्त भावशील सन्दर्भों में भी स्वयं अपने मुँह से लक्ष्मण या सीता के समक्ष अपने बीते दिनों की तीव्र विरहज्वाला का कहीं भी प्रकाशन नहीं किया है। यह काम प्रायः लक्ष्मण ही करते दृष्टिगोचर होते हैं जो अपने मर्यादा-पुरुषोत्तम अग्रज की एकान्त वेदना के साक्षी तथा स्वयं तद्भावभावित रहे हैं। राम की सीता-विषयक व्यथा की मर्यादा इसी में है कि वे उसे अपनी जीभ पर न लाएँ, अपने आँसुओं की तरल कहानी को असमर्थ तथा असंयत भाषा में न बाँधें। और भवभूति के राम ने सर्वदा इस मर्यादा का निर्वाह किया है। इससे एक ओर जहाँ उनकी वेदना की टीस और भी गम्भीर हो जाती है, वहाँ दूसरी ओर उनके मर्यादित व्यक्तित्व की गरिमा भी प्रकट होती है। हाँ, जहाँ सीता के शील, सौन्दर्य, या गुणों का वर्णन अभीष्ट हो, या सीता के प्रति अपनी अटूट प्रीति के संवेगों को व्यक्त करना हो, राम निस्संकोच अपनी ढेर की ढेर भावनाएँ सामने रख देते हैं। इससे प्रकट होता है कि वे प्रीति-वेग को तो प्रकाश की वस्तु मानते हैं, किन्तु प्रीति की पीड़ा को सर्वथा वैयक्तिक, पवित्र तथा मनोभोग्य समझते हैं। इसकी तुलना में कालिदास के राम कुछ ओछे नजर आते हैं। वे निस्संकोच भाव से प्रकृति-चित्रों की कोमल योजना में अपने आँसुओं की कहानी स्वयं कह जाते हैं।[२] इससे प्रकृति के उद्दीपन की चाहे जैसी सरस व्यंजना हो, राम की सीता-विषयक विरहवेदना की गरिमा अवश्य नष्ट हुई-सी लगती है। अतः राम के धीरोदात्त व्यक्तित्व को जितना भवभूति ने स्फुटित किया है, उतना निश्चित रूप से कालिदास नहीं कर सके हैं।

जिस समुद्र की मनोहारी एवं अपूर्व वर्णना में कालिदास ने सोलह श्लोक प्रस्तुत किये हैं,[३] उसे भवभूति ने एक छोटे-से श्लोक में ही निबद्ध किया है।[४] निस्सन्देह

१. **अहो पमादो। कहं मह मन्दमाइणीए दुट्ठदेव्वेहिं एदे वि. महाणुहावा ईरिसं अवत्थन्तरं अनुहाविदा।**

—वही, पृ० २४६।

२. र० वं० : १३ : २६, ३२।

३. वही : १३ : २–१७।

४. **साक्षात्किलाष्टमूर्तेस्तिस्यैषा मूर्तिरम्मयी प्रथमा।**
गीतः सागर इति नृभिरपरिच्छेद्यात्मगाम्भीर्यः॥—म० च० : ७ : ९।

कालिदास के समुद्र-वर्णन के प्रकाश में देखने पर यह सागर का एक साधारण चित्र उपस्थित करता है---वस्तुतः यह सागर से अधिक उसके कर्तृत्व की महिमा व्यंजित करता है। सम्भवतः इसका कारण यही है कि महावीरचरित में विधि, समय एवं स्थान की दृष्टि से कथा का तीव्र आग्रह है; विस्तृत कथा को मंच पर उपस्थित करने के लिए कई ऐसे चित्रों को या तो छोड़ देना पड़ा है, या उनका दिङ्मात्र संकेत करके आगे बढ़ जाना पड़ा है। हाँ, प्रकृति के वैसे स्थल, जिनका राम के भावनात्मक जीवन के साथ अत्यन्त प्रगाढ़ सम्बन्ध है, यहाँ काव्य के विविध रंगों में अवश्य व्यक्त हुए हैं। समुद्र के दृश्य-रूप का चाहे किसी प्रकृतिवादी की दृष्टि में पर्याप्त महत्त्व एवं आकर्षण क्यों न हो, भवभूति के दृष्टिबिन्दु में राम के भावनात्मक जीवन के साथ उसका कोई प्रत्यक्ष मेल नहीं जान पड़ता। हाँ, सागर पर निर्मित नल-सेतु सीता की प्राप्ति के निमित्त राम के प्रबल साहस एवं शौर्य का प्रतीक अवश्य है; इसीलिए इस सेतु के चित्रांकन में भवभूति अपेक्षाकृत एक बड़ा-सा श्लोक प्रस्तुत करते हैं जिसमें सेतु के मनोरम वर्णन के पीछे राम की शक्ति, भावना तथा साहस के चित्र स्वतः स्फुटित हो जाते हैं।[१] यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि आदिकवि ने इस सेतु की भावात्मक स्थिति की ओर जहाँ स्थूल संकेत मात्र देना ही पर्याप्त समझा है, वहाँ कालिदास अपने सागर-वर्णन के उत्साह में इसे बिलकुल ही भूल जाते हैं। उधर कथा के नाट्यमर्म को प्रकट करने के प्रक्रम में भवभूति अनन्त सागर को ही स्थूल समझते हैं, किन्तु उसके अपार विस्तार पर बने उस अपेक्षाकृत अत्यन्त छोटे तथा सीमित पुल को बड़े ही सशक्त शब्दों में व्यक्त करते हैं। सीता अपनी सहज जिज्ञासा में सेतु को **'धवलंसुअं विअ अहिणवतिणच्छण्णासु भूमिसु'**[२] कह जाती हैं। यहाँ समुद्र के गहरे नीले जल को अभिनवतृणाच्छन्न भूमि कहकर व्यापक सौन्दर्य दिया ही गया है, किन्तु उससे भी अधिक उसकी गहन नीलिमा पर आस्तीर्ण सेतु को 'धवलांशुक' की उपमा देकर एक नितान्त उपयुक्त एवं रम्य सादृश्य की अवतारणा की गई है। इस सेतु-रूप अंशुक की 'धवलता' आगे चलकर और भी सटीक हो जाती है जब लक्ष्मण उसे अपार सागर के तरंगायित वक्ष पर अवस्थित रामचरित के कीर्तिस्तम्भ की संज्ञा प्रदान करते हैं। अतः भवभूति प्रकृति को न केवल अभिनव रूप में प्रभावपूर्ण चित्रमयता के साथ अपने नाटकों में सन्निविष्ट करते हैं, प्रत्युत उसे अपनी नाटकीय भाव-धारा के विकास का अभिन्न अंग बना लेते हैं। काव्योन्मेष के उद्दाम क्षणों में भी वे नाटककार के धर्म का परित्याग नहीं करते—उन सम्मोहक चित्रों को भी कलाकार-सुलभ निर्लिप्तता के साथ छोड़ देते हैं जिन पर वे काव्य का मधुर वितान खड़ा कर सकते थे, किन्तु जो नाटकीय भाव-प्रवाह की विशिष्ट गति में कोई प्रत्यक्ष बल नहीं दे सकते हैं। भवभूति जैसी प्रतिभा की उर्वर कल्पनाओं का यह नाटकीय संयम अपने में अत्यन्त महत्त्व का विषय है।

---

१. म० च० : ७ : १०।

२. वही, पृ० २४६।

स्थान विशेष एवं काल विशेष के उभय तटों से सन्निविष्ट नाटकीय कार्य-व्यापार के प्रवाह में चित्रमयता, लोच, संवेदनशीलता एवं स्वाभाविकता के रंग भरने में वातावरण के चित्रण का विशिष्ट योगदान रहता है। यों महावीरचरित जैसी नाट्य-कृति में, जिसमें कथा के सुदीर्घ एवं जटिल आयाम को मंच एवं दृश्य की सीमाओं में बाँधकर मात्र सात अंकों में व्यक्त करना हो, कथा का आग्रह इतना तीव्र होता है कि उसे नाट्यकला के प्रकृष्ट उपादानों से सजने का भी कोई सहज अवकाश मिलना कठिन हो जाता है। महावीरचरित में प्रकृति का जो खुलकर प्रयोग नहीं किया जा सका है, उसका एक कारण उसके कथा-तत्त्व की गहनता एवं जटिलता भी है। फिर भी, भवभूति को जहाँ थोड़ा भी अवसर सुलभ होता है, वे प्रकृति के मोहक रंग बिखेरकर नाटकीय वातावरण को चित्रमय एवं संवेदक बनाने से नहीं चूकते। अयोध्या-प्रत्यागमन के ही समय विभीषण राम का ध्यान कावेरी के तटवर्ती प्रदेशों की ओर आकृष्ट करते हैं।[१] इन पंक्तियों में कावेरी के पर्यन्तभाग में फैली हुई उन्मुक्त प्रकृति की वन-श्री में अवस्थित आश्रमों की पुराण एवं तपःपूत एकान्त गरिमा हमारे मन को अनायास ही खींचने में समर्थ है। किसी भी मंच पर प्रकृति के ऐसे सुविशाल अंचल को दृश्यबद्ध करना न तो सम्भव है और न काम्य ही; यह तो भव-भूति जैसे कलाविद् की लेखनी का ही चमत्कार है कि नाटकीय वृत्त पर बिना कोई अनावश्यक भार दिये हुए भी अपनी सूक्ष्म शब्दतूलिका से प्रकृति के ऐसे विशाल खण्ड को चित्रबद्ध कर दिया है। एक ओर कावेरी नदी के तीर से संलग्न सुदूर विस्तृत पर्वतों की प्रशान्त उपत्यकाएँ, ताम्बूलीलता से आविष्ट तथा उसके मकरन्दपान से मदमत्त-से दीखनेवाले सुपारी वृक्षों से सघन एवं विशालकाय पुराने पेड़ तथा दूसरी ओर उन्हीं एकान्त स्थलियों में यत्र तत्र खड़े मन्वन्तर-पुराण मुनियों के अनेक आश्रम—प्रकृति के उन्मुक्त जीवन के नीरव अंचल में फैले हुए सौम्य तपोवन का कितना जीवन्त चित्र है यह !

कहीं-कहीं समास शैली में निबद्ध छोटे-छोटे वाक्यों में प्रयुक्त विशिष्ट एवं ध्वन्यात्मक विशेषणों के द्वारा कवि ने विपुल वन-श्री से दर्शकों एवं पाठकों का मानसिक साक्षात्कार करा दिया है—**'प्रशान्तगम्भीरनीलविपुलश्रीररण्यगिरिभूमिः प्रसज्यते'**।[२] यहाँ अरण्य से सन्निविष्ट पहाड़ी प्रदेश के लिए जिन-जिन विशेषणों के प्रयोग हुए हैं, उनमें से प्रत्येक हमारे मानसचक्षु के आगे प्रकृति-सुषमा का एक विशिष्ट चित्र साकार करने में समर्थ है। प्रशान्त से यहाँ जन-संचार का राहित्य,

---

१. **यत्पर्यन्तमहीध्रसीम्नि कुहलीमाध्वीकधारोद्गिर-**
द्घृष्यत्पूगवनीघनीकृततलैस्तुङ्गैर्जरच्छाखिभिः।
लक्ष्यन्ते विविधाश्रमाः स्थिरतपःस्वाध्यायसाक्षात्कृत-
ब्रह्माणो निवसन्ति यत्र मुनयः कल्पस्थितेः साक्षिणः॥—म० च० : ७ : १३।

२. वही, पृ० २०८।

गम्भीर से उस प्रदेश का अक्षोभ्य भाव, नील से वहाँ की सघन वृक्षावलियों की सान्द्र हरीतिमा तथा विपुलश्री से वनोद्देश की कलरवप्राय प्रफुल्ल सुषमा की रेखाएँ उभर आती हैं। ऐसे कानन के प्रकृति-सौन्दर्य के बीच आश्रम-जीवन को मूर्त रूप से प्रस्तुत करने में कवि ने एक गद्यांश की अवतारणा की है।[1] यों आश्रम-जीवन, यज्ञाग्नि आदि से सम्बद्ध अनेक शब्द हैं जिनसे आश्रम के नानाविध चित्रों की सर्जना की जा सकती है। किन्तु उतने विस्तार में जाने का न तो कवि के पास अवकाश है और न औचित्य—उसने नाटकीय चित्र-चयन की कला का आदर्श रूप यहाँ प्रस्तुत किया है जहाँ कम से कम शब्दों के द्वारा आश्रम की पावन एवं प्रशान्त भूमि की अधिक से अधिक व्यंजना सम्भव हुई है। ऐसे सारे के सारे चित्र नाटकीय वातावरण की सृष्टि में परम सहायक हैं और उसकी प्रभावोत्पादकता के मूलमन्त्र हैं।

अभी-अभी कान्तारों एवं पर्वत-प्रदेशों के जिन शब्दचित्रों के उद्धरण यहाँ प्रस्तुत किये गये, उनके रंगों में वैविध्य होते हुए भी, स्वरगत साम्य है। अर्थात् यहाँ चित्रात्मक शब्दों की कोमल ध्वनि के माध्यम से विपिन, पर्वत, आश्रम आदि की उद्वेग-रहित, सुकुमार तथा स्निग्ध प्रकृति को व्यंजित किया गया है। कहना न होगा कि यह भवभूति का मूल स्वर नहीं; यों यहाँ भी समास-शैली, गाढबन्धत्व एवं असामान्य पदों के प्रयोग में उनकी विशिष्ट प्रतिभा का अनुरणन अनुसन्धेय है। वस्तुतः स्फुट रूप से उनके प्रकृति-दर्शन की आदर्शवत्ता वहाँ उभरी है जहाँ उनकी प्रकृति में उच्छ-लता, उद्वेग एवं विस्मयोत्पादक पौरुष के बिम्ब स्वतः ही नाचने-थिरकने लग जाते हैं। प्रकृति की ऐसी विशिष्ट छाया से युक्त एक श्लोक ऊपर आ चुका है जहाँ मानव मन के आकुल उत्क्रोशों को प्रकृति के अन्तरंग एवं बहिरंग में बिम्बग्राही शब्दों के माध्यम प्रकट किया गया है। ऐसे प्रयोग कवि-प्रतिभा के विकास के साथ उत्तरोत्तर वैशिष्ट्य प्राप्त करते गये हैं; कवि की परिणत प्रज्ञा का प्राणवन्त प्रतिनिधि उत्तरराम-चरित इसीलिए प्रकृति के ऐसे उदात्त रूपों से सर्वाधिक समन्वित है। किन्तु मानव मन की विकल गति को समर्थ शब्दों एवं चित्रों के द्वारा प्रकट करने के अतिरिक्त रंगमंच पर एक विशिष्ट वातावरण की सृष्टि भी भवभूति का अभिप्रेत है। ऐसे कितने श्लोक हैं जो मात्र इसी उद्देश्य से प्रकृति के चण्ड रूपों को प्रस्तुत करते हैं। कहीं-कहीं प्रकृति-जीवन के कमनीय पक्षों को कोमल स्वरों में बाँधकर भी कवि ने उनके अन्तरंग की उत्ताल गत्यात्मकता या प्रच्छन्न वीर्यवत्ता ध्वनित की है। इस सन्दर्भ में एक दृष्टान्त दर्शनीय है।[2] प्रस्तुत श्लोक में आकलित चित्र निश्चय ही प्रकृति की कोई

---

१. ऋष्यमूकपम्पापर्यन्तभूमयः खल्वेताः। तथा चाग्रतो मतङ्गाश्रमपदम्।
यत्र चिरशून्येऽपि संनिहितसोमचमसादिविविधपात्रपरिकर आस्तीर्ण-
बर्हिरिध्मवानाज्यगन्धिरद्यापि भगवान्वैश्वानरः समिध्यते।—वही, पृ० २०८।

२. इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरमुक्तप्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्जस्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः॥

चण्डिमा, आक्रोश या विद्रोह प्रकट नहीं करता; इसके बदले इसमें जम्बू एवं वेतस-कुंजों, उनपर आवास करनेवाले आनन्दमग्न पक्षियों के मधुर कूजनों, कूलंकषा पहाड़ी नदी की कुंजप्रतिहत उछलती-कूदती तरंगों आदि का ऐसा मोहक वितान खड़ा किया गया है कि सहृदय पाठक या दर्शक उसकी मिठास में आत्मविभोर हो जाता है। किन्तु यह माधुर्य उक्त चित्र की रमणीयता एवं गाम्भीर्य दोनों के कलात्मक समाहार से छनकर आता है—यहाँ की रम्यता शक्ति एवं गति की अविकल पर्याय हो गई है। मेघदूत में एक बहुत कुछ समानान्तर चित्र की उद्भावना की गई है।[1]

उपलविषम विन्ध्यपाद में विशीर्ण रेवा नदी के प्रवाह का निश्चय ही यह मनोहारी चित्र है; किन्तु भवभूति की निर्झरिणी एवं कालिदास की रेवा के इस चित्रांकन में ऊपर-ऊपर जितना साम्य दृष्टिगोचर होता है, अन्ततः उससे बहुत अधिक भेद परिलक्षित होता है। सबसे पहले रेवा और निर्झरिणी के संज्ञा-पदों को ही लीजिये, स्पष्ट है कि ये दोनों ही नदियाँ हैं और दोनों का प्रवहन यहाँ पहाड़ी क्षेत्रों में ही होता है। परन्तु रेवा से जहाँ सुकोमल स्त्रैण की व्यंजना होती है, निर्झरिणी से कठोर पुंस्त्व की; पहली में किसी हाथी के अंगों पर विरचित कलात्मक भूति के सादृश्य की कोमलता का मुख्य स्वर है, किन्तु दूसरी में अपने उभयकुलों को ढाहने-तोड़नेवाली, शैल-खण्डों को अपने तीव्र वेग के थपेड़ों से मसल-मसलकर दूर-दूर तक लुढ़कानेवाली तेजस्विता एवं मांसलता की प्रधानता है। पुनः, दोनों ही कवियों ने इन नदियों के जल-प्रवाह को वासित होते हुए दिखाया है, किन्तु वासित होने के ढंग में यहाँ भी अन्तर आ जाता है। रेवा के जल में हाथियों के दानजल की तीव्र गन्ध फैल गई है; वास की यह सान्द्रता निर्झरिणी में नहीं, यहाँ तो वेतसवृक्षों से च्युत पुष्पों की हल्की-हल्की गन्ध ही फूटती हुई प्रतीत होती है। रेवा मानो कोई सुवेशा तरुणी है, अतः तिक्त दानजल की भीनी-भीनी गन्ध उसकी लोचभरी गति एवं प्रगल्भता के लिए सर्वथा अनुकूल एवं अनुषंगी है। उधर निर्झरिणी की अल्हड़ तरुणाई को मानो गन्ध आदि से अपने वेश-संस्कार करने का उतना अवकाश ही नहीं है—उसे तो उछलना-कूदना है, इस प्रक्रिया में तटवर्ती कुंजों एवं वृक्षों से जो भी पुष्प उसमें अर्पित होते हैं तथा उनसे जितनी भी महक उसमें घुल-मिल जाती है, मानो वह उतनी से ही सन्तुष्ट और परिष्कृत दीखती है। गन्ध-विकिरण की उक्त दोनों प्रक्रियाओं की चित्रमयता में भी भेद है। रेवा में एक ही चित्र की प्रधान झलक मिलती है—उसमें बड़े-बड़े हाथी स्नान करने जाते हैं। इधर निर्झरिणी के जल के सुगन्धित होने के पीछे एक साथ ही कई चित्रों का तारतम्य हमारे दृष्टि-पथ पर नाच जाता है—आनन्द से कूजते तथा इस डाली से उस डाली पर फुदकते हुए पक्षी, उनके द्वारा अध्यासित सघन एवं प्रस्फुटित वेतस-कुंज तथा उनमें प्रवाहित होती हुई पहाड़ी नदी की सुग-

---

१. तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टि-
जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः।—मेघ० : २१।

स्निग्ध एवं शीतल धारा। आगे की पंक्तियों में कालिदास एवं भवभूति दोनों ने अपनी नदियों के प्रवाह को जम्बू-कुंजों से अवरुद्ध होते हुए चित्रित किया है। किन्तु यहाँ भी दोनों के अवरोध दो ढंगों से व्यक्त हुए हैं। कालिदास ने रेवा के प्रवाह को जम्बूकुञ्जप्रतिहतरय कहकर ही सन्तोष कर लिया है, किन्तु भवभूति केवल इतने से सन्तुष्ट होनेवाले नहीं। 'जम्बू' तो फलरहित भी हो सकता है और फलयुक्त भी; फिर, उसमें कच्चे फल भी हो सकते हैं और अधपके या पूर्ण परिपक्व फल भी। कालिदास के जम्बू-कुंज यहाँ किस कोटि के हैं, इसका कोई आभास नहीं मिलता। लेकिन भवभूति के जम्बू-निकुंज (कुंज नहीं) परिपक्व फलराशि के भार से श्यामलवर्ण हो गये हैं, उनसे प्रतिहत होती हुई निर्झरिणी के गहरे नीले वर्ण का जामुन के श्याम-वर्ण के साथ मेल द्रष्टव्य है। पुनः, रेवा जम्बू-कुञ्जों से प्रतिहत तो होती है, किन्तु उसकी तज्जन्य जटिल गति की कोई ध्वनि यहाँ प्राप्त नहीं होती। उधर निर्झरिणी के चपल वेग को जिस रीति तथा जिन समर्थ नाद भरे पदों के माध्यम से जम्बू-निकुञ्जों से सम्बाधित होते हुए एवं अग्रसर होते दिखाया गया है, वह स्वयं अपने में कवि के उत्कृष्ट शिल्प का उज्ज्वल दृष्टान्त माना जा सकता है। फलभरपरिणाम से आरम्भ करके निर्झरिण्यः तक प्रयुक्त पदों में जितने विराम लेने पड़ते हैं, उन सबसे निर्झरि-णियों के गत्यवरोध तथा उनसे उनके रुक-रुककर बहने (स्खलित होने) की क्रिया प्रत्यक्ष हो जाती है। रेवा का जल तो मात्र 'प्रतिहत' होता है, किन्तु निर्झरिणियों के अभ्याहत प्रतिघात की अपेक्षा कहीं अधिक बल उनके 'स्खलन' पर दिया गया है जिसके चलते उनके प्रवाह अनेक स्रोतों में विभक्त हो जाते हैं। 'प्रतिहत' से जल-प्रवाह के गति-भंग की वह बारीकी सामने नहीं आती जो 'स्खलन' से प्राप्त होती है।

अतः, जैसा कि ऊपर निवेदित है, कहीं-कहीं कालिदास की तरह प्रकृति के सुकुमार पक्षों को मसृण पदों में चित्रित करने के जो प्रयत्न भवभूति में मिलते हैं, वे सम्पूर्णतः या सर्वांशतः 'कोमल' नहीं कहे जा सकते; उनकी कोमलता वस्तुतः कवि की शक्ति एवं संवेग से भरी हुई काव्य-प्रकृति की ही अनुषंगिनी हो जाती है। इस प्रकार का एक अन्य उदाहरण भी लिया जा सकता है।[1] यह है सीता-वियुक्त राम के आकुल हृदय का विरहोच्छ्वास जिसे समिद्ध करने में यहाँ कदम्ब, तमाल, कोकिल, नीलकण्ठ एवं मेघों ने अपने-अपने ढंग से योगदान किया है। इसके ठीक पहले लक्ष्मण ने राम के पर्युत्सुक हृदय को लक्ष्य करके कुछ पूछा है।[2] निश्चय ही यह बरसाती

---

१. स्थितमुपनतजृम्भारम्भबिम्बैः कदम्बैः कृतमतिकलकण्ठैस्ताण्डवं नीलकण्ठैः।
अपि च विघटमानप्रौढतापिञ्छनीलः श्रयति शिखरमद्रेर्नूतनस्तोयवाहः॥
—म० च० : ५ : ४२।

२. किमभित एव प्रवृत्तपौरस्त्यमारुतवितन्यमानकदम्बानि काननानि संगलितबाष्प-पटलया दृशा परिक्षिप्य धनुरवष्टम्भधीरधारितशरीरेणार्येण संप्रति स्थीयते।
—म० च०, पृ० २०९।

हवा उस दिशा से आती हुई लग रही है जिधर राम अपनी कल्पना में सीता की स्थिति मान रहे होंगे। प्रिया के कल्पित देश से आती हुई हवा में जो नमी है उससे मूढ़ कदम्ब तो 'विकसित' हो रहे (हँस रहे) हैं, किन्तु उनका वही विकास (हास्य) राम के विरही हृदय पर विपरीत प्रभाव डालता है। उनकी आँखें बेतरह भीग आती हैं, हवा की नमी को आँखों की नमी का सहृदय दान मिलता है और ये दोनों ही नमियाँ मानो एकाकार हो जाती हैं। लक्ष्मण की इस जिज्ञासा को शान्त करने के अभिप्राय से ही राम अपने हृदयगत भावों को बड़ी मर्मस्पर्शिता एवं मर्यादित गोपनीयता के साथ उक्त श्लोक में प्रकट करते हैं। वे प्रिया-विरहित यक्ष नहीं हैं जिसने बादल से अपनी गूढ़ व्यथा के एक-एक भेद को खोलकर कह दिया है। वे 'राम' हैं जो अपनी गहन वेदना में भी अपनी तथा सीता की उदात्त प्रीति की मर्यादा का निर्वाह करते हैं। अतः इन पंक्तियों में राम अपने पर्य्युत्सुक हृदय का भेद अभिधा में नहीं खोलते, किन्तु जैसे अनजाने ही समर्थ उद्दीपकों का निबन्धन उनकी जिह्वा पर थिरक जाता है, उनके आकुल मन की पुकार बनकर प्रकृति का एक-एक उपादान फूट पड़ता है। कदम्ब अपने विकास के प्रारम्भिक लक्षणों से युक्त होकर खड़े हैं—यहाँ **'स्थितम्'** से एक ऐसी प्रच्छन्न जड़ता का भाव फूट रहा है जो सीता-विरह से जडीभूत एवं गतिहीन राम के विरह-दग्ध मानस का सूक्ष्म व्यंजक है। ऐसे निःशब्द हृदयाकाश में 'अति' कलकण्ठ नीलकण्ठों का 'ताण्डव' ('लास्य' नहीं) निश्चय ही अत्यन्त उद्वेग एवं हलचल लेकर आ रहा होगा; अतः विकसित होते हुए और अपने प्रस्फुटन के ही क्रम में राम के हृदय को मानो टूक-टूक करते हुए (विघटन = विकसन या भंजन) प्रौढ़ तमालपुष्पों की नाईं सुनील नवीन मेघ जिस प्रकार अद्रि-शिखर पर आश्रित होता हुआ दिखाया गया है, उससे राम के हृदय-शिखर पर सीता-विरह से उद्भूत 'नवीन' आँसुओं का घनीभूत होना प्रत्यक्ष-सा हो जाता है। प्रकृति का यह चित्र भी राम की करुणा से आप्यायित होने के कारण अतीव संवेदनशील एवं पेलव है; किन्तु यहाँ भी नीलकण्ठों का ताण्डव, तमाल-कुसुमों की प्रौढ़ता एवं विघटता, तोयवाह ('मेघ' आदि की अपेक्षा यह अधिक वजनी शब्द है) का अद्रि-शिखर पर श्रथण करना आदि के द्वारा चित्र में कुछ ऐसा रंग भर दिया गया है कि वह अपनी सुकुमारता में ही ईषत् उग्र तथा गम्भीर रूप धारण कर लेता है।

ये तो हुए कुछ ऐसे चित्र जो भवभूति की प्रकृति की विशिष्ट कोमलता से उपेत हैं। किन्तु जहाँ प्रकृति के अपेक्षाकृत कठोर एवं उद्धत पक्षों की निदर्शना कराई गई है, वहाँ तो भवभूति की शैली की वीर्यवत्ता मानो साकार होकर सामने आती है। यों महावीरचरित में प्रकृति के ऐसे चित्रों का उतना कलात्मक परिपाक या सन्निवेश नहीं दीखता जितना कवि की अगली नाट्यकृतियों में प्राप्त होता है; फिर भी, यहाँ भी इसके इक्के-दुक्के सुन्दर निदर्शन प्राप्त होते हैं।[1] तरुण भालुओं की गुर्राहट तो स्वयं

१. दधति कुहरभाजामत्र भल्लूकयूनामनुरसितगुरूणि स्त्यानमम्बूकृतानि।
शिशिरकटुकषायः स्त्यायते सल्लकीनामिभदलितविशीर्णग्रन्थिनिष्यन्दगन्धः॥
—म० च० : ५ : ४१।

अपने में ही एक भयानक वस्तु है, यहाँ कवि ने उस गुर्राहट को पर्वत की गुफाओं से प्रतिध्वनित दिखाकर उसकी तीव्रता एवं प्रचण्डता को मानो साकार कर दिया है। पर्वत पर निवास करनेवाले अपेक्षाकृत कोमलस्वर पशुओं एवं पक्षियों को छोड़कर कवि ने जो यहाँ भालुओं की कठोर गुर्राहट का ही चयन किया है, वह उसकी प्रकृति की विलक्षणता का द्योतक है। ये भालू पर्वत के बाह्य भागों में भी दिखाये जा सकते थे, किन्तु पर्वतों की अन्धकारपूर्ण निःस्वन कन्दराओं में भालुओं की गुर्राहट की निविड एवं कराल ध्वनि जिस तीव्रता से हमारे मन-प्राणों में गूँजने लगती है, वैसा किसी अन्य उपाय से सम्भव नहीं था। आगे की दो पंक्तियों में गजभक्ष्य सल्लकीवृक्षों की भग्न शाखाओं से क्षरित होते रस की तीव्र गन्ध को फैलते हुए दिखाया गया है। किन्तु यहाँ भी इस गन्ध-विकिरण के पीछे जंगली हाथियों के द्वारा तोड़ी गई, रौंदी गई तथा मसली गई सल्लकी की कोमल शाखाओं के हरे घाव का चित्र कहीं अधिक प्रभावोत्पादक है। फलतः हमारे मन को सल्लकी की गन्ध सूँघने का अवकाश कम ही प्राप्त होता है; वह तो हाथियों के निर्मम आक्रमण तथा उनके कठोर कृत्यों की भयानकता से कहीं अधिक भर उठता है। श्रमणा के मुख से ऋष्यमूक पर्वत तथा उसके पर्यन्त में फैले हुए निविड कानन को लक्ष्य करके वर्णित किये गये उक्त दो प्रकृति-चित्र[1] ही हमारे मानस-चक्षु के आगे उस उद्देश की गहनता तथा भीषणता को मूर्त करने में समर्थ हैं। प्रकृति के ये सारे चित्र राम के विरह-भावों के अनुषंगी हैं; उनके प्राणों की हलचल, अवरोध, घात-प्रतिघात आदि भावों से अनुस्यूत हैं। अतः राम की भावनाओं अथवा नाटक के कार्यव्यापार के सामान्य प्रवाह से सम्बन्ध तोड़कर हम इन चित्रों में रमण नहीं करते, प्रत्युत प्रकृति के इन सारे रूपों में हम नाट्य-वृत्त के विकास की विविध शृङ्खलाओं को भी पार करते तथा उनके रस-पेशल रूपों को हृदयंगम करते हुए चलते हैं।

ऊपर महावीरचरित में आये हुए प्रकृति के कुछ विशिष्ट सन्दर्भ प्रस्तुत किये गये। उनके भाव, वस्तु, नाटकीय औचित्य आदि के सम्बन्ध में भी हमने अपने विचार रखे। जैसी कि हमारी पूर्व स्थापना है, महावीरचरित के नाटकीय परिवेश में आई हुई प्रकृति की इन भंगिमाओं में किसी प्रकार की कमी नहीं दीखती; यहाँ भी प्रायः ऐसे सभी चित्र नाटकीय भावों के सामञ्जस्य में आये हैं और उनके शैलीगत प्रकर्ष के सम्बन्ध में भी कोई शंका नहीं की जा सकती। फिर भी, जिस प्रकार भवभूति की तीनों नाट्यकृतियों के शिल्प-विधान में अन्तर है, उसी प्रकार उनमें आई हुई प्रकृति के रूप एवं उसकी चित्रण-पद्धति में भी सूक्ष्म अन्तर द्रष्टव्य है। महावीरचरित में कवि की दृष्टि बहुत कुछ स्थूल इस मानी में है कि उसे प्रधान रूप से एक लम्बी तथा उलझी हुई कहानी का नाट्य-रूपान्तर प्रस्तुत करना है—यहाँ उसकी कुशलता मुख्य रूप से नाट्य वस्तु के संयोजन में है, न कि किसी विशिष्ट भाव के परिपोषण में। माल्यवान्,

१. वही : ५ : ४०, ४१।

परशुराम, बाली आदि को एक नई नाटकीय भूमिका में उतारने का श्रेय कवि को अवश्य है, किन्तु ऐसे पुरातन पात्रों की अभिनव भूमिकाएँ प्रायः जितना नाट्यवृत्त के कुशल निर्वहन में सहायक सिद्ध हुई हैं, उतना किसी भावगत या चरित्रगत समस्या के नाटकीय समाधान के रूप में प्रयुक्त नहीं दीखती हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो कवि ने महावीरचरित में एक अतिशय पथरीली तथा परस्पर संग्रथित कँटीले झुरमुटों से परिव्याप्त वृत्त-भूमि को काट-छाँटकर तथा सज-सँवारकर सुगम मार्ग तैयार किया है। इसी क्रम में बाली के साथ अन्यायपूर्वक उलझनेवाले राम तथा राम के वनगमन के लिए निमित्त बनाई गई कैकेयी जैसे चरित्रों का कलंकमार्जन कवि ने बड़ी सहानुभूति, सहृदयता एवं नाटकीयता के साथ अवश्य कर दिया है। किन्तु निश्चय ही राम की लम्बी कहानी में ऐसे छोटे प्रसंग नाटक के मूलभाव नहीं कहे जा सकते। मालतीमाधव तथा उससे भी अधिक उत्तररामचरित में कवि के सामने एक विशिष्ट समस्या है; इस समस्या के सम्यक् पल्लवन तथा तदनुरूप भावात्मक समाधान देने में कवि अधिक सचेष्ट दीखता है। हमारी सम्मति में किसी कथा को आकर्षक ढंग से कह जाना भी एक कला है, किन्तु यह कला का एक अत्यन्त स्थूल पक्ष ही प्रकट करता है; दूसरी ओर, किसी कथा के भीतर प्राण-रूप से स्थित भाव-विशेष को विरोधी भावों की वैपरीत्यमूलक परिस्थितियों में सजग एवं परिपुष्ट करना कला के सूक्ष्म एवं उदात्त रूप का व्यंजक होता है। इसी अर्थ में महावीरचरित का वृत्त-प्रवाह अधिकांशतः नाट्यकला के स्थूल रूप से आविष्ट है और इस प्रवाह के बीच यदा कदा सरस भंगी बनकर प्रकट होनेवाली प्रकृति की मुग्ध छवियाँ प्रायः इसी स्थूलता की अंशभूत-सी प्रतीत होती हैं। अतः यहाँ प्रकृति-चित्रण की अपनी कोई हीनता नहीं; वह स्वयं शोभन है, कलात्मक है; किन्तु वृत्त की स्थूलता का प्रभाव यदा कदा उस पर भी आ ही गया है। फलतः समान परिस्थितियों में गुम्फित कुछ समान प्रकृति-चित्रों का भी असमान ढंग से प्रभाव पड़ता हुआ दीखता है। उदाहरण के लिए महावीर-चरित के पंचम अंक में आये हुए श्लोक ४० एवं ४१ में निबद्ध प्रकृति-चित्र पूर्णांशतः वही हैं जो उत्तररामचरित के दूसरे अंक में श्लोक २० एवं २१ में उपन्यस्त किये गये हैं। किन्तु इन समान चित्रों में प्रथम भेद तो उनकी भौगोलिक स्थितियों को लेकर है; अर्थात् जहाँ महावीरचरित में वर्णित प्रकृति का सम्बन्ध पम्पासरोवर के पर्यन्त में स्थित काननोद्देश से है, वहाँ उत्तररामचरित में वही प्रकृति जनस्थान की अंगभूत होकर आई है। स्पष्ट है कि ये दोनों ही स्थान यद्यपि दक्षिणारण्य से सम्बद्ध हैं, फिर भी जनस्थान राम के विरही हृदय के सर्वाधिक निकट पड़ता है जहाँ वे **'प्रियारामा हि सर्वथा वैदेह्यासीत्, एतानि तानि नाम कान्ताराणि। किमतः परं भयानकं स्यात्'**।[1] कहकर उस वन-प्रदेश से गहन आत्मीयता एवं प्रभावातिशयता ग्रहण करते हुए देखे जाते हैं। **'एतानि तानि नाम कान्ताराणि'** के बाद शम्बूक के मुख से वर्णित सीता की सजल स्मृतियों से

---

१. उ० च०, पृ० ४४।

अनुभावित प्रकृति के उक्त चित्र 'किमतः परं भयानकं स्यात्' ? की समर्थ व्यञ्जना कर देते हैं। किन्तु पम्पासरोवर के निकट श्रमणा के मुख से आकलित वे ही चित्र राम की विरहदशा को उतनी मर्मस्पर्शिता के साथ व्यक्त नहीं कर पाते, चूँकि वे सीता की स्मृतियों से 'प्रत्यक्षभाव' से जुड़े हुए नहीं हैं। जनस्थान की प्रकृति को देखकर राम को कहना पड़ता है—'प्रत्यक्षानिव वृत्तान्तापूर्वाननुभवामि च;'[1] उधर पम्पा के निकट वैसी ही प्रकृति को पाकर वे अधिक से अधिक 'संगलितबाष्पपटलदृक्' ही दीखते हैं।

इन चित्रों में दूसरा भेद उनके काल विशेष को लेकर प्रकट होता है। वस्तुएँ वे ही होती हैं, चित्र वे ही होते हैं, किन्तु काल-भेद से दर्शक के हृदय को वे अलग-अलग ढंग से स्पर्श करते हैं। महावीरचरित में भी राम सीता को खोये हुए रहते हैं, किन्तु म्रियमाण जटायु के मुख से उन्हें पहले ही पता लग जाता है कि उनकी प्रिया को रावण हरकर ले गया है।[2] अतः सीता-प्राप्ति से वे हताश नहीं हैं; इसके बदले उनका हृदय पराक्रम एवं पौरुष के ओजस्वी भावों से भर जाता है, रावण से बदला लेने के लिए वे मचल उठते हैं। फलतः अपनी इस उद्दाम अवस्था में वे सीता-विरह के क्लेशों को भी बहुत कुछ भूल जाते हैं।[3] उधर उत्तररामचरित में वे ही राम जब स्वेच्छा से 'लोकाराधन' के निमित्त सीता का त्याग कर देते हैं, तो कालक्रम से उन्हें सीता की मृत्यु का विश्वास-सा हो जाता है। वस्तुतः सीता को निर्वासित करने से पूर्व ही वे समझ जाते हैं कि उनका सीता-निर्वासन सीता-मृत्यु का ही पर्याय है।[4] आगे चलकर हमें उनके इस विश्वास की पुष्टि वनदेवता वासन्ती के प्रति उनके कथन हो जाती है।[5] इस प्रकार महावीरचरित के सीता वियुक्त राम तथा उत्तररामचरित के

---

१. उ० च० : २ : १७।

२. यामोषधिमिवायुष्मन्विचिनोषि महावने।
सा सीता मम च प्राणा रावणेनोभयं हृतम्॥—म० च० : ५ : २४।

३. राम का तत्कालीन सीता-विषयक शोक सीता-प्राप्ति के उपायों के वर्तमान होने तथा मनोविनोद के प्रचुर साधन मिलने के कारण बहुत कुछ लघु हो चला था। किन्तु उत्तररामचरित में सीता को स्वयमेव 'मृत्यु को देकर' राम की विरहावस्था पहले से बिलकुल ही भिन्न कोटि की हो गयी थी—अब न तो कोई उपाय था, न विनोद का कोई अन्य साधन; न सीता-विरह की कोई अवधि थी और न 'अद्‌भुत रस' की सर्जना करके आत्मविस्मृत होने की कोई बात थी। राम ने अपने इन दोनों पृथक् विरहभावों को बड़े ही मर्मस्पर्शी ढंग से निम्न श्लोक में आबद्ध किया है—

उपायानां भावादविरलविनोदव्यतिकरै—
र्विमर्दैर्वीराणां जगति जनितात्यद्‌भुतरसः।
वियोगो मुग्धाक्ष्याः स खलु रिपुघातावधिरभूत्
कथं तूष्णीं सह्यो निरवधिरयं त्वप्रतिविधः॥—उ० च० : ३ : ४४।

४. शैशवात्प्रभृति पोषितां प्रियैः सौहृदादपृथगाश्रयामिमाम्।
छद्मना परिददामि मृत्यवे सौनिको गृहशकुन्तिकामिव॥—वही : १ : ४४।

५. क्रव्याद्भिरङ्गलतिका नियतं विलुप्ता। —वही : ३ : २८।

सीता-विरहित राम एक होकर भी मूलतः दो हो जाते हैं, प्रकृति एवं बाह्य जगत् के प्रति उनके भावों के आदान-प्रदान में महान् अन्तर आ जाता है। अतः मनोभावों के भिन्न परिवेशों में वर्णित समान प्रकृति भी असमान बन जाती है और सामाजिकों एवं पाठकों के साधारणीकृत हृदय पर अपना अलग-अलग प्रभाव डालती है। इस प्रकाश में विवेचन करने पर महावीरचरित में आयी हुई प्रकृति की अपेक्षा उत्तररामचरित में उपस्थित वही प्रकृति अधिक संवेगपूर्ण, प्राणवन्त एवं प्रभावोत्पादक है।

यह तो हुआ समान प्रकृति-चित्रों के आकलन द्वारा भी भवभूति का स्थूल से सूक्ष्म की ओर अभिगमन, शारीर भावों से आत्मजीवन की अतल गहराइयों में क्रमशः अवरोहण। किन्तु इसके अतिरिक्त भी महावीरचरित में प्रकृति को अपने रूप दर्शाने का जो क्षेत्र उपलब्ध हुआ है, वह मालतीमाधव तथा उत्तररामचरित की तुलना में अपर्याप्त तथा सीमित है। यह सही है कि महावीरचरित में प्रकृति-चित्रांकन की इस सीमा का एक प्रमुख कारण उसके वृत्त-भाग की विशालता एवं जटिलता तथा राजनैतिक दाव-पेंचों के द्वारा परिपोषित वीररस की स्फीति है। किन्तु इस दृष्टि से तो मालतीमाधव का कथाभाग भी छोटा नहीं कहा जायगा, उसकी अपनी जटिलता भी असन्दिग्ध है; फिर भी इसमें महावीरचरित की अपेक्षा प्रकृति को काफी विस्तार मिला है, इस विस्तार का ढंग भी पहले से कुछ अधिक प्रकृष्ट दीखता है। इसमें तथा उत्तररामचरित में शायद ही कोई ऐसा स्थल है जहाँ प्रकृति का अभाव खटकता हो। इधर महावीरचरित के प्रथम अंक में ही विश्वामित्र के तपोवन का दृश्य उपस्थित किया जाता है जहाँ भवभूति को अपने नाटकीय विषय को प्रकृति के विशिष्ट चित्रों से सजाने तथा प्रभावोत्पादक बनाने का पर्याप्त अवकाश प्राप्त है; फिर भी सूत के द्वारा विश्वामित्र के आश्रमपद के अत्यन्त साधारण तथा एक वाक्य में ही समाप्त वर्णन के अतिरिक्त पूरे अंक में किसी भी समर्थ एवं समयानुकूल प्रकृति-चित्र की उद्भावना नहीं की गयी है।[१] प्रकृति के प्रति ऐसे स्थलों में ऐसी उदासीनता निश्चित रूप से भवभूति के आरम्भिक एवं विकासोन्मुख प्रकृति-दर्शन का ही लक्षण माना जा सकता है। जहाँ प्रकृति-चित्रों की अवतारणा की गयी है, वहाँ भी उन्हें प्रायः वह विशालता एवं समग्रता नहीं दी गयी है जो कवि की अन्य दो कृतियों में प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए दण्डकारण्य तथा उसके पर्यन्तभागों के वर्णन महावीरचरित तथा उत्तररामचरित दोनों में मिलते हैं; किन्तु उत्तररामचरित में दण्डक आदि को जिस प्रकार विशाल एवं भावप्रवण चित्रों में आबद्ध किया गया है, उस प्रकार महावीरचरित में नहीं मिलता। यहाँ अपने फुटकर पद्यों तथा गद्यात्मक वाक्य-सन्दर्भों में भी जहाँ कवि ने प्रस्तुत को अप्रस्तुत की कलात्मक योजना द्वारा सजाने की चेष्टा की है, महावीरचरित में यत्र-तत्र ही प्रकृति अप्रस्तुत की रमणीय भूमिका में दिखाई देती है। ऐसे सन्दर्भों में सीता के सौन्दर्य-वर्णन के प्रक्रम में रावण की

---

१. **दृश्यते हरितपरिसरारण्यरमणीयं कौशिकीपरिक्षिप्तमायतनमृषेस्तस्य सिद्धाश्रमपदं नाम।**

—म० च०, पृ० १४।

उक्ति भवभूति के प्रकृत्यात्मक अप्रस्तुत की एक मनोहारी छटा निदर्शित करती है।[1] इस श्लोक में उपमान-रूप में स्थित प्रकृति के कतिपय मनोहर रूपों की निष्फलता सिद्ध करके प्रतीपालंकार के द्वारा सीता के शारीरिक सौन्दर्य में चार चाँद लगा दिये गये हैं। उपयुक्त उपमानों के अनुसन्धित्सु कवि के सामने प्रकृति-श्री का अक्षय स्रोत लहरा रहा है, उसमें से उसने बड़ी कुशलता से अपनी विषयवस्तु के अनुरूप प्राकृतिक उपादानों को निकाल लिया है। राम अपनी वियोगावस्था में सीता के उत्तरीय को प्राप्तकर उसे **'दृशोः शरच्छीतकरप्रकाशः'**[2] कहते हैं तथा सीता आकाश में चमकते तारकों को देखकर उन्हें **'गअणवाडिआए फुल्लाइं कुसुमाइंव्व'**[3] कहकर प्रकृति के प्रति अपने समाकर्षण को व्यक्त करती हैं।

---

१. मुखं यदि किमिन्दुना यदि चलाञ्चले लोचने
किमुत्पलकदम्बकैर्यदि तरङ्गभङ्गी भ्रुवौ।
किमात्मभवधन्वना यदि सुसंयताः कुन्तलाः
किमम्बुवहडम्बरैर्यदि तनूरियं किं श्रिया॥

—वही : ६ : ९।

२. वही : ७ : १७।

३. वही, पृ० २४९।

अध्याय ३

मालतीमाधव : भवभूति के प्रकृति-दर्शन का द्वितीय चरण

रचना-प्रकार की दृष्टि से मालतीमाधव एक प्रकरण है, अतः अपने इस रूप में इसका भवभूति की शेष दो नाट्यकृतियों से प्रधान भेद है। महावीरचरित एवं उत्तर-रामचरित न केवल नाटक हैं, अपितु इनके उपजीव्य, नायक, नायिका आदि भी एक ही हैं; फलतः रचना-प्रकार एवं विषय-वस्तु दोनों ही दृष्टियों से इनका परस्पर सम्बन्ध अटूट है। एक ही कथा के दो छोरों को आधार बनानेवाले इन नाटकों में कई पात्रों के अतिरिक्त देश एवं स्थान विशेष भी कई जगह समान हैं जो सर्वथा स्वाभाविक ही है। उदाहरण के लिए दण्डक, पम्पा आदि स्थानों तथा अयोध्या आदि नगरियों की चर्चा, किसी न किसी सन्दर्भ में, दोनों में आई है। चूँकि नायक-नायिका समान हैं, अतः जीवन की विविध परिस्थितियों में बाह्य प्रकृति से अनुप्राणित उनकी अन्तःप्रकृति बहुत कुछ समान रूप से प्रभाव ग्रहण करती है। यों सुख-दुख की आँख-मिचौनी में मानव मात्र के हृदय में प्रायः समान भावों की उद्बुद्धि होती हुई देखी जाती है—मनुष्य अपने मूल रूप में एक दूसरे से सर्वथा अविभक्त हैं। इस परिवेश में देखने पर सीता-विरहित राम एवं मालती-विरहित माधव की आन्तरिक वेदना में कोई भेद नहीं होना चाहिये; विरही के रूप में अथवा प्रेमी के रूप में उन दोनों को प्रकृति-चित्रों से समान भाव से उद्दीपित होना चाहिये। किन्तु व्यक्तित्व के भेद से जिस प्रकार मनुष्य की विचार-शैली में अन्तर आ जाता है, उसी प्रकार उसकी अनुभूति एवं भावनात्मक जीवन की सरणियाँ विशिष्ट आकार ग्रहण कर लेती हैं। राम और माधव के व्यक्तित्व का गठन दो ढंगों से हुआ है, अतः प्रेम या विरह की समान परिस्थितियों में पड़कर भी वे प्रायः असमान रूप से सोचते हैं, अथवा बाह्य प्रकृति से कुछ भिन्न प्रकार से प्रभावित होते देखे जाते हैं। एक उदाहरण लेना अलम् होगा। जिस प्रकार महावीर-चरित में वैर-प्रतिशोध के लिए रावण सीता को हरकर ले जाता है, उसी प्रकार मालतीमाधव में कपालकुण्डला भी मालती का अपहरण करती है। अपनी-अपनी प्रिया से वियुक्त राम एवं माधव की मनोदशा प्रायः समान ही है; दोनों अपनी प्रेयसी की खोज में जंगल-जंगल भटकते चलते हैं। मानसिक कष्ट की ऐसी तीखी घड़ियों में राम को सहारा देनेवाले यदि लक्ष्मण हैं, तो माधव को आश्वासन देने के लिए मकरन्द की अवतारणा हुई है। किन्तु, इन समानताओं के रहते हुए भी, दोनों की विरह-दशा के वर्णन में भवभूति ने दो शैलियाँ अपनाई हैं जो दोनों नायकों के व्यक्तित्व की विलक्षणताओं को बड़े समर्थ ढंग से व्यक्त करती हैं। मालती को न पाकर माधव विक्षिप्त-सा हो जाता है। वह अपनी उन्माद की अवस्था में कभी मेघों से, कभी बिजली से, कभी

कोयल और कभी वृक्ष जैसे स्थावर एवं जंगम पदार्थों से मालती का वृत्तान्त पूछ रहा है। उसके विरहभाव को समुद्दीपित करने में विन्ध्य के हरे-भरे अंचल में फैली हुई चित्र-विचित्र प्रकृति भरपूर योगदान देती है। दण्डक की प्रकृति भी बहुत कुछ ऐसी ही है और राम की दशा भी समान ही है। किन्तु राम के व्यक्तित्व की मर्यादा जितना रोने और विलाप करने में नहीं, उतना अपनी भावनाओं पर संयम पाने में; जितना अपने दुखी हृदय को खोलने में नहीं, उतना बाँधने में है। सीता-विरहित राम की इस दशा के कुछ चित्र तो हमें महावीरचरित के पंचम अंक में प्राप्त होते हैं और कुछ उत्तररामचरित के प्रथम अंक में। लक्ष्मण अपने **'शोकाग्निरिव जङ्गमः'** भ्राता के इस कठिन एवं मर्मस्पर्शी आत्म-प्रतिबन्ध की सुन्दर व्याख्या करते हैं।[1] ऊपर-ऊपर शान्त समुद्र के अन्तस् में वडवाग्नि की ज्वाला निरन्तर सुलग रही है—समुद्र जैसे इस कठिन वहिर्मुखी ऊष्मा को पी जाना चाहता है। इस प्रक्रिया में ज्वाला भीतर दब तो जाती है, किन्तु उसका धुआँ बाहर निकलने का मार्ग खोज ही लेता है। इस बहिर्गत धूम-राशि से एक ओर तो नीचे दबी वाडव-ज्वाला के कठिन ताप का बोध होता है और दूसरी ओर समुद्र के आत्म-प्रतिबन्ध की दुस्सहता का चित्र उभर आता है। राम का उदात्त व्यक्तित्व यदि इस सागर की तरह गम्भीर एवं प्रशान्त है, तो उनका सीता-विषयक शोक उसके भीतर दबे हुए वडवानल की कठिन ज्वाला की तरह है। राम के शोक का जो भाग उनके आँसू आदि के रूप में बाहर है, वह तो उनकी कठिन शोकाग्नि का धुआँ मात्र है। उनके वास्तविक गहन शोक की चिनगारी कभी-कभी विद्युत्स्फुरण बनकर भले ही कौंध जाय, किन्तु यह क्षणिक स्फुरण वस्तुतः राम के मेघ-व्यक्तित्व के अन्तस् में सर्वदा वर्तमान कठिन वज्र-शोक का एक हल्का परिचय मात्र है। इसके विपरीत, माधव के शोक को चाहे वडवाग्नि माना जाय, चाहे वज्र; वह जो कुछ है, प्रकट है, प्रकाश है। अतः इसमें वह निविडता एवं तरल आकुलता नहीं जो राम के **'पुटपाकप्रतीकाश करुणरस'** में विद्यमान है। ऐसा नहीं कि राम के इस कठिन धीरज का बाँध कभी टूटता ही नहीं, उनकी घनीभूत वेदना पिघलकर आँखों की राह उतरती ही नहीं, या उनके शोकोद्गार कण्ठ की सीमा लाँघकर उनकी जिह्वा पर थिरकते ही नहीं। यह सब कुछ होता है, किन्तु उसका ढंग दूसरा है, उसकी प्रक्रिया दूसरी है।[2] शोकावेग के ऐसे निरोध का कोई भी प्रसंग माधव के विरह-शोक में नहीं मिलता; वहाँ तो अधिक से अधिक विलाप, रुदन तथा शोकोद्गार दिखाये गये हैं। इसी प्रकार प्रकृति के उद्दीपन से भी राम एवं माधव के हृदय दो ढंगों से

---

१. उद्धूमावलिरम्भसामिव निधिर्मध्यज्वलद्वाडवो
   विद्युद्व्यञ्जितवज्रगर्भजलदच्छायां समालम्बते ॥—म० च० : ५ : २१।

२. अयं तावद्बाष्पस्त्रुटित इव मुक्तामणिसरो
   विसर्पन्धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः।
   निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया
   परेषामुन्नेयो भवति च भराध्मातहृदयः ॥—उ० च० : १ : २९।

रूप को भी वह व्यापकता नहीं मिली जो उसे मिलनी चाहिये थी। हाँ, तटस्थ उद्दीपन की विविध भंगिमाओं को यदि कहीं एक जगह या एक सन्दर्भ में व्यापक रूप से देखना हो तो हमें 'रसराज' शृङ्गार की ही शरण लेनी होगी।

मालतीमाधव का अङ्गी रस **शृङ्गार** है; इस शृङ्गार की पृष्ठभूमि एवं रति के उद्दीपन-रूप में प्रकृति-चित्रों की व्यापक उद्‌भावना की गई है। महावीरचरित के सीमित प्रकृति-चित्रों की तुलना में प्रस्तुत प्रकरण की प्रकृति काफी प्रसार एवं नवीनता लेकर आई है। इसका कारण चाहे रसगत हो, वस्तुगत हो अथवा कवि की निर्माण-प्रक्रिया की किसी प्रवृत्ति विशेष को लक्षित करता हो, इतना स्पष्ट है कि उक्त दोनों नाटकों के परस्पर कई भेदों में एक प्रमुख भेद उनके प्रकृति-निरूपण की पद्धति को लेकर है। महावीरचरित में प्रकृति का यत्किंचित् निबन्धन हुआ है उसमें उसके आलम्बन रूप की प्रधानता है; इसके ठीक विपरीत, मालतीमाधव में मुख्य रूप से रति की परिपोषिणी प्रकृति उद्दीपन बनकर उपस्थित हुई है। हाँ, इसमें भी प्रकृति के स्वच्छन्द जीवन की कहीं-कहीं सुन्दर उद्भावना की गई है जो नाटकीय वातावरण की सृष्टि में परम सहायक हुई है। विशेष रूपसे इस प्रकरण का नवम अङ्क इस दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण एवं उर्वर है; यहाँ एक ही जगह मानव-जीवन के सुख-दुख की धाराओं से अपरिचित-सी एवं तटस्थ बनी हुई-सी तथा पुनः उनमें अपनी संवेदना तथा गहन आत्मीयता के रंग भरती हुई सी प्रकृति के कुछ नितान्त मनोहर चित्र देखे जाते हैं। इस अङ्क के आरम्भ होने से पूर्व ही नायक माधव अपनी प्रिया मालती को खो बैठता है। उसके मन में मालती-प्राप्ति की अब कोई भी आशा रह नहीं गई है। निराशा के गहन अन्धकार में भटकता हुआ-सा वह अपने मित्र मकरन्द के साथ विन्ध्य के घने जंगलों में प्रवेश करता है। यहाँ ध्यातव्य है कि भवभूति की तीनों ही नाट्यकृतियों में प्रिया-वियोग की अवस्था में नायक प्रकृति की उन्मुक्त लीलाभूमि में ही भटकते चलते हैं। राम तो सीता को खोकर भी अपने वन-वास की अवधि समाप्त हुए बिना तथा सीता की प्राप्ति किये बिना अन्यत्र जा नहीं सकते थे। किन्तु माधव अपनी विरह-दशा को किसी नगर या जन-संकुल स्थान में भी झेल सकता था; विन्ध्य के जंगलों में यत्र तत्र भटकना उसके लिए अनिवार्य नहीं माना जा सकता। फिर भी, गहन कानन के बीच प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में जिस प्रकार उसके विरहभाव को पनपने का अवसर दिया जाता है, उससे न केवल भवभूति के प्रकृति-प्रेम, प्रत्युत उनकी प्रौढ़ कला-दृष्टि का भी परिचय मिल जाता है। यों तो प्रकृति सुख और दुख दोनों ही अवस्थाओं में मनुष्य की संवेदनशील सहचरी सिद्ध होती है; किन्तु दुख की काली बदलियों से घिरा हुआ मानव मन जितना परित्राण एवं अवलम्ब प्रकृति के सहृदय प्रांगण में प्राप्त करता है, उतना किसी अन्य प्रकार से सम्भव नहीं। इसीलिए विश्व के महान् काव्यों एवं नाटकों के पात्र अपने करुण जीवन की घड़ियों को प्रायः प्रकृति के सान्निध्य में ही काटते हुए दिखाये जाते हैं। यही क्यों, मानव मन की प्रच्छन्न, कोमल तथा रहस्यमय भावनाओं को अपनी अभिव्यक्ति की जैसी पट्टभूमि प्रकृति के सहृदय अञ्चल में प्राप्त होती है, वैसी

अन्यत्र नहीं होती। अपनी प्रिया से वियुक्त यक्ष किसी सुदूर नगरी में अवस्थित होकर भी किसी 'पटुकरण' प्राणी के द्वारा अपनी प्रेयसी पत्नी के पास सन्देश भेज सकता था। किन्तु ऐसा करने से न तो उसके दुखते मन एवं प्रणयोच्छ्वास को अपनी अभिव्यक्ति की वह विराट् भूमि प्राप्त होती और न इस अभिव्यक्ति को वह मार्मिकता मिल पाती जो मेघदूत की पंक्ति-पंक्ति से फूटती है।

ठीक इसी प्रकार मालतीमाधव के नवम अंक में विरही माधव के प्रकृतिमय भावोद्गारों का औचित्य भी समझा जा सकता है। प्रकृति से दूर जाकर वह अपने विरह-भावों को न तो वैसी भाषा दे सकता और न वैसी मार्मिकता। अतः इस अंक की प्रकृति न केवल नाटकीय वातावरण की सृष्टि में सहायक हुई है, वरन् माधव के दुस्सह वियोग की उपयुक्त पृष्ठभूमि बनकर आई है, उसके व्यथित मन की समर्थ अभिव्यंजना बनकर प्रकट हुई है।[१] मकरन्द की इस उक्ति से एक ओर तो हमारी आँखों के सामने प्रकृति के विविध रंगों से युक्त कानन-प्रदेश की रमणीयता साकार हो जाती है और दूसरी ओर, माधव की विरह-वेदना के ठीक विपरीत, प्रकृति के रास-विलास के चित्रों से नायक की मनोव्यथा का तीखापन हमारे मन-प्राणों पर छा जाता है। संस्कृत वाङ्मय में शोकाकुल मानव-हृदय की वेदनाओं को जब प्रकृति के विशिष्ट चित्रों के माध्यम से प्रकट करना होता है, तो प्रायः इसके लिए तीन रीतियाँ अपनाई जाती हैं। पहली रीति में तो क्षुब्ध मानव मन के सर्वथा अनुकूल प्रकृति-चित्रों की सर्जना की जाती है, जैसे कि 'विकलकरण' राम के सन्तप्त हृदय की संवेदना में पत्थर भी रो पड़ते है और वज्र का हृदय भी टूक-टूक हो जाता है।[२] दूसरी रीति में मानव वेदना के सर्वथा प्रतिकूल प्रकृति के रूप सजाकर **कंट्रास्ट की पद्धति** से वेदना की सघनता व्यक्त की जाती है। इसके उदाहरण प्रस्तुत श्लोक में आई हुई प्रकृति की मुग्ध लीलाएँ हैं। तीसरी रीति में प्रकृति के उक्त दोनों रूपों से भिन्न एक दूसरी ही रूप-छटा की कल्पना की जाती है जिसे हम प्रकृति का **तटस्थ** रूप मानते हैं; ऐसी भाव-भंगिमा में दुखी मानव मन की भाव-धाराओं से उदासीन बनी हुई-सी प्रकृति अपने स्वच्छन्द जीवन की परिधि में निस्संग भाव से चलती हुई दिखाई जाती है। मालतीमाधव के नवें अंक में प्रकृति के ऐसे तटस्थ रूप भी आये हैं, जिनकी विवेचना आगे की जायगी। कहना न होगा कि प्रकृति-जीवन के इन तीनों ही रूपों के द्वारा कवि या साहित्यकार हृदय की चोटों को ही अलग-अलग ढंग से रूपायित करते हैं। हाँ, नायक-नायिका-भेद से उनकी विरह दशा को व्यंजित करनेवाली प्रकृति के रूपों में भी कुछ

---

१. **वानीरप्रसवैर्निकुञ्जसरितामासक्तवासं पयः**
पर्यन्तेषु च यूथिकासुमनसामुज्जृम्भितं जालकैः।
उन्मीलत्कुटजप्रहासिषु गिरेरालम्ब्य सानूनितः
प्राग्भारेषु शिखण्डिताण्डवविधौ मेघैर्वितानाय्यते॥ --मा० मा० ९ : १५।

२. उ० च० : १ : २८।

भेद आ ही जाता है। भवभूति ने इस भेद के रहस्य को भली भाँति समझा है और अपने नाटकों में उसका यथास्थान निर्वाह किया है। मर्यादापुरुषोत्तम राम के विरह-वर्णन के क्रम में प्रकृति को या तो उन्होंने गंभीर एवं तटस्थ बना दिया है, या उनकी घनीभूत वेदना के समानान्तर ही प्रकृति के सजल रूपों के दर्शन कराये हैं। ऐसा कोई चित्र हमारे सामने नहीं आता, जहाँ राम तो रो रहे हों, किन्तु प्रकृति हँस रही हो।[1] ऐसा शायद इसलिए हुआ है कि राम का गुरु-गंभीर व्यक्तित्व ऐसे 'कंट्रास्ट' से हल्का हो जा सकता है, अथवा राम को प्रकृति से जो सहज आत्मीयता प्राप्त हुई है[2], उस सम्बन्ध को ऐसा करने से व्याघात पहुँच सकता है।

इधर माधव के व्यक्तित्व की मर्यादा मूल रूप से उसके प्रेमी होने में है; वह न तो राम की तरह लोक-नायक है, न मर्यादा पुरुषोत्तम और न ही प्रेम के शुद्ध सात्त्विक रूप का उपासक। प्रकृति-जीवन से उसका वह सहज साहचर्य भी नहीं जिसे राम ने, अपनी चौदह वर्ष की वनवास-अवधि में, अनायास ही प्राप्त कर लिया था। फलतः जिस प्रकार माधव की प्रेम-पीड़ा राम की प्रणय-वेदना से मूलतः भिन्न कोटि की है, उसी प्रकार इस पीड़ा की पृष्ठभूमि में समारोपित प्रकृति के रूपों में भी स्पष्ट अन्तर आ जाता है। प्रकृति का उक्त चित्र माधव की मनोदशा के समर्थ उद्दीपन के रूप में सामने आता है, हालाँकि यह उद्दीपन भी यहाँ प्रकृति के ताटस्थ्य का पर्याय-सा हो गया है जिससे इसके भाव-बिम्बों में और भी गरिमा आ गई है।

गहन कानन के बीच जंगली झाड़ियों से टकराती तथा कल-कल छल-छल करती हुई नदियों की चंचल लहरें, इन लहरों में अनायास अर्पित होते हुए तटस्थित वेतस-पुष्प जिनसे नदियों के जल वासित हो रहे हैं, सरित्तट की पार्श्वभूमि में खिली हुई जूही एवं चमेली की सस्मित कलियाँ—यह सारा का सारा दृश्य वन-श्री की मादक सुषमा व्यक्त कर रहा है। अगली दो पंक्तियों में कवि ने उत्फुल्ल वन-प्रकृति को और भी कलात्मकता के साथ प्रस्तुत किया है। पर्वत के शिखरों पर कुटज कुसुम हँस रहे हैं, मानो उनके हास्य के लक्ष्य बने हुए मद-मत्त मयूर अपने तन-मन की सुध भूलकर नृत्यरत हैं; किन्तु नर्तक खुले आकाश के नीचे नाचें, यह ठीक नहीं जँचता; अतः कजरारे मेघ नृत्य करते मयूरों के ठीक ऊपर चँदोवा बनकर तने हुए हैं। यहाँ पूरी की पूरी नृत्य-सामग्री जुटी हुई है—हँसते हुए कुटजवृक्ष रसिक द्रष्टा हैं, मोर नाचनेवाले हैं

१. महावीरचरित के पंचम अङ्क के श्लोक ४२ में राम की उक्ति से एक बार अवश्य ऐसा प्रतीत होता है, जैसे प्रकृति की 'मुग्ध' छटा को देखकर उनका विरह-भाव समुद्दीप्त हो उठा हो। किन्तु वहाँ भी राम के शोक-भाव के सूक्ष्म संदीपन में प्रयुक्त प्रकृति के हास से कहीं अधिक उसके संवेदनशील अश्रु रूप की ही प्रधानता है। यहाँ प्रकृति के सारे चित्र, चाहे वे विकसमान कदम्ब हों, नृत्य-रत मयूर हों या सुविकसित तमाल-पुष्प हों, अद्रि-शिखर पर आश्रय लेते हुए मेघ को लक्ष्य करके ही अङ्कित किये गये हैं। अर्थात् यहाँ समग्र प्राकृतिक छवना के मूल में मेघों का तरल जीवन है जो सदा से मानव वेदना का अनुषंगी माना जाता रहा है।

२. तुल० **'यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बन्धवो मे'**—उ० च० : ३ : ८।

तथा इस आमोद-मण्डली पर छाया करनेवाले मेघ वितान बनकर खड़े हैं।[1] संस्कृत काव्यों में हास्य का रंग श्वेत माना गया है; कुटजवृक्षों के फूल चूँकि उजले होते हैं, अतः उनके 'प्रफुल्ल विकास' को बड़ी स्वाभाविकता एवं कलात्मकता के साथ 'प्रहास' मान लिया गया है। ध्यान से देखने पर प्रस्तुत श्लोक में मूल वस्तु शिखण्डियों का उद्धत नृत्य-विधान ही है। शेष सारे चित्र या तो इस सरस नृत्य की सरस पृष्ठभूमि बनकर आये हैं, अथवा इस नृत्य को प्रवर्तित करने में अपने-अपने ढंग से योगदान दे रहे हैं। एक ओर तो प्रकृति ऐसे आमोद-प्रमोद में डूबी हुई दीखती है, दूसरी ओर माधव प्रिया-विरह की ज्वाला में तड़प रहा है—प्रकृति के इस सारे रास-रंग का कैसा तीखा प्रभाव उसके भावुक मन पर पड़ रहा होगा, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

कहीं-कहीं वर्णनात्मक पद्धति से वन-प्रान्तर, पर्वत आदि की महिमान्वित छटा बड़े सीधे ढंग से व्यक्त की गई है[2]। यहाँ सौदामिनी ऊपर-ऊपर सर्वथा अनगढ़ एवं कठोर दीखनेवाले पर्वत में भी हमें ऐसे सौन्दर्य के दर्शन कराती है कि हम उसकी सारी कठोरता को भूल जाते हैं, उसके रूप के माया-जाल में खो जाते हैं। जो वस्तुएँ स्वभावतः कोमल, मसृण एवं मनोहारी हैं, उनके सौन्दर्य की बारीकियों को शब्द-बद्ध करना अधिक कठिन नहीं है। किन्तु पर्वत तो पर्वत ही है; जब उसके शैलखण्डों एवं रुखड़े शरीर से भी कोई मोहक संगीत फूटता जान पड़े, तो निश्चय ही यह भवभूति जैसे महाकवि की शब्दतूलिका का ही चमत्कार है। भवभूति का यह प्रकृति-चित्र जितना ही सरल एवं अकृत्रिम है, उतना ही उदात्त एवं हृदयग्राही। नये-नये साँवले मेघों से भरी हुई ऊँची चोटियाँ, आनन्दातिरेक से आत्म-विस्मृत-सी होकर बोलनेवाली मोरनियाँ, पक्षियों के चित्र-विचित्र नीड़ों से युक्त वृक्षों की कतारें तथा विशाल शैल-खण्ड—पर्वत-श्रृंगार के ये सभी साधन अलग-अलग एक पूर्ण चित्र बनकर हमारे दृष्टि-पथ पर उतरते हैं। और जब पर्वत में इन सारे चित्रों का समाहार हो जाता है तो वह सौन्दर्य-रूप हो उठता है, उसमें कहीं कोई विरूपता या कठोरता दिखाई नहीं देती।

ऐसे पर्वतों से जब निर्झर फूटते हैं, या नदियाँ गिरती हैं, तो वहाँ भी प्रकृति का अलौकिक रूप-विलास दीखता है। ऐसे प्रपातों में प्रकृति की अल्हड़ तरुणाई को कवि

---

१. भवभूति के यशस्वी टीकाकार जगद्धर ने बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रकृति के इस विलास की व्याख्या की है—**एवं च कुटजवृक्षा द्रष्टारो मयूरा नर्तका मेघो वितानमिति नृत्य-सामग्री। ध्वनिस्तु शिखण्डिपदेन पञ्चचूडोपेतशिरस्कत्वेन विदूषक उक्तः। प्राग्भार-पदेन च प्राञ्चतीति प्राक्प्रकृष्टज्ञानवान्भारो दुःसहो यस्य स मूर्खो द्रष्टोक्तः। तस्य च हास उचित एव। यद्वा शिखण्डिपदेन त्रिशिखण्डयोगितया बाल उक्तः। तस्य च नृत्ये मूर्खो हसत्येव।** मा० मा० मा०, पृ० ३८५-८६।

२. **अयमभिनवमेघश्यामलोत्तुङ्गसानु-**
र्मदमुखरमयूरीमुक्तसंसक्तकेकः।
शकुनिशबलनीडानोकहस्निग्धवर्ष्मा
वितरति बृहदश्मा पर्वतः प्रीतिमक्ष्णोः॥ —मा० मा० : ९ : ५।

ने बड़े ही मौलिक रूप से समर्थ शब्दों में बाँधा है।[१] सिन्धु नदी के इस तट-प्रपात के वर्णन में भी कवि ने अपनी प्रौढ़ कवित्व-शक्ति का परिचय दिया है। जिन शब्दों के माध्यम इस चित्र की उद्भावना की गई है, वे भी अत्यन्त कलात्मक तथा भवभूति के विशिष्ट प्रकृति-दर्शन के सर्वथा अनुषंगी हैं। जल के लिए अम्बु, पर्वत के लिए भूधर, संवर्धमान के लिए विजृम्भमाण, गणेश के लिए हेरम्ब आदि शब्दों के प्रयोग प्रपात के प्राणवन्त एवं ऊर्जस्वल रूप-वर्णन के साथ सर्वथा एकरस एवं संगत सिद्ध हुए हैं। तट-प्रपात की प्रचण्ड ध्वनि को **'घनस्तनितप्रचण्ड'** कह करके भी अभीष्ट अर्थ की सिद्धि की जा सकती थी। किन्तु भवभूति प्रकृति के ऐसे चित्रों को मात्र मोटी रेखाओं में बाँधकर सन्तुष्ट नहीं होते—वे जब तक उनकी तह में पैठकर उनके सूक्ष्म रूपलावण्य को नहीं उभारते तब तक उन्हें सन्तोष नहीं होता। इसीलिए यहाँ भी जब वे प्रपात की संकुल ध्वनि की उपमा मेघ-गर्जन से देते हैं, तो 'जल से पूर्ण गम्भीर शब्दवाले नये मेघ' का सादृश्य लाकर प्रपात की ध्वनि को विशिष्टता प्रदान कर देते हैं। मेघ-मेघ में भी अन्तर होता है। अतः उनके गर्जन में भेद होना स्वाभाविक है। किसी भी प्रकृति के पर्यवेक्षक को यह सुविदित है कि जल से भरे हुए नये मेघों के गर्जन में जो गंभीरता प्राप्त होती है, वह अपेक्षाकृत हल्के एवं पुराने मेघों में नहीं पाई जाती। **'भूधरनिकुञ्जविजृम्भमाणः'** में 'निकुञ्ज' शब्द के प्रयोग पर ध्यान दीजिये; सामान्यतः तो यहाँ कोई कन्दरवाची शब्द ही दिया जाना चाहिये था। किन्तु कन्दरा से उस रूप-सुषमा की निष्पत्ति नहीं होती जो यहाँ निकुञ्ज से प्रकट होती है—पर्वत की कन्दराएँ छूँछी नहीं हैं, प्रत्युत हरे-भरे लता-गुल्मों एवं वनस्पतियों से आवेष्टित हैं। अतः एक ओर तो ऐसी गुफाओं की श्याम शाद्वलता हमारे आगे प्रत्यक्ष होती है, और दूसरी ओर उनमें प्रपात के शब्दों का प्रतिध्वनन भी एक विशिष्ट प्रकार के अनुगूँज को मूर्त करता हुआ प्रतीत होता है। गजस्तनित की तरह वन-प्रान्तर में फैलनेवाले इस अनुगूँज में कवि ने गणेश-कण्ठ की ध्वनि का सादृश्य लाकर उसे और भी प्रीत बना दिया है।

किसी देश-विशेष की प्राकृतिक सुषमा को चित्रित करने में भवभूति ने जो कुशलता तथा मौलिकता दिखाई है, काल-विशेष के वर्णन में भी उनकी वही कला-पटुता सामने आती है। उन्होंने प्रकृति को कई दृष्टिकोणों से देखा-परखा है, उसकी स्थानगत एवं कालगत विलक्षणताओं को अपने मौलिक स्वर देकर जीवन्त रूप में हमारे दृष्टिपथ पर अवतरित किया है। देश या स्थान-विशेष के उनके कई चित्र ऊपर विवेचित हो चुके हैं। उन चित्रों से सर्वथा भिन्न ग्रीष्मकालीन मध्याह्न की चित्रमयता

---

१. **यत्रत्य एष तुमुलध्वनिरम्बुगर्भ-**
गम्भीरनूतनघनस्तनितप्रचण्डः।
पर्यन्तभूधरनिकुञ्जविजृम्भमाणो
हेरम्बकण्ठरसितप्रतिमानमेति॥ —मा० मा० : ९ : ३।

को कवि ने अपूर्व कलात्मकता के साथ व्यक्त किया है।[1] ग्रीष्म की दुपहरी में तपते हुए वन-प्रदेश का कितना जीवन्त चित्र है यह ! कवि ने इन चार पंक्तियों के अत्यन्त सीमित आयाम में ही ग्रीष्म की भीषण ज्वाला में झुलसते हुए वन्य जीवन के सूक्ष्म रहस्यों को भी बड़ी चित्रमयता के साथ दृष्टिगोचर करा दिया है। इन पंक्तियों से जहाँ कवि के विपिन-जीवन का गहन अध्ययन टपकता है, वहाँ अपने इस अध्ययन को सूक्ष्म एवं हृदयग्राही रेखाओं में बाँधने की उसकी कलागत सामर्थ्य की भी पुष्टि होती है। ग्रीष्म में 'गंभीर' जैसे कितने ऐसे वृक्ष होते हैं जिनके पत्ते झड़ जाते हैं; उन नग्नप्राय वृक्षों पर आवास करनेवाले पक्षी आरग्वध जैसे वृक्षों के हरे-भरे सघन पत्तों की ओट में जाने के लिए स्वभावतः ही उत्सुक एवं सचेष्ट दीखते हैं। पूर्णिका नाम की चिड़िया तटवर्ती तृणों में चोंच मार-मार कर अपने खाद्य की तलाश करती है, किन्तु ग्रीष्म की ज्वाला ने उसकी प्यास को उसकी भूख की तुलना में काफी बढ़ा दिया है; फलतः वह अपने मुख (चोंच) से तृणों के अग्रभाग का जैसे तैसे स्पर्श मात्र करती है, उनमें अपनी पिपासु चोंच गड़ा नहीं पाती। एक ओर तो अपनी क्षुधा-पूर्ति के लिए वह ऐसी विरक्त दीखती है, और दूसरी ओर अपनी प्यास बुझाने के लिए अतिशय आकुल भी। कवि ने इन दोनों ही स्थितियों को **चुम्बिन** एवं **धावन्ति** जैसे पदों के माध्यम से पूर्ण-रूपेण व्यंजित कर दिया है। चिलचिलाती हुई दुपहरी में काल्कण्ठक जैसे कुछ पक्षी वृक्षों के कोटरों में छिपकर अपनी गर्मी शान्त करते हैं। उधर कुक्कुभों को इस लम्बी दुपहरी को काटने का एक ही उपाय सूझता है—वे लता-गुल्मों में छिपे गुटरू-गूँ करते कबूतरों की आवाज की नकल किये जाते हैं। ग्रीष्म की ज्वाला में तपते हुए वन-प्रदेश के प्रायः एक ही अंचल में विविध पक्षियों और अन्य प्राणियों के अलग-अलग रंग और ढंग ! यहाँ एक ओर यदि ग्रीष्म की प्रचण्डता का रूप खड़ा होता है, तो दूसरी ओर विविध प्राणियों की अन्तः एवं बाह्य प्रकृति को रूपायित करनेवाली कवि की सूक्ष्म दृष्टि तथा कारयित्री प्रतिभा का भी परिचय प्राप्त होता है।

ऊपर प्रकृति के जो चित्र दिये गये हैं, वे सब के सब नायक माधव के जीवन की विशिष्ट स्थिति के अनुरूप नाटकीय वातावरण के निर्माण में सक्रिय सहयोग देते हैं। प्रकृति के इन आलम्बन-रूपों में माधव के विरही मन-प्राणों को उमड़ते हुए मेघों, हँसते हुए पुष्पों, नृत्य-रत मयूरों आदि के द्वारा समुद्दीप्त करने की व्यंजना भी छिपी हुई है। इस प्रकार प्रकृति के ऐसे चित्र तटस्थ या उदासीन-से दीखते हुए भी माधव के प्रणयोच्छ्वास के समानान्तर चलते हैं; उनमें ऐसा कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता जो उसके मन को प्रत्यक्षतः या जान-बूझकर दुखाने का उपक्रम कर रहा हो। किन्तु आगे

---

१. **काश्मर्याः कृतमालमुद्गतदलं कोयष्टिकष्टीकते**
तीराश्मन्तकशिम्बिचुम्बिनमुखा धावन्त्यपः पूर्णिकाः।
दात्यूहैस्तिनिशस्य कोटरवति स्कन्धे निलीय स्थितं
वीरुन्नीडकपोतकजितमनुक्रन्दन्त्यधः कुक्कुभाः॥ —वही : ९ : ७।

चलकर कवि ने प्रकृति की कुछ ऐसी सुषमा के भी दर्शन कराये हैं जो नायक के विरह-भाव के सर्वथा प्रतिकूल दीखती है—यदि एक ओर हास्य है, तो दूसरी ओर रुदन; एक ओर प्रगाढ़ मिलन है, तो दूसरी ओर दाहक वियोग। यों तो उद्दीपक प्रकृति के जो भी चित्र खड़े किये जाते हैं, वे विरही नायक या नायिका के मन को बिंधनेवाले ही होते हैं, शान्त करनेवाले नहीं होते। फिर भी, इनमें से हँसते हुए फूलों तथा उमड़ते हुए मेघों जैसे चित्रों से एक सूक्ष्म ताटस्थ्य का भाव फूटता है, जब कि इन्हीं में से कुछ दूसरे चित्र प्रत्यक्ष रूप से वियोगी मन को तोड़ते हुए-से प्रतीत होते हैं। भवभूति ने मालतीमाधव में इन दोनों ही प्रकार के उद्दीपनों का कलात्मक समाहार प्रस्तुत किया है। एक उदाहरण लिया जा सकता है।[1] यहाँ एक ओर तो माधव अपनी प्रिया को सन्देश देने के लिए किसी योग्य सन्देशवाहक की खोज में उतावला और व्यग्र दीख रहा है, दूसरी ओर, जहाँ कहीं भी उसकी दृष्टि जाती है, वन्य प्राणी अपने स्वयं के राग-रंग में लिप्त हैं—माधव के प्रिया-वियोग के ठीक विपरीत अपने प्रियामिलन के सुखों में डूबे हुए-से हैं। नीलकण्ठ के उद्धत नृत्य तथा मदभरी केकावाणी तक किसी वियोगी याचक की शोक-विह्वल याचना कैसे पहुँचे! एक ओर दीन-हीन 'वचन' (याचना) है, तो दूसरी ओर केका और ताण्डव—इन दोनों के नीचे 'वचन' का दब जाना सहज स्वाभाविक है। इसी प्रकार मद-भ्रान्त चकोर के द्वारा अपनी कान्ता का अभिसरण तथा कृष्णमुख बन्दर के द्वारा अपनी प्रिया के कपोल को पराग से चर्चित करना मिलन-सुख की उस सीमा के सूचक हो रहे हैं जहाँ प्रेमी को अपने आस-पास क्या, स्वयं अपने तन-मन की भी सुध नहीं रह जाती। कहना न होगा कि इस 'कंट्रास्ट' पद्धति से कवि ने माधव के वियोगी मन को जितना झकझोरा है, उतना किसी अन्य उद्दीपन से सम्भव नहीं था। इस प्रकार के कई अन्य चित्र माधव के दुखते मन को और भी पीड़ित तथा उद्दीप्त करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं और उन सभी चित्रों में माधव की वेदना के सर्वथा विसंगी प्राकृतिक जीवन के उन्मद राग एवं प्रणय-सुख की अवतारणा की गई है।[2]

इन चित्रों से अलग मालतीमाधव में प्रकृति का कुछ ऐसा रूप भी मिलता है जो माधव के विरही हृदय के समरस में स्थित है, उसकी पीड़ाओं के अनुरूप ही स्वयं भी शोक-विह्वल दीखता है। एक दृष्टान्त लेना अलम् होगा।[3] यहाँ जंगली हाथी के विरह-

---

१. केकाभिर्नीलकण्ठस्तिरयति वचनं ताण्डवादुच्छिखण्डः
कान्तामन्तः प्रमोदादभिसरति मदभ्रान्ततारश्चकोरः।
गोलाङ्गूलः कपोलं छुरयति रजसा कौसुमेन प्रियायाः
कं याचे यत्र तत्र ध्रुवमनवसरग्रस्त एवार्थिभावः॥ —वही : ९ : ३०।

२. वही : ९ : ३१-३२।

३. नान्तर्वर्तयति ध्वनत्सु जलदेष्वामन्द्रमुद्गर्जितं
नासन्नात्सरसः करोति कवलानावर्जितैः शैवलैः।
दानज्यानिविषादमूकमधुपव्यासङ्गदीनाननो
नूनं प्राणसमावियोगविधुरः स्तम्बेरमस्ताम्यति॥ —वही : ९ : ३३।

वर्णन के आलोक में माधव के स्वयं के कठिन विरह का न केवल सूक्ष्म संकेत उपलब्ध होता है, वरन् एक विरह की सहानुभूति, संवेदना एवं समता में दूसरे विरह की अभिव्यक्ति भी प्राप्त होती है। कवि का लक्ष्य माधव के विरही हृदय को मात्र उकसाकर अथवा संदीप्तकर एक ही अवस्था में छोड़ देना नहीं है; वह उसे कभी उद्दीप्त करता और कभी आश्वस्त करता हुआ-सा जीवन के बहुविध भावों के मार्ग से ले जाता है। जहाँ पहले के चित्रों में 'कंट्रास्ट' की पद्धति से उसकी वियोगावस्था को तीव्र उद्दीपन प्राप्त होता है,[1] वहाँ प्रस्तुत चित्र में प्रकृति को अपने विरह-दुख के अनुरूप पाकर माधव का आकुल मन निश्चित रूप से कुछ शान्त हुआ-सा प्रतीत होता है।

मानव जीवन के साथ अनादि काल से प्रकृति का कुछ ऐसा गहन साहचर्य रहा है कि मनुष्य के भाव-प्रवाह में अंशतः या सर्वांशतः प्रकृति के दिव्यादिव्य रूपों का अनायास ही समाहार होता गया है; वह अपने को प्रकृति से सर्वथा अलग रखकर सोच ही नहीं सकता। संस्कृत के कवियों ने इस चिरन्तन सत्य को बड़ी भावुकता एवं कलात्मकता के साथ अपने-अपने काव्यों या नाटकों में मुखरित किया है। चाहे काव्य हो या नाटक, दोनों ही जगह ऐसे चित्रों या कलात्मक आरोपों का उद्देश्य प्रायः एक ही रहता है—पाठकों या सामाजिकों के मन में किसी भाव-स्थिति को उसके पूर्ण बिम्ब एवं चित्रमयता के साथ अधिक से अधिक मूर्त रूप प्रदान करना। संवेग या भावुकता के क्षणों में प्रकृति के साथ मानव मन का साहचर्य और भी सघन हो उठता है, फलतः प्रकृति का मानव भावों पर, या मानव भावों का प्रकृति पर आरोप-प्रत्यारोप अवश्यम्भावी-सा हो जाता है। भावुक माधव अपनी प्रेयसी मालती के कोमल कर-स्पर्श की अनुभूति व्यक्त करता है।[2] कोमलांगिनी मालती का हाथ ईषत् रक्त है, अतः उसकी उपमा 'आरक्त पंकज' से दी गई है; उसकी पतली नरम उँगलियाँ कमल की पंखुड़ियों की तरह हैं, भुजा नालदण्ड की नाईं सुकुमार है जो माधव के कोमल कर-स्पर्श मिलने के संवेग में पूरी-की-पूरी रोमांचित हो गई है और उँगली रूपी पंखुड़ियों में स्वेद की बूँदें उतर आई हैं। कवि ने मालती के हाथ की इस स्थिति को प्रकृति के रूप-रंग में ऐसा बोर दिया है कि माधव एवं मालती की तत्कालीन रागात्मक अनुभूतियाँ मूर्त होकर हमारे मन-प्राणों में छा जाती हैं। स्वयं माधव कामाग्नि में झुलसता हुआ मानो कोई जंगली हाथी हो जो ग्रीष्म की प्रखर ज्वाला में झुलसता हुआ किसी पुष्कर से अपने स्थूल शुण्ड में कंटकित नाल से युक्त आर्द्र रक्तकमल को ग्रहण कर रहा हो तथा उससे अपने सन्तप्त शरीर या प्राणों में शीतलता का संचार कर रहा हो। यहाँ प्रस्तुत पर

---

१. वही : ९ : ३०, ३१, ३२।

२. **आमूलकण्टकितकोमलबाहुनाल-**
मार्द्राङ्गुलीदलमनङ्गनिदाघतप्तः।
अस्याः करेण करमाकलयामि कान्त-
मारक्तपङ्कजमिव द्विरदः सरस्याः॥ —वही : ६ : २०।

अप्रस्तुत का ऐसा कलात्मक आरोप है कि माधव का भावुक मन तथा उसकी मुग्धा प्रेयसी की लाजभरी छवि हमारे सामने प्रत्यक्ष हो उठती है।

प्रकृति के विलास-भरे सौन्दर्य के अजस्र स्रोत में प्रेमी हृदय को अपनी प्रिया की एक-एक भंगिमा, विभ्रम आदि की झलक मिलती है। प्रिया के सामीप्य में प्रकृति की लीलाभूमि जहाँ समवेत रूप से प्रणयी के उच्छ्वसित प्राणों में प्रियतमा की मांसल अनुभूति का सर्जन करती है, वहाँ वियोगावस्था में प्रिया का कोमल व्यक्तित्व प्रकृति के अनन्त चिन्मय प्रसार में मानो खण्डशः बिखर जाता है। प्रिया के संयोग या वियोग में प्रकृति-रूपों की एक-से-एक मनोहर छटाएँ संस्कृत नाटकों एवं काव्यों में प्रायः सर्वत्र मिल सकती हैं। किन्तु अप्रस्तुत के प्रति प्रस्तुत का वह समर्पण जहाँ दोनों एकाकार-से दीखें, वस्तुतः प्रेमी हृदय के 'स्व' का प्रणय के 'विश्व' में अन्तर्भाव का सूचक है; ऐसी स्थिति में प्रकृति में जो कुछ शोभन और प्रीतिकर है, वह प्रिय या प्रिया के दैहिक या सात्त्विक भावों का पर्याय बन जाता है। कालिदास एवं भवभूति दोनों ने ही परस्पर वियुक्त प्रेमी हृदयों की ऐसी उदात्त अनुभूतियों को बड़े ही समर्थ शब्दों में व्यक्त किया है। माधव अपनी प्रियतमा मालती को खोज-खोजकर थक जाता है; जैसी स्थिति में वह दैवात् पड़ा हुआ है, उसमें उसे मालती के पुनर्मिलन की कोई सम्भावना नजर नहीं आती। किन्तु जब उसकी दृष्टि कानन-प्रदेश में फैली हुई उन्मुक्त प्रकृति के सहज सौन्दर्य की ओर जाती है, तो उसके दर्पण में वह अपनी प्रिया के विवध अंगों या विलासों का साक्षात्कार कर लेता है।[1] विरही यक्ष अपनी प्रिया से वियुक्त होकर बहुत कुछ इसी ढंग से प्रकृति के मधुमय विलास में उसके रूप या भाव के दर्शन करता है।[2] भवभूति ने यहाँ **'प्रमथ्य'** तथा **'विभक्ता'** क्रियाओं के द्वारा एक ऐसे अर्थ का संकेत किया है जो कालिदासकी **'उत्पश्यामि'** जैसी क्रियाओं से सिद्ध नहीं होता। यक्ष को तो कम से कम इसका विश्वास है कि उसकी प्रिय भार्या दुखी होकर भी जी रही है। इधर माधव को अपनी प्रेयसी के सम्बन्ध में ऐसी कोई आशा नहीं, फलतः वन-प्रदेश की सुषमा में उसकी प्रतिच्छाया देखकर भी उसके पीछे उसे किसी हिंसा या अपराध-कर्म का ही आभास मिलता है। वन में तो हिंस्र पशु हिंसा किया ही करते हैं; मालती का भी मानो हनन करके लोध्रपुष्प, मृगी आदि ने उसके रूप की विविध भंगिमाओं को बाँट लिया है। यक्ष और माधव के जीवन की दो भिन्न स्थितियाँ ही उनकी दृष्टि के इस अन्तर के लिए उत्तरदायी कही जा सकती हैं।

---

१. **नवेषु लोध्रप्रसवेषु कान्तिर्दृशः कुरङ्गीषु गतं गजेषु।**
लतासु नम्रत्वमिति प्रमथ्य व्यक्तं विभक्ता विपिने प्रिया मे ॥—वही : ९ : २७।

२. तुल० **श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं**
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥—मेघ० : १०८।

ऊपर मालतीमाधव के विविध सन्दर्भों में आई हुई प्रकृति के कुछ चित्रों की मीमांसा की गई। इन चित्रों की तरह ही कमनीय एवं मनोहर प्रकृति के कई अन्य चित्रांकन इस प्रकरण में पिरोये गये हैं। जैसा कि ऊपर निवेदित है, महावीरचरित की तुलना में प्रस्तुत प्रकरण में प्रकृति काफी प्रसार और व्यंजना के साथ उपस्थित हुई है। नाटकीय दृष्टि से विचार करने पर मालतीमाधव के प्रकृति-चित्रों का प्रायः सर्वत्र औचित्य ठहरता है—रस एवं वस्तु के अनुकूल ही प्रकृति की दृश्यावली प्रस्तुत की गई है। हाँ, नवम अंक में प्रकृति का कुछ अधिक विस्तार अवश्य दीखता है जो कार्य-व्यापार के विकास में कुछ सीमा तक अवरोधक माना जा सकता है; किन्तु यहाँ भी प्रकृति के सारे चित्र विप्रलम्भ शृङ्गार के आस्वाद में अपना विशिष्ट योगदान देते हैं।

अध्याय ४

उत्तररामचरित : भवभूति के प्रकृति-दर्शन का पश्चिम चरण

यदि महावीरचरित में प्रकृति की स्वल्प स्थिति है और मालतीमाधव में उसका अतिशय विस्तार है, तो इन दोनों की तुलना में उत्तररामचरित में नाटकीय दृष्टि से प्रकृति की सन्तुलित एवं सुव्यवस्थित योजना की गयी है। प्रकृति के प्रति कवि की ऐसी प्रौढ़ दृष्टि वस्तुतः उसके साहित्यिक जीवन के उस विकास की सूचक मानी जा सकती है जहाँ वह अपनी कला एवं अनुभूतियों के चरम विन्दु पर आ चुका था। उत्तररामचरित की प्रकृति प्रत्येक दृष्टि से वस्तु, नेता एवं रस की अनुषंगिनी एवं परिपोषिणी होकर आयी है। कवि ने यहाँ अपनी प्रथम दो नाट्यकृतियों से विलक्षण वस्तु की स्थापना की है और उस वस्तु के अनुरूप ही रस-योजना करने में सफलता पायी है। यह ठीक है कि महावीरचरित तथा उत्तररामचरित के नायक, नायिका आदि एक ही हैं; किन्तु पहले में जहाँ कवि ने वस्तु की विशालता को समेटने तथा उसे नाटकीय रूप देने का प्रयास किया है, वहाँ दूसरे में वस्तु की न्यूनता को नाटकीय भाव-बिम्बों में फैलाकर उनकी बारीक रेखाओं में करुणा के जीवन्त रंग बिखेरे हैं। फलतः उत्तररामचरित में इतिवृत्त की दृष्टि से न तो कोई विशेष चमत्कार है और न अनुसन्धान; ऐसे कुछ चमत्कार महावीरचरित में अवश्य मिलते हैं। यहाँ तो जो कुछ है वह 'भाव' की दृष्टि से महनीय है—यह भाव इतना प्रबल और उच्छ्वसित है कि नाटकीय वृत्त की परवा नहीं करता; कहीं-कहीं वृत्त टूट-सा गया है, किन्तु भाव, ऐसे क्षणों में भी, अपनी सामर्थ्य से काफी वेगवान् दीखता है। यह कहना नितान्त उपयुक्त होगा कि उत्तररामचरित में चित्रित की गयी प्रकृति इसी भाव के अणु-अणु में समाई हुई है, उसकी व्यंजना एवं अर्थवत्ता की प्राणवन्त सहचरी होकर आयी है।

भवभूति की तीनों कृतियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि क्या शैली, क्या भाव और क्या वस्तु, वे सर्वत्र अपेक्षाकृत गम्भीर, कठोर एवं गहन की ओर अधिक आकृष्ट हुए हैं; अपनी सभी रचनाओं में वे इनके चित्र अपूर्व सफलता के साथ अंकित कराने में समर्थ हुए हैं। विशेषतः उत्तररामचरित तो उनके गम्भीर जीवन-दर्शन का चूडान्त निदर्शन है। इसमें जिस करुणा की इतनी मार्मिक व्यञ्जना हुई है, वह वस्तुतः कवि के कलागत गाम्भीर्य का ही पर्याय है। यहाँ करुणा के विकट एवं गम्भीर उद्घोष में जिन तत्त्वों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायता पहुँचायी है, उनमें प्रकृति के समर्थ चित्रांकनों का विशेष महत्त्व है। जिस प्रकार अभिज्ञानशकुन्तल से प्रकृति को हटा लेने पर शकुन्तला शकुन्तला नहीं रह जायगी, उसी प्रकार उत्तररामचरित से प्रकृति को अलग कर देने पर राम-सीतारूपिणी करुणा भी गूँगी हो जायगी। यद्यपि महावीरचरित तथा मालतीमाधव में नाटकीय वस्तु के अनुरूप प्रकृति-चित्रों की सृष्टि हुई है, फिर भी

वहाँ प्रकृति को कोई व्यक्तित्व नहीं मिल पाया है—विविध भावों के उन्मेष में वहाँ प्रकृति या तो परिमार्जन का काम करती है, या उनकी अनुषंगिनी है। किन्तु उत्तर-रामचरित में प्रकृति ठीक उसी भूमिका में उतरती है, जिस भूमिका में वह अभिज्ञान-शाकुन्तल में आयी है। संस्कृत नाट्य-साहित्य की इन दोनों ही अमूल्य निधियों में प्रकृति को उनके अन्य पात्रों की तरह ही स्वतन्त्र व्यक्तित्व मिला है; वह नाटकीय भाव-धारा की संगति में अवश्य आयी है, किन्तु उससे पृथक् भी अपना अस्तित्व रखती है। पंचवटी या दण्डकारण्य की गम्भीर प्रकृति अपने अनुगूँज के रूप में राम या सीता के करुण व्यक्तित्व को प्रकट करती है—एकमात्र यही सत्य इस प्रकृति के स्वच्छन्द अस्तित्व का सूचक माना जा सकता है।

उत्तररामचरित के वृत्त-भाग की कल्पना में प्रकृति का स्वाभाविक रूप से अन्तर्भाव दृष्टिगत होता है। निर्वासिता सीता की रक्षा करनेवाली प्रकृति की ही दो विराट् मूर्तियाँ हैं—**गंगा और पृथिवी**। नाटकीय दृष्टि से विचार करने पर इन दोनों का व्यक्तित्व उतना ही दिव्य एवं आकर्षक दीखता है, जितना अरुन्धती और कौसल्या का। सातवें अंक के अन्तर्नाटक में उक्त दोनों प्रकृति-देवियों ने मानव-हृदय को स्पर्श करने तथा भाव-विभोर बनाने में जैसी भूमिका निभाई है, वैसी कदाचित् किसी भी मानव पात्र से सम्भव नहीं होती। दूसरे अंक में वन-श्री या वन-देवता **वासन्ती** के रूप में सदेह प्रकट होती है। यह वासन्ती न केवल वन-सौन्दर्य की मूर्त कल्पना है, प्रत्युत आगे चलकर नाटकीय कार्यव्यापार के विकास में परम सहायक सिद्ध होती है। सबसे आश्चर्यजनक नाटकीय उपलब्धि तो वहाँ दीखती है, जहाँ तृतीय अंक में सीता की सहचरी के रूप में **तमसा एवं मुरला** नाम की दो नदियों का प्रवेश होता है। तमसा एवं मुरला की मानवीकृत मूर्तियों की सृष्टि शोकाकुल सीता को आश्वस्त करने के निमित्त हुई है। सीता अपने दीर्घ विरह-काल को पृथिवी एवं भागीरथी के स्नेह की शीतल छाया में बिताती हैं जो क्रमशः 'क्षमा' एवं 'स्नेह' की प्रतीक हैं। राम ने जिस कठोरता एवं निस्संगता के साथ सीता का त्याग कर दिया था, उसकी कटुता निरपराध सीता के दुखी हृदय से जब तक धोई नहीं जाती, सीता राम के साथ स्वाभाविक रूप से मिल नहीं सकतीं। कवि इस कटुता को सीता के मन से दूर करने के लिए कई कलात्मक एवं भावात्मक साधन काम में लाया है। यहाँ परोक्ष रूप से सीता के परितप्त एवं कठोर हृदय को शमित एवं मृदु बनाने में पृथिवी तथा भागीरथी के सहृदय सान्निध्य का भी हाथ रहा है। सीता की तत्कालीन विरह-व्यथा के लिए इससे बढ़कर किसी दूसरे परि-वेश की कल्पना नहीं की जा सकती। सीता के पाताल-जीवन की ऐसी सहृदय प्राकृतिक पृष्ठभूमि तथा बाहर आने पर पंचवटी की उदार एवं व्यापक वन-श्री अप्रत्यक्ष रूप से उनकी सहिष्णुता, क्षमाशीलता, उदारता, विशालहृदयता आदि गुणों के परिपोषण या संवर्धन में सहायक हुई हैं। बारह वर्षों के दुस्सह मानसिक परिताप के बाद जब वे पंचवटी में अप्रत्याशित रूप से राम को देखती हैं, तो उनका हृदय सुख और दुख के अनिर्वचनीय भावों से भर जाता है। उस समय सीता को एकाकिनी छोड़ देना किसी

भी दृष्टि से उचित नहीं होता—इससे न तो उनका मानसिक सन्तुलन ठीक रह पाता और न उनके भावी पति-मिलन का मार्ग ही प्रशस्त हो पाता। कवि ने इस परिस्थिति को ध्यान में रखकर सीता की सहचरी के रूप में दो नदियों की साकार एवं सप्राण मूर्तियों की सृष्टि की है। उधर राम के लिए भी एक ऐसे ही सहचर या सखी की अपेक्षा है जिसकी पूर्ति वन-देवता वासन्ती के द्वारा हुई है। इस प्रकार सीता और राम के व्यथित अन्तःकरण को आश्वस्त करने, उनकी मानसिक ग्रन्थियों को सुलझाने तथा उनके भावात्मक मिलन की सम्यक् पृष्ठभूमि तैयार करने में प्रकृति के ही मूर्त या अमूर्त रूप सहायक होते हैं; तमसा, मुरला, वासन्ती और पंचवटी के बन्धुरूप वृक्ष, मृग आदि इसी उद्देश्य की सिद्धि में मानव पात्रों की तरह ही प्रयुक्त हुए हैं।

इतना ही नहीं, यदि उत्तररामचरित के विविध दृश्यों का विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि वे अधिकांशतः मुक्त प्रकृति के परिवेश में ही घटित हुए हैं। यदि यों कहा जाय कि प्रथम अंक को छोड़कर शेष सभी अंकों की घटनाएँ प्रकृति के किसी-न-किसी परिपार्श्व में ही जन्म लेती हैं, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। दूसरे और तीसरे अंक तो सम्पूर्णतः दण्डकारण्य के किसी न-किसी प्रदेश—जनस्थान और पंचवटी—में ही पिरोये गये हैं। चौथे और पाँचवें अंकों की घटनाएँ वाल्मीकि मुनि के आश्रमपद या उसके आसन्न प्रदेशों में घटित होती हैं। छठे अंक का सम्पूर्ण युद्ध-चित्र भी आश्रम के सन्निकट प्रकृति के विशाल प्रांगण में अंकित किया गया है। सातवें अंक में गंगा-पुलिन पर ही अन्तर्नाटक के द्वारा राम और सीता का मिलन सम्भव होता है। प्रथम अंक की दृश्य-भूमि यद्यपि अयोध्या नगरी है, फिर भी **चित्र-दर्शन** के द्वारा वहाँ भी राम के साथ वनजीवन के प्रसंगों की भाव-मूर्तियाँ जगायी गयी हैं जिनका प्रकृति के साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध असन्दिग्ध है। इस तरह अभिज्ञानशकुन्तल को छोड़कर संस्कृत के दूसरे किसी भी नाटक में इतने विस्तार, कलात्मकता तथा प्रभावोत्पादकता के साथ प्रकृति-चित्रों का वितान नहीं खड़ा किया गया है। कवि ने यहाँ राम के जीवन के जिस अंश को अपने नाटकीय वृत्त का आधार बनाया है, उसे इस प्रकार प्रकृतिमय बना दिया है कि कथानक के भाव, शिल्प और शैली तीनों में प्रकृति के शाश्वत रंग फैल गये हैं।

उत्तररामचरित के प्रथम अंक का 'चित्र-दर्शन' नाटकीय भाव एवं कला दोनों ही दृष्टियों से महत्त्व रखता है। कवि ने कुछ चुने हुए चित्रों के माध्यम से राम एवं सीता के अतीत जीवन को न केवल प्रत्यक्ष-सा कर दिया है, बल्कि उसके मर्म को अपनी शब्द-तूलिका से जीवन्त बना दिया है। चित्र-दर्शन के इस अपूर्व दृश्य में प्रकृति प्राण-रूप से प्रतिष्ठित की गयी है—राम और सीता के दाम्पत्य प्रेम की सरस एवं मार्मिक उद्भावना वस्तुतः प्रकृति के ही परिवेश में इतनी सफलता के साथ हो पायी है। कहीं-कहीं तो प्रकृति का सामान्य और अत्यन्त सीमित-सा दीखनेवाला रूप भी राम और सीता के प्रणय की गहन अनुभूतियों एवं तरल स्मृति की निःसीम परिकल्पनाओं से लदा हुआ आता है। चित्रकूट के मार्ग में यमुना-तट पर स्थित 'श्याम' नाम का बरगद

ऊपर-ऊपर साधारण-सा दीखता है[1], किन्तु जब यही राम और सीता की मधुमय स्मृतियों का असामान्य उद्दीपक बन जाता है[2], तो वह छोटा होकर भी महान् और सीमित होकर भी निस्सीम दीखता है। साधारण-सा लगनेवाला इंगुदी का वृक्ष[3] अपने में राम के साथ निषादपति के स्निग्ध मिलन की पूरी कहानी छिपाये हुए है, अतः इसकी चित्र-महिमा भी कम नहीं। वस्तुओं के मूल्यों को घटाने या बढ़ाने तथा उनके रूपों को संकुचित या विस्तृत करनेवाले हमारे भाव होते हैं; न तो कोई वस्तु अपने में बड़ी होती है, न छोटी। राम और सीता की भावभरी स्मृतियों ने प्रकृति के जिन-जिन उपादानों का स्पर्श किया है, वे सभी काव्य बन गये हैं, मन की तरंगों के शाश्वत रूपक हो गये हैं।

चित्र-दर्शन के सन्दर्भ में जिन चित्रों का नाटकीय वातावरण के निर्माण में विशेष महत्त्व है, वे दक्षिणारण्य के वे प्रदेश हैं जो राम और सीता के वनवास के प्रत्यक्ष साक्षी रहे हैं। लक्ष्मण के मुख से वर्णित प्रस्रवण पर्वत की मनोहारी छटा दर्शनीय है।[4] ठीक यही चित्र महावीरचरित में जटायु के मुख से वर्णित हुआ है।[5] किन्तु वहाँ इसके द्वारा जटायु के उड्डयन-पथ अथवा दृष्टि-पथ में पड़नेवाले जंगली भू-भागों के वर्णन से

१. रामायण में ऋषि भरद्वाज ने रामचन्द्र से चित्रकूट जाने के मार्ग में पड़नेवाले इस **श्याम वट** का इन आकर्षक शब्दों में उल्लेख किया है--

> ततो न्यग्रोधमासाद्य महान्तं हरितच्छदम्।
> परीतं बहुभिर्वृक्षैः श्यामं सिद्धोपसेवितम्॥
> तस्मिन् सीताञ्जलिं कृत्वा प्रयुञ्जीताशिषां क्रियां।
> समासाद्य च तं वृक्षं वसेद् वातिक्रमेत वा॥

--रामा० : २ : ५५ : ६, ७।

२. रामायण में सीता ने इस वृक्ष की परिक्रमा की और इसकी विधिवत् पूजा की, यह तो स्पष्ट है; किन्तु उसके नीचे उन्होंने पति के साथ शयन भी किया, इसका कोई संकेत वहाँ नहीं मिलता। भवभूति ने प्रकृति के मुक्त परिवेश में अवस्थित इसी विशाल बरगद को राम एवं सीता के मधुर अतीत का एक संवेदनशील उद्दीपक खण्ड बना दिया है—

> सीता—सुमरदि वा एदं पदेसं अज्जउत्तो।
> राम--अयि कथं विस्मर्यते।
> अलसललितमुग्धान्यध्वसञ्जातखेदा—
> दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि।
> परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि
> त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता॥

--उ० च० : १ : २४।

३. वही : १ : २१।

४. "अयमविरलानोकहनिवहनिरन्तरस्निग्धनीलपरिसरारण्यपरिणद्धगोदावरीमुखरकन्दरः सततमभिष्यन्दमानमेघमेदुरितनीलिमा जनस्थानमध्यगो गिरिः प्रस्रवणो नाम।"

—वही, पृ० १७।

५. म० च०, पृ० १९०।

नाटकीय पृष्ठभूमि के निर्माण में सहायता मात्र मिलती है; इससे अधिक वहाँ दूसरा कुछ भी सिद्ध नहीं होता। इधर उत्तररामचरित में लक्ष्मण के मुख से वर्णित इसी चित्र में नाटकीय वातावरण से अधिक महत्त्व उसके स्मृतिबोधक रूप का हो जाता है। स्मरण रहे कि महावीरचरित में प्रस्रवण चाक्षुस विषय है, किन्तु उत्तररामचरित में वह स्मृति-परक बनकर आता है। कवि यहाँ प्रस्रवण पर्वत के विराट् सौन्दर्य को अपनी विशिष्ट शैली में पाठकों या प्रेक्षकों के हृदयपटल पर अङ्कित कर देता है। 'प्रस्रवण' नाम के सर्वथा अनुकूल अभिष्यन्दमान (स्यन्दू प्रस्रवणे) क्रिया की योजना की गयी है। इस पर्वत पर निरन्तर बरसते हुए मेघों ने इसकी नीलिमा को और भी गहरा बना दिया है; इसकी मुखरित कन्दराएँ, गोदावरी को आवेष्टित करनेवाली सघन वन-पंक्तियों के हरे-नीले अञ्चल आदि हमारे मन को बड़े प्रभाव के साथ छूते हैं। यहाँ कई प्रकार की नीलिमाओं की एकत्र संगति भी द्रष्टव्य है—हरे-भरे वनांचल की स्निग्ध नीलिमा, पहाड़ी गोदावरी के उच्छल प्रवाह की स्वच्छ नीलिमा, बरसते मेघों की सान्द्र नीलिमा और प्रस्रवण की हल्की नीलिमा, ये सभी नीलिमाएँ एक में मिलकर व्यापक नील सौन्दर्य की अङ्गभूत हो गयी हैं।

चित्र-दर्शन के ही क्रम में जब राम पम्पा नाम की प्रसिद्ध पुष्करिणी को देखते हैं, तो उनके मुख से बीते दिनों की एक मार्मिक स्मृति शब्दबद्ध होकर प्रकट होती है।[1] पम्पा पुष्करिणी की इस रमणीय छटा में राम के सजल भावों का मेल दूध और पानी की तरह प्रतीत होता है। एक ओर राम की नीलकमल-सी आँखों में उजले-भूरे अश्रु-विन्दुओं के भार से 'व्याधूत' पलकों का 'स्फुरण' हो रहा है, तो दूसरी ओर उसके समानान्तर पम्पा की सुनील जल-सतह पर हंसों की पाँखों से काँपते हुए दीर्घनाल श्वेतकमलों की पंक्तियाँ भी हमारे दृष्टिपथ पर खिल उठती हैं। श्लोक के प्रथम चरण में हिलते-डुलते श्वेत कमलों के बीच मद-विह्वल मल्लिकाक्षों का आनन्द-विहार समर्थ पदों के कलात्मक विन्यास से मूर्त हुआ-सा लगता है। पम्पा के भू-भाग वस्तुतः पुण्डरीकप्राय हैं, फिर वे ही राम की नजरों में '**कुवलयिनः**' (**नीलकमलों से युक्त**) कैसे हो जाते हैं? इस प्रश्न पर विद्वानों ने कई ढंग से सोचा है। वीरराघव ने अपनी टीका में इसका समाधान चार ढंग से किया है।[2] यह वस्तुतः मूल अर्थ से दूर जा पड़ता है। राम की दृष्टि को अपने आँसुओं के गिरने तथा नये आँसुओं के उद्भूत होने के बीच जो थोड़ा अवकाश मिलता है, वह वस्तुओं के सम्यक् चाक्षुष बोध के लिए पर्याप्त नहीं है। इस प्रकार पम्पा के श्वेतकमल से भरे हुए अञ्चल को भी राम की अश्रु-कलुषित दृष्टि नीलकमल से युक्त मान लेती है। इसका कारण सम्भवतः श्वेतकमलों के बीच मल्लिकाक्षों का भ्रमण ही है।

---

१. एतस्मिन्मदकलमल्लिकाक्षपक्षव्याधूतस्फुरदुरुदण्डपुण्डरीकाः।
बाष्पाम्भःपरिपतनोद्गमान्तराले **संदृष्टाः कुवलयिनो भुवो विभागाः**॥

—उ० च० : १ : ३१।

२. वी० उ० च०, पृ० ३२-३३।

मल्लिकाक्ष काले चंचु और पैरोंवाले हंसों की एक जाति विशेष हैं।[1] राम की दृष्टि जब क्षण भर के लिए उस ओर सजल पलकों की ओट से देखती है, तो श्वेत कमलों की अपेक्षा मल्लिकाक्षों का कृष्णवर्ण उसकी पकड़ में अधिक आता है, फलतः उन्हें ऐसा आभास होता है, मानो वे प्रदेश नीलकमलों से पूरित हो गये हैं।

उत्तररामचरित में जिस भाव या रस को प्रधान रूप से स्थापित किया गया है, उसका पूर्ण परिपाक दण्डकारण्य के **पंचवटी-प्रदेश** में होता है। दूसरे और तीसरे अङ्कों में क्रमशः दण्डकारण्य के ही जनस्थान तथा पंचवटी नामक वनांचलों के चित्र आये हैं; अतः न केवल मूल भाव, बल्कि वाह्य प्रकृति की दृष्टि से भी ये दोनों अङ्क एक-दूसरे के साथ अधिक सम्पृक्त हैं। यदि यों कहा जाय कि जिस करुणा की मार्मिक व्यञ्जना तीसरे अङ्क में हुई है, उसकी समीचीन पृष्ठभूमि बनकर प्रथम अङ्क और उससे भी बढ़कर द्वितीय अङ्क आता है, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। करुण का स्थायी भाव शोक है; यह शोक मानव हृदय का अत्यन्त गहन, गम्भीर एवं तीव्र भाव होता है। भवभूति ने इसको रस-अवस्था—करुण—तक पहुँचाने के लिए जिन कलात्मक उपकरणों का आश्रय लिया है, उनमें इन अङ्कों में चित्रित की गयी विकट, कठोर एवं गम्भीर प्रकृति का भी बहुत बड़ा हाथ है। हाँ, यहाँ शंका हो सकती है कि शोक-भाव गम्भीर हो सकता है, किन्तु कठोर नहीं हो सकता; तो फिर करुण के समानान्तर द्वितीय अङ्क में अङ्कित प्रकृति के कठोर पक्ष का क्या औचित्य रह जाता है ? इस शंका का समाधान यों हो सकता है कि निर्झर की तरलता और पर्वत की कठोरता में ऊपर-ऊपर कोई संगति नहीं जान पड़ती; किन्तु निर्झर फूटता है कठोर पत्थरों से ही। आँसू तो कोई भी बरसा सकता है, लेकिन जब वज्र जैसा कठोर पदार्थ भी अश्रु-वर्षण करने लगे[2], तो निश्चय ही ऐसे स्थलों मे शोक की गहनता साकार हो जाती है। अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क में शकुन्तला की विदाई का प्रसंग बहुत ही करुण है; प्रसंग की कारुणिकता को तीव्रतर बनाने के लिए वहाँ भी प्रकृति से सहायता ली गयी है। किन्तु कालिदास, चाहे शोक हो, या रति, या कोई अन्य भाव, सब जगह प्रायः प्रकृति के कोमल रूपों की ही उद्भावना करते हैं। इस प्रकार शकुन्तला जब कण्वाश्रम को छोड़कर अपने पतिगृह को जाने के लिए उद्यत होती है, तो आश्रम की समग्र प्रकृति भी तत्कालीन करुणा से भीग जाती है और लताएँ तक पाण्डुपत्र रूपी आँसुओं की वृष्टि करने लगती हैं।[3] निश्चय ही मानव शोक की यह पराकाष्ठा है जब कि उससे जड़ और जंगम प्रकृति तक आप्यायित हो जाय। लेकिन सूक्ष्म विश्लेषण करने पर यहाँ शकुन्तला तथा लताओं के रूप व आँसुओं में हर तरह से एकरूपता का आभास होता है—कोमलांगिनी शकुन्तला के पूर्ण सामंजस्य

---

१. अ० को० : २ : ५ : २४, २५।

२. तुल० **"अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।"**

—उ० च० : १ : २८।

३. **"ओसरिअपण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ॥"**

—अ० शा० : ४ : १२।

में ही यहाँ लताओं की प्रकृति आयी है। दूसरी ओर सीता-विरहित राम जब रोते हैं, तो पत्थर तक रोने लगते हैं, वज्र का हृदय भी विदीर्ण हो जाता है। किन्तु यहाँ भी राम का व्यक्तित्व वज्र की तरह कठोर तथा फूल से भी कोमल होने से वज्र एवं राम की प्रकृति में साम्य पाना कठिन नहीं है। फिर भी, जो साम्य लता और शकुन्तला में है, वह राम और वज्र में कदापि नहीं है। राम के सम्पूर्ण व्यक्तित्व में चेतस् ही ऐसी वस्तु है जो वज्र से भी कठोर—साथ ही, कुसुम से भी सुकुमार—है[1]; उधर शकुन्तला तो मानो अपने व्यक्तित्व के सर्वांश में ही लता है।[2]

ऊपर के विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि घनीभूत करुणा को व्यक्त करने के लिए भवभूति ने कालिदास से कुछ भिन्न रीति अपनायी है। लताओं के रुदन से शकुन्तला के शोक की वैसी मार्मिक अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, जैसी ग्रावा के रुदन से राम के शोक की होती है। इसका कारण यह है कि राम के शोकोद्गार या प्रणय-व्यथा की तरलता पर्वत जैसी 'कठोर' वस्तुओं के रुदन के माध्यम से अतिशय 'गम्भीर' तथा 'सान्द्र' प्रतीत होती है; किन्तु शकुन्तला के शोक या आँसुओं के पूर्ण सामंजस्य में 'कोमल' सशोक प्रकृति की अवतारणा के द्वारा उसका शोक भी 'कोमल' की श्रेणी में आ जाता है। उत्तररामचरित के तृतीय अंक में निहित शोक की पृष्ठभूमि में भवभूति ने दूसरे अंक की प्रकृति को जो कठोर रूप प्रदान किया है, उसका वस्तुतः वही औचित्य है जो वज्र और उसके रुदन का है। कठोर प्रकृति की पार्श्व-भूमि में जब हम सीता और राम के आकुल अन्तर की पुकार सुनते हैं, तो लगता है, जैसे वज्र की काया को फोड़कर आँसुओं की वेगवान् लहर हमारे मर्म पर छाती जा रही हो।

तृतीय अंक की समर्थ पार्श्वभूमि के रूप में दण्डकारण्य की प्रकृति की मानव भावों के साथ क्या संगति है, इसकी एक और बानगी द्रष्टव्य है। शम्बूक को दण्डित करने के क्रम में राम अनजाने ही प्रकृति की उस रमणीय लीला-भूमि में प्रवेश करते हैं जो उनके मर्म पर छाई हुई है। यहाँ शम्बूक का नाटकीय वैशिष्ट्य इसमें है कि वह उस भावोद्बोधी प्रकृति के प्रति राम के अनजानेपन को दूर करता है, उसके कटु-मधु बाह्य परिवेशों से उन्हें परिचित कराता है। इस प्रकार राम सर्वप्रथम दण्डक के 'शरीर' की ओर अभिमुख होते हैं—उसके सुपरिचित नदी-निर्झर, पर्वत आदि का

---

१. वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति॥ —उ० च० : २ : ७।

२. तुल० (क) दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥
—अ० शा० : १ : १६।

(ख) त्वया (शकुन्तलया) उपगतया लतासनाथ इवायं केसरवृक्षकः प्रतिभाति। —वही पृ० ३०।

पुनः साक्षात्कार करते हैं ।[1] कहीं ऐसा न हो कि वे एकाएक दण्डक की संवेदनशील आत्मा—पंचवटी या सीता की सजल स्मृतियों से सनी हुई वन्य प्रकृति की भाव-सत्ता—की ओर अपनी पहली दृष्टि में ही दौड़ पड़ें, कवि इसके लिए बड़ा ही सतर्क दीखता है। राम की गम्भीर मानसिक स्थिति पर पहले ही वह भावों की विषम चोट देना नहीं चाहता। पहले शरीर तब आत्मा, यहाँ यही उसका क्रम है जो राम के कठोर भाव-बन्धन को खोलने में पहला कलात्मक चरण सिद्ध होता है। कुछ ही क्षणों में राम दण्डक से एक पग और आगे जनस्थान की भावभूमि पर स्वतः ही खिंच आते हैं। अब वे न केवल वहाँ की प्राकृतिक सुषमा को देखते हैं, वरन् उसके रेंसे-रेंसे में परिव्याप्त अपने अतीत जीवन का प्रत्यक्ष की तरह अनुभव करने लगते हैं।[2] यहाँ भी, प्रकृति-दर्शन के इस द्वितीय चरण में भी, राम अभी स्पष्टतः सीतामयी पंचवटी तक नहीं पहुँचते। किन्तु राम का वनान्त अतीत पंचवटी के अतिरिक्त है भी क्या! इसके दूसरे क्षण ही उनके प्राणों को प्रियारामा वैदेही की स्मृति डस लेती है—अतीत बोध की इस प्रथम चेतना से ही वे तिलमिला-से जाते हैं। अभी कुछ देर पहले तक जो प्रकृति उनके मन में एक सहज विस्मय एवं माधुर्य लेकर अवतरित हुई थी, वही एकाएक भयानक हो उठती है—**'किमतः परं भयानकं स्यात्'** ![3] किन्तु अब भी राम प्रिया-विहीन प्रकृति की इस भयानकता को जैसे तटस्थ होकर ही झेल रहे हैं, अभी उनके प्राणों में वर्षों से जमी हुई वेदना की कोई भी परत नहीं टूटती। वे कुछ देर तक आत्म-विस्मृत बने-से उस मधुगंधी वनांचल के माध्यम अपने प्रति सीता के अनिर्वचनीय स्नेह-भाव का स्मरण करते हैं।[4] स्नेह-स्मरण का प्रथम आघात पड़ते ही राम की बेचैनी बढ़ जाती है। जब वे देखते हैं कि उनकी आकुलता खुलकर ही रहेगी, तो वे शीघ्र ही शम्बूक को पुण्यलोकों में जाने का आदेश देते हैं। अब तक जनस्थान को शम्बूक के साथ भी भोगा जा सकता था, इसलिए कि राम अभी पूर्ण रूप से 'व्यक्ति' नहीं हो पाए थे, अभी वे 'दण्डप' राजा के रूप में ही विद्यमान थे। किन्तु अब राम जनस्थान के कटोर दंश से कराहते हुए अपने जिस व्यक्ति को खोलने के लिए अवश दीखते हैं, उसकी मर्यादा इसी में है कि वे वहाँ सर्वथा एकाकी रह जायँ। शम्बूक चला जाता है और अपने पीछे जनस्थान के विराट् मर्मस्पर्शी प्रांगण में एकाकी खड़े राम के पुटपाक का ढक्कन खोल जाता है। तब भी राम का कुछ क्षणों तक यही प्रयत्न

---

१. तुल० स्निग्धश्यामाः क्वचिदपरतो भीषणाभोगरूक्षाः
स्थाने स्थाने मुखरककुभो झाङ्कृतैर्निर्झराणाम्।
एते तीर्थाश्रमगिरिसरिद्गर्तकान्तारमिश्राः
सन्दृश्यन्ते परिचितभुवो दण्डकारण्यभागाः॥
—उ० च० : २ : १४।

२. वही, : २ : १७।

३ वही, पृ० ४४।

४. वही : २ : १८, १९।

दीखता है कि वे वनांचल के बाह्य जीवन से ही अपने को भुलावा दे सकें, अतीतमय जनस्थान के जीवन के केवल उसी सौन्दर्य-भावित अंश का स्मरण करें जो उनके 'रसज्ञ' होने का साक्षी था।[1] जनस्थान के रसमय अंचल में राम अपने को बाँधने का यथाशक्य प्रयत्न करते भी हैं।[2] किन्तु ये रसात्मक उद्गार राम के अनजाने ही उनके प्राणों में ऐसी फिसलन पैदा कर देते हैं कि अब वे अपने को एक क्षण के लिए भी नहीं सँभाल पाते। जिससे वे अब तक बचना चाह रहे थे, यह झटके की फिसलन एक साँस में ही उन्हें वहीं खींचकर दण्डक की आत्मा पंचवटी में ला छोड़ती है।[3] पंचवटी में आते ही राम केवल भावरूप रह जाते हैं—उनकी घनीभूत वेदना पहली बार नवीकृत होकर उमड़ती हुई-सी बाहर आती है, पंचवटी का मर्मोद्घाती दंश पहली बार साकार हो उठता है।[4] तृतीय अंक में कवि राम को जिस मर्म तक पहुँचाना चाहता है, प्रकृति की इस कालानुक्रम में बँधी कलात्मक योजना द्वारा उसकी पहली मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया यहाँ पूरी हो जाती है।

इस प्रकार कवि राम के वज्रायित भावों की क्रमशः अनुविद्धि के लिए दक्षिणारण्य-प्रकृति को तीन विशिष्ट चरणों में प्रकट करता है—(१) दण्डक, (२) जनस्थान और (३) पंचवटी। भवभूति की कलात्मकता के दूसरे वैशिष्ट्य के रूप में यहाँ हमें प्रकृति-वर्णन के दो भिन्न स्वर प्राप्त होते हैं। राम आद्यन्त जिस प्रकृति के दर्शन करते हैं, वह मर्मस्पर्शी होते हुए भी कोमल और सरल है। उधर शम्बूक के मुख से प्रकृति का जो रूप निःसृत होता है, वह अपेक्षाकृत परुष और जटिल है। प्रकृति के इन दोनों स्वरों की अपनी अपनी अर्थवत्ता है। वस्तुतः राम का प्रकट व्यक्तित्व कोमलता एवं सरलता के ही ताने-बाने से बुना हुआ है—उनकी प्रकृति उनके इसी सर्वसुलभ सहज रूप की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। राम के प्राणों में वर्षों से छिपा हुआ जो ववंडर है, वह अनिर्भिन्न कठोरता एवं निविडता के रूप में उनके अन्तर्व्यक्तित्व का पक्ष प्रस्तुत करता है। शम्बूक उनके व्यक्तित्व के इस दूसरे पक्ष की भाषा बनकर आता है। इस भाषा का स्पष्ट प्रयोजन है अनुकूल संवेगों के द्वारा चट्टान की तरह कठिन बनी हुई राम की अन्तश्चेतना का छेदन करना। यह अन्तर मानो 'मूक' क्रौञ्चावत पर्वत है

---

१. वही : २ : २२।

२. वही : २ : २३-२५।

३. तदत्रैव सा पञ्चवटी यत्र चिरनिवासेन विविधविस्रम्भातिप्रसङ्गसाक्षिणः प्रदेशाः प्रियायाः प्रियसखी च वासन्ती नाम वनदेवता —वही, पृ० ४७।

४. चिराद्वेगारम्भी प्रसृत इव तीव्रो विषरसः
कुतश्चित्संवेगात्प्रचल इव शल्यस्य शकलः।
व्रणो रूढग्रन्थिः स्फुटित इव हृन्मर्मणि पुन-
र्घनीभूतः शोको विकलयति मां नूतन इव॥

—वही : २ : २६।

जिसके गहन कुंजों में उलूकों का विषम घूत्कार जाने कब से छाता रहा है।[1] शम्बूक की प्रकृति का स्फुट प्रयोजन है इसके अगम्य कठोर गह्वरों में सीता के पावन स्नेह की स्रोतस्विनी प्रवाहित कर देना, उसके संवेगी प्रवाह में विरोधी लहरों के घात-प्रतिघात से उत्पन्न ऐसा कल्लोल भर देना कि राम 'अनिर्भिन्न' नहीं रह सकें।[2] स्वयं शम्बूक अपने इस नाटकीय प्रयोजन के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह पाता, किन्तु उसके द्वारा वर्णित प्रकृति अपनी विकट भंगिमाओं में वह सब कुछ प्रकट कर देती है जो भवभूति का कलात्मक लक्ष्य है।

इस संक्षिप्त विवेचन के बाद उत्तररामचरित के द्वितीय अंक में वर्णित प्रकृति के कुछ चित्रों को यहाँ प्रस्तुत करना भी हमारा अभिप्रेत है। वासन्ती कठोरीभूत दिवस का एक मनोहर चित्र प्रस्तुत करती है।[3] गर्मी के दिनों में जंगली नदियों की तटवर्तिनी प्रकृति का इतना यथार्थ चित्र शायद ही कहीं अन्यत्र मिले। गोदावरी की शीतल व शुभ्र जल-राशि पर वृक्षों से जो अनायास पुष्प-वृष्टि होती रहती है, उसके पीछे दो प्रबल हेतु हैं—हाथियों का अपने कण्डूयुक्त मस्तकों को उन वृक्षों से रगड़ना तथा गर्मी के कारण पुष्प-वृन्तों का शिथिल पड़ जाना। पुष्प-वृष्टि की इस सामान्य क्रिया को कवि ने इन चित्रों की पृष्ठभूमि में लाकर अतिशय मोहक बना दिया है। चतुर्थ चरण में कूजते तथा 'कुट-कुट' करते पक्षियों की चहल-पहल प्रयुक्त शब्दों की ध्वनि मात्र से प्रकट होती हुई जान पड़ती है। तृतीय चरण में तो कवि ने ग्रीष्म-प्रकृति के एक भरे-पूरे तथा अपेक्षाकृत उपेक्षित सौन्दर्य को थोड़े-से गिने-चुने पदों के माध्यम से ही साकार कर दिया है। अपस्किरमाण जैसे पद की संगति में विष्किर का प्रयोग कितना साभिप्राय और मनोहर है!

ग्रीष्म का ही एक और जीवन्त चित्र देखिये जहाँ एक ही साथ भयानक एवं वीभत्स की अपूर्व व्यंजना हुई है।[4] यहाँ प्रथम चरण में वन-प्रकृति की भयानकता के

---

१. वही : २ : २९।

२. एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयो
मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः क्षोणीभृतो दक्षिणाः।
अन्योन्यप्रतिघातसङ्कुलचलत्कल्लोलकोलाहलै—
रुत्तालास्त इमे गभीरपयसः पुण्याः सरित्सङ्गमाः। —वही : २ : ३०।

३. कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणाकम्पेन सम्पातिभि—
र्घर्मस्रंसितबन्धनैः स्वकुसुमैरर्चन्ति गोदावरीम्।
छायापस्किरमाणविष्किरमुखव्याकृष्टकीटत्वचः
कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुलाः कूले कुलायद्रुमाः॥ —वही : २ : ९।

४. निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः।
सीमानः प्रदरोदरेषु विरलस्वल्पाम्भसो यास्वयं।
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते॥ —वही : २ : १६।

दो प्रधान हेतु माने गये हैं—एकान्त निःस्वनता एवं तुमुल ध्वनिगत चण्डता। प्रकृति के ऐसे भीषण रूपों की इतनी सहज ढंग से व्यंजना शायद ही कहीं अन्यत्र मिले। द्वितीय चरण में यही भयानकता और विकट होकर प्रकट होती है जहाँ भयानक फणवाले स्वच्छन्द लेटे हुए जंगली सर्पों की तेज साँसों से दावाग्नि के प्रज्वलित होने की बात कही गयी है। अन्तिम दो पंक्तियों में एक असामान्य बीभत्स चित्र हमारी आँखों के सामने मूर्त हो जाता है; चित्र की कल्पना करके ही हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इन पंक्तियों में घोर यथार्थ एवं कल्पना का अपूर्व समन्वय दीखता है। ग्रीष्म की ज्वाला में झुलसते वन्य जीवन के ऐसे प्रचण्ड रूपों का वर्णन वस्तुतः वही कर सकता है, जो न केवल उस जीवन का प्रत्यक्षदर्शी रहा हो, बल्कि जिसके पास उसे अपने शब्दों में यथा-वत् उतारने की प्रतिभा एवं सामर्थ्य हो।

जनस्थान के मध्यवर्ती प्रशान्त-गम्भीर वनों की एक और विकट भंगिमा पर दृष्टि-पात कीजिये।[1] यहाँ स्वभाव से ही ढीठ कौए भी उल्लुओं के अव्यक्त शब्दों से युक्त सनसनाते वेणु-गुच्छों की तुमुल ध्वनि से डरकर निःशब्द होते दिखाये गये हैं। अन्तिम दो पंक्तियों में वन-प्रकृति का एक कठोर एवं भयानक यथार्थ चित्रित किया गया है। पुराने चन्दन के वृक्ष अपेक्षाकृत अधिक सुगन्धित होते हैं, अतः अपने प्राणों के लोभ छोड़कर भी स्वभाव से ही सुगन्ध के प्रेमी बड़े-बड़े जंगली सर्प उनसे लिपटे रहते हैं। उधर सर्पों के शत्रु मयूर भी उन वृक्षों पर फुदकते रहते हैं, किन्तु उनके फड़-फड़ उड़ते रहने से वे सर्प क्षुब्ध होकर भी चन्दनवृक्ष का मोह नहीं त्यागते और उसके कन्धों पर छटपट करते हुए रेंगते रहते हैं। प्रकृति का ऐसा विकट यथार्थ भवभूति जैसे महा कवि की ऊर्जस्वी कल्पना से ही इतना प्राणवन्त होकर प्रकट हुआ है।

संक्षेप में, अपनी तीनों ही नाट्यकृतियों में भवभूति एक विशिष्ट प्रकृति-कवि के रूप में प्रकट हुए हैं। उनके लिए प्रकृति मानव भावों की अलंकृति की सीमाओं में ही नहीं दीखती; वे उसके व्यापक स्वच्छन्द जीवन की विविध भंगिमाओं का भी कलात्मक अंकन करते हैं। अपनी अन्तःप्रकृति के गाम्भीर्य के अनुरूप ही उन्होंने बाह्य प्रकृति के ताण्डव की ओर अधिक ध्यान दिया है और उसकी विकट मुद्राओं को अपनी ओज-स्विनी वाणी प्रदान की है। उनकी प्रकृति उनके नाटकीय भावों की विसंगति में कदा-चित् ही कहीं दीखती है; वह सर्वदा एवं सर्वत्र वस्तुगत एवं भावगत सौन्दर्य के रागा-त्मक सख्य में विकसित होती हुई चलती है।

---

१. गुञ्जत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाघूत्कारवत्कीचक—
स्तम्बाडम्बरमूकमौकुलिकुलः क्रौञ्चावतोऽयं गिरिः।
एतस्मिन्प्रचलाकिनां प्रचलतामुद्वेजिताः कूजितै—
रुद्वेल्लन्ति पुराणरोहिणतरुस्कन्धेषु कुम्भीनसाः॥ —वही : २ : २९।

पंचम प्रकरण

१. रसाभिव्यक्ति

२. भाषा और शैली

अध्याय १

रसाभिव्यक्ति

चाहे भारतीय नाटकों के वेद-निःसृत **अंग-चतुष्टय** का सन्दर्भ हो, अथवा उनके **भेदकत्रितय** की चर्चा हो, या **नाट्यवृत्ति** आदि का प्रसंग हो, इन सब में **रस की सर्वातिशायिता** पर रस-सम्प्रदाय के सभी वरेण्य आचार्य एकमत रहे हैं। भारतीय नाटक किंवा समग्र ललित साहित्य में रस-तत्त्व का संस्थापन तथा उसकी सूक्ष्मतम आत्मिक मीमांसा सम्पूर्ण विश्व वाङ्मय को भारतीय जीवन-दृष्टि की एक महती एवं अमूल्य भेंट है। सामान्यतः साहित्य या कला के पार्थिव रंगों में डूबे हुए पाश्चात्य मीमांसक प्रायः संस्कृत नाटकों की रसरूपिणी आत्मविभूति को नहीं पहचान पाये; यही कारण है कि उनकी दृष्टि प्रायः वस्तु-सौन्दर्य के अन्वेषण में ही उलझी रह गयी, वे भारतीय साहित्य के भाव-सौन्दर्य की गहराई तक उतरने में प्रायः अक्षम ही रहे। ऐसा नहीं कि हमारे यहाँ भाव-सौन्दर्य के समक्ष वस्तु-सौन्दर्य की अवहेलना की गयी; वस्तुतः व्यापक अर्थ में चाहे सम्पूर्ण विश्व का पार्थिव अस्तित्व हो, या साहित्य के सीमित अर्थ में शब्दार्थरूप काव्य-शरीर, परमात्मभाव या रसभाव की 'मूर्त' अभिव्यक्ति के वे एकमात्र आधार होते हैं; आधार को खोकर आधेय खड़े कैसे हो सकते हैं? अतः ब्रह्माभिव्यक्ति के लिए जिस प्रकार दृश्यात्मक भौतिक जगत् की अपेक्षा है, रसाभिव्यक्ति के लिए शब्दार्थ का साहित्य भी उतना ही अपेक्षित है। इनकी अवहेलना का स्पष्ट अर्थ ब्रह्म-रस की अभि-व्यञ्जना को उपेक्षित करना है जो न तो हमारे दार्शनिकों का अभीष्ट रहा, न हमारे साहित्यकारों की दर्शनाविष्ट काव्य-बुद्धि का। हाँ, इतना सत्य है कि यहाँ वस्तु-सौन्दर्य का जो भी और जितना भी अङ्कन हुआ, वह सर्वदा रसापेक्ष रहा; वस्तु के आगे न तो रस को कभी हीन माना गया और न वस्तु की सुषमा का पल्लवन रस-निरपेक्ष होकर ही किया गया। रस को सर्वातिशायी महत्त्व देने का एक स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि कहीं-कहीं, पाश्चात्य अर्थ में, वस्तु-तत्त्व के विकास पर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया जा सका। पाश्चात्य साहित्य-चिन्तकों की भौतिकवादी दृष्टि भारतीय नाटकों के ऐसे ही वस्तु-शैथिल्य पर केन्द्रित हो जाती है और वे इसे प्रायः भारतीय साहित्य-दृष्टि की जड़ता स्वीकार कर लेते हैं। यहाँ हमें इन दोनों दृष्टियों की तुलना अभीष्ट नहीं है, और न हम यही दिखाना चाहते हैं कि इनमें से कौन श्रेष्ठ है और कौन सामान्य। वस्तुतः पूर्व एवं पश्चिम के साहित्य की अपनी पृथक् परम्पराएँ एवं मान्यताएँ हैं; हम उनके साहित्य का मूल्यांकन मूलतः उनके ही प्रकाश में करें, यही वांछनीय एवं उचित है। एक की कला-दृष्टि को दूसरे पर समारोपित करके हम निश्चित रूप से साहित्य या कला के उन मूल्यों की परिचिति नहीं कर पायेंगे जिनके रूपाधान या विकास में विशिष्ट संस्कृतियों का प्रत्यक्ष हाथ होता है। यहाँ हमारे अध्ययन के विषय भवभूति के नाटक हैं जो स्वभावतः ही

उतनी पूर्णता में रस-रूप हैं, जितनी पूर्णता में स्वयं भवभूति 'भारतीय' साहित्यकार थे। उनके रस-पेशल रूपकों की रस-मीमांसा, इसीलिए, भारतीय दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व रखती है।

भारतीय साहित्यशास्त्र में रस के आदि प्रवर्तक कौन हैं, इसका अनुसन्धान असंभव इसलिए है कि भरत से पूर्व रस-सिद्धान्त की कोई परम्परा हमें उपलब्ध नहीं होती। राजशेखर ने अपने सुप्रसिद्ध उद्धरण में रस के व्याख्याता के रूप में काव्य-पुरुष के अठारह शिष्यों में से एक नन्दिकेश्वर नामक आचार्य का उल्लेख किया है[1], किन्तु नन्दिकेश्वर की कोई कृति हमारे सामने नहीं है। अब तक उपलब्ध साहित्य में भरत का नाट्यशास्त्र ही ऐसा ग्रन्थ है जो न केवल भारतीय साहित्यशास्त्र की पहली कृति है, वरन् रस-मीमांसा भी प्रथमतः इसी में प्राप्त होती है। नाट्यशास्त्र में रस-तत्त्व पर जिस व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचार किया गया है तथा उसे जो सर्वातिशायी नाट्यतत्त्व के रूप में ग्रहण किया गया है, उसे देखकर स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य भरत ने रस का विशदीकरण भले ही किया हो, वे उसके आदि व्याख्याता निश्चित रूप से नहीं हैं। उन्होंने स्वयं अपने पूर्ववर्ती कई आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है। नाट्यशास्त्र में यत्र-तत्र उपनिबद्ध आनुवंश्य श्लोक इसके स्पष्ट प्रमाण हैं कि भरत से पूर्व भी काव्य-सिद्धान्तों की एक दीर्घ परम्परा चली आ रही थी। सम्भवतः भरत का ऐतिहासिक कार्य इसमें रहा कि उन्होंने ऐसे समग्र सिद्धान्तों का सार-संकलन किया और अपनी ओर से भी उसमें कतिपय नयी सैद्धान्तिक उद्भावनाएँ जोड़ दीं। नाट्यशास्त्र के अधुनातन रूप में ऐसे कई सन्दर्भ आते हैं जो भरत की मूल कृति से सम्बद्ध नहीं जान पड़ते; वे भरत के परवर्ती कालों में सम्भवतः कई शतकों तक जोड़े गये प्रक्षिप्त अंश हैं। अपने ऐसे सारे प्रक्षेपों से समन्वित नाट्यशास्त्र भी विद्वानों की दृष्टि में छठी शताब्दी से इधर की रचना सिद्ध नहीं होता। अतः नाट्यशास्त्र का मूल रूप, जो सम्भवतः सूत्रशैली में लिखा गया होगा, इस काल के बहुत पहले ही प्रणीत हो चुका होगा। कोई आश्चर्य नहीं यदि उसका प्रणयन सूत्र-काल में ही, ईसा के जन्म के कम से कम दो-तीन शतक पूर्व, हो चुका हो। इस विचार से भरत द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धान्त, जो मूलतः सूत्र-शैली में आबद्ध है, स्वयं भी नाट्यशास्त्र के उसी पुराने मौलिक रूप से सम्बन्ध रखता है। तात्पर्य यह कि जिस रूप में इसे भरत ने ग्रहण किया है, वह ईसा के जन्म के दो-तीन शतक पूर्व की स्थापना प्रतीत होता है। अतः, इस दृष्टि से, रस के शास्त्रीय एवं साहित्यिक रूप का विकास भी भारतीय काव्यशास्त्र की प्राचीनतम परम्परा के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। पक्के प्रमाणों के अभाव में भरत से पूर्व इस परम्परा के उद्भव एवं विकास का निश्चय अबतक असम्भव रहा है।

यों कई इतर अर्थों में 'रस' शब्द के प्रभूत प्रयोग वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं। रस के इन प्राचीन प्रयोगों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि साहित्य-शास्त्र में कदा-

---

१. **रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः**...। —का० मी०, पृ० ४।

चित् रस का लाक्षणिक प्रयोग ही हुआ है; इसका अभिधेय अर्थ मूलतः वनस्पतियों के रस से ही सम्बन्ध रखता होगा। सोमरस तक आते-आते रस ने अपनी अर्थगत स्फीति या सूक्ष्मता की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी पार कर ली होगी, चूँकि कालान्तर में सोम अमृत का पर्याय बन गया और उसके साथ सम्बद्ध होने से स्वभावतः ही रस पर भी अमृतत्व का आरोप होता चला गया। स्थूल से सूक्ष्म की ओर निरन्तर गतिशील होती हुई भारतीय जीवन-दृष्टि जब संहिता-काल तथा ब्राह्मण-काल से होती हुई उपनिषत्काल में पूर्ण परिपाक को प्राप्त हुई, तो रस-कल्पना में अब तक जो कुछ भी ऐन्द्रियता अथवा स्थूलता का आग्रह शेष था, उसका तिरोभाव हो गया; यहाँ रस और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं रह गया।[१] इस दार्शनिक पृष्ठभूमि में रस को ही ब्रह्म या ब्रह्म को ही रस माननेवाली वेदान्त की वैचारिक मान्यता रस के अर्थ-विकास की महत्तम उपलब्धि थी। साहित्यशास्त्र की शब्दावली में प्रथमतः जिस आचार्य ने रस को प्रकट किया होगा, उसके मस्तिष्क में सम्भवतः वेदान्त की यह उदात्त रस-कल्पना अवश्य ही गूँज रही होगी। वेदान्त की इस ब्रह्मविषयक रसदृष्टि के अतिरिक्त जिन दूसरे सामान्य अर्थों में रस का प्रयोग होता आया उनमें भूतात्मक जगत् में प्राप्य षड्रस—मधुर, अम्ल, लवण, कषाय, कटु एवं तिक्त—की कल्पना भी बहुत महत्त्व रखती है। इस प्रकार रस-भाव में ब्रह्मास्वाद के समानान्तर भौतिक आस्वाद का अर्थ भी चलता रहा। अर्थात् षड्रस में आकर रस वस्तुतः आस्वाद का पर्याय बन गया। कोई आश्चर्य नहीं यदि लोकोत्तर आस्वाद की भित्ति पर खड़े साहित्यगत रसभाव के विकास की पृष्ठ-भूमि में रस के उक्त भौतिक एवं ब्राह्म दोनों प्रकार के आस्वादों का समन्वित योगदान रहा हो।

अरस्तू अपने काव्यशास्त्र में प्लॉट (वस्तु) को त्रासदी की आत्मा स्वीकार करते हैं[२]; हमारे साहित्यशास्त्र में, ठीक इसके विपरीत, नाटक या काव्य रसात्मक माना गया है। अरस्तू के दृष्टिकोण से नाटकीय वस्तु जीवन के कार्यव्यापारों की अनुकृति है और इन कार्यव्यापारों के अभाव में त्रासदी खड़ी ही नहीं की जा सकती।[३] इधर आचार्य भरत ठीक इतना ही बल देकर उद्घोष करते हैं कि नाटक या काव्य का कोई भी अर्थ रसनिरपेक्ष होकर चल नहीं सकता।[४] यों हमारे यहाँ नाट्य के तीन प्रधान तत्त्व स्वीकार किये गये हैं—वस्तु, नेता एवं रस; किन्तु वस्तु एवं नेता रस से स्वतन्त्र होकर चल नहीं सकते—इन दोनों तत्त्वों का ऐसा गुम्फन होना चाहिये कि वे विशिष्ट रस की अभिव्यक्ति में सहायक हों। नाटकों के क्षेत्र में भरत के इस भाववादी सिद्धान्त को परवर्ती आचार्यों ने भी स्वीकार किया है। अवस्थापंचक एवं संधिपंचक के उपयुक्त

१. रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।—तैत्तिरीयोपनिषद् : २ : ७।

२. ए० बु०, पृ० २९।

३. वही, पृ० २७।

४. न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते।—ना० शा०, पृ० ७१।

सन्निवेश से वस्तु तत्त्व की पुष्टि होती है; उसी प्रकार धीरोदात्त आदि चार प्रकार के नायकों एवं नायिकाओं के विशिष्ट गुणों को नाटकीय भाव-धारा में विकसित करके नेतृतत्त्व का संपोषण किया जाता है। जहाँ तक रस-पोषण का सम्बन्ध है, यह सर्वथा वस्तु एवं नेता के समुत्कर्ष पर ही आश्रित होता है—इन दोनों तत्त्वों के सम्यक् स्फुटन के बिना रस की निष्पत्ति असम्भव है। अतः, इस अर्थ में, रस-भाव नाट्य का सर्वोत्तम तत्त्व होकर भी वस्तु एवं नेता से निरपेक्ष नहीं हो सकता। भाव एवं वस्तु का यह अपरिहार्य सम्बन्ध प्रकृति का चिरन्तन सत्य है और कोई भी कला इसी सत्य का आधार लेकर चलती है। तात्पर्य यह कि उत्तम नाट्य-सृष्टि तभी सम्भव हो सकती है जब नाटककार उक्त तीनों तत्त्वों में सन्तुलन बनाये रख सके—यदि इनमें से एक का भी सन्तुलन बिगड़ेगा तो वह शेष दो तत्त्वों को विकृत कर देगा। अतः भारतीय रसवादी विचार-धारा ने वस्तु की उपेक्षा की हो या उसके उचित विकास पर ध्यान नहीं दिया हो, ऐसी बात नहीं है। श्रव्यकाव्यों में भले ही रस एवं वस्तु के बीच समन्वय का भाव शिथिल दीखता हो, किन्तु नाटकों में इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कारण, श्रव्यकाव्य सीधे हमारी अनुभूति के प्रति सम्प्रेषणीय होते हैं, वहाँ एक भाव का दूसरे भाव के साथ मिलन ही अभीष्ट लक्ष्य होता है। अतः वहाँ भाव पर तथा उसे अधिक से अधिक प्रेषणीय बनाने पर ही सर्वाधिक बल दिया जाता है। ऐसा करने में यदि वस्तु की श्रृंखला का सम्यक् निर्वाह नहीं किया जा सके, अथवा वह शिथिलप्राय हो जाय तो यह सब चिन्त्य नहीं माना जाता। रघुवंश, जिसे कई विद्वानों ने संस्कृत वाङ्मय का सर्वोत्तम महाकाव्य कहा है, कहीं भी अपनी कथा की परवा नहीं करता; उसका कवि आद्योपान्त किसी भाव विशेष के पल्लवन में ही यत्नशील रहा है। उसका वैशिष्ट्य 'कहानी कहने' में नहीं, वरन् 'भावों के सम्प्रेषण' में है।

किन्तु नाट्य मूर्तिविधायिनी कला है; इसका स्वाभाविक आग्रह रूप की प्रतीति कराने में है, इसीसे इसके रूपकत्व की सिद्धि होती है। इसका मुख्य हेतु है उसका दृश्य होना, चाक्षुष होना। महाकाव्य जहाँ रूपों की भी मानसी सिद्धि कराते हैं, नाटक अपने चतुर्विध अभिनयों के माध्यम भावों को भी रूप-बिम्बों में ग्रहण करके उन्हें हमारे चक्षु के प्रति संवेद्य बनाते हैं। अनुभूति यहाँ भी होती है, किन्तु पहले वह रूपात्मक बनती है, तब भावात्मक। अतः कोई नाटककार 'रूप' के इस परम सत्य को भूलकर रूपक का निर्माण करे तो वह अपनी कला में कभी भी कृतकार्य नहीं हो सकता। उसे किसी भी अवस्था में वस्तु एवं नेता—जो स्वभावतः ही नाट्य के पार्थिव एवं रूपात्मक तत्त्व हैं—की गति की रक्षा करनी होती है, उसे स्वस्थ एवं संगत बनाये रखना होता है। रस की भावात्मक सत्ता की पुष्टि भी इसी कलात्मक उपाय से स्वयंसिद्ध हो जाती है। अतः रस चाहे सर्वाधिक महत्त्व का नाटकीय तत्त्व क्यों न हो, हमारे नाटकों में उसकी सम्यक् व्यंजना के लिए इतर रूपात्मक तत्त्वों का संपोषण अभीष्ट रहा है। चाहे अभिज्ञानशकुन्तल हो, या उत्तररामचरित, अथवा कोई अन्य उत्तम संस्कृत नाटक, सर्वत्र

ही नाटकीय भावधारा का वस्तु, नेता एवं रस के 'रूप' में त्रिकोणात्मक विकास हुआ है। हाँ, अनर्घराघव या बालरामायण जैसे कुछ अन्य संस्कृत नाटक अवश्य ऐसे हैं जो मूलतः भावात्मक होने से अपनी रूपात्मक सिद्धि नहीं कर पाते; इसीलिए वे काव्य अधिक एवं नाटक कम हैं। ऐसे नाटक हमारी साहित्य-परम्परा में भी रूपक की दृष्टि से कभी शंसित नहीं हुए, विशुद्ध काव्य की दृष्टि से ही भले उनकी प्रशंसा की गयी हो।

हाँ, वस्तु का इतना नाटकीय महत्त्व होने पर भी वह प्लॉट की समकक्ष नहीं है और न हो सकती है। भारतीय नाटकों में वस्तु-कल्पन के पीछे पुरुषार्थ एवं आदर्श के निश्चित भाव विद्यमान होते हैं, जब कि पाश्चात्त्य नाटकों, विशेषतः त्रासदियों का 'प्लॉट' [illegible] तथा तन्निहित निराशा, दुख, क्षोभ आदि को ही अपना प्रधान लक्ष्य बनाता है। हमारा रसभाव वस्तुतः **मंगलभाव** है और उसकी अभिव्यक्ति के लिए वस्तु का रूप भी अनिवार्यतः मांगलिक एव आदर्शवादी हो जाता है। हमारे यहाँ शिव एवं आदर्श के लिए जितना ही तीव्र आग्रह प्राप्त होता है, पाश्चात्त्य नाटकों में नग्न यथार्थों एवं दुखात्मक भावों के अङ्कन पर उतना ही अधिक बल दिया जाता है। फलतः भारतीय नाटकों की वस्तु का स्वरूप यदि पाश्चात्त्य नाटकों के प्लॉट से भिन्न दीखता है, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। भारतीय दृश्यकाव्य की इन सारभूत प्रवृत्तियों का विश्लेषण हम पहले ही इस प्रबन्ध के द्वितीय प्रकरण में कर चुके हैं।

उपलब्ध लक्षण-ग्रन्थों के प्रकाश में भरत ही ऐसे आदि आचार्य ठहरते हैं जिन्होंने नाट्यरसों की मीमांसा का प्रवर्तन किया है। वे रस-सामग्री के रूप में तीन मूलभूत तत्त्वों को स्वीकार करते हैं—**विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव**।[1] भरत की दृष्टि में ये ही तीनों भाव सहृदय प्रेक्षकों के मन में वासना रूप से विद्यमान **रति, हास, शोक, क्रोध,** उत्साह, **भय, जुगुप्सा एवं विस्मय** नामक आठ स्थायी भावों को उद्बुद्ध करके उन्हें आस्वादयोग्य बनाते हैं। इन आठ स्थायी भावों की उद्बुद्धि के अनुसार ही क्रमशः आठ नाट्यरस होते हैं—**शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स एवं अद्भुत**।[2] वाचिक, आंगिक एवं सात्त्विक अभिनयों के द्वारा जो हमारी चित्त-वृत्तियों का विशेष रूप से विभावन, अर्थात् ज्ञापन करानेवाले हेतु या निमित्त होते हैं, उन्हें ही **विभाव** की संज्ञा प्रदान की गयी है।[3] यहाँ चित्तवृत्तियों से स्थायी एव व्यभि-चारी नामक भाव ही अभिप्रेत हैं जिन्हें विभाव विभावित अथवा ज्ञापित कराते हैं।

---

१. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।—ना० शा० पृ० ७१।

२. वही, : ६ : १५, १७।

३. **विभाव इति कस्मादुच्यते। विभावो विज्ञानार्थः। विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः। विभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इति विभावः। यथा विभावितं विज्ञात-मित्यर्थान्तरम्।**

—वही, पृ० ८०।

आलम्बन एवं उद्दीपन भेद से विभाव दो प्रकार के होते हैं। उक्त चित्तवृत्तियों के विषयभूत विभाव **आलम्बन** कहे जाते हैं तथा भावों को उद्दीप्त करनेवाले—उन्हें समुत्तेजन प्रदान करनेवाले—विभाव **उद्दीपन** होते हैं।[1] भावों के आलम्बन एवं उद्दीपन की कोई निश्चित संख्या नहीं है; नायक आदि तथा देश-काल आदि भेद से वे कई प्रकार के हो जाते हैं। दुष्यन्त आदि आश्रय किंवा आलम्बन में रति आदि स्थायी भावों को सूचित करनेवाले विकार **अनुभाव** कहे जाते हैं।[2] ये अनुभाव भ्रूविक्षेप, कटाक्ष आदि आलम्बन के शारीरिक विकारों के रूप में प्रकट होते हैं। वाक्, अङ्ग तथा सत्त्व के माध्यम से रसानुकूल संचरण करनेवाले विविध भावों को व्यभिचारी या संचारी की संज्ञा दी गयी है[3], यथा निर्वेद, ग्लानि, शंका आदि।

संस्कृत काव्यशास्त्र में उक्त रस-सामग्री का बड़ा ही सूक्ष्म विश्लेषण एवं विवेचन हुआ है। भरत के मत से जब रसभाव के सहायक उक्त तीनों भावों का **संयोग** हो जाता है, तो सहृदय सामाजिकों के हृदय में विशिष्ट रस की निष्पत्ति होती है। भरत ने 'संयोग' एवं 'निष्पत्ति' शब्दों की कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं की है, फलतः परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं दो पदों के आधार पर अपने रससम्बन्धी मतों का बड़ा ही विशद एवं सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है। इन आचार्यों में **भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक** एवं **अभिनवगुप्त**, ये चार अत्यन्त महत्त्व रखते हैं। भारतीय रस-सिद्धान्त के ये ही चार मूल स्तम्भ हैं। दुर्भाग्य से लोल्लट, शंकुक एवं भट्टनायक की मूलकृतियाँ उपलब्ध नहीं होतीं; इन आचार्यों के रससम्बन्धी सिद्धान्तों का संक्षिप्त उल्लेख अभिनवगुप्त, मम्मट आदि ने अपने-अपने अलंकार ग्रंथों में किया है और हमें उसी से सन्तोष करना है।

रस-सूत्र के व्याख्याकारों में सर्वप्रथम भट्टलोल्लट का नाम आता है। इनका रस-सिद्धांत **उत्पत्तिवाद** के नाम से विख्यात है। ये विभाव आदि को **उत्पादक** एवं रस को **उत्पाद्य** मानते हैं। जिस प्रकार घटरूप कार्य के लिए मृद्दण्डचक्र आदि हेतुभूत हैं, उसी प्रकार रस की उत्पत्ति में भी विभाव आदि कारण हैं। लोल्लट के इस सिद्धान्त पर मीमांसा का स्पष्ट प्रभाव है। उनके अनुसार रस नट या सामाजिकों के हृदय में उत्पन्न नहीं होता—राम, सीता, दुष्यन्त आदि पात्र ही मूलतः उसका अनुभव करते हैं। भ्रान्तिवश सामाजिक नट पर राम आदि का आरोप कर लेते हैं जिससे उन्हें भी क्षणिक आह्लाद—रामादिगत रस की प्रतीति—हो जाता है। सामाजिकों के हृदय में रस की

---

१. **एवं यस्याश्चित्तवृत्तेर्यो विषयः स तस्या आलम्बनम्। निमित्तानि चोद्दीपकानीति बोध्यम्।** —र० रू०, पृ० ३३।

२. **अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः।**—द० रू० : ४ : ३।

३. **व्यभिचारिण इति कस्मादुच्यन्ते ? वि अभि इत्येतावुपसर्गौ। चर गतौ धातुः। धात्वर्थं वागङ्गसत्त्वोपेतान् विविधमभिमुखेन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।**

—ना० शा०, पृ० ८४।

मूल स्थिति न मानना तथा रस के साथ विभाव आदि का कार्य-कारण सम्बन्ध बताना लोल्लट के रस-सिद्धान्त की प्रधान सीमाएँ हैं।

लोल्लट के पश्चात् शंकुक आते हैं जिनका रससम्बन्धी मत **अनुमितिवाद** के नाम से प्रख्यात है। ये नैयायिक थे, अतः इनके सिद्धान्त पर भी न्याय-दर्शन की स्पष्ट छाप वर्तमान है। इनके अनुसार विभाव आदि रस की अनुमिति कराते हैं—जैसे पर्वत में धूम को देखकर पर्वत स्थित अग्नि की अनुमिति होती है, वैसे ही नट में राम आदि के-से अनुभाव आदि को प्रत्यक्ष करके हम वहाँ रस का अनुमान कर लेते हैं। अतः शंकुक की दृष्टि में विभाव आदि एवं रस में उत्पाद्य-उत्पादक-भाव न होकर **अनुमाप्य-अनुमापक-भाव** है। इस सिद्धान्त के सूक्ष्म परीक्षण से यही निष्कर्ष निकलता है कि शंकुक भी रस की वास्तविक स्थिति अनुकार्य राम आदि पात्रों में ही मानते हैं; हाँ, सामाजिकों के हृदय में उसका सर्वथा अभाव नहीं दिखाते।

रसव्याख्याता के रूप में तीसरे आचार्य भट्टनायक हैं जिनका सिद्धान्त **भुक्तिवाद** के नाम से पुकारा जाता है। इनके अनुसार विभाव आदि रस के भोजक तत्त्व हैं, रस भोज्य है। अपने मत की पुष्टि के लिए वे **अभिधा** के अतिरिक्त काव्य के दो नये व्यापारों की उद्भावना करते हैं—**भावकत्व और भोजकत्व**। अभिधा द्वारा काव्य में शब्दार्थ का बोध होता है; भावकत्व द्वारा सहृदय-हृदय के व्यक्तिगत रागद्वेषजन्य अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है—उसमें 'स्व' एवं 'पर' का भाव नष्ट हो जाता है तथा विभाव आदि का **साधारणीकरण** हो जाता है। रसास्वाद की तीसरी एवं अन्तिम प्रक्रिया भोजकत्व द्वारा पूर्ण होती है, अर्थात् इसके द्वारा सहृदय भावकत्व द्वारा सिद्ध रस का भोग करता है। भट्टनायक रस को भोग्य या **आस्वाद्य** मानते हैं, आस्वाद-रूप नहीं। इनकी महती उपलब्धि है **साधारणीकरण** के रूप में एक नवीन काव्यमूल्य का उद्घाटन। इनका सिद्धान्त सांख्यदर्शन से प्रभावित है।[1]

आगे चलकर अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के रस-विवेचन के ही आधार पर अपने **व्यक्तिवाद** की स्थापना की। अभिनवगुप्त के व्यक्तिवाद के रूप में रस-सिद्धान्त अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त हो गया और आगे साहित्यशास्त्र में यह सर्वाधिक समादृत रस-सिद्धान्त मान लिया गया। आचार्य आनन्दवर्धन की लीक पर चलकर अभिनवगुप्त रस को ध्वनि का ही एक प्रमुख भेद स्वीकार करते हैं; वे रस को **व्यंग्य** मानते हैं तथा उसे अभिधा या लक्षणा के द्वारा प्रतीत न मानकर **व्यंजनावृत्ति** के द्वारा **अभिव्यक्त**

---

१. भट्टनायक के मत के दार्शनिक आधार को लेकर विद्वानों में कुछ मतभेद दीखता है। डा० दीक्षित भुक्तिवाद की व्याख्या में प्रयुक्त **सत्त्वोद्रेक** एवं **भोग** शब्दों के कारण भट्टनायक के मत को सांख्य दर्शन से प्रभावित बताते हैं (दे० रस० स्व०, पृ० ८०)। डा० पाण्डेय की स्थापना इससे भिन्न है। उनके अनुसार भट्टनायक 'नाट्यशास्त्र के प्रथम श्लोक की व्याख्या में ही इन्द्रिय प्रत्यक्ष गोचर जगत् के सम्बन्ध में वेदान्त की धारणा का उल्लेख करते हैं (दे० स्व० शा०, पृ० १०१)।' उन्होंने इसके अतिरिक्त भी कई युक्तियाँ देकर सिद्ध करना चाहा है कि भट्टनायक का सिद्धान्त वेदान्त दर्शन से प्रभावित है।

सिद्ध करते हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि में विभाव आदि रस के **अभिव्यंजक** हैं और रस **अभिव्यंग्य** है। उनके इस मत पर शैवाद्वैत का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है।[१] उन्होंने रस को **ब्रह्मास्वादसहोदर** कहा है और उसे **सहृदयहृदयसंवेद्य** बताया है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में, "अभिनव के रस-विवेचन की एक प्रमुख सिद्धि है समष्टिगत रस की प्रकल्पना। अभिनव का दर्शन मूलतः व्यक्तिवादी है, किन्तु उन्होंने रस-चक्र की पूर्णता अन्ततः सामूहिक रस-चेतना में ही सिद्ध की है। जिस सामाजिक कलानुभूति की स्थापना आधुनिक युग में साम्यवाद अथवा समाजवाद के प्रभाव के द्वारा हुई है, अभिनव ने अपने ढंग से उसका अपूर्व व्याख्यान किया है।[२]"

ऊपर भरत से लेकर अभिनवगुप्त तक रस-सिद्धान्त के विकास का जो संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया, उसके प्रकाश में हमें भवभूति की रसात्मक क्षमता एवं वैशिष्ट्य का व्याख्यान करना है। रस की समर्थ निष्पत्ति तभी सम्भव है जब लेखक के पास न केवल गहन अनुभूतियाँ हों, वरन् उन्हें वाणी प्रदान करने की सामर्थ्य एवं कला भी हो। कवि के पास जब तक अपनी अनुभूतियाँ नहीं होंगी, जब तक वह स्वयं ही अपनी अस्मिता का आस्वादन नहीं कर पायेगा और जब तक वह अपने गहन भावों को सहृदय-हृदय तक सम्प्रेषित करने की कला से अभिज्ञ नहीं होगा, तब तक उसके काव्य का रसास्वादन हो ही नहीं सकता।[३] काव्यगत रस वस्तुतः अपने मूल रूप में कवि के हृदयगत रस का ही प्रक्षेप होता है—नीरस हृदय से सरस वाणी का उद्रेक असम्भव है। रस वास्तव में अनुभूति की तन्मयता का ही वाचक है—कोई कवि जितना ही 'स्वकीय' अनुभूतियों की गहनता में उतरा होगा, अपने सहृदय पाठकों या सामाजिकों के मन में वह उतना ही रसभावों की उद्दीप्ति करा सकेगा। हाँ, केवल अनुभूतियाँ ही पर्याप्त नहीं हैं, उनकी अभिव्यक्ति एवं सम्प्रेषण का माध्यम भी उतना ही हृदयग्राही एवं सशक्त होना चाहिए। जहाँ तक अनुभूतियों का प्रश्न है, भवभूति सम्भवतः कालिदास की अपेक्षा जीवन की गहराई में अधिक उतरे थे; उस गहराई के प्रति उनके मन में तीव्र संवेदना थी, जो उनकी नाट्यकला की सम्पूर्णता में अभिव्यक्त हुई। जब हम भवभूति को कालिदास की अपेक्षा अधिक अनुभूतिशील कहते हैं, तो यहाँ हमारा अभिप्राय वास्तव में भवभूति की गहन अनुभूतियों को विशिष्ट कोटि का आकलन करना है, उनकी मात्रा का नहीं। अपने जीवन की अभावात्मक एवं दुखात्मक स्थितियों से जूझते हुए भवभूति का भावुक कविहृदय जितना भावों के तीव्र संवेगों से आप्यायित प्रतीत होता है, उतना कालिदास के भावात्मक एवं सुखमय जीवन की लहरें उनके कवि की अन्तश्चेतना को पूर्णतः भिगा नहीं सकी हैं। यों हम निश्चित

---

१. स्व० शा०, पृ० ११५।

२. रस-सिद्धान्त, पृ० १७५।

३. **वागङ्गमुखरागैश्च सत्त्वेनाभिनयेन च। कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते॥**

—ना० शा० : ७ : २।

रूप से कालिदास या भवभूति के व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में कुछ कह नहीं सकते, किन्तु उनकी रचनाओं से उनके व्यक्तित्व के जो रूप खुल पाते हैं, वे प्रायः उक्त प्रकार के ही हैं। कालिदास की रचनाओं से कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वे किसी भौतिक या मानसिक संघर्ष के तीव्र एवं कटु संघातों से भी गुजरे हैं; उनकी रस-कल्पना में शृङ्गारपरक भावों की मांसलता सर्वातिशायिनी है, यह कवि के निजी भौतिक सौख्य एवं संतृप्ति का सूक्ष्म इंगित है। ऐसा नहीं कि कालिदास ने शोकात्मक भावों की अभिव्यक्ति नहीं की है, किन्तु चाहे अज-विलाप का कारुणिक प्रसंग हो, या मेघदूत का विप्रलम्भ, उनकी अभिव्यक्ति की सचाई का मूल हेतु उनकी सौन्दर्यग्राहिणी अनुभूतियाँ प्रतीत होती हैं, न कि उनकी शोक-सम्भूत वैयक्तिक अनुभूतियाँ। इधर भवभूति का 'स्व' ही शोकात्मक है, पीड़ा के अज्ञात विषम संघातों एवं चोटों से विद्ध है; वह अपनी ऐसी अनुभूतियों के प्रकाशन में अपनी कला मात्र का आश्रय नहीं लेता, वरन् ऐसे भावों को अपनी गहन आत्मीयता का रंग देकर उन्हें 'पर' के लिए भी अतिशय संवेद्य बना देता है। अतः रस की संवेदनात्मक एवं गहनतम प्रतीति के लिए जितना सुख से दुख बड़ा है, उतना ही कालिदास की तुलना में भवभूति भी बड़े प्रतीत होते हैं।

ऊपर रस-संवेदना की प्रक्रिया में भाषा एवं उसकी प्रेषणीयता के महत्त्व की ओर भी संकेत किया गया है। भाषा की बिम्बग्राहिणी शक्ति का ही यह चमत्कार होता है कि वह पाठकों या प्रेक्षकों के मन में तत्तद्भावों को संवेद्य एवं आस्वाद्य बना पाती है। भवभूति की अनुभूति एवं भाषा दोनों में कौन अधिक समर्थ है, यह कहना अत्यन्त कठिन है। कालिदास, भवभूति जैसे संस्कृत के कुछ श्रेष्ठ कवियों को छोड़कर शेष ऐसे हैं, जिनके सम्बन्ध में निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि उनके अनुभूति-पक्ष एवं कला-पक्ष में कौन बड़ा एवं कौन छोटा है। किन्तु भवभूति का महाकवित्व उनकी प्रबल अनुभूतियों के समानान्तर उनकी ऊर्जस्वल वाणी के सहज सन्तुलन में है—उनकी नाट्यकला के ये दोनों पक्ष जितने ही प्राणवन्त हैं, उतने ही एक-दूसरे के सहायक भी। भवभूति की प्रकृति आदि के विवेचन में हम पहले ही देख चुके हैं कि उनके पास जीवन की विविध स्थितियों के निरूपण के लिए न तो अनुभावी शब्दों का कोई अभाव रहता है, न भावों के अतुल भाण्डार का। चाहे करुण हो या शृङ्गार, वीभत्स हो या भयानक, वीर हो या रौद्र, रस के इन सभी रूपों के लिए भवभूति के पास चित्रात्मक भावनाओं एवं शब्दों का अक्षय स्रोत विद्यमान मिलता है। नीचे हम भवभूति द्वारा वर्णित कुछ प्रधान रसों की उदाहृति के क्रम में इस सत्य को ठीक से हृदयंगम कर पायेंगे।

भवभूति द्वारा वर्णित रसों के नाटकीय वैशिष्ट्य के परीक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि महावीरचरित एवं मालतीमाधव में अपनी समग्र वस्तुगत एवं शैलीगत मौलिकता के रहते हुए भी वे रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से परम्परावादी हैं, किन्तु उत्तररामचरित में

प्रधान रूप से करुण की निष्पत्ति कराकर वे परम्परा को तोड़ देते हैं और नाटक के क्षेत्र में एक अपूर्व साहित्यिक साहस का परिचय देते हैं। भवभूति से पूर्व शूद्रक तथा कदाचित् उनके परवर्ती विशाखदत्त ने नाट्यवस्तु को लेकर कुछ अभिनव प्रयोग अवश्य किये जो निश्चित रूप से संस्कृत नाटकों की विधा में नये मूल्यों की सर्जना के रूप में गृहीत हुए। किन्तु ये मूल्य नवीन होकर भी वस्तुवादी थे—उनका भावगत वैशिष्ट्य साहित्यशास्त्र की प्राचीन परम्परा से सर्वथा अनुमोदित रहा। अथात् एक ने अपनी नाट्यवस्तु के लिए श्रृंगार को चुना और दूसरे ने वीर को—काव्यशास्त्र के आचार्य प्रकरण एवं नाटक के अंगी रस के रूप में इन दोनों रसों को मान्यता दे चुके हैं। इधर भवभूति उत्तररामचरित में न केवल अपनी नाट्यवस्तु को नवीन परिवेशों में स्थापित करते हैं, वरन् वस्तु के अनुरूप ही एक ऐसे रस को प्रधानता देते हैं जो संस्कृत काव्यशास्त्र की सैद्धान्तिक मान्यताओं के विरुद्ध एक खुली चुनौती एवं विद्रोह है। संस्कृत के समस्त नाट्य-साहित्य में भवभूति की भाववादी स्थापना अकेली है; अकेले भवभूति ही अपने इस कलात्मक साहस को अपनी प्रगाढ़ आस्था का रंग देकर आगे बढ़े हैं। एकमात्र यही सत्य भवभूति के अतुल नाट्यव्यक्तित्व का प्रतीक है। निश्चय ही उनका यह साहस आज तक साहित्यिक विवाद का विषय बना हुआ है और उनके 'करुण' को विषय बनाकर विद्वानों ने अपने अलग-अलग मन्तव्य प्रकाशित किये हैं। काव्यशास्त्र के विद्यार्थी के लिए भवभूति के करुण का यह स्वरूप आज तक रोचक बना हुआ है, कोई उसे शास्त्रविरुद्ध मानता है और कोई शास्त्रसम्मत। हमें इस मत-मतान्तर के प्रकाश में देखना है कि यथार्थतः भवभूति के करुण की प्रकृति एवं औचित्य क्या हैं।

रूपक के सभी भेदों में नाटक को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है; उदात्त वस्तु एवं उदात्त भावों से समन्वित यह भारतीय नाट्य की सर्वोत्तम विधा के रूप में सभी आचार्यों के द्वारा स्वीकृत हुआ है। इसके अंगी रस श्रृङ्गार एवं वीर भी बहुत चुनकर रखे गये हैं। श्रृंगार न केवल भोज की दृष्टि में सर्वप्रधान रस है, वरन् दूसरे आचार्यों ने भी अपने ढंग से इसके भावात्मक महत्त्व की ओर इंगित किया है। भरत कहीं खुलकर इसे 'सर्वश्रेष्ठ' रस नहीं मानते, किन्तु उन्होंने इसकी व्यापकता की ओर जिन शब्दों में निर्देश किया है, वे निश्चय ही इसकी श्रेष्ठता के मापदण्ड माने जा सकते हैं।[1] इसकी व्यापक आस्वादनीयता का प्रधान हेतु है इसका कामाश्रित होना—त्रिवर्गों में काम सर्वाधिक काम्य एवं आकर्षक होता है। अतः प्रायः राजसंस्कृति के वैभव, विलास आदि से युक्त 'नाटकों' की विषयवस्तु के उपयुक्त श्रृंगार से बढ़कर दूसरे किसी रस की कल्पना नहीं की जा सकती। उसी प्रकार धीरोदात्त राजर्षियों की धीरता आदि गुणों के प्रकर्ष को दिखाने के लिए नाटकों में वीर रस की निष्पत्ति भी

---

१. यथा यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणानुमीयते।
—ना० शा०, पृ० ७३।

आवश्यक ही है, अतः शृङ्गार के अतिरिक्त वीर का भी नाटकों के अंगी रस के रूप में ग्रहण हुआ है ।[1] भवभूति को छोड़कर बिना किसी अपवाद के संस्कृत के बड़े या छोटे सभी कवियों ने नाट्यशास्त्र द्वारा प्रवर्तित इस रस-विधान का अपने नाटकों में अनुवर्तन किया है । स्वयं भवभूति भी उत्तररामचरित के अतिरिक्त अपनी शेष दो नाट्यकृतियों में नाट्यरस की इसी परम्परा का अनुसरण करते हैं । इस प्रकार उत्तर-रामचरित में अंगी शृङ्गार या वीर रस की उपेक्षा करके उन्होंने जो करुण को प्रधानता दी है, वह संस्कृत नाटकों के भाव-विकास की दिशा में सर्वथा ऐकान्तिक एवं अप्रतिम ऐतिहासिक घटना है । जो काम कालिदास भी नहीं कर सके, उसे भवभूति ने कर दिखाया । हाँ, कुछ परम्परावादी आलोचक उत्तररामचरित के करुण को विप्रलम्भ की कोटि में रखकर इस नाटक को शास्त्रीय पद्धति के भीतर समाविष्ट करना चाहते हैं । किन्तु स्वयं भवभूति का निजी मत इस स्थापना के विरुद्ध है—वे उत्तररामचरित में कम से कम तीन बार स्पष्टतः संकेत करते हैं कि उनके इस नाटक का मूल अभि-व्यंग्य करुण है, विप्रलम्भ अथवा कोई दूसरा रस नहीं ।[2] हम भवभूति के इस करुण की परीक्षा शास्त्रीय निकष पर रखकर करना चाहेंगे और देखना चाहेंगे कि भवभूति द्वारा निष्पन्न करुण वस्तुतः 'करुण' है अथवा 'करुण विप्रलम्भ' ।

आचार्य भरत करुण की उत्पत्ति 'शोक' नामक स्थायी भाव से मानते हैं और शृङ्गार को 'रति' से सम्भूत समझते हैं ।[3] पीछे के आचार्यों ने करुण या शृङ्गार के स्वरूप, भेद आदि से सम्बद्ध अपनी कुछ भिन्न स्थापनाएँ भले रखी हों, किन्तु उन सबका इन दोनों के उक्त आधार-तत्त्वों शोक एवं रति—के सम्बन्ध में मतैक्य है । अतः जहाँ तक स्थायी भावों का प्रश्न है, उक्त दोनों रसों की कोटि निस्सन्देह एक दूसरे से भिन्न सिद्ध होती है । साहित्यदर्पणकार के अनुसार अभीष्ट वस्तु के नाश आदि के कारण उत्पन्न चित्त की विकलता ही शोक है ।[4] भरत शोक के स्वरूप को उसके

---

१. एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ।
अंगमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ॥—सा० द० : ६ : १० ।

२. (क) अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः ।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ॥—उ० च० : ३ : १ ।

(ख) एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारानम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम् ॥
—वही : ३ : ४७ ।

(ग) "...यदिदमस्माभिरार्षेण चक्षुषा समुद्वीक्ष्य पावनं वचनामृतं
करुणाद्भुतरसं च किञ्चिदुपनिबद्धं तत्र कार्यगौरवादवधातव्यमिति ।"
—वही, पृष्ठ १४४ ।

३. (क) तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मकः
(ख) अथ करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभवः ।—ना० शा०, पृष्ठ ७३, ७५ ।

४. इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक् ।—सा० द० : ३ : १७७ ।

कारणों पर प्रकाश डालकर ही स्पष्ट करते हैं।[1] कोश-ग्रन्थों में 'रति' शब्द के कई अर्थ दिये गये हैं, यथा प्रसन्नता, आह्लाद, अनुराग, रमण, आकांक्षा, आसक्ति, रतिक्रीड़ा आदि।[2] रस के सन्दर्भ में विश्वनाथ ने किसी प्रिय वस्तु के प्रति हृदय की उत्कट उन्मुखता या प्रेमार्द्रता को ही 'रति' की संज्ञा प्रदान की है।[3] रति के अन्तर्गत वस्तुतः उन सभी भावों का समाहार हो जाता है जो उसके विविध अर्थों के रूप में ऊपर दिये गये हैं। शृङ्गार के स्थायी भाव के रूप में एक हृदय की दूसरे हृदय के प्रति रागात्मक आसक्ति या समाकर्षण के केन्द्रीय भाव का नाम ही रति है। रतिविषयक समाकर्षण की प्रक्रिया में स्वभावतः ही निराशा, दैन्य, मानसिक जड़ता, असन्तोष आदि भाव यदा कदा स्फुटित हो जाया करते हैं; कारण, जिसके प्रति हम अनुरक्त होते हैं, वह हमें सर्वदा मिल ही जायगा, ऐसा सोचा ही नहीं जा सकता। प्रिय पात्र के नहीं मिलने पर हमारे मन में वेदना, निराशा आदि भाव घनीभूत हो जायँ, यह सर्वथा स्वाभाविक एवं प्रत्याशित है। किन्तु ऐसी स्थिति में भी हमारे दुख **'साकांक्ष'** होते हैं, **'निराकांक्ष'** नहीं, अर्थात् रति की तृष्णा वहाँ अपरिहार्य रूप से विद्यमान होती है। रति से सम्भूत ऐसे दुखों की सोचकर ही हमारे आचार्यों ने **दस कामदशाओं** की कल्पना की है।[4] इस प्रकार रति के स्पष्टतः दो पक्ष हैं—(१) आह्लाद एवं तृप्ति और (२) अनुराग-जन्य क्लेश एवं अतृप्ति। इन्हीं दो पक्षों के समानान्तर भरत ने शृङ्गार के दो विभाग किये हैं—सम्भोग और विप्रलम्भ।[5] सम्भोग चूँकि परस्पर आसक्त हृदयों के रागात्मक मिलन पर आधृत है, अतः यह शृङ्गार का भावात्मक पक्ष प्रस्तुत करता है; इसमें रमण, उपभोग एवं तृप्ति के भाव स्वभावतः ही अन्तर्भावित हैं। अतः शोक के साथ **संभोगात्मक रति** की किसी भी प्रकार संगति नहीं बैठाई जा सकती। हाँ, विप्रलम्भ की कुछ अवस्थाएँ ऐसी होती हैं, जिनमें विरह का उद्दाम रूप प्रकट होता है—स्वभावतः ही वहाँ रति एवं शोक का सीमा-निर्धारण कठिन हो जाता है। साहित्यदर्पणकार ने विप्रलम्भ के चार प्रकार माने हैं—(१) **पूर्वरागात्मक**, (२) **मानात्मक**, (३) **प्रवासात्मक** और (४) **करुणात्मक**।[6] चौथे भेद, अर्थात् करुण विप्रलम्भ के अतिरिक्त शेष विप्रलम्भों में रत्यात्मक क्लेश अथवा असन्तोष का भाव उतना तीव्र नहीं होता; किन्तु करुण विप्रलम्भ में विरहजन्य वेदना इतनी उद्दीप्त हो उठती है कि उसमें और शोकभाव में अन्तर पाना कठिन हो जाता है। करुण विप्रलम्भ शृङ्गार का वह भेद

---

१. **स च शापक्लेशविनिपातेष्टजनविप्रयोगविभवनाशवधबन्धविद्रवोपघातव्यसनसंयोगादिभिर्विभावैः समुपजायते।** – ना० शा०, पृ० ७५।

२. सं० डि०, पृष्ठ ८६७।

३. **रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।**—सा० द० : ३ : १७६।

४. **अङ्गेष्वसौष्ठवं तापः पाण्डुता कृशताऽरुचिः॥**
अधृतिः स्यादनालम्बस्तन्मयोन्मादमूर्च्छनाः।—वही : ३ : २०५, २०६।

५. **तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च।**—ना० शा०, पृ० ७३।

६. **स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात्।**—सा० द० : ३ : १८७।

है जिसे प्रणयी किंवा प्रणयिनी में से किसी एक के दिवंगत हो जाने, किन्तु पुनर्जीवित हो सकने की अवस्था में, जीवित बचे दूसरे के हृदय के शोकसंवलित रतिभाव की अभिव्यक्ति कहा गया है।[1] इस परिभाषा के विश्लेषण से करुणात्मक विप्रलम्भ के ये तथ्य प्रकट होते हैं—(१) इसमें प्रेमी या प्रेमिका में से किसी एक का स्वर्गस्थ होना आवश्यक है, (२) यह 'लोकान्तर' गमन अस्थायी होता है, अर्थात् प्रिय-मिलन की आशा यहाँ बनी रहती है और (३) विरह-वेदना रति-सम्भूत होती है, शोक-सम्भूत नहीं। भरत ने इसीलिए विप्रलम्भ को **सापेक्षभाव** कहा है।[2] अभिनवगुप्त के शब्दों में यहाँ 'सापेक्षभाव' का तात्पर्य विप्रलम्भ-पोषक चिन्ता आदि भावों की **आशान्वित रति** से है,[3] अर्थात् कठिन विरह की दुसह घड़ियों में भी यहाँ अपने प्रिय पात्र से मिलन की आकांक्षा एवं आशा का त्याग नहीं होगा।

विप्रलम्भ के सापेक्षत्व के ठीक विपरीत करुण **निरपेक्षभाव** होता है।[4] 'निरपेक्ष' का अर्थ है बिछुड़े बन्धुजन आदि के सम्बन्ध में आशा का पूर्णतः तिरोभाव; करुण में प्रिय की मृत्यु हो जाने से किसी प्रकार की कोई आशा या अपेक्षा नहीं रह जाती। अतः 'करुण विप्रलम्भ' की भावात्मकता के ठीक विरोध में 'करुण' का सर्वथा अभावात्मक स्वरूप होता है। अपनी कान्ता से यक्ष वियुक्त हो जाता है, किन्तु उसके दारुण वियोग में भी यक्षिणी की आशा भंग नहीं होती; वह आशा-तन्तु के सहारे अपने पुष्प-से कोमल हृदय को सँभालती हुई अपने प्रिय पति के पुनर्मिलन की प्रतीक्षा में पड़ी रहती है।[5] इसीलिए उसकी समग्र 'सापेक्ष' वेदना रति की परिपोषिणी है, न कि शोक की। आशा का यह तन्तु करुण में टूट जाता है; शोक के आँसुओं में अभाव एवं नैरास्य का हाहाकार बँधा होता है, जब कि रति के आँसुओं में रागात्मक असन्तोष की करुण बाँसरी बजती रहती है। 'करुण विप्रलम्भ' एवं 'करुण' के बीच इस मूलभूत अन्तर को हृदयंगम कर लेने के पश्चात् अब हम उत्तररामचरित के केन्द्रीय भाव का परीक्षण करना चाहेंगे।

उत्तररामचरित के सात अंकों में ऐसे तीन अंक हैं जहाँ हम नायक (राम) तथा नायिका (सीता) को एकत्र देखते हैं—प्रथम अंक, तृतीय अंक एवं सप्तम अंक। सप्तम अंक इस नाटक का अन्तिम अंक है, जहाँ गर्भनाटक की कलात्मक योजना के

---

१. यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
   विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः ॥—वही, : ३ : २०९।
२. सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः।—ना० शा०, पृ० ७३।
३. ···औत्सुक्यप्रधाना ये चिन्तादयस्तेभ्यः सम्यगुत्थानं विजृम्भो यस्य।
   अत एव सापेक्षो यत्र रत्याख्यो भावः। ते च सापेक्षाद् रत्याख्याद् भवन्ति।
   —अभि० ना०, पृष्ठ ३१०।
४. करुणस्तु···निरपेक्षभावः औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः। —ना० शा० पृ० ७३।
५. तुल० आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
   सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥—मेघ० : १०।

को अविच्छिन्न रखने में सचेष्ट दीखता है, क्योंकि उसकी धारणा यही है कि जहाँ भी राम की निराशा आशा में बदली, नाटक का स्वाभाविक अन्त वहीं हो जायगा। नाटक के घटना-चक्र को सात अंकों का आयाम प्रदान करने में मूलतः राम की सीता-विषयिणी निराशा का ही हाथ रहा है। तात्पर्य यह कि दूसरे अंक से लेकर सातवें अंक के गर्भनाटक होने तक राम का विश्वास यही रहता है कि सीता दिवंगत हो चुकी हैं, उनके साथ राम का पुनर्मिलन असम्भव है।

राम के इस प्रबल नैराश्य भाव को करुण विप्रलम्भ के सापेक्षभाव का अभिधायक कभी नहीं माना जा सकता। यदि राम को तनिक भी आशा रहती कि सीता जीवित हैं, अथवा वे उन्हें पुनः मिल सकती हैं, तो उनके समग्र शोकोद्गार विप्रलम्भ के पोषक हो जाते, उनका केन्द्र रतिभाव हो जाता। किन्तु ऐसा कहीं नहीं हुआ है—राम के आँसुओं में शोक का करुण हाहाकार है, न कि विप्रलम्भ की भोगात्मक रिमझिम। अतः विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर भी उत्तररामचरित का मूलभाव शोक है, इसमें किसी विचिकित्सा का स्थान नहीं। करुण विप्रलम्भ में भी प्रेमियों के वियोग की कठिन से कठिन अवस्था दिखाई जाती है; किन्तु अभिनवगुप्त के अनुसार ऐसी अवस्था का पर्य्यवसान मृत्यु में नहीं दिखाया जाना चाहिये, अन्यथा वह शोकरूप होकर करुण को जन्म देगी, न कि विप्रलम्भ को।[1] हाँ, विप्रलम्भ में मरण की सम्भावना का वर्णन किया जा सकता है; या यदि मरण दिखाना अभीष्ट भी हो, तो उसे इस प्रकार वर्णित किया जाय जिससे मरण के पश्चात् शीघ्र ही प्रेमियों का पुनर्मिलन दिखाया जा सके।[2] यहाँ आचार्य अभिनवगुप्त का अभिमत पूर्णतया स्पष्ट नहीं प्रतीत होता। उन्होंने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए रघुवंश में निबद्ध अज एवं इन्दुमती के वियोग को उदाहृत किया है। उनकी दृष्टि में यहाँ महाकवि कालिदास ने प्रकारान्तर से इन्दुमती के देहत्याग का वर्णन करके भी उसे मृत्यु की संज्ञा नहीं दी है, वरन् उसे अमरत्व-प्राप्ति कहा है, अतः यहाँ अज का शोक नहीं, वरन् रति ही अभिप्रेत है।[3] हमारी समझ में वहाँ इन्दुमती की मृत्यु को चाहे जो भी नाम दिया गया हो, अज की दृष्टि में तो वह मरी हुई ही है। अतः वहाँ अज के करुण विलाप में रति की प्रतिच्छाया खोजना वास्तविकता से मुख मोड़ना है। ऐसे सन्दर्भों में दशरूपककार का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। वे स्पष्ट शब्दों में बताते हैं कि नायक या नायिका में से किसी एक के दिवंगत हो जाने पर यदि दूसरा व्यक्ति प्रलाप करे, तो वहाँ शोक भाव एवं करुण रस की ही स्थिति मानी जायगी; जहाँ आलम्बन ही नहीं रहेगा, वहाँ शृङ्गार पल्लवित हो ही नहीं सकता। हाँ, मरण के उपरान्त दैवी शक्ति के कारण पुनर्जीवित हो सकने की

---

१. ताद्दश्यां दशायां स्वजीवितनिःस्पृहात्मिकायां तद्देहोपभोगसाररत्यात्मकावस्थाबन्धोऽपि विच्छिद्यत एवेति सम्भव एव। मरणमचिरकालप्रत्यापत्तिमयमत्र मन्तव्यम्। येन शोकोऽवस्थानमेव न लभते। —अभि० ना०, पृ० ३०७।

२. वि० अ० भा०, पृ० ५५६।

३. वही, पृ० वही।

अवस्था में शोक भी बदल जायगा और रति का रूप ले लेगा।[१] **अर्थात् जब तक आलम्बन अविद्यमान रहेगा, करुण की ही निष्पत्ति होगी, विप्रलम्भ की नहीं।** धनिक ने अपनी वृत्ति में धनञ्जय के इस अभिप्राय को उदाहरण द्वारा और भी स्पष्ट कर दिया है। उनके अनुसार इन्दुमती के मरने पर अज का प्रलाप शोकज है—वहाँ करुण ही व्यंजित हुआ है। इसी प्रकार कादम्बरी में पुण्डरीक के मर जाने पर महाश्वेता के विलाप में करुण की निष्पत्ति होती है; किन्तु जब महाश्वेता पुण्डरीक के पुनर्मिलन के सम्बन्ध में आकाशवाणी सुन लेती है, तो उसका वियोग प्रवासश्रृङ्गार की कोटि में आ जाता है।[२] यदि अभिनव के उक्त विचार को मान भी लें, तो भी उत्तररामचरित के मूलभाव को रति का नाम नहीं दिया जा सकता। राम कई बार स्पष्ट शब्दों में सीता की मृत्यु का उद्घोष करते हैं। सीता से उनका पुनर्मिलन होता भी है तो बारह वर्षों के पश्चात्, अतः राम की दृष्टि से विचार करें तो सीता का यह 'मरण' अचिरकाल-प्रत्यापत्तिमय भी नहीं माना जा सकता। अतः प्रत्येक दृष्टि से यहाँ शोक-सन्तान की ही सिद्धि होती है, उसे रति-सन्तान के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।

करुण रस के अभिव्यंजन में शोकरूप स्थायी भाव रहता है। यह इष्टनाश तथा अनिष्ट-प्राप्ति से आविर्भूत होता है। इसके देवता यम हैं और वर्ण कपोत। शोच्य किंवा विनष्ट व्यक्ति इसके आलम्बन तथा दाहकर्म आदि इसके उद्दीपन होते हैं। दैवनिन्दा, भूमिपतन, क्रन्दन, वैवर्ण्य, उच्छ्वास, निःश्वास, स्तम्भ, प्रलपन आदि इसके अनुभाव माने गये हैं। इसके व्यभिचारी भावों में निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद, चिन्ता आदि की गणना होती है।[३] सम्पूर्ण उत्तररामचरित में, विशेषतः उसके तृतीय अंक में, इस रस के उदाहरण भरे पड़े हैं। इस रस से युक्त यहाँ एक दृष्टान्त लेना अलम् होगा।[४] यही श्लोक मालतीमाधव के नवम अंक में भी प्रयुक्त हुआ है; वहाँ केवल **'हा हा देवि स्फुटति'** के बदले **'मातर्मातर्दलति'** का प्रयोग हुआ है। जगद्धर ने अपनी टीका में बड़ी बारीकी से इसमें वर्तमान करुण रस के व्यभिचारी भावों का उद्घाटन किया है।[५] उत्तररामचरित के करुण रस के ऐसे मुख्य

---

१. **मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः।**
व्याश्रयत्वान्न श्रृङ्गारः, प्रत्यापन्ने तु नेतरः॥—द० रू० : ४ : ६७।

२. **यथेन्दुमतीमरणादजस्य करुण एव रघुवंशे, कादम्बर्यां तु प्रथमं करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवासश्रृङ्गार एवेति।**—वहीं : ४ : ६७ (वृत्ति)।

३. सा० द० : ३ : २२२-२२५।

४. **हा हा देवि स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः**
शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि॥—उ० च० : ३ : ३८।

५. **मातर्मातरित्यावेगः। द्विधा भवति हृदयमिति पीडा। अवयवसंधिः शिथिलीभवतीत्यस्वस्थता। विश्वं शून्यं मन्य इति बाह्यासंवेदना निर्वेदः। अविरलज्वालं यथा तथान्त-**

प्रवाह में कवि ने गौण रूप से कुछ दूसरे रसों की लहरें भी उछाली हैं। प्रथम अंक में श्रृङ्गार के दोनों पक्षों—सम्भोग एवं विप्रलम्भ—का अच्छा निदर्शन प्राप्त होता है। पंचम एवं षष्ठ अंकों में लव एवं चन्द्रकेतु के परस्पर संवाद एवं युद्ध के वर्णन में वीर एवं रौद्र की भी समर्थ अभिव्यक्ति हुई है। चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में हास्य की भी सृष्टि की जाती है, किन्तु वह निर्बल एवं अप्रासंगिक जैसी प्रतीत होती है। कुल मिलाकर यहाँ करुण के अतिरिक्त श्रृङ्गार एवं वीर का ही सम्यक् परिपोष प्राप्त होता है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, महावीरचरित का अंगी रस वीर है। इस नाटक के अभिधान से ही सिद्ध है कि इसमें कवि राम को मुख्यतः महावीर के रूप में हमारे सामने उपन्यस्त करने जा रहा है। सम्पूर्ण नाटक में ऐसे कई प्रसंग आते हैं जहाँ वीर रस की प्रभूत निष्पत्ति कराई जाती है। इस रस की पुष्टि प्रताप, विनय, कार्यकुशलता, बल, मोह, अविषाद, नय, विस्मय, शौर्य आदि विभावों से की जाती है। यहाँ रस 'उत्साह' नामक स्थायी भाव से भावित होता है; इसका वर्ण स्वर्णवर्ण है और इसके देवता हैं महेन्द्र। इसमें मति, गर्व, धृति तथा प्रहर्ष जैसे संचारी भाव पाये जाते हैं।[1] महावीरचरित में, विशेष रूप से परशुराम-प्रसंग तथा रामरावणयुद्ध के चित्रों में, इस रस की प्रबल व्यंजना कराई गई है। एक उदाहरण लेना पर्याप्त होगा।[2] यहाँ राम ने जिन शब्दों में परशुराम के गुणों का ख्यापन किया है, उनसे वीर ही अभिव्यंजित होता है। इस श्लोक में परशुराम का त्यागविषयक उत्साह स्थायी भाव है। यह स्थायी भाव आलम्बन-रूप दान के पात्र ब्राह्मणों तथा उद्दीपन रूप सत्त्व, अध्यवसाय आदि गुणों से विभावित किया जा रहा है, सर्वस्वसमर्पण आदि अनुभाव इसे अनुभावित करा रहे हैं तथा हर्ष, धृति आदि संचारियों से इसकी पुष्टि की जा रही है।[3] अन्ततोगत्वा परशुराम का यह त्यागोत्साह वीर रस का आस्वाद बनकर सहृदय-हृदय में अलौकिक आह्लाद की सृष्टि करने में समर्थ है।

वीर, अद्भुत एवं रौद्र मित्र रस माने गये हैं, चूँकि उत्साह, विस्मय एवं क्रोध के भाव एक दूसरे को सम्पुष्ट करनेवाले होते हैं—इन तीनों की युगपत् स्थिति सहज सम्भव होती है। भवभूति ने मनोविज्ञान के इस सत्य को रसरूप बनाकर महावीरचरित में अभिव्यक्त किया है; अर्थात् इसमें वीर के अतिरिक्त अद्भुत एवं रौद्र रसों की भी समर्थ

ज्वलामीति चिन्ताजनितो दाहः। अन्तरात्मा निरालम्बः सीदन्नवसादं गच्छन्गाढान्धकारे मज्जतीवेतिग्लानिः। विष्वक्सर्वतो मोहश्छादयतीति मोहः। मन्दभाग्योऽहं किं करोमीति दैन्यम्।—मा० मा० (जगद्धरकृत टीका), पृ० १०६।

१. द० रू० : ४ : ७२।

२. उत्पत्तिर्जमदग्नितः स भगवान्देवः पिनाकी गुरुः
शौर्यं यत्तु न तद्गिरां पथि ननु व्यक्तं हि तत्कर्मभिः।
त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः
क्षत्रब्रह्मतपोनिधेर्भगवतः किं वा न लोकोत्तरम्॥—म० च० : २ : ३६।

३. सा० द० : ३ : २३२-२३४।

निष्पत्ति कराई है। अद्भुत का स्थायी भाव विस्मय, वर्ण पीत तथा देवता गन्धर्व होते हैं। इसका आलम्बन अलौकिक वस्तु तथा उद्दीपन अलौकिक वस्तु का गुणकीर्तन होता है। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, गदगद्स्वर, सम्भ्रम, नेत्रविकास आदि इसके अनुभाव कहे गये हैं। इसमें वितर्क, आवेग, सम्भ्रम, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव परिपोषण का कार्य करते हैं।[१] महावीरचरित के प्रथम अंक में राम द्वारा शंकर-धनुष के भंजन का जो विस्मयोत्पादक वर्णन लक्ष्मण के मुख से कराया गया है, उसमें इसी रस की स्थिति है।[२]

मत्सर अथवा वैरी के द्वारा किये गये अपकार आदि विभावों से क्रोध की उत्पत्ति होती है। रौद्र रस इसी क्रोध नामक स्थायी भाव का परिपोष है; इसका अनुज क्षोभ होता है तथा शस्त्र चमकाना, डींग हाकना, पृथिवी पर आघात करना, प्रतिज्ञा करना आदि इसके अनुभाव होते हैं। इस रस के संचारी भावों में अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, उग्रता, वेग आदि की गणना की जाती है।[३] इस रस का वर्ण रक्त होता है और इसके देवता हैं रुद्र।[४] अपने गुरु भगवान शंकर के धनुर्भंग से क्रुद्ध हुए भार्गव जिस चण्ड मुद्रा में राम को मारने के लिए राजा जनक के अन्तःपुर में प्रवेश कर रहे हैं, उससे रौद्र ही अभिव्यक्त होता है।[५] आरम्भ से अन्त तक यहाँ परशुराम के चरितांकन में इस रस की प्रभूत निष्पत्ति कराई गई है।

मालतीमाधव शृंगाररस-प्रधान प्रकरण है। इसमें मालती एवं माधव की प्रणय-कथा को ऐसा रस-पेशल रूप प्रदान किया गया है कि उसमें सम्भोग एवं विप्रलम्भ नामक उभयविध शृङ्गारों का पूर्ण अभिव्यंजन सम्भव हुआ है। भवभूति ने यहाँ रति को परिपुष्ट करने के निमित्त कामशास्त्र में वर्णित प्रेमदशाओं के अनुरूप अपने पात्रों के चरित अंकित किये हैं। नायक एवं नायिका के परस्पर अनुराग-बीज को अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित करने के उद्देश्य से कवि का कामशास्त्र के प्रति यह पक्षपात प्रकरण के आमुख में ही व्यक्त हुआ है।[६] शृङ्गार रस के आलम्बन प्रायः उत्तम प्रकृति के ही

---

१. वही : ३ : २४२-२४४।

२. दोर्लीलाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
ष्टंकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः।
द्राक्पर्यस्तकपालसंपुटमितब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥—म० च० : १ : ५४

३. द० रू० : ४ : ७४।

४. सा० द० : ३ : २२७।

५. सत्त्वभ्रंशविषादिभिः कथमपि त्रस्तैः क्षणं वेत्रिभि-
र्दृष्टो दृष्टिविघातजिह्मितमुखैरप्याहतप्रक्रमः।
रामान्वेषणतत्परः पुरजनैरुन्मुक्तहाहारवः
कन्यान्तःपुरमेव हा प्रविशति क्रुद्धो मुनिर्भार्गवः ॥—म० च० : २ : २०।

६. मा० मा० : १ : ४।

प्रेमीजन हुआ करते हैं। इसके उद्दीपन विभाव में चन्द्र-चन्द्रिका, चन्दनानुलेपन, भ्रमर-झंकार आदि की गणना होती है। इसके अनुभाव हैं—प्रेम-पगे भ्रूविक्षेप, कटाक्ष आदि। उग्रता, मरण, आलस्य एवं जुगुप्सा को छोड़कर अन्य सभी व्यभिचारी भाव इसका परिपोषण करते हैं। इसका वर्ण श्याम होता है और देवता विष्णु भगवान हैं। शृङ्गार के दो भेद माने गये हैं—विप्रलम्भ एवं सम्भोग। विप्रलम्भ वह भेद है जिसमें नायक-नायिका का परस्पर अनुराग तो प्रगाढ़ होता है, किन्तु वे परस्पर मिल नहीं पाते।[1] एक दूसरे से अनुरक्त नायक एवं नायिका के परस्पर दर्शन, स्पर्श आदि की अनुभूति को आस्वादनीय बनानेवाले रस को सम्भोग की संज्ञा दी गई है।[2] मालती को न पाकर माधव जिस प्रीत आकांक्षा के साथ उसका स्मरण कर रहा है, उसमें विप्रलम्भ की अच्छी निष्पत्ति हुई है।[3] मालतीमाधव में चूँकि अन्त तक नायक एवं नायिका के मिलन-मार्ग में अनेकानेक विघ्न आते रहे हैं, अतः उसमें स्वभावतः ही सम्भोग की अपेक्षा विप्रलम्भ की व्यंजना अधिक हुई है। जहाँ कहीं माधव को अपनी प्रेयसी मालती के साथ मिलने का अवसर प्राप्त होता है, वहाँ सम्भोग का अभिव्यंजन हुआ है। अष्टम अंक के आरम्भ में मालती के प्रति किये गये माधव के प्रणय-निवेदन में इसका सम्यक् परिपोष उपलब्ध होता है।[4]

मालतीमाधव के श्मशान-दृश्य का नियोजन संस्कृत के समस्त नाट्य-साहित्य में अपूर्व एवं अप्रतिम है। शृङ्गार के प्रबल प्रवाह के बीच कवि कुछ देर के लिए हमें बीभत्स, भयानक एवं रौद्र रसों से पूर्ण एक ऐसी भावभूमि की ओर खींचकर ले जाता है जिसका नाटकीय मूल्य भले ही कुछ कम दीखे, रसात्मक मूल्य बहुत अधिक है। यहाँ हम बीभत्स का एक उदाहरण देना ही पर्याप्त समझते हैं।[5] यह रस जुगुप्सा नामक स्थायी भाव का अभिव्यंजन माना गया है। इसका वर्ण नील और देवता महाकाल हैं। दुर्गन्ध से पूर्ण मांस, रक्त, चर्बी आदि आलम्बन होते हैं। दुर्गन्धमय मांस आदि में

---

१. सा० द० : ३ : १८३-१८७।

२. वही : ३ : २१०।

३. प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि।
यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापारोधी क्षणा-
दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः॥—मा० मा० : ५ : ७।

४. निश्च्योतन्ते सुतनु कबरीबिन्दवो यावदेते
यावन्मध्यः स्तनमुकुलयोर्नार्द्रभावं जहाति।
यावत्सान्द्रप्रततपुलकोद्भेदरम्याङ्गयष्टि-
स्तावद्गाढं वितर सकृदप्यङ्कपालीं प्रसीद॥—वही : ८ : २।

५. उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्ड्याद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।
आत्तस्नाय्वन्त्रनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति॥—वही : ५ : १६।

कीड़े पड़ना आदि इसके उद्दीपन माने जाते हैं। इसके अनुभाव हैं—थूकना, मुँह फेरना, आँखें मीजना आदि। मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि, मरण आदि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं।[१]

चाहे करुण हो या बीभत्स, भयानक हो या रौद्र, शृङ्गार हो या वीर, इन पाँचों रसों की वर्णना में भवभूति समान रूप से सिद्धहस्त हैं। सामान्यतः भवभूति को करुण रस के प्रतिनिधि के रूप में ही स्मरण किया जाता है, किन्तु इनके नाटकों के अनुशीलन से उक्त सत्य की ही पुष्टि होती है। हास्य के अतिरिक्त इन्होंने जिस रस की व्यंजना करानी चाही है, उसे अपूर्व कलात्मकता के साथ अपनी सान्द्र एवं शक्त वाणी में व्यक्त किया है। उनकी रसाभिव्यक्ति की प्रक्रिया में न तो कहीं भाषा का अभाव दीखता है, न अनुभूति का। उनकी वाणी के ये दोनों ही पक्ष इतने प्रबल हैं कि रस की निःसृति में कहीं कोई अवरोध या अटकाव प्रतीत नहीं होता। अपनी वाणी के कठिन से कठिन या सरल से सरल रूपों में कहीं भी उनका कोई कृत्रिम आयास प्रकट नहीं होता—वे न तो कहीं सन्तुलन खोते हैं और न अपनी प्राणवन्त भाषा के स्वाभाविक मार्ग का त्याग करते हैं। उनकी रसाभिव्यक्ति के वैशिष्ट्य का यह मूल रहस्य है।

---

१. सा० द० : ३ : २३९-२४१।

अध्याय २

भाषा और शैली

नाटक हो या काव्य, उसके कुछ भागवत एवं कुछ शिल्पगत वैशिष्ट्य हुआ करते हैं। इन वैशिष्ट्यों का तब तक सम्यक् अनुशीलन नहीं किया जा सकता जब तक उनको अभिव्यक्ति प्रदान करनेवाले दो प्रधान तत्त्वों—भाषा और शैली—का विवेचन नहीं हो पाता। यों व्यापक दृष्टि से विचार करने पर इन दोनों तत्त्वों में भाव, रस, अलंकार, रीति, वृत्ति आदि उन सभी साहित्यिक तत्त्वों का अन्तर्भाव हो जाता है जिनके विवेचन साहित्यशास्त्र में अलग-अलग उपलब्ध होते हैं। इसका कारण यह है कि उक्त सभी तत्त्व या तो साहित्य के अंतरंग से जुड़े हुए हैं, या उसके बहिरंग से; और भाषा में यदि मुख्यतः साहित्य के अंतरंग की अभिव्यक्ति होती है तो शैली में मुख्यतः उसके बहिरंग की। इसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि भाषा और शैली की सत्ता पूर्णतः अलग-अलग है और उनमें से पहली भावाभिव्यंजक मात्र है और दूसरी रूपाभिव्यंजक मात्र। वस्तुतः भाव और रूप का वही सम्बन्ध है जो आत्मा और शरीर का; इन तत्त्वों को एक दूसरे से सर्वथा पृथक् करने की बात सोची ही नहीं जा सकती। सामान्यतः भाषा की उपमा यदि नदी के प्रवाह से देंगे, तो शैली की उसकी पद्धति या मार्ग से। प्रवाह जब भी और जहाँ भी चलेगा, अपनी पद्धति अनिवार्यतः बना लेगा; अतः इन दोनों में से कोई दूसरे से निरपेक्ष नहीं रह सकता। जिस प्रकार प्रवाह स्वस्थ या निर्बल, मलिन या निर्मल हो सकता है, उसी प्रकार उसकी पद्धति भी सुगम या दुर्गम, सरल या जटिल हो सकती है; ठीक इसी के सामानान्तर भाषा और शैली की अपनी-अपनी प्रकृति एवं प्रवृत्ति होती है। सामान्यतः जिस प्रकार भाषा अच्छी या बुरी हो सकती है, उसी प्रकार उसकी शैली भी। कभी-कभी साहित्य के सीमित अर्थ में शैली से प्रायः अच्छी शैली का ही बोध होता है। जब हम किसी को 'शैलीकार' कहकर अभिहित करते हैं तो यहाँ हमारा मन्तव्य उसके अभिव्यंजनापरक उत्कर्षों से ही सम्बन्ध रखता है, न कि उसकी तत्सम्बन्धी कमियों या बुराइयों से।

किसी भाषा के सामान्य रूप तथा उसका नियमन करनेवाले तत्त्व जितने विवादास्पद हैं, उतने ही विवाद के विषय शैली के आधारभूत सिद्धान्त भी हैं। हमारे साहित्यशास्त्र में आधुनिक शैली के अभिधेय अर्थ से मिलता-जुलता शब्द रीति है। किन्तु भामह और दण्डी से लेकर विश्वनाथ तक ने जिस प्रकार रीति पर अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं, उससे रीति सम्बन्धी कोई सर्वमान्य सिद्धान्त निकालना अत्यन्त कठिन हो जाता है। रीति पर व्याख्यान प्रस्तुत करनेवाले आचार्यों में सबसे प्रसिद्ध वामन रहे हैं जिन्होंने उसे काव्य की आत्मा स्वीकार करके उसको सर्वाधिक सैद्धान्तिक प्रतिष्ठा प्रदान की है। उनके अनुसार **विशिष्ट पदरचना** ही रीति है और यहाँ विशिष्टता का

ऐकान्तिक सम्बन्ध गुणों से है। तात्पर्य यह कि प्रसाद, माधुर्य आदि गुणों से समन्वित पदरचना को ही रीति मानेंगे।[1] ऐसा लगता है कि दूसरे आचार्यों ने रीति की व्याख्या में 'पदरचना' को ही सर्वोपरि महत्त्व दिया है और इस आधार पर उन्होंने समासहीनता, स्वल्पसमासता तथा दीर्घसमासता के माध्यम से रीति को समझाना चाहा है। कुन्तक रीति को मार्ग कहते हैं और इसका सम्बन्ध किसी देश विशेष से न मानकर कवि-स्वभाव से मानते हैं। उनके अनुसार काव्य-रचना की विधि ही मार्ग है जो तीन प्रकार का होता है—सुकुमार, विचित्र और मध्यम।[2] विश्वनाथ ने इसे रसोपकर्त्री के रूप में ग्रहण किया है और वर्णसंघटन, गुण एवं समास को इसके आधारभूत तत्त्व बताये हैं।[3] रीति के भेदों को लेकर भी कई विचार प्रकाशित किये गये हैं। सामान्यतः रीति का सम्बन्ध किसी देश विशेष से करके उसी आधार पर इसका अभिधान कर दिया गया है, यथा विदर्भ से वैदर्भी, गौड से गौडी तथा पाञ्चाल से पाञ्चाली। आचार्य वामन ने ये ही तीन भेद स्वीकार किये हैं।

ऊपर के विवेचन से चाहे रीति का कोई सर्वसम्मत आधार प्राप्त न हो, किन्तु इतना निश्चित है कि रीति प्रायः भावाभिव्यक्ति की विशिष्ट प्रणाली के रूप में ही गृहीत हुई है और इस अर्थ में यह शैली के आधुनिक रूप का निकटतम शास्त्रीय पर्याय मानी जा सकती है। रीति की तरह शैली के स्वरूप-निर्धारण में भी कई विचार आये हैं। वस्तुतः शैली पाश्चात्त्य साहित्यालोचन के प्रभाव से आधुनिक भारतीय साहित्य की चिन्ताधारा में समाविष्ट हुई है। यों यह विशुद्ध संस्कृत शब्द है और संस्कृत साहित्य में आचार, प्रथा, व्याकरण-भाष्य की विशिष्ट प्रणाली आदि अर्थों में बहुप्रचलित भी रहा है, किन्तु संस्कृत में कहीं भी इसका प्रयोग 'स्टाइल' के अधुनातन अर्थ में नहीं किया गया है। यूनान देश के प्रसिद्ध चिन्तक अफलातून या प्लेटो के शब्दों में, "जब कोई विचार अपना तात्त्विक रूपाकार ग्रहण करता है, तो शैली आविर्भूत होती है।" अंग्रेजी के प्रख्यात नाटककार श्री बर्नार्ड शॉ की सम्मति में "प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति ही शैली का अथ और इति है।" डा० देवराज के विचार से "शैली अनुभूत विषयवस्तु को सजाने के उन तरीकों का नाम है जो उस विषयवस्तु की अभिव्यक्ति को सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनाते हैं।[4]"

ऊपर शैली के स्वरूप-निर्धारण के संदर्भ में जो कुछ विद्वानों के विचार प्रस्तुत किये गये, उनका सारांश यही निकलता है कि शैली के अन्तर्गत वस्तुतः उन

---

१. रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति।—का० सू० : १ : २ : ६, ७, ८, ९,।

२. सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः॥—व० जी० : १ : २४

३. पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा॥
वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा।—सा० द० : ९ : १, २।

४. हि० सा० को०, पृ० ७७३।

सभी तत्त्वों का समाहार है जो भाव, अभिव्यक्ति तथा उसकी प्रणाली के आधारभूत होते हैं। अर्थात् शैली को साहित्य का बाह्य उपकरण मात्र नहीं समझा जा सकता—कोई अभिव्यक्ति तब तक प्रभावपूर्ण नहीं हो सकती, जब तक वह प्रभावपूर्ण भावों पर खड़ी नहीं हो। सम्भव है, छिछले भावों के प्रकाशन की विधि भी चमत्कारी हो जाय, किन्तु उस विधि या शैली का चकाचौंध अधिक देर तक नहीं टिक सकता। किसी सड़े-गले भवन को ऊपर से लीप-पोत कर चाहे कितना भी चिकना और आकर्षक बनाया जाय, उसके इस आकर्षण में सचाई और स्थायित्व तब तक नहीं आ सकते, जब तक भवन की मूलभूत मिट्टी पक्की नहीं हो जाती। इस प्रकार भाव, भाषा और शैली ये तीनों ही सापेक्ष शब्द हैं और किसी कवि या लेखक की कोई कृति तभी महनीय मानी जा सकती है जब उसमें इन तीनों का उचित सन्तुलन एवं समन्वय हो।

यह तो हुआ भाषा और शैली के सम्बन्ध में सामान्य निर्देश। किन्तु रचना के प्रकार की दृष्टि से भी भाषा और शैली के रूप एवं औचित्य बदलते चलते हैं। उदाहरण के लिए काव्य और नाटक दोनों के लिए भाषा और शैली के कुछ अलग-अलग मापदण्ड हो जाते हैं। एक ही क्षेत्र में काव्य एवं नाटक के विविध प्रकारों के लिए भी भाषा और शैली के रूपों में अन्तर आ जाता है जो स्वाभाविक ही है। सामान्यतः किसी काव्य के लिए जैसी वर्णनात्मकता, भावुकता, विस्तार आदि वांछित है, किसी नाटक में उनकी वैसी उपयोगिता नहीं रह जाती। कवि तो कवि होता ही है, किन्तु वही जब कोई नाटक लिखने लगता है, तो उसे अपनी कला-दृष्टि में किंचित् परिवर्तन लाना आवश्यक हो जाता है। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो उसकी कृति का नाटकत्व ही समाप्त हो जाता है। यह सही है कि हमारे यहाँ दृश्य एवं श्रव्य दोनों ही काव्य के ही द्विविध रूप हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इनमें से किसी एक के रूप में दूसरे के रूप का सर्वांशतः अन्तर्भाव कर दिया जाय। यदि ऐसा ही सम्भव होता, तो भारतीय आचार्यों को उक्त दोनों प्रकार के काव्यों के पृथक् लक्षण बताने में इतनी बुद्धि नहीं खपानी पड़ती। हम यहाँ संस्कृत वाङ्मय के एक वरिष्ठ नाटककार की कृतियों की भाषा एवं शैली पर विचार करने चले हैं, अतः हमें अपनी सीमाओं का ज्ञान होना चाहिए, अन्यथा हम अज्ञानवश कहीं दूसरे के क्षेत्र को अपना क्षेत्र न समझ बैठें।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, भाषा और शैली के अन्तर्गत भाव, रस, अलंकार, रीति, वृत्ति आदि कई तत्त्वों पर परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से विचार करना वांछित हो जाता है, चूँकि इन सबका उक्त दो तत्त्वों से न्यूनाधिक सम्बन्ध है। केवल इतना ही नहीं, समस्या यह भी आ जाती है कि भवभूति के नाटकों के अध्ययन में हम भाषा और शैली के शास्त्रीय मापदण्डों को ही ग्रहण करके चलें, अथवा उसमें इन दोनों तत्त्वों की अद्यतन विवृति से काम लें। यदि मात्र शास्त्रीय दृष्टि से विचार करें तो भवभूति के नाटकों की भाषा और शैली के संदर्भ में हमें रस, नाट्यालंकार, वृत्ति आदि को अपनाना होगा। किन्तु ऐसा करने से भवभूति के नाटकों के भावपक्ष तथा उसकी अभिव्यक्ति की बारीकियों के अधिकांश का विवेचन कठिन हो जायगा। इसीलिए

हम अपने अध्ययन की आसानी तथा सीमाओं को ध्यान में रखते हुए बीच का मार्ग पकड़ेंगे—शास्त्रीय परम्परा तथा आधुनिक दृष्टिकोणों में समन्वय लेकर चलेंगे। यही नहीं, विषय-विस्तार के भय से हम रस जैसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व पर पृथक् प्रकरण में विचार करेंगे, तथा नाट्यालंकार जैसे कुछ कम महत्त्व की चीजों को छोड़ भी देंगे।

सर्वप्रथम तो भाषा और शैली के सम्बन्ध में भवभूति की जो अपनी मान्यताएँ हैं, उनपर विचार कर लेना समीचीन होगा। हमें, कुछ अंशों में, भवभूति द्वारा स्पष्टतः उल्लिखित कतिपय उन विषयों की नाट्येतरता पर भी प्रकाश डालना होगा जिन्हें भवभूति ने अपने नाटकीय उद्देश्य की सिद्धि में सहायक नहीं माना है। जिसे वे नाटकीय दृष्टि से परिहार्य मानते हैं, उसका विचार भी उनके नाट्यदर्शन का रूप तैयार करने में सहायता देगा और उससे परोक्ष रूप से उनकी भाषा और शैली के रूपाधान की प्रक्रियाएँ स्पष्ट होंगी।

अपनी तीनों नाट्यकृतियों में भवभूति ने अपनी प्रौढ़ भाषा और शैली के सम्बन्ध में यत्किंचित् संकेत दिये हैं। इनमें सबसे अधिक संकेत मालतीमाधव में[1], उससे कुछ कम महावीरचरित[2] में और सब से कम उत्तररामचरित[3] में प्राप्त होते हैं। नीचे

---

१. सूत्रधारः—......तत्परिषदं निर्दिष्टगुणप्रबन्धेनोपतिष्ठावः।

नटः—(प्रविश्य) भाव, कतमे ते गुणा यानुदाहरन्त्यार्यमिश्रा भगवन्तो भूमिदेवाः।

सूत्रधारः—भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः
सौहार्दहृद्यानि विचेष्टितानि।
औद्धत्यमायोजितकामसूत्रं
चित्राः कथा वाचि विदग्धता च॥

...पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम...स्वकृतिमेवंगुणभूयसीमस्माकं हस्ते समर्पितवान्

× × ×

यद्वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च
ज्ञानं तत्कथनेन किं नहि ततः कश्चिद्गुणो नाटके।
यत्प्रौढित्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवं
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः॥—मा० मा० : १ : ६, १०।

२. महापुरुषसंरम्भो यत्र गम्भीरभीषणः।
प्रसन्नकर्कशा यत्र विपुलार्था च भारती॥

किंच

अप्राकृतेषु पात्रेषु यत्र वीरः स्थितो रसः।
भेदैः सूक्ष्मैरभिव्यक्तैः प्रत्याधारं विभज्यते॥

× × ×

वश्यवाचः कवेर्वाक्यं सा च रामाश्रया कथा।
लब्धश्च वाक्यनिष्यन्दनिष्पेषनिकषो जनः॥

× × ×

तेनेदमुद्धृतजगत्त्रयमन्युमूल—

भवभूति की कृतियों में प्रयुक्त कुछ वाक्यों में जो कुछ विशिष्ट पद आये हैं, वे एक बड़ी दूरी तक उनकी भाषा, भाव, रस आदि मान्यताओं को प्रकट करते हैं। रस का विवेचन तो हम पृथक् अध्याय में कर ही चुके हैं अतः उसे छोड़ देने पर भवभूति की भाषा आदि का मापदण्ड, उन्हीं के शब्दों में, कुछ यों ठहरता है--वाणी (भाषा)[1] **का विदग्ध, प्रौढ़, उदार, गुणभूयसी, प्रसन्न-कर्कश, विपुलार्थ तथा अर्थ-गौरव से पूर्ण होना**। अपनी भाषा के इन विशेषणों के अतिरिक्त कवि ने स्वयं अपने लिए भी कुछ विशेषणों का प्रयोग किया है, जैसे—**पदवाक्यप्रमाणज्ञ, वश्यवाक्, शब्दब्रह्मविद्** तथा **परिणतप्रज्ञ**। इतना ही नहीं, मालतीमाधव में उसने अपनी वस्तु की किंचित् विशेषताओं की ओर भी निर्देश किया है; इसका विचार हम पहले ही कर चुके हैं। अब हम भवभूति द्वारा समादृत उक्त गुणों के निष्कर्ष पर ही उनकी भाषा को परखकर देखना चाहेंगे कि उनकी वाणी में कहाँ तक इन गुणों का समावेश हुआ है।

जब कहने के ढंग में अनूठापन रहे, अथवा उक्ति में चातुर्य का पुट वर्तमान हो, तो उसे ही वाणी की विदग्धता मानेंगे। विदग्ध के कई अर्थों में काव्यक्षेत्र में इसके कुशल, प्रवीण, सहृदय आदि पर्याय ही अधिक स्वीकृत हैं, अतः भाषा की विदग्धता में रचनाकार की भावगत एवं शैलीगत कुशलता, रसात्मकता आदि गुण सन्निविष्ट होते हैं। इसे 'वाणीभंगिमा' भी मान सकते हैं। निश्चय ही भाषा का यह एक श्रेष्ठ गुण है और इससे किसी साहित्यकार की प्रातिभ ऊर्जा प्रकट होती है। भवभूति में इस गुण की सत्ता प्रचुरता से विद्यमान है। नाटकीय संवादों के सन्दर्भ में इसकी उपयोगिता एवं प्रभावोत्पादकता असंदिग्ध है। नन्दन के साथ मालती के विवाह के प्रसंग में भूरिवसु द्वारा राजा को दिये गये वचन में विदग्धता की अच्छी निष्पत्ति हुई है।[2] देखने में यह एक अत्यन्त छोटा-सा वाक्य है, किन्तु इसकी विदग्धता का ही परिणाम है कि भूरिवसु अपने राजा को प्रसन्न भी कर देते हैं, और अन्ततः नन्दन के साथ मालती के विवाह के निमित्त अपना वचन भी नहीं हारते। इसी प्रकार मालतीवेशधारी मकरन्द के पास लवंगिका एवं बुद्धरक्षिता जिस प्रकार मदयान्तिका के आक्रोश को दूर करने, उसे अपने

मस्तोकवीरगुरुसाहसमद्भुतं च।
वीराद्भुतप्रियतया रघुनन्दनस्य
धर्मद्रुहो दमयितुश्चरितं निबद्धम् ॥--म० च० : १ : २, ३, ४, ६।

३. ···पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम···
यं ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्तते।
उत्तरं रामचरितं तत्प्रणीतं प्रयोक्ष्यते ॥
× × ×
शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतप्रज्ञस्य वाणीमिमाम् ॥—उ० च० : १ : २, ७ : २०।

१. डा० राघवन ने वचस् को शब्द के अर्थ में ग्रहण किया है और भवभूति द्वारा प्रयुक्त उदारता या औदार्य को शब्द-गुण माना है। उनके मतानुसार भवभूति प्रौढि को शब्द एवं अर्थ दोनों के गुण मानते हैं—प्रौढि का कार्य है वचस् की उदारता एवं अर्थ के गौरव दोनों का परिपोष करना (दे०, भो० श्रृ० प्र०, पृ० २६१-२६२)।

२. "कन्यकाप्रदाने च नृपतयः प्रमाणम्" ॥ - मा० मा०, पृ० १०३।

विश्वास में लाने तथा उसके प्रणयभाव को उभारकर उसे मकरन्द की ओर आकृष्ट करने के प्रयत्न करती हैं, उसमें वाग्वैदग्ध्य का अच्छा पुट है। यहाँ मदयन्तिका की रुष्ट वाणी को लक्ष्य करके लवंगिका ने अपनी वाणी की जिस कुशलता का परिचय दिया है, भाषा-भंगिमा की उदाहृति में वही अलम् होगा।[1]

भाषा में प्रौढि तब आती है, जब साहित्यकार अपने विवक्षित अर्थ का निर्वाह अपने शब्दों में कर पाता है, एक पद में ही पूरे वाक्यार्थ को प्रकट कर देता है, अथवा एक पद के लिए पूरे वाक्य का प्रयोग करता है, व्यासशैली तथा समासशैली दोनों में ही कुशल होता है, उसकी उक्ति में परिपाक आ जाता है तथा उसके पदों का साभिप्रायत्व सर्वदा बना रहता है।[2] इस प्रकार भाषा या शैली की प्रौढि में एक साथ ही कई गुण समाविष्ट हो जाते हैं। भवभूति की भाषा निश्चित रूप से प्रौढित्व के इन समग्र लक्षणों से युक्त है। ऐसा कहीं भी नहीं दीखता कि वे अपने अभिप्रेत अर्थ को अपने शब्दों में भर नहीं पाते—दुरूह से दुरूह भावों के लिए भी कभी-कभी वे सरल पदों की अत्यन्त सरल संघटना का प्रयोग करते हैं; ऐसी स्थिति में न तो उनके मन्तव्य में कोई संभ्रम दीखता है और न उनके पदों में ही कोई अव्यवस्था आ पाती है। संक्षेप में, भाव और भाषा के समन्वय एवं सफाई में उनकी प्रतिभा बेजोड़ है। बारह वर्षों के पश्चात् दुखिनी सीता पंचवटी के सुपरिचित वनांचल में जब शोकाकुल राम को देखती हैं, तो उनके मन की अनिर्वचनीय अवस्था हो जाती है। कवि ने सीता की उस अबूझ-सी मानसिक स्थिति को जो भाषा प्रदान की है, वह कितनी प्रसन्न, स्पष्ट और भावपूर्ण है![3] समासशैली और व्यासशैली दोनों में ही इसका समान अधिकार और स्वामित्व दिखाई देता है।[4] कराला देवी के मन्दिर में मालती को बलि देने से पूर्व कापालिक अपनी जिस

---

१. मदयन्तिका (तथा कृत्वा)—दुस्समणाअदि कहं इअं वामसीला।
लवङ्गिका—कहं णाम णववहूविस्सम्भणोवाअजाणुअं लडहं विअद्धं महुरभासिणं अरोसणं दे भादरं भत्तारं आसादिअ ण दुम्मणाइस्सदि मे पिअसही। —वही, पृ० १६६।

२. (क) विवक्षितार्थनिर्वाहः काव्ये प्रौढिरिति स्मृता॥
—मा० मा० की त्रिपुरारिकृत टीका, पृ० ९।

(ख) पदार्थे वाक्यवचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च॥—का० सू: ३ : २ : २।

(ग) उक्तेः प्रौढः परीपाकः प्रोच्यते प्रौढिसंज्ञया।—भोज० प्र०, पृ० ३२०।

३. तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशा—
द्वियोगे दीर्घेऽस्मिञ्झटिति घटनात्स्तम्भितमिव।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढकरुणं।
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन्क्षण इव॥—उ० च० : ३ : १३।

४. आचार्यों ने प्रौढि के जो लक्षण निरूपित किये हैं, हमारा अभीष्ट यहाँ उनके यथावत् निदर्शन देना नहीं विवक्षित अर्थ के निर्वाह में प्रौढि की जो भावगत एवं शैलीगत शक्ति है, हमने यहाँ उसी पर बल दिया है। भवभूति भी प्रौढि से सम्भवतः यही अर्थ ग्रहण करते हैं। आचार्य वामन के अनुसार प्रौढि के पाँच प्रकार होते हैं; इनकी विशद व्याख्या के लिए दे० का० सू०, पृ० १४०-१४६।

स्तुति में चामुण्डा के विकट ताण्डव का वर्णन करते हैं, वह भवभूति की निविडतम समास-शैली का चूडान्त निदर्शन है ।[1] इसमें दण्डक जैसे कठिन छन्द के चार चरणों में कवि ने रौद्री देवी के ताण्डव की प्रायः प्रत्येक विकटतम भावभंगिमा को प्राणवन्त वाणी प्रदान की है। किन्तु वही कवि कहीं-कहीं इतनी सरल तथा व्यस्त पदावली प्रस्तुत करता है कि हमें विस्मयविमुग्ध हो जाना पड़ता है। इस प्रसंग में उनका एक अनुष्टुभ् द्रष्टव्य है, जिसमें एक भी समास नहीं ।[2] एक ही कवि की परस्पर भिन्न ऐसी दो शैलियों में समान कुशलता इस बात की स्पष्ट सूचक है कि संस्कृत भाषा पर उनका [illegible] प्रभुत्व है।

उदारता का सम्बन्ध काव्यगुण एवं काव्यशैली दोनों से माना जा सकता है। सामान्यतः यह प्रबन्ध-सौन्दय अथवा श्लाघ्यार्थत्व की व्यंजक है। मालतीमाधव के विद्वान् टीकाकार श्री जगद्धर की दृष्टि में उदारता का एक और अभिप्राय अलंकार आदि दोषों का राहित्य भी है। दण्डी तथा वामन के अनुसार उदारता एक काव्यगुण है। दण्डी तो किसी भी गुण के उत्कर्ष की प्रतीति को उदारता कहते हैं ।[3] किन्तु वामन रचनाशैली की विकटता में इस गुण की सत्ता मानते हैं। अपनी वृत्ति में विकटता की विवृति में उनका कहना है कि इस गुण के रहने पर श्रोताओं को किसी रचना विशेष में प्रयुक्त पद नाचते हुए-से प्रतीत होते हैं ।[4] उदारता के इन सारे अभिप्रायों का सम्यक् निर्वाह भवभूति की नाट्यशैली में देखा जा सकता है। इस गुण का जैसा अर्थ-निर्देश वामन में प्राप्त होता है, वह सर्वाधिक आकर्षक एवं विचारणीय लगता है। नाचते हुए-से पद का स्पष्ट अभिप्राय पदों के नाद-सौन्दर्य की उस विधा से है, जिसमें गतिशील या संवेगी भावों के सर्वथा अनुस्यूत अनुरणनात्मक पदों का प्रयोग होता है। जहाँ ऐसे भावों का प्रकाशन अभीप्सित हो, वहाँ अभिव्यक्ति की ऐसी शिल्पयोजना भावों के प्रायः अर्धांश को प्रयुक्त पदों के नाद से ही प्रकट कर देती है। यहाँ भवभूति के ऐसे कई श्लोकों में से केवल एक श्लोक इस गुण की प्रचुर सम्पत्ति से भरा हुआ उदाहृत हो रहा है ।[5] गोदावरी नदी के पहाड़ी मार्ग तथा गिरि-कन्दराओं से टक्कर लेती हुई उसकी

---

१. प्रस्तुत श्लोक के भावगत एवं शैलीगत सौन्दर्य की विशद विवेचना के लिए दे० भवभूति की एक विराट् कल्पना शीर्षक लेखक का स्वलिखित निबन्ध ("आस्था", पटना : १ : १, पृ० २२)।

२. अकिञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः ॥—उ० च० : ६ : ५।

३. उत्कर्षवान्गुणः कश्चिदुक्ते यस्मिन्प्रतीयते ।
तदुदाराश्रयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः ॥—काव्या : १ : ७६ ।

४. विकटत्वमुदारता ।
बन्धस्य विकटत्वं यदसावुदारता । यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदानीति जनस्य वर्णभावना भवति तद्विकटत्वम् । लीलायमानत्वमित्यर्थः ।—का० सू० : ३ : १ : २३ ।

५. एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयो
मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः क्षोणीभृतो दक्षिणाः ।
अन्योन्यप्रतिघातसङ्कुलचलत्कल्लोलकोलाहलै-
रुत्तालास्त इमे गभीरपयसः पुण्याः सरित्सङ्गमाः ॥—उ० च० : २ : ३०।

उत्ताल गति 'गद्गदनदद्गोदावरीवारयो' की झंकार से ही मूर्त हो जाती है। उसकी वेगवती लहरों में जो परस्पर संघर्षण हो रहा है, उसका ऊर्जस्वल नाद श्लोक के तीसरे चरण में प्रकट हुआ है।

भवभूति ने अपनी नाट्यकृति (मालतीमाधव) के लिए गुणभूयसी शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ गुण शब्द काव्यगुण के लिए ही आया है। अन्यत्र उदारता, प्रौढि आदि गुण या तो काव्य के विशिष्ट गुणों का निर्देश करते हैं या इनमें से प्रत्येक पर अलग-अलग बल दिया गया है। किन्तु यहाँ 'गुण' शब्द में काव्य के समस्त स्वीकृत गुणों का समाहार हो जाता है। गुण के स्वरूप का किञ्चित् उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में भी प्राप्त होता है। भरत गुण की कोई भावात्मक परिभाषा नहीं देते, प्रत्युत इसे दोष का विपर्यय मानते हैं।[१] 'विपर्यय' के अर्थ को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है और इसे तीन अर्थों में स्वीकार किया गया है—अभाव, अन्यथाभाव तथा वैपरीत्य। अभिनवगुप्त के अनुसार भरत दोष के अभाव को गुण मानते हैं। यों भरत ने अपनी गुणों की जो परिभाषाएँ दी हैं, उनसे स्पष्ट है कि उनके सभी गुण अभावात्मक नहीं माने जा सकते। वे लक्षण (काव्य-बन्ध) तथा अलंकारों की तरह गुण का भी साभिप्रायत्व वाचिक अभिनय को प्रभावशाली बनाने में समझते हैं। उनके अनुसार गुण के दस भेद होते हैं।[२] भरत के बाद दण्डी भी दस गुणों पर अपना विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हैं; किन्तु गुण का सामान्य लक्षण क्या हो, इस पर वे भी मौन रहते हैं। गुण का सुस्पष्ट भावात्मक विवेचन करनेवाले पहले आचार्य वामन हैं। वे काव्य के शोभापरक धर्म को गुण की संज्ञा देते हैं, अर्थात् शब्द एवं अर्थ के वे धर्म जो काव्य की शोभावृद्धि करते हैं, गुण कहे जाते हैं।[३] अलंकार से इनका यह भेद है कि ये अकेले ही काव्य की शोभा बढ़ा सकते हैं, किन्तु एकमात्र अलंकार काव्यशोभा की वृद्धि नहीं कर सकते। आगे चलकर ध्वनिकार गुणों की पृथक् सत्ता नहीं मानते और इन्हें रस के ही आश्रित बताते हैं।[४] अर्थात् इनके अनुसार गुण प्रधानभूत अंगी (रस) के आश्रित होते हैं। गुणों के सम्बन्ध में ध्वनिकार की इस स्थापना को आगे के प्रायः सभी आचार्य मान लेते हैं। इनमें आचार्य मम्मट ने गुण की सर्वाधिक विशद एवं स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है। वे मात्र तीन गुणों—प्रसाद, माधुर्य एवं ओज—को मानते हैं। उनकी दृष्टि में

---

१. एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः।
एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः॥—ना० शा० : १७ : ९५।

२. श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते॥
—वही : १७ : ९६।

३. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।
ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः॥—का० सू० : ३ : १ : १।

४. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः। —ध्व०, पृ० ७२६।

गुण शब्दार्थ-धर्म न होकर रसधर्म हैं[1] और वे तीन ही हैं, चूँकि रसास्वाद की प्रक्रिया में सामाजिकों के हृदय की तीन ही अवस्थाएँ—द्रुति, दीप्ति एवं प्रसन्नता—सम्भव होती हैं। माधुर्य नामक गुण का सम्बन्ध श्रृङ्गार आदि रसों के आस्वाद के क्रम में सहृदय-हृदय की द्रुति से है; ओज गुण रौद्र आदि रसों की चर्वणा में सामाजिक-हृदय की दीप्ति से सम्बद्ध है; प्रसाद नामक गुण की सत्ता सभी रसों के आस्वाद में प्राप्य है, चूँकि मन की प्रसन्नता का सम्बन्ध प्रत्येक रस की आस्वादनीयता के साथ है। चूँकि मम्मटकृत गुण-विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र का अपेक्षाकृत नवीनतम एवं समादृत सिद्धान्त है, अतः हम इसी के आधार पर भवभूति की नाट्यकृतियों के कतिपय सन्दर्भों पर विचार करेंगे।

भवभूति की तीनों नाट्यकृतियों—महावीरचरित, मालतीमाधव एवं उत्तररामचरित—में क्रमशः वीर, श्रृङ्गार एवं करुण रसों की प्रधान रूप से निष्पत्ति हुई है। यों अवान्तर रूप से रौद्र, बीभत्स एवं भयानक रस का भी अच्छा परिपाक हुआ है। चूँकि ओज आदि गुणों का अचल सम्बन्ध इन रसों से है, अतः जहाँ भी इन रसों की व्यंजना हुई है, वहाँ स्वभावतः ही ये गुण स्फुटित हुए हैं। ओज गुण का स्पष्ट लक्षण यह है कि उसके कारण पाठकों या सामाजिकों का हृदय प्रज्वलित-सा हो उठता है। वीर में तो इसकी स्थिति है ही; मम्मट के अनुसार, बीभत्स एवं रौद्र रसों में इसका क्रमशः आधिक्य होता जाता है। माधव एवं अघोरघण्ट क्रोधावेश में एक-दूसरे को लक्ष्य करके जिस प्रकार प्रहार करने की बात करते हैं, उसमें रौद्र रस के साथ ही ओज गुण का पूर्ण विकास हुआ है।[2] वीर, बीभत्स एवं रौद्र रसों से पूर्ण ऐसे कई दृष्टान्त भवभूति में ढूँढ़े जा सकते हैं, जो ओज के विकास की दृष्टि से भी महत्त्व रखते हैं। चूँकि भवभूति स्वभावतः ही गंभीर प्रकृति के हैं, अतः ऐसे स्थलों में उनका समग्र प्रकृतिगत गांभीर्य ओज के स्वाभाविक प्रवाह में फूट पड़ता है।

माधुर्य के कारण एक ऐसे आह्लाद की अनुभूति होती है जिससे सहृदय-हृदय पिघलता हुआ-सा प्रतीत होता है। द्रुति का अभिप्राय हृदय का पिघलना ही है और यह तब होता है जब संभोग श्रृङ्गार जैसे रस का आस्वाद करना पड़े। संभोग श्रृङ्गार से भी क्रमशः करुण, विप्रलम्भ एवं शान्त रसों में इस गुण का अधिकाधिक विकास होता जाता है। भवभूति का उत्तररामचरित तो करुण की निष्पत्ति की दृष्टि से समस्त संस्कृत साहित्य में बेजोड़ ही है। मालतीमाधव तथा उत्तररामचरित के कतिपय सन्दर्भों में श्रृङ्गार के संभोग एवं विप्रलम्भ पक्षों की समर्थ व्यंजना भी प्राप्त होती है। माधुर्य

---

१. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥—का० प्र० : ८ : ६६।

२. कठोरास्थिग्रन्थिव्यतिकरघणात्कारमुखरः
खरस्नायुच्छेदक्षणविहितवेगव्युपरमः।
निरातङ्कः पङ्केष्विव पिशितखण्डेषु निपत—
त्वसिर्गात्रं गात्रं सपदि लवशस्ते विकिरतु॥—मा० मा० : ५ : ३४।

गुण से पूर्ण संभोग शृङ्गार के उत्तम निदर्शन के रूप में उत्तररामचरित का एक श्लोक यहाँ उद्धृत है।[१] इस सम्पूर्ण श्लोक में टवर्ग से युक्त कोई पद नहीं, स्पर्शवर्णों के संयोग से कोमल पदों के प्रयोग हुए हैं, कुछ स्पर्शवर्ण अपने अन्त्य वर्ण के साथ संयुक्त हैं, यथा—**मन्दं मन्दम् एवं परिरम्भ**,। साहित्यशास्त्री की दृष्टि में ये सभी माधुर्य-व्यंजक वर्ण होते हैं।[२]

प्रसादगुण को दिखाने के लिए अलग से उद्धरण देने की आवश्यकता नहीं। आचार्य मम्मट के अनुसार यह गुण सभी रसों में पाया जाता है; इससे सामाजिकों का हृदय इस प्रकार भर उठता है जिस प्रकार अग्नि के द्वारा सूखा इंधन अथवा जल के द्वारा साफ कपड़ा।[३] वे सभी सुकुमार या विकट शब्द जिनके श्रवण मात्र से अर्थ की प्रतीति हो जाय, प्रसाद के अभिव्यंजक माने जाते हैं।[४] भवभूति में प्रसाद गुण का अभाव तो नहीं दीखता; हाँ, जहाँ उनकी भाषा पर क्लिष्टता आरोपित-सी प्रतीत होती है, वहाँ निश्चित रूप से इस गुण का अभाव हो गया है। किसी उच्च नाट्यकृति के लिए भाव, संवाद आदि तत्त्वों की सफाई अपेक्षित है, चूँकि सामाजिकों को ऐसी कृतियों में ठहरकर सोचने का अवकाश नहीं मिलना चाहिये। ऐसा होने पर नाटकीय गति रुद्ध हो जाती है और पूर्ववर्ती भावों के साथ अनुवर्ती भावों की संगति जोड़ने में कठिनाई हो जाती है। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव नाट्यगत रस पर पड़ता है जो दर्शकों के आस्वाद से वंचित-सा हो जाता है। इसीलिए प्रबन्ध काव्यों में प्रसाद गुण का अभाव भी हो, तो वहाँ काम चल जाता है, चूँकि वहाँ पाठकों को अर्थ-तत्त्व तक पहुँचने तथा उस पर चिन्तन-मनन करने के लिए पर्याप्त अवकाश मिलता है। भवभूति ने भी अपने जिस नाटक में प्रसाद के इस महत्त्व को सबसे अधिक समझा है, वह है उत्तररामचरित जो उनकी अन्तिम नाट्यकृति होने से उनकी विचार-शैली एवं भाषा-शैली का सर्वाधिक परिष्कृत रूप प्रस्तुत करता है। अन्य दो नाटकों में प्रसाद का पुट अपेक्षाकृत कम है। ऊपर माधुर्य गुण से सम्पन्न भवभूति के जिस श्लोक को उद्धृत किया गया है, वह प्रसाद गुण का भी एक उत्तम निदर्शन है।

महावीरचरित की प्रस्तावना में कवि अपनी भारती के विशेषण के रूप में **प्रसन्न-कर्कश** तथा विपुलार्थ का प्रयोग करता है। भाषा या शैली के विशेषण के रूप में प्रयुक्त 'प्रसन्न' का अभिप्राय प्रसादगुणपूर्ण होना ही है। प्रसन्न जल तथा प्रसन्न भाषा

---

१. **किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा—**
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो—
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्॥—उ० च० : १ : २७।

२. का० प्र० : ८ : ७४।

३. **शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।**
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥—का० प्र० : ८ : ७०।

४. वही : ८ : ७६।

दोनों का एक ही रूप होता है। जल की प्रसन्नता उसकी निर्मलता की बोधक है; जिस जल की सतह से गुजरती हुई हमारी दृष्टि बिना किसी बाधा के उसकी तलवर्ती वस्तुओं का साक्षात्कार कर ले, वही 'प्रसन्न' कहा जायगा। जब भाषा का बहिरंग उतना ही साफ हो जितना उसका अन्तरंग, तो वह भी प्रसन्न हो उठती है। भाषा की प्रसन्नता दो बातों की ओर स्पष्ट इंगित करती है—(१) लेखक के भावों में कोई उलझन नहीं है, अर्थात् उसके विचार सुलझे हुए हैं और (२) उसके भावों और विचारों की अभिव्यक्ति में भी कहीं कोई ग्रन्थि नहीं, व्यवस्थित विचारों के अनुरूप ही उसका प्रत्येक पद एक स्वाभाविक पद्धति में बँधा हुआ है। किसी कवि या लेखक के व्यक्तित्व के ये दोनों ही पक्ष महनीय हैं, क्योंकि पहले से जहाँ उसके वैचारिक जीवन की उदात्तता टपकती है, दूसरे से उसकी शैलीगत गरिमा का संगीत फूटता है। किसी कृती साहित्यकार में इन दोनों का समन्वय तभी दीखता है जब उसके भाव एवं भाषा दोनों ही श्रीसम्पन्न हों। भवभूति ऐसे ही कवि हैं जिनके विचार उतने ही धनी हैं जितनी उनकी भाषा। ऐसी स्थिति में उनकी भारती का प्रसन्न होना सहज स्वाभाविक है। उनके इस गुण का विवेचन 'प्रसाद' के अन्तर्गत ऊपर किया जा चुका है। किन्तु हमें आश्चर्य तभी होता है जब भाषा एवं विचार की प्रसन्नताविधायिनी शक्तियों से समन्वित होने पर भी वे कभी-कभी अपनी शैली में जटिलता को प्रश्रय देने लगते हैं। ऐसे सन्दर्भों में भी उनकी शैली ही क्लिष्ट दीखती है, उनके विचारों में कोई पेच नजर नहीं आता। इस शैली का मनोविज्ञान यही सिद्ध करता है कि भवभूति साहित्य सम्बन्धी युगीन प्रवृत्तियों से प्रभावित थे। बाणभट्ट उनके समय से कुछ ही पहले गद्य में 'ओजःसमासभूयस्त्व' की स्थापना कर चुके थे और किरातार्जुनीयम् के यशस्वी कवि भारवि भी अपनी काव्य शैली को कालिदासीय पद्धति से मोड़कर आलंकारिक किंवा शास्त्रीय गरिमा प्रदान कर चुके थे। फलतः भवभूति भी अपने को समसामयिक साहित्य के ऐसे प्रभावों से बचा नहीं पाये। उनकी नाटकीय शैली का सबसे निर्बल पक्ष यही है; वे अपने पहले दो नाटकों में कहीं-कहीं इस मौलिक सत्य को भूलते हुए-से प्रतीत होते हैं कि वे नाटक लिख रहे हैं, काव्य नहीं। मालतीमाधव के कतिपय गद्यात्मक कथोपकथन उनके इस साहित्यिक भ्रम के ज्वलन्त निदर्शन हैं। यहाँ उसका एक छोटा-सा निदर्शन पर्याप्त होगा।[1] इसमें 'नृत्यन्तीव पदानि' की प्रतीति होने से उदारता नामक गुण भले हो, किन्तु यह तथा इससे भी दुरूह तथा लम्बे समासों से भरे हुए संवाद प्रसन्न कभी नहीं कहे जा सकते। विशेषतः इस प्रकरण में भवभूति ने कहीं-कहीं जिन विकट प्राकृत संवादों की अवतारणा की है, अर्थ तो दूर रहे, उनके एक-एक

---

१. माधवः—अथ ताः सलीलमुत्तालकरकमलनालिकातरलवलयावलीकमुत्रस्तकलहंसविभ्रमाभिरामचरणसञ्चरणरणरणायमानमञ्जुमञ्जीररणितानुविद्धमेखलाकलापकलकिङ्किणीरणत्कारमुखरं प्रतिनिवृत्य "भर्तृदारिके, दिष्ट्या वर्धामहे। यदत्रैव कोऽपि कस्या अपि वल्लभस्तिष्ठति" इति मामङ्गुलीदलविलासेनाख्यातवत्यः।

—मा० मा०, पृ० २८।

वाक्य को किसी भी तरह एक साँस में नहीं बोला जा सकता। ये संवाद शोध के एक स्वतन्त्र विषय हैं, उनका कोई भी मंचीय औचित्य नहीं ठहरता। प्रसन्नता इसी बात से होती है कि आगे चलकर भवभूति अपनी नाटकीय शैली के इस दोष को पहचान लेते हैं, फलतः उत्तररामचरित में ऐसे विकट संवाद या ऐसी विकट भाषा प्रायः नहीं के बराबर है।

महावीरचरित के विद्वान् टीकाकार वीरराघव भारती के विशेषण रूप में प्रयुक्त **कर्कशा** का अर्थ **प्रौढा** लगाते हैं।[1] हमारी समझ में यहाँ प्रौढा शब्द कवि के अभीष्ट अभिप्राय को पूर्णतः व्यक्त नहीं कर पाता। प्रौढित्व तो शैली का एक सामान्य गुण है जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। किन्तु यहाँ 'कर्कशा' का प्रयोग शैली के एक विशिष्ट रूप के लिए किया गया प्रतीत होता है। कर्कश का एक अर्थ **कठोर** भी होता है, इस अर्थ में यह मधुर या कोमल का विपर्यय प्रस्तुत करता है। यहाँ कर्कशा का प्रयोग बहुत कुछ इसी अर्थ में है। कठोरबन्धता वस्तुतः ओजोगुणविशिष्ट काव्य का एक आवश्यक तत्त्व होती है। महावीरचरित का अंगी रस वीर है, अतः इस रस की सृष्टि में कवि ने कर्कश (अकोमल) पदों का बहुलता से प्रयोग किया है ताकि उनसे ओज की समर्थ निष्पत्ति हो सके। अतः **कर्कशा** को **ओजोगुणभूयिष्ठा** के अर्थ में लेना ही उपयुक्त लगता है। ओज का विवेचन ऊपर किया ही जा चुका है।

अपनी भाषा के वैशिष्ट्य को प्रकट करने के लिए भवभूति ने जिन शब्दों के प्रयोग किये हैं, उनमें अब केवल दो ही बच गये—**विपुलार्थ** तथा **अर्थगौरव**। चूँकि अर्थगौरव का एक विशिष्ट तत्त्व विपुलार्थ होता है, अतः इन दोनों पर एक साथ विचार करना ही समीचीन है। भवभूति की दृष्टि में प्रौढित्व, उदारता तथा अर्थगौरव ये तीन गुण ही पाण्डित्य तथा विदग्धता की कसौटी होते हैं। ज्ञातव्य है कि यहाँ कवि ने पाण्डित्य तथा वैदग्ध्य शब्द का एक साथ प्रयोग साभिप्राय किया है। पाण्डित्य शब्द जहाँ मुख्यतः बौद्धिक उत्कर्ष का वाची है, वहाँ वैदग्ध्य में प्रधान रूप से हार्दिक उत्कर्ष निहित है। बुद्धि से हम विचार करते हैं और हृदय से रसबोध करते हैं। भवभूति की दृष्टि में इन दोनों पक्षों के सम्यक् सन्तुलन से ही किसी श्रेष्ठ काव्यकृति का जन्म होता है। पाण्डित्य-प्रदर्शन मात्र की ही बात होती तो वेद, उपनिषद्, सांख्य, योग आदि का ज्ञान भी समाविष्ट कर दिया जाता। किन्तु नाटक तो सहृदयों के आह्लाद के लिए लिखा जाता है, अतः उसके पाण्डित्य को वैदग्ध्य के सख्यभाव में चलना पड़ जाता है। इस सख्यभाव के निर्वाह के लिए उक्त तीन काव्यगुणों का समाहार अपेक्षित है, चूँकि इन गुणों में पाण्डित्य एवं वैदग्ध्य दोनों का सन्तुलन बना रहता है। सन्तुलन की यही स्थिति किसी नाट्यकृति की श्रेष्ठता के लिए काम्य होती है।

---

१. म० च०, पृ० ७।

अर्थगौरव में अनेकार्थ-प्रतिपादन की क्षमता, विपुलार्थता, अर्थगाम्भीर्य आदि गुण सन्निविष्ट माने जाते हैं। हमारी सम्मति में यहाँ 'गौरव' शब्द को मात्र 'विपुल' या 'गम्भीर' के अर्थ में लेना उसके वास्तविक अभिप्राय को सीमित कर देना है। सामान्यतः जब कोई कवि कम से कम शब्दों का प्रयोग करके अधिक से अधिक अर्थों की निष्पत्ति करने में समर्थ होता है, तो उसका काव्य अर्थगौरव से पूर्ण माना जाता है। विपुलार्थ की ऐसी शक्ति 'श्लेष' के द्वारा भी उत्पन्न की जाती है, किन्तु हमारी समझ से श्लेष प्रायः अर्थगौरव का कृत्रिम पहलू प्रकट करता है। अर्थगौरव काव्य का एक उदात्त गुण है और इसे इसी सन्दर्भ में समझने की अपेक्षा है। अनेकार्थ या विपुलार्थ होना अर्थगौरव का सूचक अवश्य है, किन्तु वही उसकी इयत्ता नहीं है। अर्थगत विपुलता अच्छी भी हो सकती है और बुरी भी, स्वाभाविक भी हो सकती है और कृत्रिम भी। अतः अर्थगौरव की वास्तविक स्थिति वहीं मानी जायगी जहाँ शब्दों की संक्षिप्ति या अल्पता तो हो ही, किन्तु उस अल्पता से जो अर्थ की विस्तृति फूटे, उसमें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' इन तीनों का आवश्यक पुट वर्तमान रहे। संक्षेप में, अल्प शब्दों द्वारा उदात्त अर्थ की शोभन विस्तृति का नाम ही अर्थगौरव है। भवभूति की विदग्धता, पाण्डित्य एवं आदर्शवाद तीनों मिलकर उनके अर्थगौरव की सृष्टि करते हैं—वस्तुतः ये ही तीन उसके विधायक तत्त्व भी हैं। चाहे प्रेम का क्षेत्र हो या वीरता का, भवभूति वहाँ एक विशिष्ट आदर्श लेकर उपस्थित होते हैं। उनके विचारों का उदात्त पक्ष उनकी समर्थ भाषा में निहित विपुलार्थ के औदात्त्य को मूर्त कर देता है। अर्थगौरव की इसी शक्ति से समन्वित भवभूति का एक छोटा-सा श्लोक द्रष्टव्य है।[1] इसमें चुने हुए कुछ ही शब्द प्रयुक्त हैं, किन्तु वे एक दिव्य तथा उदात्त अर्थ का पूर्ण विस्तार लिए हुए आते हैं। ऐसी बहुत सारी पंक्तियाँ भवभूति में खोजी जा सकती हैं।

भवभूति ने अपने वश्यवाक् होने की बात एक बार महावीरचरित में तथा दूसरी बार उत्तररामचरित में कही है। उत्तररामचरित के भरतवाक्य में वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपने को परिणतप्रज्ञ या प्राज्ञ भी कहते हैं। इनमें से पहला विशेषण यदि उनके भाषा पर असामान्य अधिकार का सूचक है, तो दूसरा उनकी बौद्धिक गरिमा को व्यक्त करता है। ऊपर हम उनकी भाषा एवं शैली के जिन पक्षों की मीमांसा कर चुके हैं, उनसे स्पष्ट है कि संस्कृत भारती पर उनका निश्चय ही असाधारण प्रभुत्व है। चाहे भाव कोमल हों या उद्धत, भवभूति की वाणी में वे सहज स्वाभाविक ढंग से व्यक्त होते हुए प्रतीत होते हैं। भावों की निष्पत्ति करने में उनकी वाणी को आयास नहीं करना पड़ता। जहाँ उनकी शैली क्लिष्ट भी दीखती है, वहाँ भी प्रायः भाषा का प्रवाह कृत्रिम नहीं दीखता। कहीं-कहीं उनकी शैली की क्लिष्टता ही अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होती है, चूँकि भावों की जटिलता या उग्रता के अनुपात में वहाँ प्रसाद गुण

---

१. अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति बध्यते॥ —उ० च० : ३ : १७।

अव्यवहार्य एवं कृत्रिम जान पड़ता है। चामुण्डा के विकट ताण्डव के वर्णन में कवि ने जिस निविड समासशैली का परिचय दिया है, उसे किसी भी प्रकार अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। भावों के अनुरूप भाषा प्रदान करने में भवभूति अद्वितीय कलाकार हैं। कहीं-कहीं एक ही श्लोक में दो भिन्न स्वर—एक कोमल तथा दूसरा अपेक्षाकृत उग्र—सुनाई पड़ते हैं, चूँकि भावों के रूप या स्तर में भी वैसा ही अन्तर आ गया है।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को न तो भाव खोजने पड़ते हैं और न भावों को उचित साँचे में ढालने के लिए रूप या शब्द ही ढूँढ़ने पड़ते हैं। महावीरचरित से लेकर उत्तररामचरित तक जीवन की विविध परिस्थितियों के निरूपण में उसे प्रायः भाव या भाषा किसी पर सन्तुलन खोते हुए नहीं देखा जाता। वह न तो अपने आदर्शों से कहीं भटकता है, और न जीवन के हल्के क्षणों में भी अपनी भावात्मक गम्भीरता का त्याग करता है। विशेषतः उत्तररामचरित में जितने अंशों में उसकी प्रज्ञा परिणत दीखती है, उतने ही अंशों में उसकी भाषा भी परिपक्व तथा मँजी हुई दृष्टिगत होती है।

अपने नाटकों के प्रणयन में कवि की भावगत जागरूकता का पता हमें वहाँ लगता है, जहाँ वह अपने वेद, उपनिषद्, सांख्य तथा योग सम्बन्धी ज्ञान को अपनी नाट्यसृष्टि के लिए अनुपयोगी मानता है।[२] उसे अपने क्षेत्र का स्पष्ट पता है—उसमें क्या छोड़ना है तथा क्या ग्रहण करना है, उसकी उसे सही जानकारी है। वह दार्शनिक जगत् का प्रथम श्रेणी का पण्डित है, किन्तु अपने नाटकों को लिखने के पूर्व ही वह अपने इस पाण्डित्य के चोगे को उतार फेंकता है और एक विशुद्ध साहित्यकार के रूप में अपनी रचना में प्रवृत्त होता है। उसका यह रूपपरिवर्तन उसकी विशुद्ध कलाबुद्धि तथा अपने लक्ष्य के सन्धान में उसकी सजग तत्परता का परिचायक है। ऐसा नहीं कि अपने नाटकों के भावाविष्ट क्षणों में वह कहीं दार्शनिक के रूप में दीखता ही नहीं। वस्तुतः उसकी कृतियों में ऐसे कई स्थल आते हैं जहाँ उसका दार्शनिक स्वर उभर आता है। किन्तु बारीकी यही है कि ऐसे स्थलों में भी उसने अपने पाण्डित्य को नाटकीय भावधारा के अन्तर्गत पचा लिया है या उसका अंगभूत बना लिया है। जनक, वसिष्ठ, विश्वामित्र, अरुन्धती, राम, यहाँ तक कि लव एवं कुश की भाषा पर उसके दार्शनिक ज्ञान की स्पष्ट छाप है, किन्तु यह ज्ञान इन पात्रों के नाटकीय व्यक्तित्व का साधक होकर आया है, बाधक होकर नहीं। न तो अपने ज्ञान को नाटकीय परिवेश में आरोपित कर देने के लिए उसका कहीं उतावलापन दीखता है, और न इसके लिए उसका कोई मोह ही है। अपनी कला के मूल्यों को उनकी पूरी परिणति तक सम्प्रेषित करने के लिए उसने कलाकार-सुलभ धैर्य, संयम तथा समन्वयवादी दृष्टि से काम लिया है और इस प्रक्रिया में उसका कहीं भी स्खलन नजर नहीं आता।

---

१. उ० च० : ५ : ३।

२. मा० मा० : १ : ७।

ऊपर भवभूति को उन्हीं के द्वारा उत्थापित मूल्यों के प्रकाश में देखने की चेष्टा की गयी है। अब हम यहाँ उन्हें दूसरी दृष्टियों से भी देखना चाहेंगे। भवभूति एक **नाटककार** हैं। इस सन्दर्भ में उनकी भाषा या शैली की पहली शर्त यही होनी चाहिये कि वह **रंगमंच के उपयुक्त** हो तथा भावों के सम्प्रेषण में उसकी गतिशीलता सर्वदा बनी रहे। भवभूति इस कसौटी पर सर्वत्र खरे नहीं उतरते। उनके आरम्भिक दोनों नाटकों में ऐसे कई स्थल आते हैं, जहाँ उनका कवि उनके नाटककार पर हावी हो जाता है। उनकी इस कमी का किंचित् निर्देश ऊपर किया भी गया है। उत्तररामचरित में भी कहीं-कहीं उनकी शैली का यह रंग झलक ही जाता है, किन्तु उसका सर्वाधिक प्रभाव-क्षेत्र मालतीमाधव रहा है। यदि मात्र नाटकीय प्रभावान्विति की दृष्टि से विचार करें तो महावीरचरित की शैली मालतीमाधव की अपेक्षा अधिक मंचोपयुक्त है। किन्तु यह भी सही है कि यदि मालतीमाधव के कुछ स्थलों को छाँटकर विचार करें तो उसकी भाषा और शैली महावीरचरित से कहीं अधिक प्रभावोत्पादक तथा नाटकीय है। संक्षेप में, महावीरचरित की जो शैलीगत अच्छाइयाँ या बुराइयाँ हैं, वे दोनों ही मालतीमाधव में तीव्रतर होकर प्रकट हुई हैं। उत्तररामचरित में आकर कवि में प्रायः भाषागत उत्कर्ष ही दीखता है; यहाँ उसने अपने शैलीगत दुराग्रह को भावात्मक आग्रह में परिणत कर दिया है। इसमें न केवल उसने अपने भावों को नई सशक्त भूमिका में खड़ा कर दिया है, वरन् अपनी भाषा को भी एक अभिनव नाटकीय मर्यादा प्रदान की है।

भवभूति की शैली की एक अन्य विशेषता है उसका **भावुकता प्रधान होना**। प्रायः उनपर यह आरोप लगाया जाता है कि वे भावुकता को अतिशय बढ़ावा देकर किसी मानसिक स्थिति को बड़ी दूरी तक खींचे लिए जाते हैं, जब कि ऐसे क्षणों में उन्हें नाट्योचित संयम का निर्वाह करना चाहिए था। इसी संदर्भ में कालिदास की नाटकीय शैली का स्मरण किया जाता है जो भावों की विस्तृति के लिए नहीं, व्यंजना के लिए प्रसिद्ध है। जिसे भवभूति अभिधा में कह देते हैं, उसे कालिदास व्यंजित मात्र करते हैं[1]; फलतः कालिदास अपने पाठकों की कल्पना के लिए बहुत कुछ छोड़ जाते हैं जब कि भवभूति स्वयं ही सारी बातें कहकर अपने पाठकों या दर्शकों के लिए कुछ नहीं छोड़ते। भवभूति एवं कालिदास के शैलीगत वैशिष्ट्यों के सुधी परीक्षक डा० भाण्डारकर जैसे विद्वानों की ऐसी स्थापनाओं से हम असहमत हों, ऐसी बात नहीं। वस्तुतः प्रत्येक कवि एवं कलाकार की अपनी-अपनी पद्धतियाँ होती हैं; उनके कला-

---

१. Kālidāsa, as prof. Wilson remarks, has more fancy. He is a greater artist than Bhavabhūti. The former suggests or indicates the sentiment which the latter expresses in forcible language. The characters of the latter, overcome by the force of passion, often weep bitterly, while those of the former simply shed a few tears, if they do so at all.—भा० मा० मा०, प्राक्कथन, पृ० १२।

व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य इसी में होता है कि वे अपने दूसरे समानधर्मा कवियों या कलाकारों से कितना भिन्न या पृथक् दीखते हैं। कालिदास एवं भवभूतियों की पद्धतियों में जो भेद हैं, वे जितना एक के उत्कर्ष या दूसरे के अपकर्ष के बोधक नहीं, उतना उनकी कलागत गरिमा एवं वैशिष्ट्य के पोषक हैं। कालिदास की व्यंजना अपने क्षेत्र में उतनी ही उदात्त दीखती है जितनी भवभूति की अभिधा या भावविस्तृति। शकुन्तला की विदाई के क्षणों में तपोवन के वंधे हुए अश्रुकण यदि प्रीतिकर हैं तो पंचवटी में राम और सीता के प्रगाढ़ भावोद्गार तथा झरते हुए अश्रुविन्दु उससे कम मोहक नहीं लगते। अभिव्यक्ति की इन दोनों ही विधाओं में हमारे हृदय को पिघलाने की क्षमता है। इन विधाओं की परस्पर भिन्नता का एक कारण तो जीवन एवं कला के प्रति इन दोनों कवियों का दृष्टिभेद है, किन्तु उसका इससे भी प्रमुख हेतु उनके पात्रों की अलग-अलग परिस्थितियाँ तथा व्यक्तित्वभेद की मूलतः भिन्न अवस्थाएँ हैं। न तो दुष्यन्त अपने चरित्र के महनीय उत्कर्ष में भी राम-चरित्र की महिमा पा सके हैं और न प्रत्यादिष्टा शकुन्तला की वेदनाएँ निर्वासिता सीता की घनीभूत पीड़ाओं की तीव्रता एवं आर्द्रता तक पहुँच सकी हैं। भवभूति का स्पष्ट उद्देश्य है अपने इन पात्रों की पीड़ाओं तथा आँसुओं को अधिक से अधिक खोलना ताकि उनके मन के वर्षों के भारीपन को मिटाया जा सके तथा मिलन का मनोवैज्ञानिक मार्ग निकाला जा सके।[1] कालिदास स्पष्टतः ऐसा कोई उद्देश्य लेकर नहीं चले हैं। वे केवल दुष्यन्त की वेदनाओं की सचाई का परीक्षण सानुमती की अदृश्य उपस्थिति के द्वारा करा लेना तथा उसकी सूचना दुखिनी शकुन्तला तक पहुँचवा देना ही पर्याप्त समझते हैं। उनका उद्देश्य इतना भर से ही पूरा हो जाता है। किन्तु उत्तररामचरित की परिस्थितियाँ इससे सर्वथा भिन्न हैं। यहाँ राम दुष्यन्त की तरह किसी शाप के प्रभाव में आकर सीता का परित्याग नहीं करते; प्रत्युत जान-बूझकर अपने राजधर्म को निभाने के लिए ऐसा करते हैं। फलतः शाप के टल जाने पर दुष्यन्त की वेदना के औचित्य से शकुन्तला के मन को जितनी शीघ्रता से प्रभावित किया जा सकता है, उतना शीघ्र राम की किसी वेदना की सचाई सीता के मन पर प्रकट नहीं की जा सकती। अतः, इस परिप्रेक्ष्य में, दुष्यन्त और शकुन्तला को बिना अधिक रुलाये या उनकी पीड़ाओं को बिना अधिक विस्तार दिये ही कालिदास का काम चल जाता है; किन्तु राम की पीड़ाओं के सूक्ष्म बिन्दुओं को सीता का अपने अपमान के प्रति अत्यन्त जागरूक मन तब तक प्रत्यक्ष नहीं कर सकता जब तक उनका आवर्धन करके उन्हें पूरा-पूरा फैला नहीं दिया जाता। भवभूति ने अपनी नाट्यकृति में इसी कलात्मक एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकता की पूर्ति की है। अतः यहाँ राम एवं सीता के आँसुओं की अतिशयता से दुष्यन्त एवं शकुन्तला जैसे पात्रों के आँसुओं की अल्पता की तुलना नहीं की जानी चाहिए।

---

१. **पूरोत्पीडे तडाकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।**
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते॥—उ० च० : ३ : २९।

और ऐसा भी तो नहीं है कि भवभूति सर्वत्र ही अपनी तथाकथित 'विस्तारवादी' भावुकता का परिचय देते हैं। उत्तररामचरित के तृतीय अंक को छोड़कर देखें तो शायद ही उनके पात्र कहीं भावुकता की सीमा का अतिक्रमण करते हैं। उत्तररामचरित के प्रथम अंक में चित्रदर्शन-प्रसंग को ही लीजिए। राम और सीता अपने अतीत वृत्तों को जिन शब्दों में स्मरण करते हैं, वे न केवल कम से कम हैं, वरन् नाटकीय प्रभावान्विति की दृष्टि से वे अधिक से अधिक प्रतीत होते हैं। जिन आलोचकों को भवभूति की अभिधा तथा भाव-विस्तार से चिढ़ है, वे इस प्रसंग पर ध्यान दें। ऐसा नहीं कि भवभूति की भावुकता के लिए यहाँ अवकाश नहीं है; वस्तुतः उन्होंने यहाँ अपने पात्रों के जिस अतिशय उर्वर भाव-क्षेत्र का स्पर्श किया है, वह एक बृहत् काव्य का रूप ले सकता है। किन्तु भवभूति का नाटकीय संयम उसकी कलात्मक इंगिति करना ही पर्याप्त समझता है। अतः सामान्य रूप से भवभूति अपने भावों के अधिक विस्तार में वहीं जाते हुए दीखते हैं जहाँ कलात्मक प्रयोजन से ऐसा करना आवश्यक प्रतीत होता है। हाँ, मालतीमाधव के नवम अंक में माधव अपने विरह को अभिव्यक्ति देता हुआ जिस विस्तार में चला जाता है, वह निश्चय ही अनाटकीय है। किन्तु कालिदास ने अपने विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में पुरूरवा के विरहोद्गारों को जो विस्तार दिया है, वह भी इससे कम अनाटकीय नहीं कहा जा सकता। कमियाँ दोनों में हैं, किन्तु वे इतनी कम हैं कि उनपर अधिक बल देने की आवश्यकता नहीं।

भवभूति की शैली की एक अन्य विशेषता उनके शब्दों की सटीकता तथा अनुपम नादसौन्दर्य है। उनकी प्रकृति के अध्ययन के क्रम में हम उनकी इन विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट कर चुके हैं। यहाँ एक दृष्टान्त लेना पर्याप्त होगा। महावीरचरित के जिन दो श्लोकों[1] में प्रकृति-रूपों की उदात्त सुषमा प्रस्तुत की गयी है, उसका विचार हम कर आये हैं। भावगत सौन्दर्य के पूर्णतया सामञ्जस्य में उनके शैलीगत सौन्दर्य की छटा भी दर्शनीय है। प्रथम श्लोक में प्रकृति-जीवन के जिन दुर्धर्ष चित्रों को सन्निविष्ट किया गया है, उन्हें ठीक उनके अनुरूप भाषा प्रदान की गयी है। **'मेघ के गर्जन से जब दिशाएँ फट रही थीं'** इस अभिप्राय को कवि ने **गर्जाजर्जरितासु दिक्षु** जैसी समर्थ शब्दावली में प्रकट किया है—यहाँ 'गर्जा', 'जर्जरित' एवं 'दिक्' कोई भी ऐसा पद नहीं जिसके बदले कोई दूसरा पद रखा जा सके और ठीक वैसे ही नाद एवं अर्थ की व्यंजना की जा सके। उसी प्रकार वज्रनिर्घोष के लिए **स्फूर्जथुस्फूर्जित**, आँधी के लिए दुष्प्रभंजन, मेघ के लिए **अभ्र**, नेत्र के लिए **चक्षु**, रात्रि के लिए **क्षपा**, व्यतियापिता के लिए **क्षपिता**, वर्षत् के लिए **क्षरत्** तथा वंश (बाँस) के लिए **त्वक्सार** जैसे पदों का प्रयोग न केवल प्रकृति के गम्भीर रूप की सर्जना में ऐकान्तिक रूप से समर्थ है, प्रत्युत इनका नाद-सौन्दर्य भी दर्शनीय है। प्रथम श्लोक के पहले पाद में चूँकि

---

१. म० च० : ७ : ११, १२।

सघन वृक्षों की शीतल छाया अभीष्ट है, अतः यहाँ मिलत्, तमाल, तुषार आदि कोमल पद प्रयुक्त हुए हैं; किन्तु उसीके दूसरे पाद में मलयाचल के ऊँचे शिखर से दूर नीचे गिरते तथा उछलते-कूदते निर्झर के वेग को व्यक्त करने के लिए **उन्मूर्च्छत्**, **प्राग्भारनिष्पतित** आदि समर्थ शब्दों की अवतारण की गयी है। शब्दों के नाद मात्र से तद्‌गत अर्थों को व्यंजित करने में जैसी कुशलता भवभूति की दीखती है, वैसी संस्कृत के कदाचित् किसी दूसरे कवि की नहीं है।

भवभूति की भाषा या शैली के विशिष्ट गुणों का परीक्षण कर लेने के बाद अब हम, इसी प्रसंग में, नाटकीय कार्य व्यापार के एक अत्यन्त आवश्यक तत्त्व **वृत्ति** पर भी संक्षेप में विचार कर लेना चाहते हैं। वृत्ति चाहे कायिक हो या मानसिक क्रिया की बोधक हो, उसकी अभिव्यक्ति में वाणी या भाषा का बहुत बड़ा योगदान रहता है। इसीलिए हमने नाटकीय भाषा और शैली के अध्ययन के क्रम में ही उसपर विचार करना उपयुक्त समझा है। वृत्ति का तात्पर्य **नायक का वह व्यापारात्मक स्वभाव है जो उसे किसी विशिष्ट दिशा की ओर प्रवृत्त करता है।**[1] यह नाटकीय शैली का वह प्रकार विशेष है जिसका सम्बन्ध नाटक आदि की भाषा एवं अभिनय दोनों से है, चूँकि 'व्यापार' शब्द में वाचिक, कायिक, मानसिक आदि सब प्रकार की गतिविधियों का समाहार हो जाता है। वृत्ति को **नाट्य की माता** भी कहा गया है और इसके चार प्रकार माने गये हैं—**भारती, सात्त्वती, कैशिकी** तथा **आरभटी**।[2] व्यापार नाट्य का प्राणतत्त्व होता है और इसकी उत्पत्ति वृत्तियों के बिना सम्भव नहीं; अतः जिस प्रकार सन्तति को उत्पन्न करने में किसी मा का महत्त्व होता है, उसी प्रकार नाट्य-व्यापार के प्रजनन में वृत्तियों का। इसी अर्थ में वे **'नाट्यमातरः'** कही गई हैं। वृत्तियों के द्वारा जिन व्यापारों की सृष्टि होती है, वे निरुद्देश्य नहीं होते; पुरुषार्थ की साधकता ही उनका वास्तविक लक्ष्य होता है। वस्तुतः, जैसा कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र सिद्ध करते हैं, नाटक का एक व्यापार उसके किसी दूसरे व्यापार से सर्वथा विच्छिन्न होकर नहीं चल सकता।[3] मानसिक, वाचिक एवं कायिक इन त्रिविध व्यापारों के समन्वय से ही नाटकीय कार्यव्यापार सम्भव हो पाता है। किन्तु वृत्तियों के जो चतुर्भेद किये गये हैं, वे किसी व्यापार के स्वभावगत वैशिष्ट्य की विवक्षा से ही। अर्थात् जहाँ अन्य प्रकार के व्यापारों से कायिक व्यापार की विशिष्टता दीखती है, वहाँ कैशिकी या आरभटी, मानसिक व्यापार की प्रमुखता होने पर सात्त्वती तथा वाचिक व्यापार के सर्वोपरि होने पर भारती वृत्ति मानी जाती है।

---

१. **प्रवृत्तिरूपो नेतृव्यापारस्वभावो वृत्तिः...** —धनिक (द० रू० : २ : ४७)।

२. **भारती सात्त्वती कैशिक्यारभटी च वृत्तयः।**
रसभावाभिनयगाश्चतस्रो नाट्यमातरः॥ —ना० द० : ३ : १।

३. **न नाम प्रबन्धेषु व्यापारान्तरासंवलितः कोऽप्येकाकी कायिको वाचिको मानसो वा व्यापारो लक्ष्यते।**—वही : ३ : १ (वृत्ति)।

आचार्य भरत ने विविध वृत्तियों को मधु-कैटभ नामक दैत्य के साथ युद्ध में संलग्न नारायण विष्णु की विविध चेष्टाओं से उत्पन्न बताया है। इस प्रकार भारती विष्णु के पद-संचालन से पृथ्वी पर पड़े भार से उत्पन्न हुई; उनकी ओजस्विनी तथा वीररसोचित चेष्टाओं से सात्त्वती का जन्म हुआ; उन्होंने ललित लीला तथा विचित्र आंगिक अभिनय के साथ अपनी शिखा बाँधी, उससे कैशिकी का उद्भव हुआ तथा उनके आवेगयुक्त अनेक प्रकार की युद्ध-चेष्टाओं से आरभटी उत्पन्न हुई।[1] वास्तव में इस पौराणिक कथा का प्रतीकात्मक महत्त्व है। इससे इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि वृत्तियों के आश्रय नायक आदि के विविध व्यापार होते हैं। विष्णु यहाँ नट के प्रतीक हैं और उनकी विविध चेष्टाएँ नाट्यव्यापारों की विशिष्ट प्रकृतियों की सूचक हैं। भरत वृत्तियों का सम्बन्ध चारो वेदों से भी दिखाते हैं।[2] यहाँ भी वेदों की रूपगत एवं अर्थगत विलक्षणताओं के आधार पर ही वृत्तियों का सम्बन्ध दिखाया गया है।

उक्त चारो वृत्तियों में **भारती वृत्ति** वाग्व्यापारप्रधान होती है, यह सभी रूपकों में पाई जाती है और सम्पूर्ण रसों से पूर्ण तथा प्रायः संस्कृत भाषा का अवलम्बन करनेवाली होती है। इसकी विशेष रूप से उपस्थिति नाट्यकृतियों के प्रारम्भिक भागों—आमुख तथा प्ररोचना—में होती है।[3] धनञ्जय इस वृत्ति को **शब्दवृत्ति** की संज्ञा प्रदान करते हैं और शेष वृत्तियों को **अर्थवृत्ति** मानते हैं।[4] भवभूति ने इस वृत्ति का पूर्णतः समालम्बन अपने तीनों नाटकों के आमुख-भाग में किया है। इन आमुखों की भाषा केवल संस्कृत है और इनमें परम्परासम्मत वाग्व्यापार की प्रधानता है।

मानसिक, वाचिक एवं कायिक अभिनयों से सूचित होनेवाले, आर्जव, डाँट-फटकार, हर्ष और धैर्य से युक्त तथा रौद्र, वीर, शान्त एवं अद्भुत रसों से सम्बद्ध मानस व्यापार को ही **सात्त्वती वृत्ति** कहते हैं।[5] इस वृत्ति के संलापक, उत्थापक, सांघात्य तथा परिवर्तक नाम के चार अंग होते हैं। पात्रों में जब परस्पर नाना भाव एवं रसयुक्त गम्भीर उक्ति पाई जाय, तो वहाँ संलापक की स्थिति मानी जाती है। इसके उदाहरण महावीरचरित में वर्तमान हैं।[6] जहाँ एक पात्र दूसरे पात्र को युद्ध के लिए उत्तेजित करे,

---

१. ना० शा० : २२ : २–१४।

२. ऋग्वेदाद् भारती वृत्तिर्यजुर्वेदात्तु सात्त्वती।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणात्तथा॥—वही : २२ : २४।

३. ना० द० : ३ : २।

४. तिस्र एवैता अर्थवृत्तयः। भारती तु शब्दवृत्तिरामुखाङ्गत्वात्तत्रैव वाच्या।
—द० रू० : २ : ६०, ६१ (वृत्ति)।

५. ना० द० : ३ : ५।

६. रामः—(सधैर्यबहुमानं निर्वर्ण्य) अयं स किल यः पुरा सपरिवारकार्तिकेयविजयावर्जितेन भगवता नीललोहितेन सहस्रपरिवत्सरान्तेवासिने तुभ्यं प्रसादीकृतः परशुः।

वहाँ उत्थापक होता है।[१] मन्त्रशक्ति, अर्थशक्ति, दैवशक्ति आदि के द्वारा जब शत्रु के संघ का भेदन किया जाय, तो सांघात्य होता है। जब आरम्भ किये गये किसी एक कार्य को छोड़कर दूसरे कार्य का सम्पादन किया जाय, तो इसे परिवर्तक कहते हैं।[२] इस वृत्ति के निदर्शन महावीरचरित एवं मालतीमाधव के वीर, रौद्र आदि रसों से पूर्ण व्यापारों में प्रचुरता से मिलते हैं। ऊपर ओजगुण के दृष्टान्त के रूप में मालतीमाधव का जो उद्धरण दिया गया है, उसमें इसी वृत्ति का अस्तित्व है। महावीरचरित के भार्गव-प्रसंग में जो नाटकीय व्यापार आया है, उसमें डाँट-फटकार, धैर्य, हर्ष आदि का कलात्मक मिश्रण दीख पड़ता है, अतः यह प्रसंग सात्त्वती वृत्ति का उत्तम निदर्शन है। मालतीमाधव के पंचम अंक में श्मशान, भूत-प्रेत, देवी चामुण्डा आदि के चित्रण में इसी वृत्ति की प्रधानता है। वस्तुतः सात्त्वती सत्त्व एवं आवेग से पूर्ण प्रत्येक मानस व्यापार से फूटती है। इस वृत्ति में हर्ष का प्रतिपादन होता है, अतः इसमें शोक, करुण आदि का अभाव लक्षित होता है। आर्जव के ग्रहण से इसमें कपट का अभाव रहता है।

कैशिकी वृत्ति गीत, नृत्य, विलास आदि शृङ्गारपूर्ण चेष्टाओं के कारण कोमल होती है।[३] इसमें कामव्यवहार, हास्य, शिष्ट परिहास आदि का अन्तर्भाव होता है। यह वृत्ति तीनों प्रकार के व्यापारों का संकररूप है। लम्बे केश आदि से युक्त होना स्त्री का लक्षण है—'स्तनकेशवतीत्वं हि स्त्रीणां लक्षणम्।' चूँकि इस वृत्ति में स्त्रियों या उनकी चेष्टाओं का प्राधान्य होता है, अतः इसे 'कैशिकी' की संज्ञा प्रदान की गई है। कैशिकी के चार अङ्ग माने गये हैं—नर्म, नर्मस्फिंज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ। प्रिया नायिका या प्रिय के चित्त को प्रसन्न करनेवाला विलासपूर्ण व्यापार 'नर्म' कहा जाता है।[४] जब नायक एवं नायिका को प्रथम समागम के समय पहले तो सुख होता है, किन्तु बाद में

जामदग्न्यः—...आं दाशरथे, स एवायमाचार्यपादानां प्रियः परशुः।
अस्त्रप्रयोगखुरलीकलहे गणानां
सैन्यैर्वृतोऽपि जित एव मया कुमारः।
एतावतापि परिरभ्य कृतप्रसादः
प्रादादिमं प्रियगुणो भगवान्गुरुर्मे ॥—म० च० : २ : ३४।

१. वही : २ : ४९।
२. वही : २ : ३८।
३. द० रू० : २ : ४७।

४. माधवः—अयि स्वचित्तवेदनामात्रवेदिनि परव्यसनानभिज्ञे, इयमुपालभ्यसे।
उद्दामदेहपरिदाहमहाज्वराणि
संकल्पसंगमविनोदितवेदनानि।
त्वत्स्नेहसंविदवलम्बितजीवितानि
किं वा मयापि न दिनान्यतिवाहितानि ॥—वही : ६ : १३।

दूसरों के द्वारा भेद पा जाने की आशंका से भय होता है, तो इसे नर्मस्फिंज कहते हैं।[1] नर्मस्फोट की सत्ता वहाँ दीखती है, जहाँ सात्त्विक आदि भावों के लेशमात्र से किंचित् मात्र रस को सूचित कर दिया जाता है।[2] जब किसी प्रयोजन के निमित्त नायक छिपकर प्रवेश करे, तो उसे नर्मगर्भ कहा जाता है। मालतीमाधव के षष्ठ अङ्क में देवी-मन्दिर के भीतर लवंगिका के स्थान पर माधव का चोरी-छिपे आगमन और अजाने ही मालती द्वारा उसका गाढ़ आलिंगन[3] नर्मगर्भ का ही उदाहरण है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र आरभटी की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं—**आरेण प्रतोदकेन तुल्या भटा उद्धताः पुरुषा आरभटाः। ते सन्त्यस्यामिति 'ज्योत्स्नादित्वादणि' आरभटी।**[4] इस वृत्ति में माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्त आदि चेष्टाएँ पाई जाती हैं।[5] मन्त्रशक्ति से किसी अविद्यमान वस्तु को प्रकाशित करना ही माया है; यदि इसी कार्य को तान्त्रिक शक्ति से किया जाय तो इसे इन्द्रजाल कहेंगे। इसमें भय तथा हर्ष की अतिशयता से व्याकुल पात्रों का प्रवेश, नायक द्वारा पूर्वावस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था का ग्रहण, आक्रमण या अग्नि आदि के द्वारा की जानेवाली भगदड़, अनेक प्रकार के स्थायी एवं व्यभिचारी भावों से युक्त प्रासंगिक कार्य आदि, बाहुयुद्ध और शस्त्रप्रहार आदि का भी संग्रह हो जाता है। अतः कैशिकी की तरह यह वृत्ति भी

---

१. कामन्दकी (प्रविश्य।) पुत्रि कातरे, किमेतत्।
(मालती कम्पमाना कामन्दकीमालिङ्गति।)
कामन्दकी—(तत्याश्चिबुकमुन्नमय्य।) वत्से,
पुरश्चक्षूरागस्तदनु मनसोऽनन्यपरता
तनुग्लानिर्यस्य त्वयि समभवद्यत्र च तव।
युवा सोऽयं प्रेयानिह सुवदने मुञ्च जडतां
विधातुर्वैदग्ध्यं विलसतु सकामोऽस्तु मदनः॥—वही : ६ : १५।

२. मकरन्दः—गमनमलसं शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्ठवं
श्वसितमधिकं किं न्वेतत्स्यात्किमन्यदतोऽथवा।
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनं
ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति च धीरताम्॥—वही : १ : १७।

३. (माधवः स्वैरं लवङ्गिकास्थाने तिष्ठति।)
मालती—सहि, अणुऊलदाए पसादं करेहि।
माधवः—सरले साहसरागं परिहर रम्भोरु मुञ्च संरम्भम्।
विरसं विरहायासं सोढुं तव चित्तमसह मे॥
मालती—सहि, अलङ्घणीओ दे मालदीप्पणामो।
माधवः—किं वा भणामि विच्छेददारुणायासकारिणि।
कामं कुरु वरारोहे देहि मे परिरम्भणम्॥
मालती—(सहर्षम्) कहं अणुगहीदह्मि। (उत्थाय) इअं आलिङ्गामि।...
अम्महे, लवङ्गिआए मालदी विप्पलद्धा।—मा० मा०, पृ० १५२-१५५।

४. ना० द० : ३ : ६ (वृत्ति)।

५. द० रू० : २ : ५६।

कायिक, वाचिक तथा मानसिक सभी प्रकार के अभिनयों से युक्त और सब प्रकार के व्यापारोंवाली होती है।[1] इसके चार भेद होते हैं—संक्षिप्तिका, सम्फेट, वस्तूत्थापन तथा अवपातन। जहाँ शिल्पप्रयोग के द्वारा संक्षिप्त वस्तु की रचना की जाय, वहाँ संक्षिप्तिका होती है। किन्तु कुछ लोगों की दृष्टि में पहले नायक का निवृत्त होना तथा दूसरे नायक का आना, अथवा एक ही नायक द्वारा एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था ग्रहण करना ही संक्षिप्तिका है। जैसे महावीरचरित में वाली की निवृत्ति हो जाने पर सुग्रीव नायक के रूप में गृहीत होता है,[2] या परशुराम का औद्धत्य समाप्त होने पर **'पुण्या ब्राह्मणजातिः'**[3] इस प्रकार शान्तत्व का ग्रहण होता है। जहाँ दो क्रुद्ध पात्र एक दूसरे पर समाघात या अधिक्षेप करें, वहाँ सम्फेट की स्थिति होती है। इसका एक उदाहरण माधव एवं अघोरघण्ट का वह प्रसंग है जहाँ वे दोनों एक दूसरे को बुरी तरह निन्दित करते हुए पाये जाते हैं।[4] मन्त्रबल के प्रयोग से माया द्वारा किसी वस्तु की उत्थापना करना वस्तूत्थापन कहा जाता है। इसकी स्थिति वहाँ स्पष्ट होती है जहाँ राम के साथ युद्ध करता हुआ रावण मायाशक्ति द्वारा अपने कटे हुए एक सिर के बदले पुनः अनन्त सिर प्रकट कर देता है।[5] किसी पात्र, पशु आदि के मंच पर प्रवेश करने या वहाँ से चले जाने से दूसरे पात्रों में जो भय या भगदड़ मच जाती है, वह अवपातन कहा जाता है। मालतीमाधव के तृतीय अङ्क में लोहे के पिंजड़े को तोड़नेवाले बाघ के भयंकर आक्रमण की सूचना दी जाती है; उसके कारण लोगों में जो आतंक या भगदड़ मच जाती है, वह अवपातन का ही दृष्टान्त है।[6]

ऊपर विविध वृत्तियों तथा उनके प्रमुख भेदों का जो विवेचन हुआ, उससे यही स्पष्ट होता है कि नाटकीय व्यापार की शैली का नाम ही वृत्ति है। इस व्यापार के विविध रूपों या प्रवृत्तियों के अनुपात में ही विविध वृत्तियों की कल्पना की गई है। ये वृत्तियाँ चूँकि शब्दगत एवं अर्थगत दोनों होती है, अतः विविध रसों के साथ इनका स्वभावतः ही सम्बन्ध हो जाता है। धनिक के अनुसार कैशिकी का प्रयोग शृङ्गार में,

---

१. ना० द० : ३ : ६ (वृत्ति)।

२. **मद्द्रोहाच्छपथात्प्रसीदतु मतिः पौलस्त्यसुग्रीवयो—**
हे वीराः कपयः शमोऽस्तु भवतामीशः स एवास्मि चेत्।
रामात्प्राप्तमहार्घ्यवीरमरणस्याशास्तिरेषाद्य मे
योऽहं सूर्यसुतः स एष भवतां योऽयं स वत्सोऽङ्गदः ॥—म० च० : ५ : ५५।

३. म० च० : ४ : २२।

४. मा० मा० : ५ : २८–३२।

५. **एताभ्यां राघवाभ्यां सकुतुकमिषुभिश्छिद्यमानेषु मूर्ध—**
स्वेकस्यैकोऽप्यनन्तः किमु सरसगुणो वर्णनीयोऽपरस्य।
एतत्संपश्यतोरप्यतिचिरमनयोः कोऽप्यचिन्त्यः प्रभावो
यत्रोत्साहो न धैर्यं विरमति न शिरश्छेदतः पत्रिणोऽपि ॥
—म० च० : ६ : ६१।

६. मा० मा०, पृ० ८९–९०।

सात्त्वती का वीर में तथा आरभटी का रौद्र एवं बीभत्स रसों में होता है। भारती चूँकि शब्द-वृत्ति है, अतः इसकी स्थिति सभी रसों में पाई जाती है।[1] वृत्तियों के स्वरूप तथा उनके रसगत वैशिष्ट्यों को लेकर आचार्यों में कुछ मतभेद भी पाया जाता है, किन्तु सामान्यतः भरतमुनि की वृत्तिविषयक मान्यताएँ ही आगे के साहित्यशास्त्रियों के द्वारा स्वीकृत हुई हैं। भवभूति के तीनों नाटकों में नाटकीय व्यापारों की ऐसी प्रचुरता एवं विविधता प्राप्त होती है कि उनमें प्रायः सभी सांगोपांग वृत्तियों का समाहार हो जाता है। विशेषतः मालतीमाधव नाटकीय कार्यव्यापार की विविध शैलियों की दृष्टि से काफी सम्पन्न है।

---

१. द० रू० : २ : ६२।

षष्ठ प्रकरण

अध्याय १

नाटककार भवभूति और परवर्ती नाट्यसाहित्य

भवभूति के तीनों नाटकों की अलग-अलग विशिष्टताओं का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। महावीरचरित एवं उत्तररामचरित कथादृष्टि से एक होकर भी नाटकीय उद्देश्य, शैली आदि को लेकर एक दूसरे से भिन्न दीखते हैं। मालतीमाधव तो स्पष्टतः एक भिन्न कोटि का रूपक है ही, अतः इसमें तथा शेष दो नाटकों में भेद होना स्वाभाविक ही है। रूप, तत्त्व आदि दृष्टियों से इन तीनों नाट्यकृतियों का भले ही एक दूसरे से पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है, किन्तु कुछ बातें ऐसी भी हैं जो इन तीनों में समान रूप से पाई जाती हैं। नाटकीय अध्ययन के सन्दर्भ में इन रूपकों की ऐसी समानताओं का बड़ा महत्त्व हो जाता है, चूँकि इससे उनके प्रणेता कवि की साहित्यिक एवं नाटकीय प्रवृत्तियों पर प्रत्यक्ष रूप से प्रकाश पड़ता है। कला और जीवन के किन पक्षों की ओर कवि का अधिक झुकाव था और इस आकर्षण के मूल में कवि के नाटकीय मनोविज्ञान का क्या स्वरूप था, ऐसे तथ्यों के अध्ययन से ये सारी बातें बहुत कुछ स्पष्ट हो जायँगी। अपने कलारूपों के नानात्व में किसी कवि या कलाकार की ऐसी शैलीगत एवं भावगत एकरूपताएँ उसके कलादर्शन की विशिष्ट पद्धति को प्रत्यक्ष करती हैं। चाहे कोई कवि अपनी वस्तु आदि को लेकर नये-नये प्रयोग करता रहे, किन्तु वह अपने कलादर्शन की इस पद्धति से दूर नहीं जा पाता, घूम-फिर कर उसी के माध्यम से अपनी बहुविध अभिव्यक्तियों को प्रकाशित करता है। भारतीय साहित्य की शब्दावली में यही उसकी 'रीति' होती है जो उसकी रचना की अनेकता में एकता स्थापित करनेवाली विशिष्ट तत्त्व के रूप में स्वीकृत है।

भवभूति के ऐसे ही नाट्यगत वैशिष्ट्य, जो उनके तीनों नाटकों में समान रूप से विद्यमान हैं, यहाँ हमारे अध्ययन के विषय हैं। इनमें प्रथम वैशिष्ट्य है **उनके नाटकों में विदूषक का अभाव**। भारतीय नाटकों में **विदूषक**[१] नायक का ऐसा सहचर होता है जिसका प्रधान कार्य प्रत्यक्षतः अपने मित्र नायक का तथा परोक्ष रूप से सामाजिकों का मनोरंजन करना होता है। इसका हास्य (१) अंग, (२) वेशभूषा तथा (३) वचनों द्वारा तीन प्रकार से उत्पन्न होता है। इसके गंजापन, लँगड़ापन आदि इसके अंगहास्य के आधार होते हैं, अत्यन्त लम्बे-चौड़े वस्त्र धारण करके इधर-उधर देखने,

---

१. रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने **विदूषक** शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है—**एषां वियोगिनां विप्रलम्भशृङ्गारवतां औचित्यानतिक्रमेण लिंग्यादयो यथासंभवं सन्धिं विग्रहेण, विग्रहं सन्धिना च विशेषेण दूषयन्ति विनाशयन्ति, विप्रलम्भं तु विनोददानेन विस्मारयन्ति इति विदूषकाः**।—ना० द० : ४ : १५ (वृत्ति)।

चलने-फिरने आदि के द्वारा उसका नेपथ्य-हास्य होता है तथा असम्बद्ध, निरर्थक तथा अश्लील भाषण आदि के द्वारा उसका वचनमूलक हास्य उत्पन्न होता है।[१] निश्चय ही भारतीय मंच का यह एक अत्यन्त आकर्षक पात्र होता है जो प्रायः नाटक के गम्भीर चित्रों को प्रत्यक्ष करते रहने के कारण सामाजिकों के मन पर पड़नेवाले बोझ को अपनी चुहल, ठिठोली, व्यंग्य आदि के द्वारा कम करता है और एक प्रकार से उनके मन को नाट्यगत गाम्भीर्य धारण करने के लिए स्वास्थ्य एवं शक्ति प्रदान करता है। भवभूति ऐसे पात्र की ओर क्यों नहीं आकृष्ट हुए तथा उसकी नाटकीय उपयोगिता उन्होंने क्यों नहीं समझी, इसका कारण उनकी विशिष्ट विचार-शैली ही है। वे स्वभावतः ही वाक्संयमी व्यक्ति थे जो सस्ते हास्य को अपनी गम्भीर वाणी का दूषण मानते थे। कदाचित् अपनी प्रकृति की इस विशिष्टता के कारण ही उन्होंने अपने नाटकों में विदूषक जैसे पात्र को आने ही नहीं दिया। यदि संस्कृत की नाट्यपरम्परा को ध्यान में रखकर उन्होंने अनिच्छापूर्वक विदूषक की अवतारणा की होती तो कोई आश्चर्य नहीं कि उनका यह पात्र पिष्टपेषणता या गतानुगतिकता का एक असफल उदाहरण मात्र बनकर रह जाता, उसमें प्राण नहीं भर पाते। अतः भवभूति ने अपनी कला के स्वत्व की रक्षा करने के उद्देश्य से ही विदूषक को अपनी कल्पना से सर्वदा अलग रखा। ऐसा तो हो नहीं सकता था कि वे विदूषक की सृष्टि करके उसके मुख से सर्वदा हास्येतर भावों की ही अभिव्यक्ति कराते—उसकी मूल हास्यप्रकृति की रक्षा उन्हें करनी ही पड़ती और ऐसा करते समय उनकी वाणी के अस्वाभाविक या कृत्रिम हो जाने की पूरी संभावना हो जाती। इसीलिए उन्होंने कलागत दूरदर्शिता से काम लिया और विदूषक को अपनी कला-प्रक्रिया से सर्वथा अलग रखकर हास्यसर्जना के क्षेत्र में पूर्णतः स्वतन्त्र हो गये।

जीवन के विविध संघर्षों ने ही भवभूति को अन्तर्मुख बना दिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। यों यत्र-तत्र हास्य एवं व्यंग्य के छींटे अवश्य आये हैं, किन्तु वे कई जगह अस्वाभाविक एवं फूहड़ जैसे प्रतीत होते हैं। हास्य भवभूति की कवि-प्रकृति के अनुकूल नहीं है; अतः उसमें भवभूति के अन्तस् का कोई स्वाभाविक रूप नहीं खुलता। यदि उनकी प्रकृति के अनुकूल कुछ है तो वह है एक सहज गाम्भीर्य, अपनी गहन अनुभूतियों के प्रति अधिक-से-अधिक आस्थावान् एवं अनुरक्त होने की उद्दाम प्रवृत्ति, जो उनकी कृतियों में कई रूपों में अभिव्यक्त हुई है। हास्य के प्रति उनकी यह उदासीनता इसी बात को पुष्ट करती है कि वे जीवन की गहराई में अधिकाधिक उतरने को आकुल हैं। हास्य चाहे कितना भी शिष्ट एवं स्वाभाविक क्यों न हो, वह प्रायः जीवन के सतही चित्रों में ही निविष्ट होता है, उसके अभ्यन्तर में छिछलापन का भाव स्वाभाविक रूप से तिरता हुआ प्रतीत होता है। यही कारण है कि गम्भीर कृतियों में या तो हास्य का अभाव होता है, या यदि हास्य होता भी है, तो वह वहाँ असाम्प्रतिक या आरोपित-सा

१. वही : ४ : १४ (वृत्ति)।

प्रतीत होता है। भवभूति ने यदि हास्य की उपेक्षा की है, तो यह उनकी कला का वैशिष्ट्य है, न कि उसकी कोई कमी। उन्होंने अपनी कला को जिन रंगों में सजाया है, उनमें हास्य के लिए कोई अवकाश ही नहीं दीखता, अतः उसका वहाँ नहीं रहना ही शोभन है, स्वाभाविक है। प्रो० विल्सन के शब्दों में 'मनुष्य जितनी ही गहराई से सोचता है, वह यथार्थ को उतना ही अधिक देखना चाहता है और हास्य या परिहास को अभिव्यक्ति देने में उतना ही असमर्थ हो जाता है।'[1]

विदूषक के अभाव की पूर्ति भवभूति ने कई प्रकार से करने की चेष्टा की है। इस सम्बन्ध में उनका पहला लक्ष्य यह दीखता है कि वे अवसर पाकर यदा-कदा दूसरे पात्रों के मुख से हास्यात्मक उद्‌गार व्यक्त कराते हैं। कहीं-कहीं उनके पात्रों के ऐसे उद्‌गार सचमुच ही उनकी प्रकृतिगत गम्भीरता के अनुकूल ही अत्यन्त शिष्ट हास्य उत्पन्न करने में समर्थ हुए हैं; किन्तु कुछ ऐसे भी स्थल आये हैं जहाँ उनका हास्य ऊपर से आरोपित, अतः कृत्रिम या फूहड़-सा प्रतीत होता है।[2] हास्य के इस अभाव को दूर करने का दूसरा उपाय उन्होंने नाटकीय व्यंग्यों की सृष्टि करके किया है। यों

---

१. दे० टी० म०. प्राक्कथन, पृ० २३।

२. उत्तररामचरित के प्रथम अङ्क में चित्रदर्शन के क्रम में ऊर्मिला के चित्र को लक्ष्य करके लक्ष्मण के प्रति सीता की इस उक्ति में शिष्ट हास्य का एक दुर्लभ उदाहरण प्राप्त होता है—**'वच्छ इअं वि अवरा का।'** यहाँ एक छोटे-से वाक्य में एक स्नेहशीला तथा प्रीता भाभी की अपने श्रद्धालु एवं विनीत देवर के प्रति ऐसी सहृदय ठठोली प्राप्त होती है जो अपनी स्वच्छता एवं स्निग्धता में बेजोड़ है। सरल हास्य का एक अन्य निदर्शन इसी कृति की इन पंक्तियों में उपलब्ध होता है—

> **पश्चात्पुच्छं वहति विपुलं तच्च धूनोत्यजस्रं**
> **दीर्घग्रीवः स भवति खुरास्तस्य चत्वार एव।**
> **शष्पाण्यत्ति प्रकिरति शकृत्पिण्डकानाम्रमात्रा—**
> **न्किं व्याख्यातैर्व्रजति स पुनर्दूरमेह्येहि यामः।**

—उ० च० : ४ : २६।

भोले बटुओं का यह निश्छल उद्‌गार निश्चय ही ऐसे व्यक्तियों के परम विनोद का कारण हो जाता है जो घोड़ों से सुपरिचित हैं। यहाँ भवभूति की बारीकी इसमें है कि वे घोड़ों को कभी नहीं देखे हुए छोटे बच्चों के मुख से अत्यन्त सरल शैली में अश्व का ऐसा मनोहारी चित्र उपस्थित कर देते हैं जो उसके रूप को तो प्रत्यक्ष कर ही देता है, बालहृदय की अकृत्रिम अभिव्यक्ति तथा उससे छनकर आते हुए अत्यन्त स्वच्छ हास्य को भी रूपायित करता है। उत्तररामचरित की उदात्त भावभूमि के सर्वथा अनुरूप हास्य के ऐसे छींटे निश्चित रूप से भवभूति की उपलब्धियाँ हैं। किन्तु उत्तररामचरित के चतुर्थ अङ्क के आरम्भ में सौधातकि एवं दाण्डायन के परस्पर संलाप के क्रम में जिस हास्य की निष्पत्ति की गई है, वह स्वाभाविक नहीं, आरोपित-सा प्रतीत होता है। ऐसा लगता है, मानो भवभूति वहाँ जान-बूझकर विदूषक के अभाव की पूर्ति उक्त दो ब्रह्मचारियों के माध्यम से करना चाहते हैं। किन्तु यहाँ हास्य के प्रति उनका कृत्रिम आग्रह प्रायः फूहड़ होकर प्रकट हुआ है और इस बात का प्रमाण-सा बन गया है कि वे 'सामान्य' हास्य की आत्मा से कोसों दूर हैं।

तो ऐसे व्यंग्य उनके तीनों ही नाटकों में मिलते हैं, किन्तु उनका सर्वाधिक पुट उत्तर-रामचरित में हुआ है। विदूषकीय हास्य की कमी को दूर करने की उनकी तीसरी युक्ति, नाटकीय दृष्टि से, काफी महत्त्व लेकर आती है। वे हास्य की रिक्तता को भयानक, वीभत्स आदि चित्रों तथा अतिप्राकृत दृश्य-नियोजनों से पूर्ण करते हैं। भवभूति अपनी कल्पना की सारी उमंगों को ऐसे ही चित्रों के माध्यम प्रकट करते हैं, मानो वे हास्य से श्रेष्ठ किसी वस्तु का साक्षात्कार करा रहे हों।

निश्चय ही भयानक आदि चित्र हास्य का स्थानापन्न नहीं माने जा सकते, चूँकि उनसे ऐसे कलात्मक उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होती जो हास्य से सम्भव होती है। हास्य मन के ऐसे सारे तनावों को दूर करने का एक प्राकृतिक साधन है जो जीवन की विषमताओं या जटिलताओं से आकर हमारे स्वत्व को, हमारी उन्मुक्तता को, जकड़ लेते हैं; हमारे मन की बँधी हुई गति को खोलकर उसे सहज स्वस्थ बनाने तथा स्फूर्त करने का वह एक दिव्य मत्र बनकर प्रकट होता है। भारतीय नाटककारों ने जीवन-संग्राम के बीच हास्य की अतिशय उपयोगिता को ध्यान में रखकर ही उसकी सम्यक् निष्पत्ति के लिए स्वतन्त्र पात्र—विदूषक—को अवतरित किया है। भवभूति के नाटकीय चित्रों की भयानकता आदि से तो हमारे मन का भार कम होने के बदले और भी बढ़ जाता है; अतः ऐसे चित्र हास्य के विरोधी भले हों, उसके बन्धु कभी नहीं माने जा सकते। इस सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि भवभूति ने हास्यतत्त्व की कमी को भयानक आदि सर्वथा भिन्न प्रकृति के तत्त्वों के नियोजन से पूरा किया है, ताकि दर्शकों को इस कमी का आभास न हो और वे अन्त-अन्त तक उनके विराट् एवं अतिप्राकृत दृश्यों में ही खोये रहें। भवभूति का यह उद्देश्य बहुत कुछ पूरा भी हुआ है। उनकी दो राम-नाटकों की उदात्त भावभूमि के लिए तो विदूषक की कोई आवश्यकता ही नहीं जान पड़ती—पुरुषोत्तम राम के सखारूप में विदूषक जैसे पात्र की कल्पना ही हास्यप्रद प्रतीत होती है।[1] किन्तु मालतीमाधव में विदूषक का अभाव खटके नहीं, इसके लिए भवभूति ने श्मशान-दृश्य जैसे चित्रों की अवतारणा की है। ऐसे चित्र एक ओर तो भवभूति की काव्यक्षमता को प्रकट करते हैं और दूसरी ओर भयानक आदि के प्रति उनके ऐसे सम्मोह को प्रकट करते हैं जिसमें नाटकीय मर्यादा को लाँघकर भी अपनी अभिव्यक्ति का प्रबल आग्रह दीखता है।

भवभूति की नाटकीय शैली की एक दूसरी विशेषता **उनके श्लोकों या संवादांशों की पुनः पुनः आवृत्ति** से प्रकट होती है। यहाँ स्वभावतः ही यह शंका होती है कि

---

१. संस्कृत के अब तक प्राप्त राम-नाटकों में **दिङ्नाग या धीरनाग** की **'कुन्दमाला'** ही ऐसी नाट्यकृति है जिसमें विदूषक की अवतारणा हुई है। यहाँ राम के धीर-गम्भीर व्यक्तित्व के साथ **'कौशिक'** (विदूषक) का विदूषकत्व निश्चय ही असंगत प्रतीत होता है। दिङ्नाग की इस उद्भावना के पीछे **'नवीनता'** के लिए उनका आग्रह मात्र दीखता है; यह आग्रह राम जैसे उदात्त नायक के चारित्रिक वैशिष्ट्यों को नहीं समझने के कारण ही रूपायित हुआ है।

भवभूति की प्रतिभा कदाचित् इतनी उर्वर नहीं थी कि अलग-अलग नाटकों में प्रायः एक ही प्रकार के भावों के लिए वे अपनी अभिव्यक्ति के अलग-अलग चमत्कार दिखा सकते। किन्तु यह शंका अधिक देर ठहर नहीं पाती। भाषा तथा मानव हृदय के विविध भावों पर भवभूति के असामान्य प्रभुत्व को देखते हुए उनके प्रति ऐसी शंका करना कतई उचित प्रतीत नहीं होता। फिर भी इसका रहस्य समझ में नहीं आता कि वे ऐसी भाषागत एवं भावगत आवृत्तियों के कायल क्यों थे जो उनकी कल्पनाशक्ति पर प्रश्न-चिह्न-सी प्रतीत होती हैं। ऐसा नहीं कि दूसरे कवियों में ऐसी भाषागत आवृत्तियाँ नहीं पाई जातीं। कालिदास तक में ऐसी कई आवृत्तियाँ खोजी जा सकती हैं। किन्तु उनका जो रूप भवभूति में प्राप्त होता है, वह कदाचित् अपूर्व है। सम्भव है कि नाटकीय सुगमता के लिए, नटों के पाठ-स्मरण की सुविधा को ध्यान में रखकर, उन्होंने ऐसे प्रयोग किये हों। किन्तु यह अनुमान भी अधिक संगत प्रतीत नहीं होता। भवभूति के चित्र-विचित्र संवादों के बड़े परिमाणों की तुलना में उनके थोड़े-से श्लोकों या संवादांशों की आवृत्ति से नटों की किसी बड़ी आसानी की अपेक्षा नहीं की जा सकती। अधिक सम्भावना इसी की है कि ऐसी आवृत्तियाँ भवभूति की शैलीगत विलक्षणता की द्योतक हैं। सम्भवतः भवभूति व्यक्तिगत रूप से विश्वास करते थे कि मंचपर उनके कथोपकथन की सीमित आवृत्तियाँ नाटकीय प्रभावों को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक हैं। इन आवृत्तियों के परीक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि भवभूति के कुछ प्रसिद्ध श्लोक या पंक्तियाँ ही इस प्रकार दुहराई गयी हैं। अतः वे इस बात की साक्षी हैं कि स्वयं भवभूति अपनी इन पंक्तियों को बहुत पसन्द करते होंगे और नटों के मुख से यदा कदा उनकी आवृत्ति कराकर कलागत तुष्टि का बोध करते होंगे। चाहे व्यक्तिगत रूप से भवभूति अपनी इन पंक्तियों में ऐसी गहरी रुचि क्यों न रखते हों, ऐसी आवृत्तियाँ उनकी नाटकीय शैली के भूषण नहीं मानी जा सकतीं। उनकी प्रखर मेधा से अपेक्षा इसी बात की थी कि वे समान भावों या समान परिस्थितियों के अंकन में भी नित नूतन शब्दों का प्रयोग करते जैसा कि वे अन्यत्र करते भी हैं।

भवभूति की शैली की एक अन्य विशिष्टता **नाटकीय कथोपकथन में उनके संस्कृत भाषा के प्रति प्रबल मोह** से फूटती है। ऐसा नहीं कि उन्होंने अपने विविध पात्रों के संवादों के लिए प्राकृत भाषा का महत्त्व स्वीकार नहीं किया है। वस्तुतः नाटकीय भाषा के क्षेत्र में वे परम्परावादी ही दीखते हैं। यहाँ, इस संदर्भ में भी उनकी कतिपय शैलीगत विलक्षणताएँ प्रकट होती हैं। उनके तीनों नाटकों में प्राकृत के छोटे-बड़े संवाद तो भरे पड़े हैं, किन्तु इन नाट्यकृतियों में आए भवभूति के लगभग ८८० श्लोकों के बीच ऐसा एक भी श्लोक नहीं जो पूर्णतः प्राकृत में निबद्ध हो। गद्य के लिए वे प्राकृत के महत्त्व को स्वीकार करते हैं, किन्तु पद्य के लिए उसे सर्वथा अनुपयुक्त क्यों मानते हैं, यह भी एक रहस्य ही है। गद्यात्मक कथोपकथनों के लिए भी उनकी

जायँगी। सामान्य रूप से तो यही तथ्य सामने आता है कि पिछले खेवे के कवियों ने संस्कृत भाषा तक को कृत्रिम बना दिया, प्राकृत का तो कहना ही क्या। नाटकों के क्षेत्र में भाषा की यह गिरावट, सीमित रूप में ही सही, सम्भवतः भवभूति के नाटकों से ही शुरू हुई। यहाँ भवभूति द्वारा प्रयुक्त प्राकृत के लिए इतना ही कहना अलम् होगा कि उसे प्रायः संस्कृत के साँचे में ढालकर तैयार किया गया है, इसीलिए उसका स्वाभाविक रस सूख-सा गया है और उसके बदले उसमें कृत्रिम चमक मात्र दीखती है।

भवभूति के नाटकों की एक अन्य विलक्षणता उन सबकी, विशेषतः उत्तररामचरित की अतिशय भावुकता से सम्बन्ध रखती है। यों कवि के लिए भावुक होना एक आवश्यक गुण है, किन्तु नाटकों में उसकी सीमित उपयोगिता ही रह जाती है। नाटककार का प्रधान लक्ष्य अपनी वस्तु के प्रवाह को उत्तरोत्तर संवेग देकर उसे बिना किसी रुकावट के गन्तव्य की ओर बढ़ाते जाना है। भवभूति प्रायः नाटकीय गति को अपने भावों की विह्वलता एवं तीव्रता से पूर्ण करते हैं। जहाँ वस्तु ठहरी हुई-सी लगती है, वहाँ प्रायः उनके भावुक कवि हृदय के उद्गार उछलते हुए तथा छलकते हुए-से आगे बढ़ते हैं। हम पहले ही बता चुके हैं कि ऐसे स्थलों पर भवभूति की नाटकीय वस्तु के प्रवाह में शैथिल्य-दोष नहीं माना जा सकता—भले ही वहाँ वस्तु पार्थिव रूप से विराम लेती हुई प्रतीत होती है, किन्तु भावात्मक दृष्टि से वह कहाँ से कहाँ आगे बढ़ जाती है। उत्तररामचरित का तृतीय अंक इस सूक्ष्म नाटकीय गति का एक उत्तम और कदाचित् अद्वितीय निदर्शन है। वहाँ निश्चय ही भवभूति की भावुकता नाटकीय प्रवाह की विसंगति में खड़ी दिखाई नहीं देती। राम एवं सीता का वहाँ बार-बार मूर्च्छित होना तथा रुदन करना भवभूति की इसी भावुकता का एक स्वाभाविक परिणाम है। निस्सन्देह मूर्च्छा तथा रुदन का यह अतिशय प्रयोग पुटपाकप्रतीकाश राम तथा शरीरिणी विरह-व्यथा की तरह प्रतीत होनेवाली करुणमूर्ति सीता[1] के प्राणों में वर्षों से जमे हुए अवरोधों को समाप्त करके उन्हें सहज, प्रसन्न एवं स्वस्थ रूप प्रदान करना है। इस दृष्टि से इस अंक का मनोवैज्ञानिक महत्त्व ऐसा हो जाता है जिसकी समता सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में कहीं भी नहीं मिलती। प्रायः सभी आलोचकों ने एक स्वर से भवभूति की मूर्च्छा-परायणता की खिल्ली उड़ाई है, उसके भीतर जाकर यह देखने की चेष्टा नहीं की है कि प्रधान रूप से किन कलात्मक एवं भावात्मक प्रभावों को उत्पन्न करने तथा किन अपरिहार्य मानसिक ग्रन्थियों को खोलने के लिए भवभूति ने राम जैसे धीरोदात्त नायक को भी अनिवार्यतः इतना भावुक बना दिया है।

महावीरचरित में भी राम को सीता का दुसह वियोग सहन करना पड़ा है। किन्तु उस वियोग की कोटि ही दूसरी है। वहाँ रावण से प्रतिकार लेने की भावना इतनी बलवती हो जाती है कि वह राम के हृदय में सीता की वियोगाग्नि को अधिक टीस उत्पन्न करने का अवसर ही नहीं देती। उत्तररामचरित में राम की स्थिति कुछ दूसरी ही

१. उ० च० : ३ : १, ४।

है। यहाँ न तो किसी से बदला लेना है, न अपने दुख को किसी के सामने खोल-कर हृदय को हल्का करने का कोई औचित्य ही है, चूँकि राम सीता-निर्वासन के लिए यहाँ स्वयं उत्तरदायी हैं। भवभूति ने राम की इन दोनों परस्पर भिन्न मानसिक स्थितियों का एक बड़ा ही यथार्थ चित्र उत्तररामचरित के तृतीय अंक में खींचा है।[१] ऐसा नहीं कि वे किसी भी प्रकार के वियोग मात्र को अपनी भावुकता की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक मानते हैं। जो राम सीता से वियुक्त होने के पश्चात् महावीरचरित के पंचम अंक में केवल एक बार मूर्च्छित होते हैं, वही उत्तररामचरित में कई बार मूर्च्छित हुए हैं। यदि किसी भी मूल्य पर भवभूति को अपने भावातिरेक का यही स्वरूप व्यक्त करना अभीष्ट होता, तो उत्तररामचरित की तरह महावीरचरित में भी वे इसके लिए कोई न कोई बहाना ढूँढ़ ही लेते। किन्तु वे अपनी कला तथा राम के उदात्त चरित्र दोनों के प्रति आरम्भ से अन्त तक जागरूक रहते हैं। उत्तररामचरित में भवभूति पर आक्षेप यही लगाया जाता है कि उन्होंने रुदन एवं मूर्च्छा का आवश्यकता से अधिक आश्रय लेकर राम एवं सीता जैसे चरित्रों की उदात्तता को नष्टप्राय कर दिया है। ऐसा नहीं कि भवभूति स्वयं इस बात से परिचित नहीं थे कि मूर्च्छा आदि दुख-संवेगों के अतिशय विस्तार से राम का उदात्त चरित्र कुछ अन्यथा दीखने लगेगा। महावीरचरित में सीता के लिए पर्याकुल राम को लक्ष्य करके लक्ष्मण कहते हैं—'आर्य 'आर्य न खलु लोकोत्तरकर्माणस्त्वादृशाः कृच्छ्रेषु प्रमुह्यन्ति।'[२] इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि भवभूति स्वयं इस बात को मानते थे कि पुरुषोत्तम राम को अधिक रुला देने तथा मूर्च्छित करते रहने से उनके चरित्र की गरिमा नष्ट हो जायगी। उत्तररामचरित में राम को इतना रुलाने का तो और भी औचित्य नहीं ठहरता, चूँकि उस समय तक उनके चरित्र में पहले से भी अधिक परिपाक आ गया रहता है। भवभूति ने स्वयं राम के उत्तरोत्तर चारित्रिक उत्कर्ष की ओर इंगित किया है।[३] अतः इतनी कलागत जागरूकता तथा अपने उदात्त नायक के महान् चरित्र के निर्माण के प्रति इतनी सचेष्टता के होते हुए भी भवभूति ने उत्तररामचरित में जो राम को इस प्रकार रुलाने तथा मूर्च्छित कराने का उपक्रम किया है, इसका दायित्व उनकी भावुकता के अनियन्त्रित एवं अनाटकीय संवेगों को नहीं दिया जा सकता। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, कतिपय कलागत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही उन्हें राम को उस रूप में उपस्थित करना अनिवार्य हो गया है।

---

१. उपायानां भावादविरतविनोदव्यतिकरै—
विमर्दैर्वीराणां जगति जनितात्यद्भुतरसः।
वियोगो मुग्धाक्ष्याः स खलु रिपुघातावधिरभूत्
कथं तूष्णीं सह्यो निरवधिरयं त्वप्रतिविधः॥ —उ० च० : ३ : ४४।

२. म० च०, पृ० १९४।

३. स एष रामश्चरिताभिरामो धर्मैकवीरः पुरुषप्रकाण्डः।
स्वान्येव पूर्वाणि परैश्चरित्रैर्योऽत्यद्भुतैरप्रतिमोऽतिशेते॥ —वही : ५ : ४८।

मूर्च्छा शारीरिक या मानसिक दुख की पराकाष्ठा की अभिव्यक्ति है। एक ओर तो प्रकृति इसे क्लेशों की अतिशयता के स्वाभाविक परिणाम के रूप में सामने लाती है, तो दूसरी ओर यहाँ उसका अभिप्राय यह भी लक्षित होता है कि वह मूर्च्छा द्वारा, अल्प या दीर्घ अथवा अनन्त काल के लिए पीड़ित व्यक्ति को उसकी असह्य यातनाओं से मुक्ति दिलाना चाहती है। भवभूति ने अपने नाटकों में मूर्च्छा का उसके इसी यथार्थ रूप में प्रयोग किया है। सीता-निर्वासन से पूर्व राम केवल एक बार मूर्च्छित होते हैं—दाम्पत्य के चरम सुखों की अनुभूति में उनका मन पगा हुआ होता है कि एकाएक उस पर दुर्मुख के वाग्वज्र का अत्यन्त दारुण प्रहार हो जाता है। उस आकस्मिक मानसिक स्थिति में मूर्च्छा सर्वथा स्वाभाविक एवं अवश्यम्भावी प्राकृतिक सत्य के रूप में प्रकट हुई है। पुनः संज्ञा प्राप्त करने पर जब राम की कर्तव्य-बुद्धि शनैः-शनैः जाग्रत होती है, तो वे अपने धर्म के आह्वान के आगे सीता के प्रति या स्वयं अपने प्रति अत्यन्त कठोर हो जाते हैं। सीता को निर्वासित करने तथा राम द्वारा पुनः पंचवटी-प्रवेश के बारह वर्षों के बीच नाटककार राम को एक बार भी मंच पर उपस्थित नहीं करता। फिर भी राम के तत्कालीन जीवन के सम्बन्ध में यत्र-तत्र उसने जो निर्देश दिये हैं, उनसे स्पष्ट हो जाता है कि राम को इस बीच एक बार भी न तो सीता की सजल स्मृति में आँसू बहाने का अवसर मिलता है, न भीतर ही भीतर घुलती हुई अपनी व्यथा को प्रकाशित करने का कोई दूसरा साधन उपलब्ध होता है। भवभूति की भावुकता यहाँ पर कहाँ चली गयी थी ? वे राम को इस बीच यद्यपि मंच पर नहीं लाते, फिर भी इतना तो इंगित कर ही सकते थे कि उन बारह वर्षों के भीतर भी राम सीता के असह्य वियोग में रोते तथा मूर्च्छित होते आये थे। किन्तु नहीं, भवभूति इतने भावुक कभी नहीं कि राम जैसे पात्र के चारित्रिक वैभव को क्षति पहुँचाकर वे जहाँ कहीं भी अपने वृत्त को भावुकता के अनावश्यक जाल में उलझा दें। उत्तररामचरित में आँसू एवं मूर्च्छा के जितने प्रसंग आये हैं, कदाचित् उनमें से कोई भी ऐसा नहीं, जिसका परिहार करके उतने ही कलात्मक एवं भावगत प्रभावों को उत्पन्न किया जा सके। हाँ, यदि कहीं भवभूति के आँसू नाटकीय औचित्य की रक्षा नहीं कर पाये हैं, तो वह है—मालतीमाधव का नवम अंक। इस अंक में माधव के विरहदुख को जो विस्तार तथा महत्त्व प्रदान किया गया है, वह विप्रलम्भ शृंगार का उत्तम निदर्शन भले हो ले, उससे किसी नाटकीय प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती।

किसी भी कवि का साहित्यिक व्यक्तित्व कितना उच्च एवं महान् है, इसका एक महत्त्वपूर्ण संकेत इस बात से मिलता है कि उसने अपने उत्तरवर्ती कवियों अथवा काव्य-रूपों पर अपनी कितनी तथा कैसी छाप छोड़ी है। यहाँ 'कितनी' से उसके प्रभावों का परिमाण अभीष्ट है तथा 'किसी' से उनका गुणात्मक स्वरूप। परवर्ती साहित्य पर या उसकी चिन्ताधारा पर ऐसे प्रभावों के परिमाण एवं गुण दोनों मिलकर ही किसी कवि की प्रातिभ ज्योति के स्फुरणों का स्वरूप स्थिर करते हैं। ऐसे सन्दर्भों में 'परिमाण' की मीमांसा तो बड़ी आसानी से हो जाती है, किन्तु 'गुणात्मकता' का विवेचन कभी-कभी

हमें सन्देह में डाल देता है। जो महान् कवि होते हैं, वे अपने पूर्ववर्ती कवियों की सत्प्रेरणा लेकर भी प्रायः काव्य की नयी लीक के निर्माण में समर्थ होते हैं; न तो उनका पिष्टपेषण के लिए कोई आग्रह दीखता है और न वे अपने से पुराने साहित्यिक मूल्यों को विकृत करके ही रखना चाहते हैं। कालिदास भास, अश्वघोष आदि कवियों से प्रभावित नहीं हुए थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता; वस्तुतः उनके काव्य के ऐसे कई अंश हैं, जिनमें उक्त कवियों की स्पष्ट छाया विद्यमान है। किन्तु इतना होने पर भी कालिदास की मौलिकता पर कोई आँच नहीं लगने पायी है—उनका स्वर सर्वथा नवीन है, उनके भाव अभिव्यक्ति की एक नयी एवं अभूतपूर्व विधा लेकर प्रकट हुए हैं। यही बात भवभूति में भी दीखती है। कालिदास जैसे महाकवि के पश्चात् काव्य या नाटक के क्षेत्र में किसी नवीन मार्ग को खोजना तथा उस नवीनता का सम्यक् निर्वाह करना अत्यन्त कठिन कार्य था। किन्तु भवभूति ने यह सब कुछ करके दिखा दिया है—उनके स्वर में कहीं भी न तो कालिदास बोलते हैं और न कालिदास की वाणी का कोई विकृत रूप ही प्रकट होता है। भवभूति अपनी अभिव्यक्तियों में सर्वत्र भवभूति ही रहते हैं, पुराने नाट्य-मूल्यों को पचाकर उन्हें नये परिवेश में खड़ा करने में वे अप्रतिम कलाकार दीखते हैं। किन्तु भवभूति के बाद संस्कृत नाटक—विशेषतः रामनाटक—के क्षेत्र में ऐसा कोई नाटककार नहीं दीख पड़ता, जिसमें कालिदास या भवभूति की क्षमता हो। फलतः भवभूति के प्रभावों का जैसा स्वस्थ रूप उत्तरवर्ती कवियों की रचनाओं में दीखना चाहिये, वैसा हो नहीं पाया है। चाहे मुरारि हों या राजशेखर, कोई भी न तो भवभूति से ऊपर उठ सका है और न उनके प्रभावों को ठीक ग्रहण कर पाया है। प्रायः इन कवियों का ध्यान भवभूति के नाट्यगुणों की ओर गया ही नहीं है; वे भवभूति की शैली के ऐसे गुणों से अधिक प्रभावित हैं, जो वस्तुतः उनके दुर्गुण थे। संक्षेप में, इन कवियों ने प्रायः भवभूति की कमियों को ही बड़े उत्साह से अपनाया है और उनका अतिरंजित रूप प्रस्तुत किया है। ऐसे स्थलों में भवभूति के प्रभावों के 'परिमाण' की बात तो समझ में आ जाती है, किन्तु उनके गुणात्मक स्वरूप का विश्लेषण पेचीदा हो जाता है। वास्तव में यह भवभूति की कोई कमी नहीं थी कि पिछले कवियों ने उन्हें ठीक से ग्रहण नहीं किया, या उनके प्रभावों को उचित दिशा नहीं दे सके; वस्तुतः ऐसी कमी उत्तरवर्ती कवियों की ही मानी जायगी, जिनमें न तो भवभूति के नाटकीय मूल्यों को पचाने की क्षमता थी और न उनके प्रभावों से बचकर स्वतन्त्र रूप से संस्थित होने की ही सामर्थ्य थी।

भवभूति के पश्चात् भी राम-नाटकों तथा कुछ दूसरे प्रकार के रूपकों की एक लम्बी शृंखला सामने आती है। इस शृंखला की बहुत सारी कड़ियाँ बिखर गयी हैं—कुछ सदा के लिए लुप्त हो गयी हैं और कुछ के नाम मात्र शेष हैं; किन्तु जो पूर्णतः अवशिष्ट हैं तथा जिनकी विषय-वस्तु आदि की किंचित् सूचना अलंकार ग्रन्थों में प्राप्त होती है, वे इस बात के प्रबल साक्षी हैं कि उत्तरवर्ती नाट्यरूपों पर भवभूति के अमिट एवं

अपरिमित प्रभाव पड़े हैं। सम्भवतः सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में भास, कालिदास या दूसरा कोई भी ऐसा नाटककार नहीं दीखता, जिसका इतना व्यापक अनुकरण हुआ हो। महाकाव्य के क्षेत्र में जो काम भारवि ने किया, नाटक के क्षेत्र में कुछ वैसा ही कार्य भवभूति ने किया। अर्थात् शिशुपालवध जैसे महाकाव्यों की निर्मिति में जिस प्रकार भारवि के व्यापक प्रभावों का योगदान है, उसी प्रकार कुन्दमाला, अनर्घराघव आदि नाट्यकृतियों के निर्माण में भवभूति के प्रभूत चरणचिह्न प्रकट हुए हैं। यही क्यों, भारवि का अनुकरण जितना भाव के क्षेत्र में नहीं, उतना भाषा एवं शैली के क्षेत्र में हुआ; ठीक इसी प्रकार परवर्ती नाटककारों ने भावात्मक मूल्यों की परवा न करते हुए अपने नाटकों में प्रायः भवभूति की भाषा-शैली को ही उतारने या उससे भी आगे बढ़ जाने की चेष्टा की है। सम्भवतः परवर्ती युगों का ही कुछ ऐसा प्रभाव रहा कि उनमें या तो प्रकृत भावों का महत्त्व समाप्त हो गया, या ऐसे भावों में अप्रत्याशित क्षीणता आ गयी; इसके बदले भाषा और शैली को व्याकरण, अलंकार, दर्शन आदि तत्त्वों से जान-बूझ-कर लादा जाने लगा। 'लादने' का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि भाषा कृत्रिम-से-कृत्रिमतर होती गयी—वह पाण्डित्य-प्रदर्शन का साधन मात्र बन गयी। स्वयं भारवि एवं भवभूति अपनी शैली को ऐसी कृत्रिमताओं से पूर्णतः नहीं बचा सके। किन्तु उनके भावों तथा उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान करनेवाली विधाओं की कुछ ऐसी गरिमा है कि उनकी शैली के ऐसे दोष या तो छिप जाते हैं या अधिक नहीं खटकते। इधर उत्तरवर्ती कवियों में प्रायः भाव के नाम पर तो कुछ है नहीं, जो है वह शैली को अधिकाधिक बोझिल करने तथा उसके नीचे दबे घिसे-पिटे भावों को कुण्ठित करने की दिशा में ही लक्षित होता है।

जिन नाटकों का प्रणयन भवभूति के नाटकों के स्पष्ट प्रभाव में किया गया, उनमें **दिङ्नाग की कुन्दमाला** का विशिष्ट स्थान है। इस नाटक के वृत्त, भाव, शिल्प आदि सब पर उत्तररामचरित की वस्तु-योजना, भाव आदि की प्रत्यक्ष छाया विद्यमान है। यों दिङ्नाग का काल कुहाच्छन्न है, किन्तु इतना निश्चित है कि वे भवभूति के उत्तर युगों में ही कहीं अवतीर्ण हुए। कुन्दमाला का उल्लेख भवभूति के पूर्ववर्ती साहित्य में कहीं भी नहीं मिलता। इसका सर्वप्रथम उल्लेख रामचन्द्र-गुणचन्द्र कृत नाट्यदर्पण (११०० ई०) में प्राप्त होता है। अतः कुन्दमाला के नाटककार की स्थिति आठवीं शताब्दी के बाद तथा बारहवीं शती के पूर्व कहीं मानी जा सकती है।[1] उनके छह अंकवाले प्रस्तुत नाटक का कथानक वही है, जो उत्तररामचरित का है; नवीनता के नाम पर कुन्दमाला जैसे प्रसंगों को अवतरित करके मौलिक होने का प्रयास अवश्य हुआ है, किन्तु चाहे कुन्दमाला का नाटकीय प्रसंग हो या निर्वासिता सीता को वाल्मीकि-आश्रम में ही रखने की चेष्टा, दिङ्नाग कहीं भी अपनी इन नवीनताओं में भवभूति की तरह नाटकीय

---

१. दे० प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रांजैक्शन्स ऑव द ऑल इंडिया ओरीयण्टल कन्फरेन्स, अष्टम खण्ड, पृ० ९१-९७ में डे० ए० हुमायून् अब्दर लिखित 'कुन्दमाला एण्ड द उत्तररामचरित।'

प्रभावों की सृष्टि नहीं कर सके हैं। नाटक के चतुर्थ अंक में बावड़ी के तट पर सीता आदि को वाल्मीकि के दिव्य प्रभावों से अदृश्य बना देना, एकाकी राम का वहीं पहुँचना तथा सीता के प्रतिबिम्ब को देखकर मूर्च्छित होना, सीता द्वारा अपने स्पर्श से राम को सचेत करना, सीता-विरह में राम के करुण शोकोद्गार आदि उत्तररामचरित के तृतीय अंक की ही असफल अनुकृतियाँ हैं। भवभूति ने सीता के मन में राम के विरुद्ध वर्षों से जमे हुए दुर्भावों को धोने के लिए जिन मनोवैज्ञानिक एवं कलात्मक उपचारों की सृष्टि की है, उनका या तो यहाँ पूर्णतः अभाव है, या अत्यन्त असफल अनुकरण। नाटक के अन्त में राम के साथ सीता को जिस अस्वाभाविक ढंग से मिला दिया जाता है, वह वाल्मीकि की काव्य-परम्परा से भले ही अनुमोदित हो, स्वाभाविकता अथवा नाटकीय भावोत्कर्ष की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखता। कुन्दमाला की भाषा एवं शैली पर भी यत्र-तत्र भवभूति की शैली की स्पष्ट छाप दिखाई देती है।

मुरारि के **अनर्घराघव** नामक नाटक पर भी भवभूति के प्रभावों की स्पष्ट छाप मिलती है। नवम शताब्दी के मध्य में वर्तमान **हरविजय महाकाव्य** के प्रणेता **रत्नाकर** ने मुरारि का उल्लेख किया है; इसके तथा कुछ दूसरे प्रमाणों के आधार पर विद्वानों ने मुरारि का समय भवभूति के समय के पश्चात् तथा रत्नाकर के समय से पूर्व स्थिर किया है।[१] अनर्घराघव की विषयवस्तु वही है जो महावीरचरित की है, अतः मुरारि अपने नाटक के लिए एक ऐसी वस्तु का चुनाव करते हैं जिसे भवभूति पहले ही अपनी उज्ज्वल नाट्य-प्रतिभा का क्षेत्र बना चुके थे। इसीलिए मुरारि चाह करके भी अपनी वस्तु के मर्मस्थलों को कोई नवीन या मौलिक स्वर देने में असमर्थ रहे हैं; घूम-फिरकर वे उसी लीक पर आ जाते हैं जिसका निर्माण भवभूति ने बड़ी दक्षता एवं कलात्मकता के साथ किया था। किन्तु उस लीक का निर्वाह भी ठीक से हो पाता, तो मुरारि की प्रशंसा की जाती—उन्होंने प्रायः एक बने-बनाये मार्ग को तोड़ने एवं विकृत करने में ही अपनी नाट्यशक्ति का अपव्यय किया है। उदाहरण के लिए अनर्घराघव के सप्तम अंक की विषय-वस्तु को लिया जा सकता है जहाँ मुरारि ने राम के अयोध्या-प्रत्यावर्तन के सन्दर्भ में भवभूति की नाट्यप्रतिभा के साथ स्पर्धा करनी चाही है। भवभूति ने इस प्रत्यावर्तन के क्रम में मार्ग में पड़नेवाले विविध परिचित-अपरिचित चित्रों में से कुछ उन्हीं को ग्रहण किया है जो नाटकीय उद्देश्य की सिद्धि में सहायक हैं अथवा जो कार्य-व्यापार के सामान्य प्रवाह पर भार बनकर नहीं आते। मुरारि ने भवभूति की इस कला-दृष्टि को कदाचित् उनकी निर्बलता एवं अक्षमता मान लिया है; जिन प्रसंगों को भवभूति ने नाटकीय दृष्टि से परिहार्य मानकर छोड़ दिया था, मुरारि उन्हें ही बड़ी प्रीति एवं आवेग के साथ अपनाते हैं और लंका एवं अयोध्या के बीच पड़नेवाले विविध काल्पनिक लोकों, देशों एवं भूभागों का एक अतिशय विस्तृत चित्र प्रस्तुत करते हैं।

---

१. सं० ड्रा०, पृ० २२५।

मुरारि यहाँ भूल जाते हैं कि वे काव्य नहीं नाटक लिख रहे हैं। रघुवंश के तेरहवें सर्ग में कालिदास ने इसी विषयवस्तु को एक अपूर्व कलात्मक सौन्दर्य प्रदान किया है; वहाँ उनके काव्य के श्रव्य रूप के लिए वैसे चित्रण की उपयोगिता भी है। सम्भवतः अपने को 'बाल वाल्मीकि' कहनेवाले मुरारि की कलादृष्टि इतनी विकसित नहीं थी कि वे सामान्य काव्य एवं नाटक के रूपों में कोई भेद कर पाते।

सप्तम अंक के अतिरिक्त भी अनर्घराघव के ऐसे कई अंश हैं जो भवभूति के असफल अनुकरण मात्र हैं। भार्गव एवं राम के बीच वीरोचित संवादों के द्वारा वीर रस की सृष्टि में काफी उत्साह दिखाना, राम के वनगमन का प्रसंग मिथिला में ही उठा देना, माल्यवान् को एक नयी नाटकीय भूमिका प्रदान करना तथा उसकी मन्त्रणा-शक्ति के द्वारा नाटकीय कार्य-व्यापार को पुष्ट करने की चेष्टा करना, राम के साथ द्वन्द्व युद्ध में बाली को ससम्मान मरने देना आदि कल्पनाओं एवं घटनाओं पर महावीरचरित के ही स्वर मूर्त हुए हैं। किन्तु भवभूति की नाट्यप्रतिभा ने आरम्भ से अन्त तक राम के विशाल एवं उलझे हुए कथानक को जैसी नाटकीय अन्विति प्रदान की है तथा कुछ अपवादों को छोड़कर, जिस प्रकार उन्होंने नाटकीय कार्य-व्यापार को सर्वदा गतिशील बनाये रखा है, वैसा शायद ही कहीं मुरारि कर पाये हैं। हाँ, अपने पाण्डित्य, कवित्व आदि गुणों को वे अनर्घराघव में उतारने में अवश्य ही कृतकार्य हुए हैं। कदाचित् अनर्घराघव के बौद्धिक विलास से प्रसन्न होकर ही पाण्डित्य-प्रदर्शन में आस्था रखनेवाले किसी कवि ने भवभूति की अपेक्षा मुरारि को श्रेष्ठ कवि घोषित किया है।[1]

मुरारि के बाद जिस नाटककार पर हमारी दृष्टि जाती है, वे हैं—**कर्पूरमंजरी, बालरामायण, बालभारत** आदि के प्रणेता **राजशेखर**। राजशेखर का समय अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है। ये कान्यकुब्ज-नरेश महेन्द्रपाल तथा महीपाल के राजगुरु थे। महेन्द्रपाल के कुछ शिलालेख ९०३-४ तथा ९०७-८ ई० के प्राप्त होते हैं। चूँकि राजशेखर इनके उत्तराधिकारी महीपाल के समय भी विद्यमान थे, अतः राजशेखर का समय दसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के आसपास माना जा सकता है। अपने 'बालरामायण' नामक महानाटक की सुविस्तृत प्रस्तावना में एक स्थान पर वे अपने को **वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ** तथा **भवभूति** का अवतार मानते हैं।[2] इससे स्पष्ट है कि राजशेखर की काव्यप्रतिभा एवं कर्तृत्व के गठन में उक्त तीनों कवियों का कितना बड़ा हाथ रहा होगा। हमें यहाँ राजशेखर पर, विशेषतः उनके रामनाटक बालरामायण पर मात्र भवभूति के प्रभावों को

---

१. भवभूतिमनादृत्य निर्वाणमतिना मया।
मुरारेः पदचिन्तायामिदमाधीयते मनः॥—सू० मु० : ४ : १००।

२. बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा
ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया
स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥—बालरामायण : १ : १६।

लेकर ही चलना है। राजशेखर की इस नाट्यकृति का महानाटकत्व इसी से स्पष्ट है कि इसके दस बड़े अंक हैं—इसकी प्रस्तावना ही पूरे अंक के आकार की है। सम्पूर्ण प्रस्तावना में २० श्लोक आये हैं; इसकी तुलना में मुरारि ने अपने नाटक के आमुख में १३ श्लोक दिये हैं। आगे चलकर जयदेव ने अपने प्रसन्नराघव की प्रस्तावना में २३ श्लोक गुम्फित किये हैं। सम्पूर्ण उत्तररामचरित में श्लोकों की कुल संख्या २२५, अनर्घराघव में लगभग ५४० और बालरामायण में ४४० से अधिक है। इससे स्पष्ट है कि किस प्रकार भवभूति के बाद पड़नेवाले प्रायः सभी नाटककार क्रमशः अपने नाटकों के कलेवर बढ़ाने में अभिरुचि लेने लगे; शैली तथा भाषा की चकाचौंध उत्पन्न करने में ही वे अपने नाटकीय उद्देश्य की सिद्धि मान बैठे।'[1] अपने नाटक के इन विशाल दस अंकों में राजशेखर ने रामकथा के उसी पूर्व भाग को नाटकीय रूप प्रदान करना चाहा है जिसे भवभूति ने महावीरचरित के मात्र सात छोटे-बड़े अंकों में रखा है। रंगमंच पर रामकथा को इतने विस्तार के साथ उपन्यस्त करने का एक अवश्यम्भावी परिणाम बालरामायण की नाटकीयता की अपार क्षति में दृष्टिगोचर होता है। सम्भवतः भवभूति की तरह रामकथा को कोई नाटकीय मोड़ देने में जब राजशेखर अक्षम रहे, तो अपनी इस कमी को उन्होंने अपनी वस्तु में उबानेवाली विस्तृति लाकर पूरा करना चाहा। निस्सन्देह उनकी इस विस्तृति का वस्तु की नाटकीयता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

बालरामायण की कथावस्तु पर भी भवभूति के महावीरचरित का रंग देखा जा सकता है। सीता के प्रति रावण की वासना जगाकर नाटकीय वस्तु में कुछ नयापन लाने की चेष्टा की गयी है, किन्तु रावण के इस रूप की कल्पना भी सर्वथा मौलिक नहीं कही जा सकती—निश्चय ही राजशेखर का रावण अपने मूल रूप में भवभूति के रावण की ही अनुकृति है। रावण के वासनात्व को उभारकर उसे जिस रूप में रखा गया है, नाटकीय दृष्टि से वह हास्यास्पद अधिक और संगत कम प्रतीत होता है। माल्यवान् की भूमिका भी भवभूति के प्रभावों से अछूती नहीं कही जा सकती। बालरामायण के तृतीय अंक में सीता के लिए पीड़ित रावण के दुखी मन को प्रसन्न करने के लिए नटों द्वारा गर्भनाटक की योजना की जाती है। यह गर्भनाटक रावण के साथ सीता की सगाई का आधार लेकर चलता है, किन्तु जैसे ही रावण को वास्तविकता का पता चलता है, वह स्वभावतः ही क्रुद्ध होकर नाटक को बीच में ही भंग करा देता है। निश्चय ही अन्तर्नाटक के इस प्रयोग पर हर्ष एवं भवभूति की छाप पड़ी है। किन्तु भवभूति ने जिस कलात्मकता एवं नाटकीय दूरदर्शिता के साथ उत्तररामचरित के सप्तम अंक में गर्भनाटक को प्रयुक्त किया है, बालरामायण की इस नाट्ययोजना में उसका नितान्त अभाव है। यही नहीं, भवभूति ने अपने नाटकों में विरह-वेदना का जैसा भावुकतापूर्ण अंकन किया है, राजशेखर ने उसका भी अनुकरण करना चाहा है; किन्तु यहाँ भी वे भवभूति की ऊँचाई तक पहुँचने में सर्वथा असफल रहे हैं—उनके ऐसे चित्र अशियोक्तिपूर्ण भले हों, किन्तु

---

१. दे० जे-जी-आर-आई, खण्ड ५, भाग १ (नवम्बर, १९४७) में एस० के० दे लिखित 'राजशेखर'।

उनमें भवभूति की वेदना की सचाई एवं करुणा नहीं मिल सकती। बालरामायण का अन्तिम अंक कदाचित् सबसे अधिक उबानेवाला है, इसमें नाटकीय कार्य-व्यापार का बिल्कुल अभाव है। यहाँ पुष्पक द्वारा राम आदि की आकाशयात्रा वर्णित है जिसके अनुकार्य रघुवंश का तेरहवाँ सर्ग तथा महावीरचरित का सप्तम अंक माने जा सकते हैं; हाँ, इसकी योजना अनर्घराघव के सप्तम अंक के अधिक निकट अवश्य हुई है। संक्षेप में, बालरामायण की वस्तु-योजना के प्रायः प्रत्येक पहलू में भवभूति के रंग विद्यमान हैं।

राजशेखर के पश्चात् जयदेव आते हैं जिनका प्रसन्नराघव नामक नाटक अभिव्यक्ति के नये चमत्कारों से पूर्ण होकर भी भवभूति के दोनों रामनाटकों के वस्तु-विधान, भाव, शिल्प आदि तत्त्वों को उपजीव्य के रूप में ग्रहण करता है। जयदेव का समय ईसा की बारहवीं शताब्दी है। इस समय तक मुरारि, राजशेखर आदि कवियों ने संस्कृत नाटक के क्षेत्र में भाव एवं वस्तु पर जिस कृत्रिमता को आरोपित कर दिया था, उसका भरपूर उपयोग होने लगा था। फलतः प्रसन्नराघव नाटकीय भाव-संविधान की दृष्टि से कोई नया प्रयोग करे, इसके बदले उसमें शैलीगत चमत्कार, श्लेष, वक्रोक्ति आदि पर ही सर्वाधिक बल दिया गया है। इस नाटक के चतुर्थ अंक के परशुराम-प्रसंग पर महावीरचरित के भार्गव-प्रसंग की स्पष्ट छाया प्राप्त होती है। हाँ, जामदग्न्य के साथ राम एवं लक्ष्मण के संवादों में कवि ने वक्रोक्ति एवं श्लेष का कलात्मक पुट देकर नवीनता लाने का प्रयत्न अवश्य किया है, किन्तु इस प्रसंग में वीर एवं ओज की जैसी उद्भावना महावीरचरित में हुई है, वैसी यहाँ नहीं हो पायी है—ऐसा प्रतीत होता है, मानो कवि का ध्यान भावाभिव्यक्ति की अपेक्षा शैली-निर्माण पर ही अधिक केन्द्रित रह गया है। पंचम अंक में जयदेव ने गंगा, यमुना, गोदावरी आदि नदियों का जैसा मानवीकरण प्रस्तुत किया है तथा उनकी परस्पर बातचीत के क्रम में नाटकीय वस्तु को जिस प्रकार विकसित किया है, उसे देखकर हमें उत्तररामचरित के तृतीय अंक में निबद्ध तमसा एवं मुरला के नाटकीय संवाद की सहज स्मृति हो आती है। उत्तरराम-चरित के ही प्रथम अंक में चित्रदर्शन की कलात्मक योजना द्वारा राम एवं सीता के अतीत वृत्तों को प्रत्यक्ष बनाकर भवभूति ने अपनी नाटकीय भावभूमि को एक अपूर्व सौन्दर्य प्रदान किया है। सम्भवतः इसी की अनुकृति पर जयदेव ने भी प्रसन्नराघव के सप्तम अंक में सीता के विरहक्लेशों से पीड़ित रावण के मनोरंजन के लिए चित्रदर्शन का प्रयोग किया है। किन्तु इन दोनों चित्रों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि जयदेव न तो भवभूति की भावगहनता तक पहुँच सके हैं और न अपने चित्रों के माध्यम नाटकीय शिल्प का ही वह चमत्कार दे सके हैं जो उत्तररामचरित के प्रथम अंक की महती उपलब्धि है।

भवभूति के बाद संस्कृत में रामनाटकों की एक लम्बी परम्परा प्राप्त होती है। इनमें से जो नाटक अधिक चर्चित हैं तथा जिन पर भवभूति की कृतियों के स्पष्ट प्रभाव

लक्षित होते हैं, उनका कुछ निर्देश ऊपर किया गया है। किन्तु जो बहुत सारे राम-नाटक सर्वदा के लिए लुप्त हो चुके हैं, उन पर भवभूति की प्रतिभा के चिह्न नहीं उभरे होंगे, ऐसा नहीं सोचा जा सकता। यदि वे सारी नाट्यकृतियाँ उपलब्ध होतीं, तो सम्भवतः भवभूति का प्रभावशाली नाट्यव्यक्तित्व हमारे सामने और भी प्रखर होकर प्रकट होता।

अध्याय २

उपसंहृति

ऊपर हमने अलग-अलग प्रकरणों में **महाकवि भवभूति की नाट्यकला एवं कृतित्व के कतिपय वैशिष्ट्यों का एक सामान्य विश्लेषण** प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। जैसा कि हम इस प्रबन्ध के आमुख में कह चुके हैं, हमारा यह प्रयास चाह करके भी सर्वांगपूर्ण नहीं बन पाया है—अनुसन्धान-प्रक्रिया की सीमाओं में रहकर ही हमें चलना पड़ा है। फिर भी, ऐसी सीमाओं के रहते हुए भी, हमने यथाशक्य भवभूति की कलागत प्रवृत्तियों एवं स्थापनाओं का परीक्षण किया है। अपने अनुसन्धान के प्रक्रम में हमने कई बार इंगित किया है कि अब तक भवभूति की कई उपलब्धियों को प्रायः सहानुभूति-पूर्वक परखने की चेष्टा नहीं हो पायी है—कई स्थलों पर उनकी उपलब्धियाँ भी उनकी कमियों के पर्याय मान ली गयी हैं। हमने स्वभावतः ही ऐसे स्थलों के अनुशीलन पर अधिक बल देना चाहा है।

भवभूति ने अपनी कारयित्री प्रतिभा के समग्र ऐश्वर्य को मात्र तीन रूपकों के परि-सीमित आयाम में व्यक्त किया है; किन्तु कर्तृत्व के आयाम की यह लघुता उनके महाकवित्व के प्रभूत अभिव्यंजन में कहीं भी बाधक नहीं हुई है। हमें खेद तो अवश्य होता है कि तीन नाटकों के अतिरिक्त भवभूति की ऊर्जस्वी प्रतिभा का कोई दूसरा विपरिणाम पाने से हम अब तक वंचित रहे हैं; किन्तु इसका यह अर्थ कभी नहीं कि हम भवभूति की उक्त कृतियों की अमृतोपम आस्वादनीयता से अघा नहीं पाते। यह सच है कि भवभूति न तो भास की नाईं बहुत सारे नाटक लिख पाये और न कालिदास की तरह वे अपने पीछे नाट्यकृतियों के समानान्तर प्रबन्धकाव्यों की उज्ज्वल परम्परा ही छोड़ गये। किन्तु अपने तीन नाटकों के सीमित आकार-प्रकार में ही वे हमारे लिए इतना कुछ छोड़ गये हैं कि वह हमारे वैदग्ध्य एवं पाण्डित्य की प्रायः प्रत्येक प्यास बुझाने में समर्थ सिद्ध होता है। फलतः भवभूति अपनी कला की ऊँचाइयों में भास एवं कालिदास के समकक्ष तो हैं ही, इन कवियों के परवर्ती होने के कारण उन्होंने अपनी कला में कुछ वैसे मूल्यों को भी संस्थापित किया है, जो जाने-अनजाने भास एवं कालिदास से छूट गये थे। भास से पूर्व संस्कृत के नाटकों या नाटककारों के सम्बन्ध में हमारा परिज्ञान नहीं के बराबर है, अतः पृष्ठभूमि के अस्पष्ट रहने से भास की कृतियों के सम्यक् मूल्यांकन में कठिनाई उत्पन्न होती है। भास के नाटकीय वैशिष्ट्य का परीक्षण अधिक सुगमता एवं पूर्णता के साथ हो पाता, यदि उनके पूर्ववर्ती नाटककारों की छोटी या बड़ी कृतियों का स्वरूप हमारे लिए स्पष्ट होता। किन्तु भास के पश्चात् संस्कृत नाटकों की निरन्तर वर्धिष्णु परम्परा से होते हुए जब हम कालिदास तक पहुँचते हैं, तो लगता है, अभिज्ञानशाकुन्तल में आकर भारतीय काव्य की नाट्यविधा के भावाभिव्यंजन एवं

शिल्पन दोनों का चरम परिपाक हो गया है। भास की नाट्यकला का यथार्थ महत्त्व यदि उसकी प्रवर्तनशीलता में है, तो कालिदास की नाट्यकला का वैशिष्ट्य उसके विकास एवं परिणति में—एक यदि अपनी कला के सम्पुष्ट सन्धान हैं, तो दूसरे उसके भासुर लक्ष्य। अभिज्ञानशकुन्तल के पश्चात् भी संस्कृत नाट्य की कोई विशिष्ट उपलब्धि हो सकती है जो वस्तु, नेता एवं रस को नये परिवेशों में समान सफलता के साथ स्थापित करे, ऐसा सोचते हुए भी हमें झिझक होती है। और सचमुच कालिदास के पश्चात् लगभग तीन शताब्दियाँ बीत जाती हैं; इस लम्बी अवधि में या तो उनकी अनुकृति होती है या उनसे पृथक् नयी लीकों की खोज में नाट्य प्रतिभा का अपव्यय लक्षित होता है। यह गत्यवरोध तब तक बना रहता है, जब तक भारतीय साहित्याकाश में भवभूति के रूप में एक जाज्वल्यमान नक्षत्र का उदय नहीं हो जाता। अर्थात् कालिदास की प्रौढ़ नाट्यकला अपने पीछे जो चुनौती छोड़ गयी थी, उसे लगभग तीन शतियों के पश्चात् भवभूति ने ही प्रथमतः एवं अन्ततः स्वीकार किया। इस परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर इस उद्भट ऐतिहासिक साहस के चलते भवभूति का संस्कृत साहित्य में अप्रतिम स्थान है। कवि या नाटककार के रूप में कालिदास चाहे कितने भी महान् क्यों न दीखें, उनकी कला का वैशिष्ट्य उनके परम्परावादी होने में है; इधर भवभूति की कलात्मक महत्ता का उत्स एक बँधी-बँधाई परम्परा को तोड़ने, उससे विद्रोह करने से फूटता है। एक ओर यदि संयमन एवं संरक्षण है, तो दूसरी ओर उच्छलन एवं क्रान्ति।

भवभूति के तीन नाटक हमारे सामने हैं। तीनों के रंग एवं ढंग में अन्तर होते हुए भी उनका मौलिक स्वर एक ही है। यों बाह्यतः कथातत्त्व का उत्स एक होने से महावीरचरित एवं उत्तररामचरित में अधिक साम्य प्रतीत होता है और मालतीमाधव की कोटि प्रत्येक मानी में इन दोनों से पृथक् जा पड़ती है। कुछ यही सोचकर हमने इन तीनों का अनुशीलन भी इसी क्रम में प्रस्तुत किया है। किन्तु हमारा अभिप्राय इन तीनों में प्राणरूप से संस्थित भवभूति के 'स्व' को व्यवच्छिन्न करना कभी नहीं रहा। अधिक-से-अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि महावीरचरित में इस 'स्व' की व्यंजना अपेक्षाकृत कम, मालतीमाधव में उससे अधिक एवं उत्तररामचरित में सर्वाधिक हुई है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर भवभूति की कलागत मान्यताएँ एवं जीवन-दर्शन की मूल भित्तियाँ न्यूनाधिक इन सबमें समान रूप से मूर्त हुई हैं। दृष्टि की ऐसी एकरूपता कालिदास की नाट्यकृतियों तक में हम नहीं पाते—वहाँ तो मालविकाग्निमित्र से लेकर अभिज्ञानशकुन्तल तक भाव, शैली, दृष्टि इत्यादि सभी क्षेत्रों में स्पष्ट परिवर्तन एवं परिमार्जन प्रतिभासित होते हैं। अतः जितनी सुगमता से कालिदास की नाट्यप्रतिभा के विकासोन्मुख चरणों का विश्लेषण किया जा सकता है, उतनी सरलता से भवभूति की निरन्तर वर्धिष्णु कला-बुद्धि की मीमांसा नहीं की जा सकती। कारण, यदि एक की कला का स्वरूप अपने विकास के सुव्यक्त स्तरों में फैला हुआ है, तो दूसरे की उपलब्धि अपने निश्चित विकास के परिपोषण में मुखरित हुई है। इसीलिए कलागत ऊँचाई को

ध्यान में रखते हुए यदि अभिज्ञानशाकुन्तल एवं उत्तररामचरित को समकक्ष मान भी लें, तो कालिदास की शेष दो नाट्यकृतियों में ऐसी एक भी नहीं, जो महावीरचरित किंवा मालतीमाधव के साथ पांक्तेय की जा सके। कालिदास में 'कच्चे' एवं 'पके' के बीच स्पष्ट भेद परिलक्षित होता है; इधर भवभूति तो आरम्भ से ही 'पके हुए' दीखते हैं, भले ही उनकी परिपक्वता की विधाओं में कुछ अन्तर दिखाई दे। कालिदास की तुलना में भवभूति की परिणतप्रज्ञता का यह दूसरा महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य है।

भवभूति गहन अनुभूतियों के कवि हैं। कालिदास के श्रव्य काव्यों के कतिपय सन्दर्भों को छोड़कर देखें तो उनके नाटकों में ऐसा एक भी नहीं जिसमें मार्मिक अनुभूतियों की उतनी ही गहराई हो जितनी उत्तररामचरित में विद्यमान है। कालिदास कहीं-कहीं कला-दृष्टि से भवभूति की अपेक्षा ऊँचे भले ही दीखें, किन्तु उनके स्वर में जीवन की अतल गहराई में घुलते हुए भावों का वह संवेग, वह तन्मयता कदाचित् ही कहीं लक्षित होती है जो भवभूति की कला में हमें पग-पग पर प्राप्त होती है। अपनी नाट्य-कला के अत्यन्त सीमित आयाम में अनुभूति एवं अभिव्यक्ति का ऐसा धनी दूसरा कोई कवि सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में कहीं नहीं दीखता। सीता एवं राम की करुण वेदना वस्तुतः वह सहज माध्यम है जिसके द्वारा भवभूति अपने निजी वेदनशील कला-व्यक्तित्व का प्राणवन्त उद्घाटन करते हैं। उनकी वेदना अपने रोमानी आवेगों में भी यथार्थ एवं आदर्श के उभय तटों के बीच प्रवाहित होती रहती है, न इन दोनों में से किसी एक की ओर अधिक पक्षपात लक्षित होता है, न अधिक आग्रह। राम एवं सीता के तो चरित्र ही महनीय हैं, किन्तु जहाँ माधव एवं मालती जैसे अपेक्षाकृत सामान्य चरित्रों के 'रोमांस' का प्रसंग आता है, भवभूति वहाँ भी मैत्री, प्रेम, कर्तव्य आदि के एक निश्चित आदर्श का त्याग कभी नहीं करते। वे पार्थिव सौन्दर्य के रसिक पारखी अवश्य हैं, किन्तु मूलतः उसके आत्मिक रूपों के उद्गाता एवं प्रतिष्ठाता हैं।

भवभूति की घुलनशील वेदना चट्टानी शक्ति का व्यंजक है, मानव मन की निर्बलता का नहीं। उनके अश्रुकण भले ही पत्थर तक को पिघला दें, किन्तु वे अपने तारों में मनुष्य के कर्तव्य-भावों का सम्पोषण किये चलते हैं, अपने उद्दाम आवेगों में भी संयम एवं साहस के भासुर दीप जलाए जाते हैं। वे कर्तव्यों के मार्ग को पंकिल भले ही बना दें, किन्तु उसके संधान को कठोरतापूर्वक पकड़े रहते हैं—उसके क्षितिज को नीहार-बिन्दुओं से भले ही ढक लें, किन्तु उनके स्निग्ध गर्भ में अरुणोदय की रूप-सुषमा की सृष्टि करते हैं। राम एवं सीता किंवा माधव एवं मालती की वेदना उनके दिग्भ्रम अथवा लक्ष्यहीनता की अनुभूति नहीं जगाती; उसकी आग में वस्तुतः राम, सीता आदि चरित्रों का कांचन-व्यक्तित्व और दमक उठता है और उनके घुलते प्राण कर्तव्य-बुद्धि की नवीन चेतना से नहाकर स्फूर्त दीखते हैं। ये आँसू मूलतः रोमानी आवेगों के प्रतिनिधि नहीं; वे यथार्थतः लक्ष्यग्राही जीवन के विषम उतार-चढ़ाव से सम्भूत होते हैं। इस अर्थ में शूद्रक को छोड़कर संस्कृत साहित्य का कदाचित् ही कोई दूसरा कवि होगा जिसने अपने चरित्रों को जीवन-संग्राम के कठिन घात-प्रतिघात

से छानकर तैयार किया है। शकुन्तला एवं दुष्यन्त की वेदना मूलतः प्रेममूलक अतृप्ति की वेदना है; इधर राम एवं सीता की वेदना में प्रधानतः कर्तव्य एवं त्याग के इन्द्रधनुषी रंगों का समन्वय है, इसीलिए उसकी अनुभूति अधिक गहन एवं अधिक पवित्र है।

ऊपर भवभूति के विद्रोहात्मक स्वर की बात की गयी है। विद्रोह की कोटि दो प्रकार की होती है—संहारात्मक तथा सर्जनात्मक। भवभूति का विद्रोह दूसरे प्रकार का है—वे परम्परा को तोड़ करके भी उसे नवीन दिशा प्रदान करते हैं, उसके नए क्षितिजों के अन्वेषी हैं। उनकी कला-चेतना में ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश इन तीनों के समन्वित स्वरों का उद्घोष है—वे एक ओर तो नायक एवं नायिका जैसे चरित्रों के परम्परागत स्वत्वों का संरक्षण करते हैं, दूसरी ओर विदूषक जैसे पात्र की सत्ता ही नष्ट कर देते हैं और उसकी क्षतिपूर्ति में रौद्र, बीभत्स, भयानक आदि रसों की जीवन्त सृष्टि करते हैं। संस्कृत नाट्य-साहित्य की दीर्घ-परम्परा में सम्भवतः दूसरे किसी कवि ने एक साथ इतने सारे प्रयोग नहीं किये हैं। नाट्य के भेदक तत्त्वों में अन्यतम 'रस' के सम्बन्ध में भवभूति के प्रयोग सर्वाधिक साहसपूर्ण एवं ऐतिहासिक महत्त्व के सिद्ध होते हैं। कालिदास तक में कहीं भी नवीनता का ऐसा सर्जनात्मक आग्रह नहीं दीखता—उनकी कला का वैशिष्ट्य उनके समन्वयवादी होने में है, जब कि भवभूति की गरिमा का मूल स्रोत उनका प्रयोगवादी कर्तृत्व है। चाहे प्रकृति को लें, या काव्य के भाव अथवा शिल्प-पक्ष को, कालिदास सर्वत्र परम्परा का अनुवर्तन करते हैं, अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा के चमत्कारों से उन्हीं मार्गों का नये सिरे से शृंगार करते हैं जो वाल्मीकि या भास की कारयित्री प्रतिभा से निर्मित हुए थे। इधर भवभूति की कठोर प्रकृति की प्रीत ऊष्मा हो, अथवा उनके नाटक में करुण का रसगत वैशिष्ट्य हो, भवभूति से पूर्व उनकी कोई निश्चित परम्परा प्राप्त नहीं होती। कलात्मक अभिव्यक्ति की ऐसी नवीन विधाओं के वे एक साथ ही अन्वेषी एवं प्रवर्तक हैं।

भवभूति नाटक एवं प्रकरण, दशरूपकों के इन दोनों विशिष्ट प्रतिनिधियों को एक नई भावभूमि पर प्रतिष्ठित करने में समर्थ हुए हैं। अपने दोनों रामनाटकों, विशेषतः उत्तररामचरित में इनकी सर्वोत्तम उपलब्धि है राम के दैवी चरित्र को मानवीय संवेग प्रदान करना। चाहे वालि-बध का प्रसंग हो, या सीता-निर्वासन का, वाल्मीकि के राम के चरित्र का बचाव प्रायः इसी आधार पर होता है कि वे अवतारी पुरुष हैं—उनके लोकोत्तर कार्य लोक-बुद्धि से नहीं परखे जा सकते। भवभूति राम के लोकोत्तर पुरुषोत्तमत्व को लोकबुद्धिगम्य बनाते हैं, उनकी दैवी शक्तियों को मानवी शक्तियों के रूप में संस्थापित करते हैं। रामायण में सीतानिर्वासन जैसी घटनाओं का औचित्य प्रायः इसीसे सिद्ध होता है कि वे मानवकर्म नहीं, अवतारी पुरुष के सहज धर्म हैं। किंतु भवभूति अपनी कला की प्रक्रिया में इस बात का अनुभव अच्छी तरह कर लेते हैं कि रंगमंच पर रामचरित के इन्द्रधनुषी औदात्त्य को तब तक संवेदनीय एवं प्रभावपूर्ण नहीं बनाया जा सकता जब तक उसे मिट्टी के रंगों से भूषित नहीं कर दिया जाता। अपनी मानववादी कला के इसी उद्देश्य की पूर्ति वे अपने दोनों रामनाटकों में करते हैं।

अपने मालतीमाधव में भी वे प्रकरण की एक नवीन दिशा का उद्घाटन करते हैं। दुर्भाग्य से संस्कृत साहित्य के बहुत सारे प्रकरण अब केवल नामशेष हैं; वे वर्तमान होते तो निश्चय ही उनके प्रकाश में मालतीमाधव के वैशिष्ट्यों का सम्यक् तुलनात्मक अध्ययन हो पाता। भवभूति के रामनाटकों के मूल्यांकन में हमें ऐसी कोई कठिनाई नहीं होती—रामनाटकों की दीर्घ परम्परा तथा उनमें से बहुतों की विद्यमानता के कारण महावीरचरित एवं उत्तररामचरित के कलात्मक उत्कर्षों का तुलनात्मक परिज्ञान हो जाता है। प्रकरण के क्षेत्र में सम्प्रति केवल दो ही विशिष्ट कृतियाँ उपलब्ध होती हैं—शूद्रक का मृच्छकटिक तथा भवभूति का मालतीमाधव। निश्चय ही एक ही नाट्य-विधा के रूपान्तर होने पर भी इन दोनों कृतियों की जीवन-दृष्टि में कुछ मूलभूत अन्तर है। संस्कृत नाट्य-परम्परा की कतिपय रूढ़ियों से मुक्त होने पर भी मृच्छकटिक अपने प्रधान पात्रों—नायक एवं नायिका—को पुराने साँचों में ढालकर ही तैयार करता है, उनमें जीवन के वैसे स्फुरण नहीं जगा पाता जो मानव आदर्शों की उदात्त अनुभूतियों से दीप्त हों। यही कारण है कि चारुदत्त की दरिद्रता हमारे मन में कोई गहन संवेदना नहीं जगा पाती और न उसका एक रूपवती वेश्या के प्रति समाकर्षण ही हमारे सामने प्रेम का कोई वास्तविक आदर्श रख पाता है। चारुदत्त दरिद्र होकर भी मनसा एवं कर्मणा अभिजात वर्गीय समाज का प्रतिनिधि है; उसके अनुतापों में किसी दीन-दुखिया की आर्त पुकार नहीं, प्रत्युत ऐश्वर्यच्युत श्रीमन्तों की अकुलाहट मात्र है। वह कुछ ही समय पूर्व लाखों की सम्पत्ति का उपभोक्ता रहा है और अब भी उसके संस्कार रईसों के ही हैं। धूता जैसी पत्नी के रहते हुए भी वह वसन्तसेना की ओर आकृष्ट होता है; इससे प्रेम का कोई आदर्श बनता नहीं, बिगड़ता ही है। वसन्तसेना को भी वह सर्वान्तःकरण से स्वीकार कर पाता, तो एक बात थी—उसकी प्रणयानुभूति में वसन्तसेना का वेश्यात्व घुल नहीं पाता, वरन् काँटे की तरह खटकता रह जाता है। अतः वैयक्तिक या सामाजिक किसी भी दृष्टि से वह प्रेम के महनीय आदर्शों पर नहीं चल पाता। इधर मालती या माधव व्यक्त रूप से अभिजातवर्गीय हैं; इस प्रकट सत्य में न तो कोई छिपाव है और न उन्हें किसी विपरीत परिस्थिति में डालकर उनके व्यक्तित्व को कृत्रिम बनाने की कोई चेष्टा ही की गयी है। वे जो हैं, हमारे सामने हैं—न कोई गोपनीयता, न कृत्रिमता और न हमारी भावनाओं से कोई दुराव! उनकी प्रीति ऊपर-ऊपर चाहे जितनी रोमानी प्रतीत हो, किन्तु अन्ततः उसमें दो आत्माओं का अटूट आवेग है। उनका परस्पर प्रणय-भाव रूप आदि बाह्य निमित्तों की अपेक्षा नहीं करता—वह आत्मा की गहन आन्तरिक प्रक्रिया है।[१] आद्योपान्त उनके प्रेम का यही आदर्श और यही स्वरूप हमारे मन-प्राणों पर छाया रहता है। अतः शूद्रक यदि कला-दृष्टि से ऊँचे

१. तुल० व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु—
न खलु बहिरुपाधीन्प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं।
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः॥ —मा० मा० : १ : २४।

हैं, तो भवभूति भाव-दृष्टि से। भवभूति के इस प्रकरण में उदात्त भावों का प्रायः वैसा ही सम्पोषण प्राप्त होता है जैसा कि नाटकों में लक्षित होता है। अतः, इस दृष्टि से, वे अपने प्रकरण की भावभूमि को खींचकर नाटकों के अधिक समीप लाते हैं; उधर शूद्रक की वर्ण्य वस्तु नाटकों की आभिजात्य-प्रकृति से उतनी ही व्यवहित हो जाती है और भावात्मक दृष्टि से उसकी प्रहसन, भाण आदि नाट्यरूपों के साथ अधिक संगति बैठती है।

जहाँ तक शैली, भाषा आदि का प्रश्न है, यहाँ भी भवभूति स्पष्टतः किसी के अनुकर्ता नहीं हैं—उनकी प्रांजल शैली पर उनकी प्रतिभा की वैयक्तिकता सर्वत्र लक्षित होती है। वे सचमुच वश्यवाक् हैं; भाषा उनके स्फूर्त एवं उदार भावों की ऊर्जस्वी अनुगामिनी बनकर दौड़ती चलती है। चाहे कोमल से कोमल या विकट से विकट भावाभिव्यक्ति का प्रश्न हो, उन्हें शब्द खोजने नहीं पड़ते—भावों के सम्यक् अनुपात एवं प्रकृति के अनुसार किसी पहाड़ी निर्झरिणी के स्वच्छन्द प्रवाह की भाँति शब्दों का स्वाभाविक निःसरण होता रहता है। कोमल एवं कठोर दोनों की समान शक्ति के साथ कलात्मक व्यंजना करने में जो अधिकार भवभूति को प्राप्त है, वैसा संस्कृत के कदाचित् दूसरे किसी कवि को नहीं है। ऐसे बहुत कम कवि हैं जिनकी शैली पर उनकी ऐकान्तिक वैयक्तिकता की मुहर लगी हुई हो—भवभूति की भाषा एवं शैली में 'भवभूतित्व' के इतने सारे रंग घुले हुए हैं कि उनकी परिचिति सहज ही हो जाती है।

प्रायः भवभूति की शैली की क्लिष्टता के प्रश्न उठाये जाते हैं। किन्तु क्लिष्टता प्रायः वहीं खटकती है जहाँ वह आरोपित-सी प्रतीत होती हो; यदि क्लिष्टता भाषा की स्वभावगत प्रकृति बनकर प्रकट हो, तो उसमें वस्तुतः कोई 'क्लेश' नहीं रह जाता। कुछ अपवादों को छोड़कर भवभूति जहाँ भी क्लिष्ट प्रतीत होते हैं, वे वहाँ वास्तव में अपने जटिल एवं विकट भावों को अनुरूप अनुरणन एवं संवेग प्रदान करते हुए दीखते हैं। संक्षेप में, वैसी भावाभिव्यक्ति के लिए वैसा ही 'रूप' स्वाभाविक है, अतः वहाँ किसी प्रकार की शैलीगत कृत्रिमता या आरोप का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि भवभूति की भाषा 'सुधी' सहृदयों की अपेक्षा रखती है, सामान्य सहृदयों के लिए उसके रसात्मक मूल्य संवेद्य नहीं हो पाते। किन्तु प्राचीन काल से लेकर आज तक सहृदयों का 'सामान्य' वर्ग ही अधिक प्रबल रहा है, अतः उसने यदि भवभूति को गलत समझ लिया तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। यह तय है कि जो पाठक भास, कालिदास आदि की शैलीगत मान्यताओं से आविष्ट होकर भवभूति को परखना चाहेगा, उसे निराशा होगी। भवभूति के मूल्यांकन के लिए किसी 'आविष्ट' बुद्धि की अपेक्षा नहीं, वरन् ऐसी प्रज्ञा चाहिए जो स्वच्छन्द, उदार एवं गहन हो।

एक दूसरा आक्षेप भवभूति की अतिशय भावुकता एवं अभिधामूलक अभिव्यक्ति को लेकर आता है। पूर्वपक्षियों का दावा है कि भवभूति प्रायः अपने भावों पर कला-

त्मक संयम नहीं रख पाते, उनके प्रवाह में बहते हुए काफी दूर चले जाते हैं। भावों की ऐसी स्फीति के कारण उनके शैलीगत लक्ष्म विरतारित हो उटते हैं। कालिदास जिसे व्यंजना में संकेत मात्र कर देना पर्याप्त समझते हैं, भवभूति उसे अभिधा में कह देते हैं। समालोचकों के इस भ्रान्तिमूलक दृष्टिकोण से हम पूर्णतः असहमत हैं। वस्तुतः कालिदास की व्यंजना अथवा भवभूति की अभिधा को उनके वस्तुतत्त्व से विच्छिन्न करके नहीं देखा जा सकता—वस्तु की विशिष्ट प्रकृति के अनुरूप वृत्तियों को ढलना होता है। भवभूति के व्यंजनात्मक वैशिष्ट्यों को देखना हो तो उत्तररामचरित के प्रथम एवं सप्तम अंक, महावीरचरित के चतुर्थ अंक तथा मालतीमाधव के षष्ठ अंक परीक्षणीय हैं; इन अंकों के अतिरिक्त भी कई स्थलों पर कवि ने अपनी भावगत संक्षिप्ति एवं इंगिति के आदर्श निदर्शन प्रस्तुत किये हैं। किन्तु उत्तररामचरित के राम एवं सीता के प्रभूत अश्रु-बिन्दुओं के साथ यदि अभिज्ञानशकुन्तल के दुष्यन्त एवं शकुन्तला के अल्प अश्रुकणों की तुलना की जायगी, तो वस्तुतः यहाँ कालिदास एवं भवभूति दोनों की कला-दृष्टियों के प्रति अन्याय होगा। हमने अपने अनुसन्धान के क्रम में इस सन्दर्भ की मीमांसा की है और इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अभिज्ञानशकुन्तल एवं उत्तररामचरित की वेदनाओं में मूलभूत अन्तर है, इसीलिए उनकी अभिव्यक्ति के 'फॉर्म' में अवश्यंभावी भेद उपस्थित हो जाता है। न तो कालिदासीय व्यंजना के चश्मे से भवभूति को परखा जा सकता है और न भवभूतीय अभिधा के निकष पर कालिदास का मूल्यांकन सम्भव है। स्पष्टतः दोनों के वस्तुतत्त्व, विचार-क्षेत्र आदि अलग-अलग हैं; उनका समीक्षण उनके वैयक्तिक क्षेत्रों, प्रवृत्तियों एवं दृष्टियों के परिप्रेक्ष्य में किया जाना चाहिए, तभी उचित निष्कर्ष प्राप्त हो सकते हैं।

●

आकर-ग्रन्थों की सूची

अरस्तू का काव्यशास्त्र : डा० नगेन्द्र, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, वि० सं० २०१४ ।

अभिज्ञानशकुन्तल : शारदारंजन राय, कलकत्ता, १९४९ ।

अभिज्ञानशकुन्तल : एम० आर० काले, बम्बई, १९५७ ।

अभिनवभारती : गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, बड़ौदा, १९२५ ।

अनर्घराघव : आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, १९६० ।

इपिक सोर्सेज ऑव संस्कृत लिटरेचर : यूथिका घोष, संस्कृत कालेज, कलकत्ता, १९६३ ।

उत्तररामचरित : डा० पी० वी० काणे, मोतीलाल बनारसीदास, १९६२ ।

उत्तररामचरित : निर्णय सागर प्रेस, १९४९ ।

उत्तररामचरित : शेषराज शर्मा रेग्मी तथा कान्तानाथ शास्त्री तेलंग, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९६२ ।

उत्तररामचरित : शारदारंजन राय, कलकत्ता, १९४९ ।

उत्तररामचरित : सी० शंकरराम शास्त्री, श्री बालमनोरमा प्रेस, मद्रास, १९६२ ।

उत्तररामचरित : ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, कलकत्ता, १८७६ ।

उत्तररामचरित : पं० बी० एस० घाटे, नागपुर, १८९५ ।

उत्तररामचरित : टी० आर० रत्नम् ऐयर और के० पी० परब, बम्बई, १९०३ ।

उत्तररामचरित : एडवर्ड बी० कॉवेल, कलकत्ता, १८६२ ।

उत्तररामचरित : आनन्दस्वरूप तथा जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, १९६३ ।

उत्तररामचरित (रामाज लैटर हिस्ट्री) : श्रीपद कृष्ण बेल्वल्कर, हारवर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १९१५ ।

ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, खण्ड ३, भाग १ : एम० विण्टरनित्ज, मोतीलाल बनारसीदास, १९६३ ।

ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर : आर्थर ए० मैकडोनल, लन्दन, १९१३ ।

ए संस्कृत-इङ्गलिश डिक्शनरी : सर मॉनीयर मॉनीयर विलियम्स, आक्सफोर्ड, १९५१ ।

ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर (क्लासिकल पीरियड), खण्ड १ : एस० एन० दासगुप्त तथा एस० के० दे, कलकत्ता, १९४७ ।

ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर : वी० वरदचारी, इलाहाबाद, १९५२ ।

एरिस्टोटिल्स थिअरी ऑव पोएट्री एण्ड फाइन आर्ट (चतुर्थ संस्करण) : एस० एच० बुचर, डोवर पब्लिकेशन्स, अमरीका, १९५१ ।

ए बिब्लिओग्राफी ऑव द संस्कृत ड्रामा : माण्टगोमरी स्च्यूलर, द कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, १९०६।

ए नोट ऑन भवभूति एण्ड वाक्पतिराज : जे० हर्टेल, लन्दन, १९२४।

ऐन इण्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑव लिटरेचर : विलियम हेनरी हडसन, लन्दन, १९६३।

ऐस्पेक्ट्स ऑव संस्कृत लिटरेचर : एस० के० दे, कलकत्ता, १९५९।

कथासरित्सागर : जीवानन्द विद्यासागर, रमानाथ मजुमदार लेन, कलकत्ता।

कथासरित्सागर : पं० दुर्गाप्रसाद तथा काशीनाथ पाण्डुरंग परब, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०३।

कलेक्टेड वर्क्स ऑव सर आर० जी० भाण्डारकर, खण्ड २ : भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, १९२८।

कण्ट्रीब्यूशन्स टु द हिस्ट्री ऑव द हिन्दू ड्रामा : मनोमोहन घोष, कलकत्ता, १९५८।

कम्परेटिव एस्थेटिक्स, खण्ड १ और २ : के० सी० पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी—१, १९५९।

कादम्बरी : पाण्डेय रामतेज शास्त्री, पण्डित पुस्तकालय, काशी, १९६४।

काव्यमीमांसा : पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९५४।

कालिदास और भवभूति : द्विजेन्द्रलाल राय (अनु० पं० रूपनारायण पाण्डेय) बम्बई, १९५६।

काव्यप्रकाश : (नागोजीभट्ट विरचित "उद्योत" तथा गोविन्द ठाकुर विरचित "प्रदीप" के साथ), पुण्यपत्तन, १९११।

कल्हणाज राजतरंगिणी—ए क्रोनोलॉजी ऑव द किंग्स ऑव काश्मीर, खण्ड १ और २ : एम० ए० स्टेइन, मोतीलाल बनारसीदास, १९६१।

क्रिटिक्स ऑन संस्कृत ड्रामा : डा० सदाशिव ए० डांगे तथा श्रीमती सिन्धु एस० डांगे, मुरादाबाद, १९६३।

कुन्दमाला : कृष्णकुमार धवन, भारतीय संस्कृत भवन, जालन्धर, १९५५।

ग्रेट संस्कृत प्लेज : पी० लाल, न्यूयार्क, १९६४।

चारुदत्त : पं० कपिलदेव गिरि, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६०।

ट्राइबल कॉइन् ऑव एन्स्येण्ट इण्डिया (पाण्डुलिपि) : कल्याणकुमार दासगुप्त, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९६४।

ड्रामा इन एन्स्येण्ट इण्डिया : एस० सी० भट, दिल्ली, १९६१।

द संस्कृत ड्रामा इन इट्स ऑरिजिन, डेवलपमेण्ट, थ्यूरी एण्ड प्रैक्टिस : ए० बी० कीथ, आक्सफोर्ड, १९२४।

द टाइप्स ऑव संस्कृत ड्रामा : डी० आर० मनकद, कराँची, १९३६।

द ज्योग्राफी ऑव कालिदास : एच० सी० चकलदार, कलकत्ता, १९६३।

द नाट्यशास्त्र (खण्ड १ और २) : मनोमोहन घोष, द एसिआटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १९६१।

द क्लासिकल ड्रामा ऑव इण्डिया : हेनरी डब्ल्यू० वेल्स, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९६३।

द लॉज एण्ड प्रैक्टिस ऑव संस्कृत ड्रामा : एस० एन० शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६१।

द एस्येण्ट ज्योग्राफी ऑव इण्डिया : अलेक्जेण्डर कनिंघम, वाराणसी, १९६३।

द सोसल प्ले इन संस्कृत : वी० राघवन, इण्डियन इन्स्टीच्यूट ऑव कल्चर, बंगलोर।

द एनाटॉमी ऑव ड्रामा : मार्जोरी बोल्टन, लन्दन, १९६०।

दशरूपक : निर्णय सागर प्रेस, वि० सं० १९८३।

दशकुमारचरित : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३३।

दुर्गासप्तशती : गीता प्रेस, गोरखपुर।

नाट्यसमीक्षा : डा० दशरथ ओझा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, द्वितीय संस्करण।

ध्वन्यालोक : जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६५।

नाट्यशास्त्र : पं० केदारनाथ, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४३।

नाट्यशास्त्र : पं० बटुकनाथ शर्मा तथा पं० बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बाराणसी, १९२९।

नाट्यशास्त्र : एम० रामकृष्ण कवि, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, खण्ड ५८, बड़ौदा, १९३४।

निघण्टु तथा निरुक्त : लक्ष्मणसरूप, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७।

पद्मपुराण : विश्वनाथनारायण, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पुण्याख्यपत्तन, १८९४।

पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र की परम्परा : डा० नगेन्द्र, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ : किशलयमंच, इलाहाबाद, १९६३।

प्रकृति और काव्य (संस्कृत साहित्य) : रघुवंश, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६३।

प्रतिमानाटक : आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९५५।

प्रसन्न राघव : शेषराज शर्मा शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५६।

प्रतिमानाटक : टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज, १९१५।

प्राचीन भारतीय साहित्य (प्रथम भाग, द्वितीय खण्ड) : एम० विण्टरनित्ज, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६६।

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् : महादेवशास्त्री बाके, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३४।
बालरामायण : जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८८४।
बृहत्कथामंजरी : पं० शिवदत्त शर्मा, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०१।
भरत का नाट्यशास्त्र (भाग १) : रघुवंश, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६४।
भवभूति एण्ड हिज प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर : ए० बरुआ, कलकत्ता, १८७८।
भवभूति : आर० डी० कर्माकर, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धरवार, १९६३।
भारतीय नाट्य-साहित्य : (सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ), नयी दिल्ली।
भास–ए स्टडी : ए० डी० पुसल्कर, लाहौर, १९४०।
भासनाटकचक्र : सी० आर० देवधर, ओरिएण्टल बुक एजेंसी, पूना, १९६२।
भावप्रकाशन : शारदातनय, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, १९३०।
भोजा'ज शृङ्गारप्रकाश : डा० वी० राघवन, श्रीकृष्णपुरम् स्ट्रीट, मद्रास, १९६३।
महावीरचरित : जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८७३।
मनुस्मृति ('मन्वर्थमुक्तावली' सहित) : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४६।
महावीरचरित : ए० बरुआ, कलकत्ता एण्ड लन्दन, १८७७।
महावीरचरित : टोडरमल, आक्सफोर्ड, १९२८।
महावीरचरित : आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५५।
महावीरचरित : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, शक सं० १८२३।
महाकवि भवभूति और उनका उत्तररामचरित : डा० कृष्णकान्त त्रिपाठी, कानपुर, १९६३।
महाकवि भवभूति : डा० गंगासागर राय, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६५।
महाकवि भवभूति : श्रीमती रमा पाण्डेय, साहित्य रत्न भण्डार, आगरा, १९६१।
मालतीमाधव : निर्णयसागर प्रेस, १९३६।
मालतीमाधव : शेषराजशर्मा शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९५४।
मालतीमाधव : आर० जी० भाण्डारकर, बम्बई, १८७६।
मालतीमाधव : जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८७६।
मालतीमाधव : एम० आर० काले, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७।
मास्टर्स ऑव यूरोपियन ड्रामा : जॉन एलन, लन्दन, १९६२।
मुद्राराक्षस : के० एच० ध्रुव, ओरिएण्टल बुक एजेंसी, पूना, १९३०।
मृच्छकटिक : आर० डी० कर्माकर, पूना, १९५०।
मेघदूत : शारदारंजन राय, कलकत्ता, १९४६।
मेघदूत : एच० एच० विल्सन, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६१।
याज्ञवल्क्यस्मृति ('मिताक्षरी' सहित) : नारायणराम आचार्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४९।
रस-सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण : आनन्दप्रकाश दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, १९६०।

रस-सिद्धान्त : डा० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६४ ।
रसगंगाधर : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९४ ।
रघुवंशमहाकाव्य : पं० हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, वाराणसी, १९५३ ।
रत्नावली नाटिका : आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६४ ।
लिटरेरी क्रिटिसिज्म—ए शॉर्ट हिस्ट्री : विलियम के० विसाट एण्ड क्लिथ बुक्स, आक्सफोर्ड बुक कम्पनी, भारतीय संस्करण, १९६४ ।
वर्ल्ड ड्रामा : एलार्डिस निकल, लन्दन, १९५७ ।
वाल्मीकीय रामायण : गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१७ ।
वाल्मीकीय रामायण कोश : रामकुमार राय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६५ ।
विक्रमोर्वशीय : पं० रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९५३ ।
विमेन इन संस्कृत ड्रामाज : डा० रत्नमयीदेवी दीक्षित, दिल्ली, १९६४ ।
शेक्सपीयर (कम्प्लीट वर्क्स) : पेटर अलेक्जेण्डर, इंगलिश लैंग्वेज बुक सोसाइटी, लन्दन, १९६४ ।
सम ओल्ड लॉस्ट रामप्लेज : डा० वी० राघवन, अन्नामलाई नगर, १९६१ ।
साहित्यदर्पण : पं० शालिग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, १९५६ ।
सौन्दर्यतत्त्व और काव्यसिद्धान्त : डा० सुरेन्द्र बारलिंगे (अनु० डा० मनोहर काले), दिल्ली, १९६३ ।
संगीतरत्नाकर (भाग १ और २) : आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पुण्यपत्तन, १९४२ ।
संस्कृत महाकवियों के सम्बन्ध में प्रचलित लोकोक्तियाँ : आचार्य रामचन्द्र झा, मुजफ्फरपुर, १९६२ ।
संस्कृत नाटककार : कान्तिकिशोर भरतिया, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, १९५९ ।
संस्कृत ड्रामा : इट्स ऑरिजिन एण्ड डिक्लाइन, आई० शेखर, लीदेन, १९६० ।
संस्कृत साहित्य का इतिहास : ए० बी० कीथ (अनु० डा० मंगलदेव शास्त्री), मोतीलाल बनारसीदास, १९६० ।
संस्कृत पोएटिक्स : एस० के० दे, कलकत्ता, १९६० ।
संस्कृत सुकवि समीक्षा : बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६३ ।
संस्कृत ड्रामा एण्ड ड्रेमेटिस्ट्स (देयर क्रॉनोलॉजी, माइण्ड एण्ड आर्ट) : के० पी० कुलकर्णी, १९२७ ।
स्टडीज इन इण्डोलॉजी, खण्ड १ : डा० वी० वी० मिराशी, नागपुर, १९६० ।
स्टडीज इन द ज्योग्राफी ऑव एन्स्येण्ट एण्ड मिडीवल इण्डिया : डा० डी० सी० सरकार, मोतीलाल बनारसीदास, १९६० ।

स्वतन्त्र कला शास्त्र : डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६७ ।

स्वप्नवासवदत्ता : टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज, १९१५ ।

हर्षचरित : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४६ ।

हाईवेज एण्ड बाइवेज ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत : एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री, मद्रास, १९४५ ।

हिन्दी दशरूपक : डा० भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५५ ।

हिन्दी काव्यप्रकाश : डा० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६० ।

हिन्दी वक्रोक्तिजीवित : आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५५ ।

हिन्दी काव्यादर्श : आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५८ ।

हिन्दी नाट्यदर्पण : आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९६१ ।

हिन्दी साहित्यकोश : ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, सं० २०१५ ।

हिन्दी ध्वन्यालोक : आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली, १९५२ ।

हिन्दी अभिनव भारती : आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९६१ ।

हिन्दी साहित्यदर्पण : डा० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्याभवन, चौक वाराणसी, १९५७ ।

हिन्दी काव्यालंकारसूत्र : आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९५४ ।

हिन्दी कामसूत्र : देवदत्त शास्त्री, चौखम्बा सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६४ ।

हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोएटिक्स : डा० पी० वी० काणे, दिल्ली, १९६१ ।

हिस्ट्री ऑव क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर : एम० कृष्णमाचारियर, मद्रास, १९३७ ।

पत्र-पत्रिकाएँ

आलोचना (त्रैमासिक) : जनवरी, १९५७ ।

इण्डियन एण्टीक्वेरी : १८७२, १८७३, १९३० ।

एनल्स ऑव द भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, खण्ड ३८ : १९५७ ।

जार्नल ऑव द गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीच्यूट, खण्ड ५, भाग १ : नवम्बर, १९५७ ।

जार्नल ऑव द अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी, खण्ड २०, २५ और ४१ ।

जार्नल ऑव द युनिवर्सिटी ऑव बम्बई : सितम्बर, १९५५ ।

द जार्नल ऑव ओरिएण्टल रिसर्च : मद्रास, खण्ड ६ और ७, १९३३ ।

ऐ

ओ

औ

क

ख

ग

म

ल

व

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	२५	किस	किसी
१६	६	बाझ	बोझ
१८	५	कग	कम
३३	४	करेंगे	करेंगे
३७	२३	काव्य-व्यापार	कार्य-व्यापार
४२	१८	ना क	नाटक
४५	१४	इस उस	इस
५०	४ पाद०	द्रमः	द्रुमः
६०	३५	परिहास	परिहार
६२	३२	हीं	ही
७२	७	पुरुरवा	पुरूरवा
७३	७	थे	ये
८०	३३	प्रतिक्षा	प्रतीक्षा
९१	१५	डाले गये	ढाले गये
९१	३१	चारि त्रित्र	चारित्रिक
१०३	७	दक्षिणाल्य	दाक्षिणात्य
१०५	१०	परमारवंश	परमार वंश
११३	२५	चपणों	चरणों
१२१	२४	स दर्भान्तरेण	सन्दर्भान्तरेण
१२१	२५	···द्भ वतो	···द्भगवतो
१३०	१३	भागवत	भावगत
१४०	१२	अप्यायित	आप्यायित
१४२	१८	विवध	विविध
१४२	२९	आभ्यन्तरिक	आभ्यन्तर
१४३	९	प्रम	प्रेम
१४४	५	वहीं	वही
१४८	१२	अप्रत्यक्ष	प्रत्यक्ष
१४७	७ पाद०	दृश्यं	दृश्यं श्रव्यं
१५२	४ पाद०	चिरससंभाव	चिरसम्भाव

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५४	१ पाद०	ब्याख्याता	व्याख्याता
१५४	७ पाद०	337	३३७
१५६	३०	विषय	विषय में
१५७	१५	हाता	होता
१५८	३४	ब्यक्तित्व	व्यक्तित्व
१६६	१४	ज्जो	जो
१६६	२३	आमास	आभास
१६६	२८	संम्बोधित	सम्बोधित
१६७	१ पाद०	रामः रामः।)	रामः।) रामः
१७५	२१	ध्यामत्य	धातव्य
१७६	१५	कभी भा	कभी भी
१७७	२०	समम	समय
१७८	३ पाद०	षडभागस्य	षड्भागस्य
१९२	१८	दमयन्तिका	मदयन्तिका
१९२	२२	सामन	सामने
१९९	४ पाद०	नागवल्ली	नागवल्ली
२०१	१०	माधवी	मालती
२०१	१७ पाद०	दृष्ट वैव	दृष्ट्वैव
२०७	२२	सन्यासिनी	संन्यासिनी
२१०	१०	समानन्तर	समानान्तर
२१३	५	जाती	जाता
२१७	२९	तत्त्वा	तत्त्वों
२१९	३	वाणभट्ट	बाणभट्ट
२२८	१५	रुक्षता	रूक्षता
२३२	७	स्पर्श	स्पर्शी
२३२	२२	उद्भावभा	उद्भावना
२३३	८	अभीत्सित	अभीप्सित
२३६	३	constral	contrast
२३६	२९	रुक्ष	रूक्ष
२४२	२ पाद०	जम्बू	जंम्बू
२४३	५ पाद०	धनुख .	धनुरव
२४७	५	वृत्तान्ता	वृत्तान्तान्
२४७	१८	कथन	कथन से

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५२	१ पाद०	हृदयम	हृदयम्
२५४	४ पाद०	मेद्यैर्	मेघैर्
२५८	४ पाद०	कजित	कूजित
२७०	२ पाद०	झाङ्कतैर्	झाङ्कृतैर्
२७८	२८	र प	रूप
२८०	१२	एब	एवं
२८८	६ पाद०	तनमयोन्माद	तन्मयोन्माद
२९४	९ पाद०	मुखैरयाहत	मुखैरव्याहत
२९५	७ पाद०	निश्च्चोतन्ते	निश्चोतन्ते
३०२	२	प्रयत्त्न	प्रयत्न
३०३	९	सौन्दय	सौन्दर्य
३१२	२	भवभूतिवों	भवभूति
३१४	२०	नाट्यमातरम्:	नाट्यमातरः
३२५	१३ पाद०	व्यक्तियों	व्यक्तियों
३२६	१६	हों	हों
३३१	३२	'किसी'	'कैसी'
३३६	३३	अशियोक्तिपूर्ण	अतिशयोक्तिपूर्ण
३४२	१७	नवनवोंन्मेष	नवनवोन्मेष